बड़ी प्रभावित हुई है और इन पर हमारी भारतीयता का रंग आना बड़ा ही आवश्यक है, क्योंकि हमारी भारतीयता सदा हमारे साथ ही रहेगी—हम सदा भारतीय ही रहेंगे, और हमें इसका गर्व भी होना चाहिए। अतः अपने देश की किसी भी शिक्षा-योजना में हमें भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधारों पर ध्यान देना होगा। शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधारों का सम्बन्ध मानव विकास की उन सम्भावनाओं से है जिनका मानव के 'सीखने' अर्थात् 'विकास' पर प्रभाव पड़ता है और जो वर्तमान शैक्षिक आधारों की पृष्ठभूमि बनाती हैं। अतएव पुस्तक के द्वितीय खण्ड में योरोपीय तथा भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधारों के कुछ महत्वपूर्ण अंगों की ओर संकेत करने की चेष्टा की गई है।

पुस्तक के तृतीय खण्ड में शिक्षा के कुछ सामाजिक आधारों की चर्चा की गई है। इन आधारों की चर्चा में यह बतलाने का प्रयत्न रहा है कि व्यक्ति के विकास के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं द्वारा जो आयोजन किये जाते हैं उनमें 'परस्पर-सम्बन्ध' क्या है। इन परस्पर-सम्बन्धों के समझने से ही हम विभिन्न संस्थाओं के शिक्षा सम्बन्धी श्रमों को एक सूत्र में बाँध सकते हैं, जिससे व्यक्ति इन श्रमों से अधिक से अधिक लाभ उठा सके। इन श्रमों के समन्वय से ही कोई राष्ट्र अपनी आवश्यकतानुसार एक नए शिक्षा-सिद्धान्त का निर्माण कर सकता है जिससे सभी नागरिकों का सर्वाङ्गीण विकास सुरक्षित हो सके। अतएव शिक्षा-श्रमों के अविधिक और सविधिक दोनों स्रोतों की चर्चा इस पुस्तक में की गई है जिससे इस समन्वय में समुचित सहायता मिलना सम्भव हो सके।

किसी भी शिक्षा-योजना की सफलता बहुत हद तक शिक्षकों पर निर्भर करती है। अतः शिक्षकों को यह जानना चाहिए कि स्वीकृत योजना को सफल बनाने के लिए किन-किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। अतः पुस्तक के चौथे और पाँचवें खण्डों में कुछ "शिक्षण सिद्धान्तों" का विवरण दिया गया है।

का फल बड़ा ही घातक होता है।

इस विवरण का उद्देश्य यह बतलाना है कि स्वीकृत शिक्षा-दर्शन, आदर्शों तथा योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए शिक्षकवर्ग को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस पुस्तक का उद्देश्य शिक्षा-योजना के निर्माणकर्त्ताओं, शिक्षा-शास्त्रियों तथा शिक्षा-विद्यार्थियों की सेवा करना है, साथ ही इस पुस्तक का प्रणयन भारतीय विश्वविद्यालयों के उन विद्यार्थियों के लिये भी किया गया है जो हिन्दी माध्यम द्वारा एम० एड०, बी० एड०, बी० टी०, एल० टी० तथा बी० ए० (एजुकेशन) परीक्षाओं की तैयारी करते हैं। अतः विविध प्रसंगों के विवेचन में भारतीय विश्वविद्यालयों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की कठिनाइयों पर भी ध्यान दिया गया है, और विविध व्याख्यायें भारतीय पृष्ठभूमि पर ही आधारित की गई हैं। इन व्याख्याओं के क्रम में लेखक ने अपने कुछ मतों, आदर्शों और सिद्धान्तों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। आशा है ये सब पाठक के ध्यान को आकर्षित करेंगे।

लेखक नहीं जानता कि वह अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है। किन्तु यदि इस पुस्तक से किसी को और आगे काम करने की प्रेरणा मिल सकी तो वह अपना परिश्रम सफल समझेगा। पाठकों से प्रार्थना है कि पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिये अपने रचनात्मक सुझावों को भेजने की कृपा करते रहें।

प्रथम खण्ड तथा इसके बाद प्रत्येक अध्याय के अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची देने का उद्देश्य पाठकों को उच्चतर अध्ययन के लिए अभिप्रेरित करना है। अतः वर्णित विषय के सम्बन्ध में अन्य इच्छित बातों को जानने के लिए पाठक इन सूचियों में दी हुई पुस्तकों का सहारा लें।

इस पुस्तक की रचना में जिन पुस्तकों से सहायता प्राप्त हुई है उनके नाम पुस्तक के क्रम में तथा सहायक पुस्तकों की सूची में दे दिये गये हैं। इन सभी पुस्तकों के लेखकों के प्रति लेखक बड़ा ही आभारी है।

पारिभाषिक शब्दों की सूची तथा अनुक्रमणिका को क्रमानुसार बद्ध करने में सर्वश्री राज मणि पाठक, ताराशंकर मिश्र, भीष्म प्रताप निगम, महेन्द्रपाल शर्मा

• • •

[illegible] है। [illegible]
[illegible] है।

[illegible]

पुस्तक के प्रकाशन में [illegible] के लिए लेखक [illegible] महोदय को हृदय से धन्यवाद देता है।

नवम्बर ६, [illegible]
शिक्षा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

सरयू प्रसाद चौबे

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

इस नवीन संस्करण में पुस्तक को एक नया रूप देने का प्रयास किया गया है। इसमें 'दर्शनशास्त्र और शिक्षा' तथा 'मन' नामक दो नये अध्याय जोड़ दिये गये हैं। साथ ही, रूसो, प्रकृतिवाद और शिक्षा, आदर्शवाद और शिक्षा, यथार्थवाद और शिक्षा, प्रयोगवाद और शिक्षा तथा डीवी नामक अध्यायों का विस्तार बढ़ा दिया गया है। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यासार्थ प्रश्न भी दे दिये गये हैं। इन प्रश्नों का उद्देश्य पठित विषय की पुनरावृत्ति की ओर पाठक को प्रेरित ही करना ही नहीं है, प्रत्युत उन्हें आगे चिन्तन के लिए भी उकसाना है। आशा है इस नवीन संस्करण के ये सब परिवर्तन पाठकों के लिए उपादेय होंगे।

१४ फरवरी, १९५९
कर्म भूमि,
महानगर,
लखनऊ।

—सरयू प्रसाद चौबे

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

द्वितीय खण्ड

अध्याय १३

अध्याय १४

तृतीय खण्ड

अध्याय १५

अध्याय २१

शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीयता

अध्याय २२

शिक्षा : चल-चित्र और नभवाणी

—:०:—

चतुर्थ खण्ड

अध्याय २६

शिक्षक

अध्याय २७

पाठ्यक्रम का संगठन

अध्याय २८

अध्याय २९

अध्याय ३०

अध्याय ३१

अध्याय ३२

अध्याय ३३

अध्याय ३४

अध्याय ३५

प्रथम खण्ड

१

विषय-प्रवेश

मनुष्य प्रकृति का केवल एक जीव ही नहीं है, वरन् वह अविरल गति से चलने और बढ़ने वाली सभ्यता और परम्परा का प्राणी भी है। अतः मानव जाति का 'विकास' तथा उसकी 'संरक्षता' सभ्यता के विकास पर ही निर्भर कहे जा सकते हैं। पृथ्वी के विभिन्न स्थलों पर मानव ने विविध प्रकार की संस्कृति की कल्पना की है, परन्तु ये विभिन्न संस्कृतियाँ एक ही मानव सभ्यता का सृजन करती हैं। इस सभ्यता के स्वरूप को ठीक-ठीक समझे बिना मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इसे समझने के लिये मनुष्य को प्रकृति ने एक शक्ति दी है। परन्तु इस शक्ति का सदुपयोग वह स्वतः ठीक-ठीक नहीं कर सकता। इसके सदुपयोग के लिए उसे एक विनय अथवा अनुशासन के अन्तर्गत रहते हुए समाज की सहायता की आवश्यकता है। समाज की सहायता से तात्पर्य यहाँ 'शिक्षा'* से है। बालक अपने विकास में जो कुछ समाज से सहायता प्राप्त करता है उसमें 'शिक्षा' को भी एक प्रकार की सहायता का नाम दिया [illegible]

[illegible]

किस शिक्षा-दर्शन को पर्याप्त समझा जा सकता है ? उसी शिक्षा-दर्शन को पर्याप्त कहा जा सकता है जो इन तीनों प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देता है:— १. शिक्षा क्या है ? २. क्या प्राप्त करना इसका उद्देश्य है ? और ३. इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे की जा सकती है ? इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा-दर्शन शिक्षा के सम्बन्ध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्नों का उत्तर देता है। शिक्षा के उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं पर उसी प्रकार आधारित समझे जा सकते हैं जैसे जीवन के अन्य उद्देश्य आवश्यकताओं पर निर्भर रहते हैं। जीवन की आवश्यकताओं को समझने के लिए मानव स्वभाव[1], जीवन का तात्पर्य[2], मनुष्य का मुख्य उद्देश्य[3] तथा अच्छे जीवन के स्वरूप[4] को जानना आवश्यक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का जीवन में उद्देश्य चाहे जो हो परन्तु वह यह अवश्य चाहता है कि संसार में एक ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्भावनाओं[5] का अधिकतम विकास कर सके। ऐसे सामाजिक संगठन की अनुपस्थिति मानव व्यक्तित्व[6] के पूर्ण विकास बिना सम्भव नहीं। यदि यह विचार सत्य है तो यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक और बालिकाओं के विकास क्रम को इस प्रकार संचालित करना है कि वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करते हुए उत्तम सामाजिक संगठन के निर्माण में अपना योग दे सकें। स्पष्ट है कि संसार में इससे बड़ा कोई दूसरा कार्य नहीं हो सकता। इसका यह भी अर्थ है कि बालक के शिक्षा-क्रम में सभी व्यक्तियों और सामाजिक संगठनों का योग देना उनका परम कर्त्तव्य है, अर्थात् राज्य[7], माता पिता[8], धार्मिक संगठन[9], पुस्तकालय[10], रेडियो[11], प्रेस[12], तथा अन्य संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि बालक की शिक्षा में वे समुचित योग दें। परन्तु इस शिक्षा क्रम में स्कूल का विशेष हाथ है, क्योंकि स्कूल की स्थापना इसी उद्देश्य से की जाती है।

---

1. Human nature 2. Meaning of life. 3. Chief ends of man 4. The nature of good life. 5. Potentialities 6. Human personality 7. State. 8. Parents 9. Religious Organization 10. Library 11. Radio. 12. Press

शिक्षक को क्या जानना चाहिए ?

प्रत्येक शिक्षक को यह जानना चाहिए कि स्कूल की स्थापना क्यों की गई है और उसे किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना है। जब तक वह यह नहीं जानता तब तक वह यह नहीं समझ सकता कि बालक का शिक्षा क्रम कैसे बनाया जाय। प्रति दिन शिक्षक को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, अर्थात् बालकों के शिक्षा-क्रम में उसे नित्य कुछ निर्णय करने होते हैं, जैसे, "क्या नेताजी के जन्म दिवस के दिन छुट्टी दे दी जाय ? अङ्कगणित की शिक्षा मोहन के लिए रोचक कैसे बनाई जाय ? श्याम बड़ा ऊधमी लड़का है—उसे उचित मार्ग पर कैसे लाया जाय ?" इन सब समस्याओं के सुलझाव में उसे किस सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए ?

शिक्षक को बालक की रुचियों[1], विकास-क्रम[2], कुटुम्ब तथा वातावरण[3] का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी सामाजिक संस्कृति तथा इस संसार का ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षक को विषय-ज्ञान के साथ-साथ यह भी जानना चाहिए कि बच्चे कैसे सीखते हैं तथा उनके पढ़ाने के लिए सबसे उत्तम विधि क्या है। उसके लिए यह भी जानना आवश्यक है कि पढ़ाने के लिए किस विषय-वस्तु का चुनाव किया जाय, विकास के प्रमाण को कैसे समझाया जाय तथा बालकों के दोषों को दूर करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाय। परन्तु ये सब बातें शिक्षा के साधन के अन्तर्गत आती हैं। ये सब साधन किस उद्देश्य-पूर्ति की ओर नियोजित किये जायें—इसका उत्तर शिक्षा के उद्देश्य में हमें मिल सकता है। यह उद्देश्य ही हमें बतलाएगा कि किस विशिष्ट परिस्थिति में किस भाँति का सहारा लेना चाहिए। तो इस उद्देश्य का निर्धारण कैसे किया जाय ?

विभिन्न दर्शन-शास्त्रों में हमें कई उद्देश्य मिलते हैं। जैसे; भौतिकवाद[4], प्रकृतिवाद[5], आदर्शवाद[6], यथार्थवाद[7], तथा प्रयोगवाद[8] शिक्षा के सम्बन्ध में

---

1. Interests. 2. Developmental process. 3. Environment. 4. Materialism. 5. Naturalism. 6. Idealism. 7. Realism. 8. Pragmatism.

अपने अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। इनमें कुछ सिद्धान्तों में तो कभी-कभी कुछ समझौता किया जा सकता है और कुछ तो एक दूसरे के एकदम विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन सभी सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और यह अध्ययन उस दर्शन शास्त्र के संदर्भ में करना चाहिए जिससे ये निकले हों। इस अध्ययन के आधार पर ही शिक्षक अपने कार्य के सम्बन्ध में समय-समय पर आवश्यक निर्णय कर सकेंगे और शिक्षा-सम्बन्धी दूसरों की बातों को आँक सकेंगे।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से कभी किसी शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं मिल सकी है। व्यवहारवाद[1] नामक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय में भौतिकवाद का आधार मिलता है। व्यवहारवाद से कुछ अच्छे शिक्षा-विचारों का निर्माण किया गया है। उदाहरणार्थ, सीखने के क्रम में अभिसन्धान[2] व्यवहारवाद की ही देन है। यदि सीखने के पूरे क्रम की अभिसन्धान के आधार पर ही व्याख्या न की जाय तो अभिसन्धान से एक उपयोगी शिक्षा-नियम निकलता है। परन्तु एक मनोविज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से भौतिकवाद अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। इससे नैतिक आदर्श तथा आध्यात्मिक मान्यताओं का निकलना असम्भव है। इसकी सहायता से मानव स्वभाव को पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता। स्पष्ट है कि भौतिकवाद से शिक्षा को विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

सारांश

मनुष्य सभ्यता और परम्परा का प्राणी। सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिए 'समाज की सहायता' की आवश्यकता। यह सहायता शिक्षा के रूप में। शिक्षा के रूप-निर्धारण में एक दर्शन-शास्त्र की आवश्यकता। राजनीतिक विश्वासों के अनुसार विभिन्न दर्शन-शास्त्रों पर विविध देशों की शिक्षा आधारित।

दर्शन-शास्त्र को शिक्षा के सम्बन्ध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देना। शिक्षा के उद्देश्य मानव आवश्यकताओं पर आधारित।

---

1. Behaviourism. 2. Learning by conditioning. (लेखक की "प्रयोगात्मक मनोविज्ञान", अध्याय १५, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५७)

शिक्षक को क्या जानना चाहिए ?

स्कूल का उद्देश्य, बालक की रुचि, विकास-क्रम, कुटुम्ब तथा वातावरण, सामाजिक संस्कृति, विषय-ज्ञान, बच्चे कैसे सीखते हैं ? पढ़ाने की उत्तम विधि। विकास के प्रमाण को कैसे समझाया जाय ? बालकों के दोषों को दूर करने के उपाय।

शिक्षक को विभिन्न दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान। इस ज्ञान के सहारे वे समय-समय पर वे आवश्यक निर्णय ले सकते हैं।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं। व्यवहारवाद में भौतिकवाद का आधार। भौतिकवाद मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से अपर्याप्त।

वाले अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। इनके कुछ सिद्धान्तों में तो कभी-कभी कुछ समझौता किया जा सकता है और कुछ तो एक दूसरे के एकदम विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन सभी सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और यह अध्ययन उन दर्शन-शास्त्र के सन्दर्भ में करना चाहिए जिनसे वे निकले हों। इस अध्ययन के आधार पर ही शिक्षक अपने कार्य के सम्बन्ध में समय-समय पर आवश्यक निर्णय कर सकेंगे और शिक्षा सम्बन्धी दूसरों की बातों को जाँच सकेंगे।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से कभी किसी शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं मिल सकी है। व्यवहारवाद[1] नामक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय में भौतिकवाद का आधार मिलता है। व्यवहारवाद से कुछ अच्छे शिक्षा-विचारों का निर्माण किया गया है। उदाहरणार्थ; सीखने के क्रम में अभिसन्धान[2] व्यवहारवाद की ही देन है। यदि सीखने के पूरे क्रम की अभिसन्धान के आधार पर ही व्याख्या न की जाय तो अभिसन्धान से एक उपयोगी शिक्षा नियम निकलता है। परन्तु एक मनोविज्ञान तथा दर्शन शास्त्र के दृष्टिकोण से भौतिकवाद अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। इससे नैतिक आदर्श तथा आध्यात्मिक मान्यताओं का निकलना असम्भव है। इसकी सहायता से मानव स्वभाव को पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता। स्पष्ट है कि भौतिकवाद से शिक्षा को विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

सारांश

मनुष्य सभ्यता और परम्परा का प्राणी। सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिए 'समाज की सहायता' की आवश्यकता। यह सहायता शिक्षा के रूप में। शिक्षा के रूप-निर्धारण में एक दर्शन-शास्त्र की आवश्यकता। राजनीतिक विश्वासों के अनुसार विभिन्न दर्शन-शास्त्रों पर विविध देशों की शिक्षा आधारित।

दर्शन-शास्त्र को शिक्षा के सम्बन्ध में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देना। शिक्षा के उद्देश्य मानव आवश्यकताओं पर आधारित।

---

1. Behaviourism. 2. Learning by conditioning. (लेखक की "प्रयोगात्मक मनोविज्ञान", अध्याय १५, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५७)

शिक्षक को क्या जानना चाहिए ?

स्कूल का उद्देश्य; बालक की रुचि, विकास-क्रम, कुटुम्ब तथा वातावरण, सामाजिक संस्कृति, विषय-ज्ञान, बच्चे कैसे सीखते हैं ? पढ़ाने की उत्तम विधि। विकास के प्रमाण को कैसे समझाया जाय ? बालकों के दोषों को दूर करने के उपाय।

शिक्षक को विभिन्न दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान। इस ज्ञान के सहारे वे समय-समय पर वे आवश्यक निर्णय ले सकते हैं।

भौतिकवाद और शिक्षा

भौतिकवाद से शिक्षा-सिद्धान्त को विशेष प्रेरणा नहीं। व्यवहारवाद में भौतिकवाद का आधार। भौतिकवाद मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से अपर्याप्त।

अपने अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। इनके कुछ सिद्धान्तों में
कुछ समझौता किया जा सकता है और कुछ तो एक दूसरे के
दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन सभी सिद्धान्तों का
करना चाहिए और यह अध्ययन उस दर्शन-शास्त्र के संदर्भ
जिससे वे निकले हों। इस अध्ययन के आधार पर ही
सम्बन्ध में समय-समय पर आवश्यक निर्णय कर स
दूसरो की बातों को आँक सकेंगे।

भौतिकवाद और ि

भौतिकवाद से कभी किसी शिक्षा-सिद्धान्त
है। व्यवहारवाद[1] नामक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय
है। व्यवहारवाद से कुछ अच्छे शिक्षा-विचा
हरणार्थ, सीखने के क्रम में अभिसन्धा
सीखने के पूरे क्रम की अभिसन्धान के
अभिसन्धान से एक उपयोगी शिक्षा-ि
तथा दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से
नैतिक आदर्श तथा आध्यात्मिक
सहायता से मानव स्वभाव को
भौतिकवाद से शिक्षा को विशेष

मनुष्य सभ्यता और पर
के लिए 'समाज की सहाय
शिक्षा के रूप-निर्धारण
विश्वासों के अनुसार नि
दर्शन-शास्त्र को ि
देना। शिक्षा के उद्देश्

1. Behaviour
प्रयोगात्मक मनोवि

२
दर्शन-शास्त्र और शिक्षा

अध्ययन हेतु हमारे सामने अनेक विषय हैं। इन समस्त विषयों का मुख्य ध्येय मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करना है। इन क्षेत्रों की विभिन्नता के आधार पर ही विषयों में भी अन्तर आ जाता है, परन्तु समस्त विषयों का प्रधान उद्देश्य और पृष्ठभूमि एक होने के कारण इनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी बना रहता है। यहाँ तक कि कुछ ऐसे विषय हैं जो बिना एक दूसरे के सम्पर्क में आये अथवा सहारा लिए अपूर्ण रह जा सकते हैं। यही स्थिति शिक्षा और दर्शन की भी है। शिक्षा और दर्शन के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के पूर्व पृथक-पृथक रूप में इनका सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा।

दर्शन-शास्त्र

किसी वस्तु के अध्ययन में जब तर्क तथा विचारों का क्रमानुसार विधिवत् रूप में सहारा लिया जाता है तो अध्ययन-प्रणाली का समावेश दर्शन के अन्तर्गत किया जाता है। वस्तुओं पर तर्कपूर्ण तथा विधिवत् रूप में विचार करके उन्हें अपनाने की शिक्षा दर्शन-शास्त्र से प्राप्त होती है। दार्शनिक केवल संकेत मात्र से ही किसी वस्तु की यथार्थता मान कर उसे अपने जीवन में नहीं उतारता जैसे वह पानी को तभी पानी मानेगा जब तर्क एवं विचार के फलस्वरूप उसे ज्ञात हो जावेगा कि इसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं जो पानी के मूलभूत गुण होते हैं।

दार्शनिक अंधविश्वासी नहीं होता। वह आत्मा, परमात्मा, जीवन तथा मरण के प्रश्नों, उनके क्षेत्रों तथा स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु तर्क-पूर्ण विचारों के आधार पर इनके परस्पर-सम्बन्धों और वास्तविकता की खोज करके एक निश्चित धारणा बना लेता है। यही धारणा उसके जीवन-दर्शन की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करती है। इसी के अनुसरण से वह अपने जीवन आदर्श को प्राप्त करता है। जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिए दार्शनिक द्वारा निर्मित यह विशेष मार्ग समाज को एक नवीन ज्योति प्रदान करता है जैसा कि विभिन्न महापुरुषों के जीवनादर्शों पर विचार करने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। *अतः हम कह सकते हैं कि दर्शन ऐसी कला है जिसके अन्तर्गत प्रकृति,* व्यक्ति तथा जीवन और उनके उद्देश्यों एवं अन्य वस्तुओं पर तर्क पूर्ण विधिवत् विचार किया जाता है।

✓ शिक्षा

पेस्तालॉजी के अनुसार मानव की समस्त स्वाभाविक शक्तियों का पूर्ण प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है। अरस्तू का मत है कि शिक्षा द्वारा स्वस्थ मन का निर्माण किया जाता है। स्पेन्सर का कथन है कि शिक्षा द्वारा ही शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के कार्य का अन्तर स्पष्ट होता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार शिक्षा ही व्यक्ति की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति का साधन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा जीवन-विकास का ऐसा साधन है *जिसके द्वारा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की जाती है।* जीवनादर्श की प्राप्ति में आवश्यकतानुसार आध्यात्मिक, सामाजिक तथा भौतिक वातावरण के अनुरूप परिस्थितियों के निर्माण में शिक्षा का विशेष हाथ है। इससे स्पष्ट होता है कि यदि दर्शन किसी लक्ष्य का निर्माण करता है तो शिक्षा उस लक्ष्य-प्राप्ति के साधन के रूप में कार्य करती है। ऐडम्स का कहना है कि 'शिक्षा दर्शन-शास्त्र का गत्यात्मक पहलू[1] है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से दर्शन-शास्त्र तथा शिक्षा के निकटतम सम्बन्धों का परिचय पर्याप्त रूप से मिल जाता है। फिर भी यदि हम शिक्षा

1 Education is the dynamic side of philosophy.

२

दर्शन-शास्त्र की

उसी विचार-धारा के अनुरूप उसकी शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण एवं व्यवस्था हुई। प्राचीन भारत का जीवन-लक्ष्य धर्म से अनुप्राणित था। अतएव आत्मा और परमात्मा की पहचान, चेतन, विश्व, एव आत्म-विकास की विचार-धाराओं से शिक्षा व्यवस्थित हुई। प्राचीन स्पार्टा निवासियों ने राष्ट्र की सुरक्षा को जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया था एतदर्थ शिक्षा में देश-भक्त सैनिक निर्माण की भावना को प्रश्रय मिला।

शिक्षा के आधार पर जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जीवन के लक्ष्य की खोज एवं निर्धारण दार्शनिक करता है। विचार एवं सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप जीवन के लक्ष्य बदलते रहते हैं। दार्शनिक चिन्तन, मनन, एवं तर्क के आधार पर समयानुकूल जीवन के लक्ष्यों में परिवर्तन कर नवीन लक्ष्यों का निर्धारण किया करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के लक्ष्यों का निर्धारण दर्शन-शास्त्र का परम उद्देश्य है। शिक्षा और दर्शन के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हम सरलता से यह कह सकते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य (जीवन के लक्ष्य) का निर्धारण दर्शन-शास्त्र करता है। शिक्षा की पूर्णता के लिए 'दर्शन-शास्त्र' से आधार प्राप्त होते हैं। इसलिए दोनों के उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त किये बिना हम पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

पाठ्यक्रम पर दर्शन-शास्त्र के प्रभाव

विचार, आवश्यकता, अभिलाषा एवं आदर्श ही शिक्षा के पाठ्यक्रम के मापदण्ड हैं। आदर्शों का निर्धारण दार्शनिक करता है। आदर्शों द्वारा पाठ्य-क्रम का प्रभावित होना एकदम स्वाभाविक है। अतः दर्शन पाठ्यक्रम का वह आधार देता है जिसके अनुरूप उसका गठन एवं चयन होता है। सामाजिक आवश्यकताओं और आदर्शों के तत्वों के साथ देश की भावनाओं पर दृष्टि रखते हुए पाठ्यक्रम निर्मित होते हैं। उदाहरणार्थ, स्पेन्सर ने 'स्वरक्षा' को जीवन में प्रमुख स्थान देते हुए कहा है कि स्वरक्षा के साधनों को ही पाठ्यक्रम के निर्धारण में आधार रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने उन सभी विषयों को बहिष्कृत कर दिया जो उनकी विचार-धारा की सीमा में [illegible] की विभिन्नता के कारण इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों ने

विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया और शिक्षा के पाठ्यक्रम को उन्होंने केवल प्रभावित ही नहीं, वरन् निर्धारित भी किया।

पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव और दर्शन-शास्त्र

पाठ्यक्रम की भाँति पाठ्य-पुस्तकों के तैयार करने में भी सिद्धान्त एवं आदर्श अपेक्षित हैं। जिन आदर्शों का प्रतिपादन हम नयी पीढ़ी के समाज में करना चाहते हैं उनके प्रति श्रद्धा की भावना पैदा करने का कार्य पाठ्य-पुस्तकें करती हैं। अतएव पाठ्य-पुस्तकों के चयन में भावना और आदर्श को पूर्ण प्रश्रय देने की सतर्कता बरतनी होती है। दार्शनिक भावनायें, आदर्श एवं सिद्धान्तों का सहारा लिए बिना पाठ्य-पुस्तकों के बनाने में सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में भी दर्शन शास्त्र का प्रश्रय आवश्यक है।

शिक्षण-विधि का निर्धारण और दर्शन-शास्त्र

बिना दर्शन के शिक्षण विधि लक्ष्यविहीन यात्रा के समान है। दर्शन शिक्षण-विधि का लक्ष्य बतलाता है। जीवन के आदर्शों की प्राप्ति ही शिक्षण विधि का मन्तव्य है। यह मन्तव्य दर्शन का विषय है। शिक्षण विधि के निर्धारण में दर्शन का कितना महत्व है यह बात उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाती है। शिक्षण-विधि का चुनाव दर्शन की ही सहायता से होता है। स्वीकृत जीवन-दर्शन में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है शिक्षण-विधि का स्वरूप उसी के अनुकूल बनता है। उदाहरणार्थ, प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार बालक ही शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु है। अतएव इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए बालक का स्थान सबसे महत्वपूर्ण माना गया है और शिक्षण-विधि भी इसी विचार धारा के अनुकूल बनाई गयी है। पुस्तकों के साथ-साथ प्रकृति से स्वयं कुछ सीखने की भी बालक को स्वतन्त्रता दी गई है। इस प्रकार शिक्षण विधियों की प्रेरक शक्ति रूप में दार्शनिक सिद्धान्तों ने उनको अनेक रूप दिये हैं, और इस प्रकार दार्शनिकों ने अनेक शिक्षण विधियों का निर्माण किया है।

अनुशासन की समस्या और दर्शन-शास्त्र

•• काल में अनुशासन तत्कालीन जीवन और राजनीति की दार्शनिक

विचार-धारा पर आधारित होता है। विद्यालयों में अनुशासन की वही परिपाटी चलती है जो तत्कालीन जीवन-दर्शन के अनुकूल अपेक्षित होती है। इस प्रकार अनुशासन दार्शनिक विचार-धाराओं से परे अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। समाज के लिए, जीवन के लिए दार्शनिक जो लक्ष्य निर्धारित करते हैं उन्हीं के आधार पर अनुशासन की समस्या भी हल की जाती है। प्राचीन भारतीयों ने धर्म को जीवन का उद्देश्य बना लिया था। अतएव यहाँ के प्राचीन विद्यालयों में गुरु पूज्य होते थे। देश की सुरक्षा के उद्देश्य जहाँ स्पार्टा निवासियों के परम लक्ष्य थे वहाँ उस काल में विद्यालयों में सैनिक अनुशासन होता था। अतः स्पष्ट होता है कि दार्शनिक विचार-धाराओं पर ही अनुशासन निर्भर होता है। ऐडम्स के मतानुसार दमन[1], प्रभाव,[2] एवं मुक्ति[3] की भावना से सम्बन्धित तीन प्रकार की अनुशासन विधियाँ हैं।

दण्ड एवम् आदेश से बालकों की भावनाओं पर बलात् नियन्त्रण दमनवादी विचारकों की दृष्टि में पूर्ण अनुशासन रखने के लिए आवश्यक है। दमनवादी अपनी इच्छा के अनुकूल दण्ड विधान कर बालकों को शासित करने के पक्षपाती थे। दण्ड के भय से बालकों में अनुशासन स्थापित करना इसी विचार-धारा की आवाज है। प्रभाववादी, बालकों में श्रद्धा एवं विनय की मनोवृत्ति को जगाकर व्यक्तित्व के प्रभाव से अनुशासन कायम करने के पक्ष में हैं। प्रभाववादी विचारक आदर्शवादी हैं। वे भय और दण्ड-विधान को अनुशासन का आधार नहीं मानते। उनके मतानुसार शिक्षक के व्यक्तिगत गुणों के कारण बालकों में श्रद्धा और विनय की भावना के उदय से ही पूर्ण अनुशासन कायम किया जा सकता है। मुक्तिवादी विचारकों ने बालकों पर दूसरे के नियन्त्रण की अपेक्षा उनको स्वयं अपने नियन्त्रण का भार सौंपने की भावना को श्रेष्ठ माना है। उनके विचार से बालक स्वाभाविक रूप से निर्दोष होते हैं। अतएव उन्हें आत्म-नियन्त्रण की स्वतन्त्रता का भार देकर उन पर यदि विश्वास किया जाय तो अनुशासन की समस्या का समाधान सरलता से मिल जायगा। प्रकृतिवादी मुक्तिवादी के अनुशासन सिद्धान्त के समर्थक हैं।

1. Repression 2. Impression. 3 Emancipation.

शिक्षक का दर्शन-शास्त्र से सम्बन्ध

शिक्षक शिक्षा के उद्देश्यों और आदर्शों का बालकों में प्रसार करता है। शिक्षा-क्षेत्र में वह एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। शिक्षक अपनी दार्शनिक विचार-धारा के अनुकूल अपना मन्तव्य और आदर्श रखता है। अपने आदर्शों, उद्देश्यों एवं व्यक्तित्व से बालकों को प्रभावित कर वह उनकी प्रेरणा बालकों को देता है। वह अपने लक्ष्य एव आदर्शों के प्रति बालकों को उन्मुख कर उस भावना को आगे बढ़ाता है और आगे चलकर विद्यार्थी भी उस लक्ष्य की प्राप्ति करे ऐसा प्रयत्न शिक्षक करता रहता है। वह शिक्षा के विषय, क्रम एव विधियों को इस प्रकार व्यवस्थित करता है जिससे अपेक्षित लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सके। अनुशासन भी शिक्षक के उद्देश्यो के अनुरूप होते हैं। आदर्शों एव लक्ष्यों के निर्धारण के लिए दार्शनिक विचारधारा अनिवार्य है। अतएव शिक्षक को दार्शनिक विचार-धाराओं से बालकों को प्रेरित एव प्रभावित कर आगे बढाना होता है। आदर्शों को अगर शिक्षा से अलग कर दिया जाय तो शिक्षा अपना महत्व खो देगी। शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षक के महत्वपूर्ण पद का माप-दण्ड भी दार्शनिक विचार-धाराओं से बनता है।

शिक्षा और दर्शन-शास्त्र एक दूसरे पर आश्रित

शिक्षा और दर्शन के विवेचन से यह बात पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाती है कि बिना दर्शन-शास्त्र की सहायता से शिक्षा को पूर्णता नहीं मिल सकती। दार्शनिक विचार-धारा का प्रभाव शिक्षा पर अनिवार्य रूप से पडता है। शिक्षक और दार्शनिकों को किसी विभाजक रेखा से अलग नहीं किया जा सकता। शिक्षा एक कला है। इस कला का रूप व्यावहारिक है। दर्शन हमें शिक्षा का सिद्धान्त प्रदान करता है और शिक्षा दर्शन को व्यावहारिक रूप देती है। आदर्श विहीन शिक्षा निरर्थक होती है। अतः शिक्षा और दर्शन शास्त्र में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। महान दार्शनिक सुकरात ने शिक्षा की एक प्रणाली प्रदान की जिसके फलस्वरूप शिक्षा प्रदान करने की विधि का एक सिद्धान्त मिला। 'लॉक' ने जीवन पवित्रता को महत्व देकर उस पवित्रता के उद्देश्य तक पहुँचने के साधन के रूप में शिक्षा को ही मान्यता दी। प्लैटो जैसा महान

दार्शनिक भी बाद में शिक्षा की ओर उन्मुख हो गया और एक महान शिक्षा शास्त्री बन गया। अनेक दार्शनिकों ने अपने उद्देश्यों के अनुरूप शिक्षा को स्वरूप दिया।

शिक्षा द्वारा उत्पन्न नयी समस्यायें दर्शन के समाधान का विषय बन जाती हैं। हर प्रकार की समस्यायें दार्शनिकों को समाधान के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। दार्शनिकों को इन समस्याओं को लेकर गम्भीर चिन्तन करना पड़ता है और इसी प्रक्रिया से दार्शनिक सिद्धान्त बनते हैं। शिक्षा के द्वारा दर्शन के इस प्रकार के सिद्धान्तों की परीक्षा व्यावहारिक पक्ष में हो जाती है और इस प्रकार शिक्षा दार्शनिक विचारों का परिष्कार करती है। दर्शन शास्त्र का स्वरूप इस प्रकार और विकसित हो जाता है। रॉस शिक्षा और दर्शन को एक ही सिक्के के दो पहलू मानता है। इस प्रकार शिक्षा और दर्शन में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। शिक्षा के कतिपय समर्थक शिक्षा के क्षेत्र को दर्शन से अलग करने के प्रतिपादक हैं। उनके विचार से दार्शनिकों के मतों में इतनी भिन्नता है कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस विचार को प्राथमिकता दी जाय। ऐसी स्थिति में जीवन के लक्ष्य और शिक्षा के उद्देश्य का उचित समाधान नहीं मिल पाता। विचारों के इसी द्वन्द ने भारतीय शिक्षा पद्धति की स्थिति को शोचनीय बना दिया है। इसीलिए शिक्षकों का एक वर्ग शिक्षा को दर्शन और राजनीति से मुक्त करने का पक्षपाती हो गया है। वास्तव में यह विचार-धारा शिक्षा की प्रगति के लिए अभिशाप है। "जेंटिले" के मतानुसार यह विश्वास सत्य है कि मनुष्य बिना दर्शन से सम्पर्क रखे शिक्षा की प्रक्रिया को संचालित नहीं कर सकता। "नन" के मतानुसार शिक्षा और दर्शन के क्षेत्रों को अलग करने के बजाय ऐसी विचार-धाराओं की हमें खोज करना चाहिए जो शिक्षा और दर्शन के द्वन्द और शिक्षा-क्षेत्र में उनसे आई शिथिलता को समाप्त कर सकें। इन मतों के विवेचन से शिक्षा और दर्शन की अविच्छिन्नता की बात सिद्ध हो जाती है। स्पष्ट है कि दोनों को अलग-अलग क्षेत्र देना संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रतीक है।

सारांश

दर्शन-शास्त्र

दर्शन-शास्त्र में [illegible], वास्तविकता, जीवन और जगत के [illegible] [illegible], दर्शन और जीवन के उद्देश्यों पर सम्पूर्ण विशिष्ट विचार किया जाता है।

शिक्षा

शिक्षा जीवन विकास का साधन है। [illegible] के विकास में शिक्षा का विशेष हाथ। दर्शन-शास्त्र लक्ष्य का निर्धारण करता है और शिक्षा इस लक्ष्य की पूर्ति के साधन के रूप में काम करती है। अतः दर्शन-शास्त्र और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों पर आधारित, परन्तु जीवन के उद्देश्य दर्शन-शास्त्र द्वारा निर्धारित होते हैं।

पाठ्यक्रम

सामाजिक आवश्यकताओं, आदर्शों और देश की मान्यताओं के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण होता है; और ये सब दर्शन-शास्त्र द्वारा प्रभावित होते हैं।

पाठ्य पुस्तकें

पाठ्य-पुस्तकों की रचना दार्शनिक भावनाओं, सिद्धान्तों और आदर्शों पर ही आधारित है।

शिक्षण-विधि

जीवन के आदर्शों का कार्यान्वयन ही शिक्षण विधि का उद्देश्य है। अतः शिक्षण-विधि का चुनाव दर्शन-शास्त्र की सहायता से ही करना चाहिए।

अनुशासन की समस्या

विद्यालय में अनुशासन की समस्या जीवन-दर्शन के अनुकूल ही होती है। अतः इस समस्या के समाधान में दर्शन-शास्त्र की सहायता पर निर्भर रहना

शिक्षक

शिक्षक का ध्येय जीवन के उद्देश्यों और आदर्शों का बालकों में प्रसार करना है। ये उद्देश्य और आदर्श दर्शन-शास्त्र से ही निकलते हैं। अतः दर्शन शास्त्र की सहायता बिना शिक्षक का काम नहीं चल सकता।

शिक्षा और दर्शन-शास्त्र एक दूसरे पर आश्रित।

प्रश्न

१—'सामान्यतः शिक्षा सिद्धान्त ही दर्शन है' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

२—'शिक्षा और दर्शन में अन्योन्याश्रय एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है' इस कथन की प्रामाणिकता की समालोचना कीजिए।

३—'एक सच्चा दार्शनिक ही शिक्षा को व्यावहारिक रूप दे सकता है'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

४—'किसी विद्यालय का अनुशासन राष्ट्र की विचार-धाराओं के अनुरूप होना है' इस कथन पर अपना मत व्यक्त कीजिए?

२

रूसो (१७१२-१७७८)

[illegible]

रूसो (१७१२-१७७८)

[illegible]

1. Rousseau, Jean Jacques. 2. The Progress of Arts and Sciences. 3. Social Contract. 4. The New Heloise. 5. Emile.

विचारक माना जाता है। रूसो ने एमील में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि शिक्षा से समाज की कुरीतियों को कैसे दूर किया जा सकता है। रूसो एमील में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों की कड़ी आलोचना करता है। वह सभ्यता के सब कृत्रिम उपायों को फेंक कर मानव को प्रकृति के निकट लाना चाहता है।

रूसो बालक की शिक्षा को स्वाभाविक रूप में ले चलना चाहता है। रूसो व्यक्ति के विकास-काल में चार अवस्थाओं को प्रमुख स्थान देता है—शैशव,[1] बचपन,[2] कैशोर[3] और युवावस्था[4]। इन अवस्थाओं की शिक्षा का विवरण वह एमील के प्रथम चार खण्डों में देता है। पाँचवें खण्ड में वह स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी अपने विचारों का प्रतिपादन करता है। रूसो के बहुत से विचार हमें परस्पर-विरोधी जान पड़ते हैं और वे सामाजिक परम्परा के विरुद्ध जान पड़ते हैं। परन्तु उन्हें समझने के लिए हमें रूसो के समाज की प्रगति पर ध्यान देना चाहिये और उस समाज के सन्दर्भ में उन्हें समझने का प्रयत्न करना है जिनके लिये उसने उनका प्रतिपादन किया है।

रूसो का प्रकृतिवाद

रूसो का कथन है कि "प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से सभी वस्तुएँ अच्छे रूप में आती हैं। केवल मनुष्य के सम्पर्क से ही वे दूषित हो जाती हैं।"[5] रूसो का विश्वास था कि मनुष्य का सुधार प्राकृतिक अवस्था में लौट चलने पर ही संभव है। कलायें तथा विभिन्न संस्थायें उसके जीवन को कृत्रिम बना देती हैं। रूसो के अनुसार सभ्यता के आदि काल में मनुष्य बड़ा ही सुखी था। सभ्यता के कारण अब वह दुखी हो गया है। अतः मनुष्य को सुखी बनाने के लिए वह सब नष्ट कर देना चाहिए जिसे उसने सभ्यता के फलस्वरूप सीखा है। रूसो हमें प्रकृति की ओर लौटने के लिए कहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रूसो हमें असभ्य हो जाने के लिए कहता है। 'प्रकृति' की ओर लौटा कर वह बालक की विभिन्न स्वाभाविक शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर देना चाहता है।

1. Infancy. 2. Childhood. 3. Adolescence. 4. Youth.
5. Everything is good as it comes from the hands of the author of nature, verything degenerates in the hands of man—Emile, book 1.

रूसो के अनुसार प्रकृतिवाद ही शिक्षा का आधार हो सकता है। रूसो शिक्षा को सामाजिक ढङ्ग पर नहीं चलाना चाहता। स्कूलों की प्रचलित परम्परा से उसे चिढ़ है। रूसो शिक्षा की नींव को मानव स्वभाव के सच्चे ज्ञान पर डालता है। रूसो के अनुसार बालक एक ऐसी पुस्तक है जिसे अध्यापक को बड़े ध्यानपूर्वक पढ़नी चाहिए।[1]

रूसो आन्तरिक भावनाओं और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार विचार और निर्णय करने का पक्षपाती है। वह मनुष्य के कार्यों को सामाजिक नियमों के अनुसार नहीं चलना चाहता। फलतः रूसो किसी आदत के डालने के विरुद्ध है। वह कहता है कि 'बच्चे को आदत न डालने'[2] की ही आदत पड़नी चाहिए। उन्हें किसी आदतों का दास नहीं होना है।

रूसो प्रकृति का प्रेमी था। वह चाहता था कि सभी लोग प्राकृतिक सौन्दर्य [illegible] और उसके अनुसार आचरण करें। उसका विश्वास था कि शिक्षा में [illegible] प्रकार की बुराइयाँ मनुष्य के सम्पर्क से आती है। अतः बालक को वह [illegible] प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं, पौधों तथा जानवरों आदि के सम्पर्क में

बिना उसे ज्ञान देने का प्रयत्न करना गलत है, क्योंकि बालक इससे पूरे शिक्षा-क्रम से डरने लगता है। रूसो के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न अङ्गों और शक्तियों के स्वाभाविक विकास से है। यह स्वाभाविक विकास बालक की स्वाभाविक आवश्यकताओं को समझे बिना नहीं हो सकता। उसकी स्वाभाविक आवश्यकताओं को समझने के लिए हमें उसके स्वभाव को समझना चाहिए। रूसो का यह विचार कि "बालक को शिक्षा देने के पूर्व सर्वप्रथम उसके स्वभाव को समझना चाहिए" शिक्षा-क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन है।

नास्त्यात्मक शिक्षा[1]

अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रूसो ने एक ऐसी विचारधारा का सृजन किया है जिसे नास्त्यात्मक शिक्षा की संज्ञा दी गई है। रूसो के अनुसार पहली शिक्षा नास्त्यात्मक होनी चाहिए। नास्त्यात्मक शिक्षा का तात्पर्य यह है कि सबसे पहले हमें 'गुण'[2] और 'सत्य'[3] के सिद्धान्त नहीं पढ़ाने चाहिए, वरन् हृदय को पाप से और मस्तिष्क को भ्रम से रक्षा करनी चाहिए। सर्वप्रथम बालक के विविध अंगों, ज्ञानेंद्रियों तथा विभिन्न शक्तियों को उपयोग में लाना चाहिए। उसके मस्तिष्क को तब तक निष्क्रिय रखना चाहिए जब तक सम्भव हो। तब तक उसमें निर्णय-शक्ति का प्रादुर्भाव न हो जाय तब तक उसकी भावनाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। बाहरी दूषित प्रभावों से बालक को बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे पाप[4] से बचाने के लिए गुण देने में शीघ्रता न करनी चाहिए, क्योंकि जब तक उसमें विवेक का विकास न होगा तब तक वह गुण को 'गुण' नहीं समझ पायेगा। इस प्रकार के विलम्ब को रूसो लाभप्रद समझता है। वह कहता है कि यदि हम निर्दिष्ट स्थान की ओर बिना किसी हानि के बढ़ते जाते हैं तो उसे लाभ ही समझना चाहिए। इस प्रकार रूसो प्रचलित प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाता है। रूसो कहता है कि "मैं आस्त्यात्मक शिक्षा[5] उसे कहता हूँ जो समय के पहले ही मस्तिष्क को प्रौढ़ बनाना चाहती है और बालक को युवा पुरुषों के कर्त्तव्य में शिक्षा देती है। मैं नास्त्यात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो ज्ञान देने के पूर्व ज्ञान के ग्रहण करने वाले

1. Negative Education, 2. Virtue, 3. Truth, 4. Evil, 5. Positive Education.

रूसो के अनुसार स्व-शिक्षा का महत्व[1]—

रूसो उपदेशात्मक पाठन विधि का विरोध करता है। रूसो कहता है, "हम लोग शब्दों को अधिक महत्व देते हैं, बकवादी शिक्षा से हम बकवादी ही उत्पन्न कर सकते हैं।"[2] सदा आगे शिक्षा देते रहने से बालक मूर्ख बन जाता है। अध्यापकों में व्याख्यान देने की प्रवृत्ति होती है। वे अपने ज्ञान को बालक के ऊपर उडेल देना चाहते हैं। इस भय से कि बताई बात कदाचित बालक की समझ में न आई हो अध्यापक लम्बी-लम्बी व्याख्यायें दे डालता है। पर अध्यापक को याद रखना चाहिए कि बालक लम्बी बातों से अरुचि रखता है। उसमें स्वाभाविक क्रियाशीलता कूट-कूट कर भरी होती है। रूसो कहता है कि शिक्षा शाब्दिक नहीं होनी चाहिए। बालकों को पुस्तकों के सहारे नहीं पढ़ाना चाहिए। रूसो बड़ी ही मनोवैज्ञानिक बात की ओर संकेत करता है जब वह कहता है कि 'बालक की विवेक शक्ति का विकास करो, स्मरण-शक्ति का नहीं।' "बालक कोई विषय इसलिए न जाने क्योंकि अध्यापक ने उसके सम्बन्ध में उससे कहा है, वरन् इसलिए कि उसने उसे स्वयं सीखा है ...."बालक को सत्य पढ़ाना नहीं है, अपितु उसे यह बतलाना है कि वह उसका कैसे पता लगाये।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रूसो स्व-शिक्षा को भारी महत्व देता है।

रूसो के अनुसार विकास की चार अवस्थायें—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि रूसो मानव जीवन को चार भागों में विभाजित करता है:—जन्म से पाँच वर्ष तक शैशव, ५ से १२ तक बचपन, १२ से १५ तक किशोर तथा १५ से २० वर्ष तक युवावस्था। रूसो ने प्रत्येक अवस्था के लिए विकासानुसार शिक्षा के रूप का निर्धारण किया है। रूसो के समय में आधुनिक मनोविज्ञान का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए मानव को वह इस प्रकार विभाजित कर देता है। परन्तु रूसो का यह कहना ठीक है कि एक विकासावस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है और तदनुसार प्रत्येक अवस्था के लिए अलग अलग शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इस वास्तविकता की ओर संकेत करके रूसो ने शिक्षा की बड़ी सेवा की है। अब हम नीचे देखेंगे कि प्रत्येक अवस्था के लिए रूसो ने कैसी शिक्षा व्यवस्था की ओर संकेत किया है।

1. The Importance of self-teaching — Rousseau.
2 With a Chat Education we

अंगों को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करती है, और जो ज्ञानेन्द्रियों के समुचित उपयोग से 'विवेक-शक्ति' को बढ़ाती है। नास्त्यात्मक शिक्षा गुण नहीं देती, वह पाप से बचाती है, वह सत्य का ज्ञान नहीं देती, वरन् वह त्रुटि और भ्रम से बचाती है। नास्त्यात्मक शिक्षा बालक को गुण और सत्य की ओर जाने, तथा समझने और अपनाने के लिए तैयार कर देती है। रूसो फिर कहता है कि "इस प्रकार प्रारम्भ में बालक को शिक्षा न देने से डरो नहीं। जो मनुष्य समय बचाने के लिए सोने नहीं जाता उसे तुम क्या कहोगे ? तुम कहोगे कि वह पागल है, समय का आनन्द नहीं ले रहा है, और अपने को इससे वंचित कर रहा है। नींद को त्यागकर मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है। यही बात यहाँ भी सोचो। बचपन 'विवेक' के सोने का समय है।" अतः इस समय बचपन में विवेक को जागृत करने का प्रयास करना बालक के भावी विकास की हत्या करना है।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य[1]

रूसो कहता है कि "हम निर्बल पैदा हुए हैं, हम बल चाहते हैं, हम दीन हैं, हमें सहायता की आवश्यकता है; हम मूर्ख हैं, हमें बुद्धि चाहिए,—जो हमारे पास नहीं है वह शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह शिक्षा हम 'प्रकृति'[2], 'मनुष्य'[3] और वस्तुओं[4] द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। 'प्रकृति' की शिक्षा से हम आन्तरिक अंगों और शक्तियों का विकास करते हैं। 'मनुष्यों' से इस विकास से लाभ उठाने की हमें शिक्षा मिलती है। जो अनुभव हम अपने वातावरण के सम्पर्क से प्राप्त करते हैं वह वस्तुओं से दी हुई शिक्षा है। पूर्णता के लिए इन तीनों में सामंजस्य का होना आवश्यक है। 'मनुष्य' और 'वस्तु' पर तो हमारा कुछ अधिकार भी है। अतः हमारी शिक्षा 'प्रकृति' के अनुसार होनी चाहिए। बालक को अपने अङ्गों, ज्ञानेन्द्रियों तथा शक्तियों के संचालन में आनन्द आता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य बालक को पढ़ने-लिखने पर बलि नहीं कर देना है; वरन् उसकी सभी स्वाभाविक क्रियाओं में योग देकर उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास करना है।

1. The Aim of Education according to Rousseau, 2. Nature. 3. Man. 4. Things.

रूसो के अनुसार स्व-शिक्षा का महत्व[1]—

रूसो उपदेशात्मक पाठन-विधि का विरोध करता है। रूसो कहता है, "हम लोग शब्दों को अधिक महत्व देते हैं, बकवादी शिक्षा से हम बकवादी ही उत्पन्न कर सकते हैं।"[2] सदा आगे शिक्षा देते रहने से बालक मूर्ख बन जाता है। अध्यापकों में व्याख्यान देने की प्रवृत्ति होती है। वे अपने ज्ञान को बालक के ऊपर उडेल देना चाहते हैं। इस भय से कि बताई बात कदाचित बालक की समझ में न आई हो अध्यापक लम्बी-लम्बी व्याख्यायें दे डालता है। पर अध्यापक को याद रखना चाहिए कि बालक लम्बी बातों से अरुचि रखता है। उसमें स्वाभाविक क्रियाशीलता कूट-कूट कर भरी होती है। रूसो कहता है कि शिक्षा शाब्दिक नहीं होनी चाहिए। बालकों को पुस्तकों के सहारे नहीं पढ़ाना चाहिए। रूसो बड़ी ही मनोवैज्ञानिक बात की ओर संकेत करता है जब वह कहता है कि 'बालक की विवेक शक्ति का विकास करो, स्मरण-शक्ति का नहीं।' "बालक कोई विषय इसलिए न जाने क्योंकि अध्यापक ने उसके सम्बन्ध में उससे कहा है, वरन् इसलिए कि उसने उसे स्वयं सीखा है" ...... "बालक को सत्य पढ़ाना नहीं है, अपितु उसे यह बतलाना है कि वह उसका कैसे पता लगाये।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रूसो स्व-शिक्षा को भारी महत्व देता है।

रूसो के अनुसार विकास की चार अवस्थायें—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि रूसो मानव जीवन को चार भागों में विभाजित करता है:—जन्म से पाच वर्ष तक शैशव, ५ से १२ तक बचपन, १२ से १५ तक किशोर तथा १५ से २० वर्ष तक युवावस्था। रूसो ने प्रत्येक अवस्था के लिए विकासानुसार शिक्षा के रूप का निर्धारण किया है। रूसो के समय में आधुनिक मनोविज्ञान का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए मानव को वह इस प्रकार विभाजित कर देता है। परन्तु रूसो का यह कहना ठीक है कि एक विकासावस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है और तदनुसार प्रत्येक अवस्था के लिए अलग-अलग शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। इस वास्तविकता की ओर संकेत करके रूसो ने शिक्षा की बड़ी सेवा की है। अब हम नीचे देखेंगे कि प्रत्येक अवस्था के लिए रूसो ने कैसी शिक्षा व्यवस्था की ओर संकेत किया है।

1. The Importance of self-teaching according to Rousseau.
2. With a Chattering Education we make nothing but chatterers.

शैशव: शैशव में बालक बड़ा ही क्रियाशील रहता है। अतः उसे ऐसे वा
वरण में रखना चाहिए कि उसकी क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा न
बालक के पहनावे ऐसे ढीले हों कि वह सरलता से जैसा चाहे वैसा इधर-उ
घूम तथा दौड़ सके। बच्चों को दाइयों को नहीं सौंपना चाहिए, क्योंकि वे मा
के समान प्यार नहीं दिखा सकतीं। भावनाओं और मस्तिष्क के पूर्ण विक
के लिए यह आवश्यक है कि बालक माँ का प्यार पूर्णरूप पा सके। अतः
को ही उसका पालन-पोषण करना चाहिए। बच्चों में कोई आदत डालने
प्रयास न करना चाहिए। उससे कोई कार्य हठात् नहीं कराना चाहिए। बच
के खिलौने बहुत ही साधारण होने चाहिए। "सोने चाँदी की घण्टियाँ, शीशे
लकड़ी के भाँति-भाँति के खिलौने न हों। उसे छोटी-छोटी टहनियाँ, फूल तथा प
खेलने को देना चाहिए। उसके साथ सरल भाषा में बात करना चाहिए। प्रा
में उसे ऐसे सरल शब्द सिखलाने चाहिए जो उसके स्वाभाविक विचार के अनुकू
हों। बालक की स्वाभाविक क्रियाओं को पूरी स्वतन्त्रता देना ही इस समय
लिए सबसे बड़ी शिक्षा है।"

बचपन. इस समय ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने का प्रयत्न कर
चाहिए। बच्चा जब कुछ छूना चाहता है, अथवा उठाना चाहता है तो हमें उ
रोकना न चाहिए, क्योंकि इसी क्रम में उसे गर्म, ठण्डा, नरम, कड़ा तथा आका
और रूप का ज्ञान होगा। इस क्रिया में वह अपनी स्पर्श और दृष्टि-सम्बन्
ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करता है। हमारी सभी मानसिक क्रियायें ज्ञानेन्द्रियों द्वा
होती हैं। रूसो कहता है कि 'हमारे पैर, आँख तथा हाथ ही हमें दर्शन-शास
का पहला पाठ पढ़ाते हैं। यदि उनके स्थान पर पुस्तकें रख दी जाँय तो विवे
का विकास न होगा। पुस्तकों के आधार पर सीखना दूसरे के विवेक का प्रयो
करना होगा—अपना नहीं। पुस्तक के आधार पर हम सब कुछ विश्वास
आधार पर ही मान लेने को तैयार हो जाते हैं और तब वास्तव में हम कुछ नह
सीखते। यदि हम 'सोचते' और सीखना चाहते हैं तो हमें ज्ञानेन्द्रियों और अं
को शिक्षा देनी होगी, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ ही विवेक के अस्त्र हैं। इन अस्त्रों
सदुपयोग के लिए शरीर को पूर्णरूपेण स्वस्थ बनाना आवश्यक है। इस प्रका
शरीर पर सारी मानसिक क्रिया निर्भर करती है। अतः बचपन में स्व

बालक को कठिनाई सहने के योग्य बनाना चाहता है। इस काल में बालक को तैरना, कूदना और फांदना सीखना आवश्यक है। ऊँचाई, दूरी तथा तोल आदि के माप से आँख को शिक्षा देनी चाहिए। सगीत से कान को शिक्षा देनी चाहिए।

इस अवस्था में बालक को सामाजिक प्राणी बनाने के लिये रूसो उसे 'सम्पत्ति' तथा 'आचार' का भी कुछ ज्ञान देना चाहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रूसो बालक को किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा देना चाहता है। जब तक बालक को नैतिक विचारों का स्वयं ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसे अपने स्वाभाविक कार्यों के फल से ही सीखना चाहिए। स्वाभाविक कार्यों के फल के अनुसार सीखने का सिद्धान्त कुछ अतिरंजित जान पड़ता है, क्योकि इसके लिए बालक को यदि हम सदा स्वतन्त्र छोड़ रखें तो कदाचित् वह आग में हाथ डाल दे अथवा चाकू से अपना हाथ काट बैठे—इसका फल बड़ा ही दुखद हो सकता है। परन्तु रूसो के इस कथन का हम यह सारांश निकाल सकते हैं कि यथा-सम्भव सत्य की खोज के लिए बालक को स्वयं अनुभव करना चाहिए।

कैशोर : इस काल में बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का बड़ा विकास होता है और वह अन्वेषक बनना चाहता है। अतः इस समय प्राकृतिक विज्ञानों में उसे शिक्षा दी जा सकती है। अब बालक को मनुष्यों की परस्पर-निर्भरता का ज्ञान करा देना चाहिए। इसके लिए उसे कुछ औद्योगिक अनुभव देना आवश्यक होगा।

कैशोर में भी रूसो पाठ्य-पुस्तकों द्वारा शिक्षा देने का विरोधी है। रूसो कहता है, "बालक को सोचने दो। भूगोल तथा खगोल को मानचित्रों द्वारा मत पढ़ाओ, क्योंकि इससे बालक को वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। प्राकृतिक वस्तुओं में उसकी जिज्ञासा स्वतः उसे प्राकृतिक वातावरण का पूरा ज्ञान देती रहेगी"।

युवावस्था : इस समय बालक में काम-सम्बन्धी भावनायें उत्पन्न होती हैं और तत्सम्बन्धी उसके मन में नाना प्रकार की भावनायें उठा करती हैं। अतः ऐसे ही समय में उसे सामाजिक तथा नैतिक कर्त्तव्यों का ज्ञान दिया जा सकता है। बालक को सामाजिक गुणों और अवगुणों को समझना चाहिए। समाज में

आकर अपने अनुभव से उसे ईमानदार और बेईमान आदमियों की पहचान करनी चाहिए। रूसो चाहता है कि अब बालक अस्पताल, अनाथालय तथा जेलखाना को देखकर समाज की बुराइयों को समझने का प्रयत्न करे। अध्यापक के शिक्षण के आधार पर वह बालको को यह सब नहीं सिखलाना चाहता। वह बालको के निजी अनुभव को ही अब भी प्रधानता देना चाहता है।

रूसो के अनुसार स्त्री-शिक्षा[1]

एमील के पाँचवें खण्ड मे रूसो स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अपने विचार हमे देता है। रूसो स्त्री और पुरुष के उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यो में बड़ा विभेद देखता है और स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में उसके विचार हमें बड़े ही अनुदार लगते हैं। वस्तुतः रूसो स्त्रियो के स्वभाव को समझने में समर्थ नहीं हुआ है। उसके अनुसार स्त्रियों का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। अतः पुरुषो के सुख और सुविधा के दृष्टिकोण से ही स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिये। रूसो कहता है कि स्त्री के जीवन का एकमात्र उद्देश्य पुरुष को सुखी रखना है। अतः उसे उन कलाओ को सीखना चाहिए जिससे वह पुरुष के जीवन को सुखी बना सके। स्त्री को तर्क और चिन्तन करने में शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योकि स्त्री के लिये पुरुष तर्क करेगा। स्त्री का कोई अपना धर्म नहीं है, वरन् पुरुष का ही धर्म उसका धर्म है। स्त्री का एकमात्र उद्देश्य बच्चो का जनना और उनका पालन-पोषण करना है। उन्हें अपने गृहकार्य में भी खूब निपुण होना चाहिये। पुरुषो के मनोरंजन के लिए उन्हे संगीत तथा नृत्य-कला आदि सीखना चाहिए। रूसो कहता है कि "प्रत्येक लड़की को अपनी माँ का धर्म मानना चाहिए और प्रत्येक स्त्री को अपने पति का।" स्त्री दर्शन-शास्त्र तथा कलाओ का अध्ययन नहीं भी कर सकती, परन्तु 'पुरुष' का अध्ययन तो उसे करना ही है।"

रूसो का कार्य[2]

रूसो ने अपने समय की प्रचलित विनयन[3] प्रणाली तथा उपदेशात्मक[4] विधियो की आलोचना करके शिक्षकों का ध्यान बालक के स्वभाव के अध्ययन

1 The Women Education according to Rousseau. 2. The Work of Rousseau. 3. Disciplinary Conception of Education. 4. Didactic Methods.

ओर आकर्षित किया। बालक की शिक्षा के क्रम में उसने ज्ञानेन्द्रियों के त्व को हमारे सामने बड़े जोरदार शब्दों में रखा है। रूसो ने हमें प्रकृति के ध्ययन और शारीरिक शिक्षा के महत्त्व को समझाया है। हाँ, यह सत्य है कि ो की 'एमील' पुस्तक में हमें कहीं-कहीं परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं और की स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी उसकी बातें बड़ी अनुदार हैं। परन्तु इतना मानना ा कि 'एमील' का प्रभाव शिक्षा पर बड़ा ही स्थायी पड़ा है। १८वीं शताब्दी शिक्षा-प्रणाली बड़ी दोषपूर्ण हो गई थी। अपनी प्रतिक्रियाओं के सहारे रूसो लोगों का ध्यान शिक्षा के सुधार की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया र शिक्षा में भावी सुधार का बीज बोया। आजकल शिक्षा क्षेत्र में हम जितने ार देखते हैं उन सब के बीज हमें 'एमील' में दिखलाई पड़ते हैं।

शिक्षा पर रूसो का प्रभाव

शिक्षा पर रूसो का प्रभाव शिक्षा में तीन प्रवृत्तियों के रूप में दिखलाई ड़ता है। अर्थात् रूसो के कारण शिक्षा में तीन प्रवृत्तियों का जन्म होता है—

१—मनोवैज्ञानिक[1]

२—वैज्ञानिक[2] और

३—सामाजिक[3]। नीचे हम इनका उल्लेख करेंगे।

नोवैज्ञानिक[4] प्रवृत्ति

रूसो ने प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अनुकूल शिक्षा व्यवस्था करने के विचार का तिपादन किया है। इस विचार से उसने उन प्राचीन नियमों का खण्डन किया ी 'शिक्षक' या 'पाठ्य विषय' को शिक्षा में प्रधानता प्रदान करते थे। उसने शिक्षा को बालकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल नियोजित करने पर बल दिया, क्योंकि ालक ही वास्तव में शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु है। बालकों का शिक्षा के नियमों के ाधार पर चलाना रूसो अस्वाभाविक मानता है। इस प्रकार बालक की नैसर्गिक क्तियों के विकास को ही शिक्षा का मूल मान लिया गया। इस प्रकार ... ारम्पराओं की शृङ्खला से जकड़ी हुई शिक्षा को मुक्त कर रूसो ने ... एवम् अनुकूल वातावरण दिया।

---

1. Psychological Tendency. 2. Scientific ... ciological Tendency. 4. Psychological T...

वैज्ञानिक[1] प्रवृत्ति

रूसो ने प्रकृतिवाद का प्रतिपादन कर शिक्षा में वैज्ञानिक विचारों का समावेश किया। बालक को विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान स्वतः प्राप्त करने के लिए 'प्रकृति निरीक्षण' को रूसो ने उनके लिए उपयोगी माना। विज्ञान के उपयोगी तत्वों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर रूसो ने विज्ञान की उपयोगिता के प्रति लोगों की भावनाओं को सजग किया जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक विज्ञान और जीव-शास्त्र का स्वतन्त्र विषय के रूप में अध्ययन होने लगा। स्पेन्सर और हक्सले ने रूसो की इस भावना को लेकर अपने मतों के प्रतिपादन में इसे प्रेरणा स्वरूप ग्रहण किया। इससे यह स्पष्ट है कि रूसो के वैज्ञानिक विचारों ने शिक्षा को बड़ा प्रभावित किया।

सामाजिक[2] प्रवृत्ति

रूसो के व्यक्तिवाद से बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। बालकों के रुचि-वैभिन्न्य के अनुकूल शिक्षा का भी नियोजन किया गया। लेकिन उसके व्यक्तिवाद में समाज की उपेक्षा की भावना नहीं थी। उसके विचारों से समाज का रूप और विकसित हुआ। उसने शिक्षा में सहानुभूति और सहयोग की भावना को विकसित करने पर बल दिया। उसके विचारों ने शिक्षा-विधि में एक क्रान्ति पैदा कर दी। अनुभवजन्य ज्ञान का महत्व मिला और शिक्षा की नयी विधियों का सूत्रपात हुआ।

रूसो के विचारों के प्रभाव से मध्य युगीन रूढ़िवाद परम्परा समाप्त हुई। व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को समादर मिला। मानसिक एवं शारीरिक शिक्षा को उन्होंने समुचित आदर [illegible] समन्वित [illegible] दिया। रूसो ने शिक्षा में नये युग का आह्वान कर उसके लिए नवीन मार्गों का निर्देश किया। रूसो को अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में तत्कालीन समाज के विरोध का सामना करना पड़ा। जिसके कारण 'प्रकृतिवाद' के उपयोगी तत्वों के प्रभाव को [illegible] ग्रहण किया।

प्रकृतिवाद की भावना ने 'स्व-प्रवृत्ति' को बड़ा महत्व दिया है, पर आध्यात्मिक विचारों के महत्व की ओर ध्यान न दिया गया। उसका महत्व सामान्य

1 Scientific Tendency 2 Sociological Tendency.

दण्ड-शिक्षा का महत्त्व –

शिक्षा शारीरिक न हो। दुष्कर्म के [illegible]। विवेक शक्ति का विकास करना। बालक को [illegible]।

विकास की चार अवस्थाएं और शिक्षा —

एक अवस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न।

शैशव, [illegible] क्रियाशील। इसमें किसी प्रकार की बाधा न डालना। इसे प्रोत्साहित करते रहना। माँ का उत्तरदायित्व। [illegible]। साधारण [illegible]। दूध, फल व [illegible] से [illegible]।

बचपन : ज्ञानेन्द्रियों को विकसित करना। शरीर पर ध्यान। बालक को कठिनाई सहने योग्य बनाना। स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भ्रमण और व्यवहार का ज्ञान। अपने स्वाभाविक कार्यों के फल के अनुसार सीखना।

किशोर : जिज्ञासा जागृत। प्राकृतिक विज्ञानों में शिक्षा। आत्मनिर्भरता के ज्ञान के लिए प्रायोगिक अनुभव देना।

युवावस्था : काम-सम्बन्धी भावनाएँ। सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्यों का ज्ञान देना। समाज की बुराइयों को समझना। निजी अनुभव की प्रधानता।

स्त्री शिक्षा –

रूसो के विचार अनुदार। पुरुषों के सुख और सुविधा के ही दृष्टिकोण से स्त्रियों को शिक्षा देना। तर्क और चिन्तन के लिए स्त्री को शिक्षा न देना। पुरुष का धर्म स्त्री का धर्म होगा। गृहकार्य में निपुणता, पुरुष का अध्ययन करना।

रूसो का कार्य-

शिक्षकों का ध्यान बालक के स्वभाव के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। शिक्षा-क्रम में ज्ञानेन्द्रियों के महत्व को समझाया। शिक्षा-सुधार की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति—

रूसो ने बालकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल शिक्षा को नियोजित किया। बालक को शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु मान कर उसकी नैसर्गिक शक्तियों के विकास को ही [illegible] का उद्देश्य माना।

४
प्रकृतिवाद और शिक्षा

रूसो के उपर्युक्त विवेचन के बाद अब प्रकृतिवाद का विवेचन सरल होगा। अतः नीचे हम इसी पर आ रहे हैं।

दर्शनशास्त्र के रूप में : दर्शनशास्त्र के रूप में हमें प्रकृतिवाद के तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं :—

१—पदार्थ-विज्ञान का प्रकृतिवाद[1]

२—यन्त्रवादी प्रकृतिवाद[2]

३—जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद[3]

१—पदार्थ विज्ञान के अनुसार प्रकृतिवाद का तात्पर्य यह हुआ कि अनुभव की जाने वाली वस्तुओं का विवेचन प्राकृतिक नियमों अथवा बाह्य प्रकृति के नियमों के अनुसार करना चाहिये।

२—यन्त्रवादी प्रकृतिवाद मनुष्य को केवल एक यन्त्र के रूप में देखता है।

३—जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद मनुष्य को विकास का फल[4] मानता है। इसके अनुसार 'मानव' विकास-प्रक्रिया का सर्वोच्च प्राणी है और उसके अन्दर कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ[5] जैसे "काम-प्रेरणा, जिज्ञासा, आत्म-रक्षा आदि" उपस्थित रहती हैं। इस दृष्टिकोण ने मानव को उसकी आध्यात्मिक विभूतियों से वञ्चित कर दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य ने बड़ी उन्नति की है। तो उसने ऐसी उन्नति क्यों और कैसे की? इसका उत्तर जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि इसके अनुसार सभ्यता के विकास तथा उसकी कृतियों को हम नहीं समझ सकते, क्योंकि यह मानव की

1 Naturalism of Physical Science 2 Mechanistic Naturalism. 3. Biological Naturalism. 4. Product of Evolution. 5. Innate Impulses.

विविध क्रियाशीलताओं का कारण उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ही मानता है। इस मत के अनुसार मानव को प्रेरणा प्रदान करने में समाज के सहयोग से प्राप्त विचार और अनुभवों का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि व्यक्ति के सभी कार्यों में प्रेरणा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से उठती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक प्रवृत्तियाँ, अन्तःकरण, परलोक, अमानवीय, चमत्कार, प्रार्थना की शक्ति, तथा इच्छा की स्वतन्त्रता आदि का कोई महत्व नहीं। प्रकृतिवाद के अनुसार संसार में न कोई वस्तु पूर्णतया शुभ है और न पूर्णतया अशुभ। इस मत के सामने वालों में अरस्तू, कौंत, बेकन, लेमार्क, रूसो, हक्सले, हरबर्ट स्पेन्सर, सेमुअल बटलर तथा बर्नार्ड, शॉ के नाम लिये जा सकते हैं।

नीचे हम प्रकृतिवाद के प्रत्येक प्रकार के सिद्धान्तों का सविस्तार विश्लेषण करते हुए शिक्षा में उनके महत्व की ओर संकेत करेंगे।

प्रकृतिवाद

विवेकवाद[1] की असफलता एवं आदर्शवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृतिवाद का अनुभव हुआ। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य प्रकृति को पीछे छोड़ता गया। प्रकृतिवादी विचारकों ने इसे ही मानव की पीड़ा एवं समस्त दुःखों का कारण बताया। उनके मतानुसार प्रकृति के निकट सम्पर्क से ही मानव जीवन-यापन में सफलता एवं स्वाभाविकता आ सकती है। 'प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्र जीवन-यापन' प्रकृतिवाद का आदर्श है। प्रकृतिवाद, भौतिकवाद का स्थानापन्न शब्द है। इस सिद्धान्त में मानवी प्रकृति को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान मिला है। सामाजिक विकास का आधार प्रकृतिवादी 'मानव प्रकृति' को ही मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्ति को प्रकृति के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने की प्रेरणा देता है। प्रकृतिवादी 'हृदय की सत्ता' को मस्तिष्क का सहायक मानते हैं। वे विवेकवादियों की भाँति कोरी मस्तिष्क की क्रियाओं को ही पर्याप्त नहीं समझते। वस्तुओं के कार्य-कारण[2] संबन्ध का प्रकृतिवाद स्वीकार करके चलता है। शक्ति, प्रगति एवं प्रकृति ये तीनों प्रकृतिवाद के आवश्यक तत्व हैं। 'शक्ति सुरक्षा' एवं विकासवाद की भावना का प्रकृतिवाद समर्थन करता है। प्रेम, प्रकृति, न्याय,

1. Rationalism. 2. Causal relationship.

४
प्रकृतिवाद और शिक्षा

रूपों के उपर्युक्त विवेचन के बाद अब प्रकृतिवाद का विवेचन सरल होगा। अतः नीचे हम इसी पर आ रहे हैं।

दर्शनशास्त्र के रूप में : दर्शनशास्त्र के रूप में हमें प्रकृतिवाद के तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं :—

१—पदार्थ-विज्ञान का प्रकृतिवाद[1]

२—यन्त्रवादी प्रकृतिवाद[2]

३—जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद[3]

१—पदार्थ विज्ञान के अनुसार प्रकृतिवाद का तात्पर्य यह हुआ कि अनुभव की जाने वाली वस्तुओं का विवेचन प्राकृतिक नियमों अथवा बाह्य प्रकृति के नियमों के अनुसार करना चाहिये।

२—यन्त्रवादी प्रकृतिवाद मनुष्य को केवल एक यन्त्र के रूप में देखता है।

३—जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद मनुष्य को विकास का फल[4] मानता है। इसके अनुसार 'मानव' विकास-प्रक्रिया का सर्वोच्च प्राणी है और उसके अन्दर कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ[5] जैसे "काम-प्रेरणा, जिज्ञासा, आत्म-रक्षा आदि" उपस्थित रहती है। इस दृष्टिकोण ने मानव को उसकी आध्यात्मिक विभूतियों से वञ्चित कर दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य ने बड़ी उन्नति की है। तो उसने ऐसी उन्नति क्यों और कैसे की ? इसका उत्तर जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि इसके अनुसार सभ्यता के विकास तथा उसकी त्रुटियों को हम नहीं समझ सकते, क्योंकि यह मानव की

1. Naturalism of Physical Science 2. Mechanistic Naturalism. 3. Biological Naturalism. 4. Product of Evolution. 5. Innate Impulses.

प्राणियों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। व्यवहारवाद और यन्त्रवाद इन प्रमुख तत्वों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु मनुष्य केवल पशु नहीं है। वह अपने कतिपय गुणों से विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। अतएव उसकी शिक्षा को इन गुणों के अनुकूल बनाने पर ही वास्तव में शिक्षा अपने सच्चे अर्थों में शिक्षा हो सकेगी।

जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद

जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद विकास-सिद्धान्त[1] का प्रतिपादन करता है। विकास सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का विकास पशुओं से हुआ है। इस सिद्धान्त का विश्वास है कि मानव ने अपना स्वभाव पूर्वगामी पशु-पूर्वजों से प्राप्त किया है। इस संक्रमित स्वभाव के कारण मानव और पशु में एक साम्य दिखलाई पड़ता है। विकास-सिद्धान्त से हमें ज्ञात होता है कि मानव किन-किन परिस्थितियों से होते हुए वर्तमान अवस्था में आया है। विकास सिद्धान्त का यह भी विश्वास है कि बालक अपने जीवन में इन सभी परिस्थितियों की पुनरावृत्ति करता है। अत: इस सिद्धान्त के अनुसार इन परिस्थितियों के ज्ञान के आधार पर बालक के विकास का आयोजन किया जा सकता है।

'जीवन के लिए संघर्ष'[2] तथा 'समर्थ का अस्तित्व'[3] जीवन-विज्ञान के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं। जीवन के लिए संघर्ष के अनुसार प्रत्येक को अपने को जीवित रखने के लिए संघर्ष करना आवश्यक है। 'समर्थ का अस्तित्व' का तात्पर्य यह है कि जो समर्थ अथवा बली होता है वही जीवित रहता है। जीव-विज्ञान के प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीवन-संघर्ष के लिए तैयार करना है जिससे वह अपना अस्तित्व कायम रख सके। डारविन और लैमार्क इस विचार धारा के प्रतिपादक हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद

अठारहवीं शताब्दी में 'प्रकृतिवाद' शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली आन्दोलन रहा है। जीवन की प्रचलित कृत्रिमता के विरुद्ध प्रकृतिवाद ने आवाज उठाई। प्रकृतिवाद ने विशेषकर उच्च कोटि के कुटुम्बों की कड़ी आलो-

1. Theory of Evolution. 2. Struggle for Existence. 3. Survival of the fittest.

साधारण जनता की स्वाभाविक रुचियों का प्राधान्य रहता है, जहाँ व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छाओं और रुचियों का अवदमन नहीं किया जाता और जहाँ कृत्रिम समाज के कृत्रिम कलाओं और विज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा के प्रकार[1]

प्रकृतिवादी शिक्षा प्रधानतः विशेषित न[2] होकर उदार[3] है। अपने समय की उस प्रचलित शिक्षा का जो विभिन्न प्रकार के व्यवसायियों को शिक्षित करने के लिए दी जाती थी रूसो विरोधी है। रूसो का विश्वास था कि विशिष्ट क्षेत्र में ही शिक्षा पाने से व्यक्ति दूसरे के आधिपत्य में आ जाता है। अतः रूसो बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उसकी सभी स्वाभाविक शक्तियों के विकास हित में शिक्षा का आयोजन करना चाहता है। स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा एक विशिष्ट व्यवसाय अथवा क्षेत्र के लिए न होकर उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए होगी जिससे वह अपने को समाज के परिवर्तनशील वातावरण के उपयुक्त सदा पा सके।

प्रकृतिवाद शारीरिक शिक्षा पर भी बल देता है जिससे व्यक्ति का शरीर सदा स्वस्थ रहे। गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि इसके लिए रूसो कई नियमों का नास्त्यात्मक रूप में उल्लेख करता है।

प्रकृतिवाद नैतिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है, परन्तु यह भी स्वाभाविक रूप में ही होनी चाहिए। अतः नैतिक शिक्षा व्यक्ति के निजी अनुभव का फल होना चाहिए, न कि शिक्षण का फल।[4]

पन्द्रह वर्ष के पूर्व बालक को किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए; क्योंकि इस समय के पहले उसे दैवीशक्ति का कुछ भी बोध नहीं रहता। रूसो के अनुसार बालक को दैवीशक्ति को प्राकृतिक वस्तुओं में पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार रूसो एक स्वाभाविक धर्म में विश्वास करता है। दूसरों द्वारा थोपे हुए धर्म में उसका विश्वास नहीं। अतः उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को विकसित करने का पूरा अधिकार होना चाहिए।

---

1. Naturalism and Types of Education. 2. Specialized. 3. Liberal. 4. Moral Education is to be a matter [illegible]ience rather than of instruction.

धर्म हृदय की वस्तु होनी चाहिए, न कि मस्तिष्क की। धर्म की अनुभूति करनी चाहिए, न कि तर्क द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।"

प्रकृतिवाद बौद्धिक शिक्षा[1] को प्रधानतः ज्ञानेन्द्रियों की अनौपचारिक शिक्षा[2] तक सीमित करना चाहता है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का विकास, बालक के विचारों का स्वतन्त्र प्रकाशन, स्वाभाविक जिज्ञासा तथा रुचि के आधार पर ज्ञानार्जन, वैज्ञानिक निरीक्षण, अन्वेषण तथा निष्कर्ष व शिक्षा पाने के अवसर प्रकृतिवाद के अनुसार बौद्धिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। प्रकृतिवाद शिक्षा में पुस्तक, वाक्चातुरी तथा निरर्थक शब्दों का कोई स्थान नहीं देना चाहता।

प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम[3]

प्रकृतिवादी शिक्षा प्रधानतः नकारात्मक है। अतः प्रचलित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान देने का प्रकृतिवाद विरोध करता है। पाठ्यक्रम के अन्तर्गत प्रधानतः प्रकृति के उन विभिन्न व्यापारों तथा अनुभवों को रखा जायगा जिनकी किसी न किसी प्रकार बालक अनुभूति करता है। अतः पाठ्यक्रम में कृत्रिम समाज की आदतों और विचारों को स्थान न देकर बालक की विकसित होती हुई क्रियाशीलताओं को स्थान दिया जायगा। ज्ञानेन्द्रियों के श्रम स्वरूप बालक ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है उसे पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया जायगा। शिक्षा के कार्यक्रम का तात्पर्य बालक की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बालक की स्वाभाविक शक्तियों का स्वाभाविक विकास होगा। अतः पाठ्यक्रम में उन क्रियाशीलताओं का समावेश न किया जायगा जो कि जीवन की आवश्यकताओं से विकसित होती हैं। गत पृष्ठों में हमने देखा है कि पुस्तकों के स्थान पर रूसो ने ज्ञानेन्द्रियों, मांसपेशियों तथा वाक्शक्ति के प्राविधिक अभ्यास पर बल दिया है।

प्रकृतिवाद और शिक्षा का संगठन[4]

रूसो के अनुसार बालक का स्वाभाविक अध्यापक उसका पिता है और बालिका की उसकी माता है। बालक के माता-पिता विहीन होने पर रूसो

1. Intellectual Education. 2. Informal Training. 3. Naturalism and Curriculum 4. Naturalism and Organization of Education

उसके लिये एक अध्यापक की व्यवस्था की बात कहता है। अतः अपने काल्पनिक बालक ऐमील की शिक्षा का उत्तरदायित्व वह एक अध्यापक (ट्यूटर) पर छोड़ता है। रूसो के अनुसार अध्यापक को बालक के साथ कम से कम २५ वर्ष तक रहना चाहिए। अध्यापक अपने बालक के लिये एक दाई की व्यवस्था कुछ काल के लिए कर सकता है। प्रकृति के नियमों के पालन में अध्यापक और दाई में समन्वय का होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक को यह याद रखना है कि बालक अपने जन्म से ही प्रकृति का शिष्य है, न कि उसका। अध्यापक को इस प्रथम शिक्षक के पदचिन्हों का अनुसरण करना है, जिससे उसका (प्रकृति का) श्रम विफल न जाय।[1] अतः प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति शिक्षा का प्रधान स्रोत है, और अन्य लोगों को प्रकृति के उद्देश्यों को केवल कार्यान्वित करना है, और शिक्षा का संगठन इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर करना है।

रूसो यद्यपि किसी स्कूल का अध्यापक नहीं था; परन्तु गत पृष्ठों में हमने देखा है कि वह शिक्षा-प्रणाली का संगठन विधिवत् करना चाहता है। मानव की चार प्रधान विकासावस्थानुसार—शैशव, बचपन, कैशोर तथा युवावस्था—वह शिक्षा का संगठन करना चाहता है। शिक्षा का संचालन प्रत्येक अवस्था की आवश्यकतानुसार करने का वह पक्षपाती है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक विकासावस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है, अतः प्रत्येक अवस्था के लिए विभिन्न शिक्षा प्रणाली का संगठन आवश्यक है। गत पृष्ठों में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया गया है। उन्हें यहाँ दोहराना आवश्यक नहीं।

प्रकृतिवाद और शिक्षण-विधि[2]

गत पृष्ठों में हम यह कह चुके हैं कि शिक्षा के लिए प्रकृतिवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि वह बालक को सारी शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र बनाना चाहता है। रूसो का नारा है कि "प्रकृति का अध्ययन करो और उसी पथ का अनुसरण करो जिसकी ओर वह संकेत करती है।"[3]

---

1. "The child at birth is alredy the pupil ... tutor,

है कि इस प्रकार बालक स्वतः धीरे-धीरे विनयी हो जायगा। प्रकृतिवाद प्राकृतिक परिणामों द्वारा विनय-स्थापन[1] का अनुयायी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी क्रियाओं के परिणाम स्वरूप जिस प्रकार की विनय बालक सीखता है उसे वही सीखने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। परन्तु इसप्रकार के विनय स्थापन में बड़ा खतरा है। यदि बालक को अपनी क्रियाओं के परिणामों के अनुसार विनय सीखने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो सम्भव है कि वह खुले हुए चाकू से अपनी उँगली काट ले अथवा तेजाब में हाथ डाल ले। इस प्रकार प्रकृति द्वारा प्राप्त दण्ड अपराध की तुलना में बड़ा ही कटु और कठोर होगा। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिये कि इस प्रकार दण्ड पाने में बालक को नैतिकता का कोई आभास नहीं मिलता। विनय-स्थापन के क्रम में नैतिकता के भाव का समावेश बड़ा ही आवश्यक है।

प्रकृतिवाद और शिक्षक

प्रकृतिवादियों का मत है कि बालक स्वतः प्रकृति के इशारे पर जीवन की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। उसे किसी शिक्षक की आवश्यकता नहीं है। केवल उसे ऐसे वातावरण में रखा जाय जो समाज के दोषों से रहित और प्रकृति-स्वरूपी हो। ऐसे वातावरण में शिक्षक का कोई स्थान नहीं। शिक्षक भी समाज का सदस्य होता है। अतः समाज के दुर्गुणों की छाप उस पर भी रहती ही है। रूसो और स्पेन्सर के मतानुसार प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक का कर्तव्य केवल उपयुक्त वातावरण के निर्माण तक ही सीमित है। बालक का केवल ऐसा वातावरण चाहिए जिसमें वह जीवन की विभिन्न वस्तुओं का अनुभव स्वयं कर के प्राकृतिक साधनों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सके। ऐसी परिस्थिति में शिक्षक आवश्यक है कि उनका व्यवहार बालकों के साथ प्रेम पूर्ण हो। किसी प्रकार का हस्तक्षेप बालक की शिक्षा के मार्ग को अवरुद्ध कर सकता है।

प्रकृतिवाद और आदर्शवाद

प्रकृतिवाद—

प्रकृतिवादी विचारधारा में मनुष्य की आध्यात्मिकता की ... प्रकृतिवादी 'मानव' को केवल एक प्राणी विशेष मानते

1. Natural Consequences.

प्रवृत्तियों, अन्तर्प्रेरणाओं तथा संस्कारों को मान्यता प्रदान करते हैं। मनुष्य की चेतनता पर आवरण डालते हुए उसे यान्त्रिक रूप में देखते हैं। मनुष्य की आदिम भावनाओं तथा प्राकृतिक प्रवृत्तियों को महत्त्व प्रदान करते हुए प्रकृतिवाद के अन्तर्गत पदार्थ सम्बन्धी भौतिकता और वैज्ञानिक नियमों की सार्वभौमिकता को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। प्रकृतिवादी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य बालक को प्राकृतिक साधनों द्वारा, स्वच्छन्द रूप में ज्ञानार्जन करने का अवसर प्रदान करना है। जीवन के शाश्वत तत्वों एवं मूल्यों को इसमें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

जहाँ तक प्रकृतिवादी शिक्षा के पाठ्यक्रम के चयन का सम्बन्ध है, वह भी बालक की प्रवृत्तियों क्रियाओं का अनुसरण करता है। इसी प्रकार प्रकृतिवादी शिक्षा में विनय-स्थापना में भी बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। विनय की मर्यादा की रेखा प्रकृति द्वारा निर्धारित की जाती है। उसके पालन का संकेत तथा न पालन करने के फलस्वरूप दण्ड प्रकृति द्वारा ही प्राप्त होता है। बालक को प्रत्येक दशा में निर्विघ्न स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है।

प्रकृति ही बालक का शिक्षक होती है। अध्यापक का कर्तव्य केवल बालक को समुचित स्वच्छन्द एवं उपयुक्त प्राकृतिक वातावरण प्रदान करना है। इसके पश्चात उसकी आवश्यकता लगभग समाप्त हो जाती है। किसी-किसी दशा में अध्यापक को केवल यह देखना रहता है कि बालक प्राकृतिक इंगितों का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है।

आदर्शवाद—

आदर्शवाद मनुष्य की आध्यात्मिकता को विशेष महत्व देता है। इसका मत है कि मनुष्य और पशु के अन्तर का कारण मानव की आध्यात्मिकता ही है। मानव का चेतन तत्व आदर्शवाद का महत्वपूर्ण विषय है। भौतिकता के परे मानव की भावनाओं, अनुभव तथा बुद्धिवादिता पर आदर्शवाद में विशेष बल दिया जाता है। आदर्शवाद के आदर्श प्रकृतिवाद के आदर्श से सर्वथा भिन्न हैं। जैसा ... बताया जा चुका है कि प्रकृतिवाद का आदर्श प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्र ... ीन करता है—जैसा जीवन पशु-पक्षी व्यतीत करते हैं, परन्तु ... समक्ष महान् एवं उच्च से उच्चतर आदर्श ... करता है। ये आदर्श प्रकृतिवादी आदर्शों से कहीं महान और उत्तम है।

आदर्शवादी शिक्षा में पाठ्यक्रम के चयन में प्रकृतिवादी शिक्षा की भाँति बालक की क्रियाओं और आवश्यकताओं का अनुसरण नहीं किया जाता, बल्कि पाठ्यक्रम के संगठन का आधार नवीन विचार और आदर्श हुआ करते हैं। इन्हीं विचारों और आदर्शों के अनुकूल बालकों को बनाया जाता है, न कि बालकों के अनुसार आदर्श और विचार बनाये जाते हैं।

आदर्शवादी शिक्षा में अध्यापक का वही स्थान है जो माली का उद्यान में होता है; जबकि प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक को किंचित मात्र का महत्व नहीं प्रदान किया गया है। आदर्शवादी शिक्षा का प्रमुख ध्येय सत्यादर्शों की प्राप्ति होता है। आदर्शवादी शिक्षा में विनय[1] पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

सारांश

प्रकृतिवाद—

प्रकृतिवाद के अनुसार स्वतन्त्र जीवन-यापन प्रकृतिवाद का आदर्श है। प्रकृतिवाद के अनुसार मानव की समस्त पीड़ाओं का कारण प्रकृति से उसका दूर हो जाना है। प्रकृतिवादी मानव प्रकृति को ही सामाजिक विकास का आधार मानता है। प्रकृतिवाद हृदय की सत्ता स्वीकार करके चलता है। वह केवल बुद्धि को मानव विकास का एक मात्र कारण नहीं मानता। बुद्धि और हृदय के सामंजस्य को स्वीकार करता है। शक्ति का संरक्षण और विकासवाद के सिद्धान्त का प्रकृतिवादियों ने समर्थन किया है। रूसो के 'प्रकृति की ओर लौटो' की भावना प्रकृतिवाद की प्रेरणा स्रोत है।

पदार्थ विज्ञान का प्रकृतिवाद -

पदार्थ विज्ञान प्रकृति के बाह्य नियमों को आधार स्वरूप ग्रहण करता है एवं पदार्थ-विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित प्रकृतिवाद मानव भावनाओं को पूर्णतः प्रभावित नहीं करता। शिक्षा से मानव का विकास होता है। अतएव केवल बाह्य प्रकृति का समर्थक ... के अनुकूल प्रतिपादित प्रकृतिवाद शिक्षा पर अपना ...

यन्त्रवादी प्रकृतिवादी—

यन्त्रवाद के सिद्धान्त के अनुसार जगत एक ...

1. [illegible]scipline.

✓प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम

नारत्यात्मक । प्रचलित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं । बालक के अनुभव को स्थान देना । कृत्रिम समाज की आदर्शों और विचारों को स्थान नहीं । उन क्रियाशीलताओं को समावेश जो जीवन की आवश्यकताओं से विकसित होती हैं ।

✓प्रकृतिवाद और शिक्षा का संगठन

माता-पिता स्वाभाविक अध्यापक । अनाथ बालकों के लिए ट्यूटर । बालक के साथ ट्यूटर का २५ वर्ष तक रहना । एक दाई की भी व्यवस्था । बालक प्रकृति का शिष्य, न कि अध्यापक का । अध्यापक को प्रकृति का अनुसरण करना । 'प्रकृति' शिक्षा का प्रधान स्रोत ।

चार विकासावस्थाओं द्वारा शिक्षा का संगठन । शिक्षा का संचालन प्रत्येक अवस्था की आवश्यकतानुसार ।

✓प्रकृतिवाद और शिक्षण-विधि

बालक सारी शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र । बालक का स्वभाव और विकास शिक्षण-विधि का निर्धारक । शिक्षण-विधि की कुञ्जी प्रकृति । विकास, क्रियाशीलता और व्यक्तित्व के सिद्धान्त । बालक को स्वतन्त्र छोड़ना । शिक्षा क्रम का आयोजन बालक की आवश्यकतानुसार ।

प्रकृतिवाद और विनय की समस्या

शारीरिक दण्ड अथवा कठोर नियन्त्रण हानिकर । अपने अनुभवों के फल के अनुसार बालक को सीखना । प्राकृतिक परिणामों द्वारा विनय का स्थापन ।

प्राकृतिकवाद और शिक्षक

प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक का कार्य बालक के लिए समाज के दोषों से मुक्त एक ऐसे प्राकृतिक वातावरण का निर्माण करना है जिसमें बालक को स्वतन्त्र अनुभव तथा ज्ञानार्जन का अवसर मिल सके । शिक्षक का हस्तक्षेप सदैव हानिकर है ।

प्रकृतिवाद और आदर्शवाद

प्रकृतिवाद में मानव की चेतनता की अवहेलना होती है । उसे केवल यान्त्रिक

निर्माण "पुद्गल" और "गति" से हुआ है। यह सिद्धान्त मनुष्य के चेतन में विश्वास नहीं रखता। ध्येय, प्रयोजन और अध्यात्मवाद को यन्त्रवाद उपेक्षा करता है। अतएव यन्त्रवाद मानव के केवल उन गुणों पर ही लागू होता है जो पशुओं के समान हैं। इसीलिए मानव की विशिष्टता को विकसित करने वाली शिक्षा का वह आधार नहीं बन सकता।

जीव-विज्ञान का प्रकृतिवाद—

जीव विज्ञान में विकासवाद के सिद्धान्त का बड़ा महत्व है। प्रकृतिवाद को भी इस सिद्धान्त से प्रेरणा मिली है। विकासवाद बालक के विकास की परिस्थितियों से भी हमें परिचित करता है जो कि शिक्षा के लिए बड़ा ही महत्व पूर्ण है।

✓ शिक्षा में प्रकृतिवाद

कृत्रिमता के विरुद्ध। बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अवदमन का विरोध। बालक का उत्तरदायित्व माता-पिता पर, दाइयों पर नहीं। बौद्धिक ढोंग और निरंकुशता का विरोध। शिक्षा में बालक की स्वाभाविक रुचि और आवश्यकता पर ध्यान।

✓ शिक्षा का उद्देश्य

स्वाभाविक गुणों और अधिकार की रक्षा का उद्देश्य। वैयक्तिकता की झलक, शिक्षा किसी भावी जीवन की तैयारी के लिए नहीं, शिक्षा स्वयं जीवन है। शिक्षा बालक के विकास की एक प्रक्रिया।

✓ प्रकृतिवाद और शिक्षा के प्रकार

उदार, विशेषित नहीं। शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए। शारीरिक शिक्षा पर बल। नैतिक शिक्षा निजी अनुभव का फल, न कि शिक्षण का फल। प्राकृतिक वस्तुओं में दैवी शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करना। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म विकसित करना। धर्म हृदय की वस्तु, न कि मस्तिष्क की। बौद्धिक शिक्षा ज्ञानेन्द्रियों की प्रविधिक शिक्षा तक सीमित। पुस्तक तथा [illegible]तुरी को कोई स्थान नहीं।

प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम

[illegible]र्क । प्रचलित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान नहीं। बालक के अनुभव को स्थान देना । कृत्रिम समाज की आदतों और विचारों को स्थान नहीं । उन क्रियाशीलताओं को समावेश जो जीवन की आवश्यकताओं से विकसित होती हैं।

प्रकृतिवाद और शिक्षा का संगठन

माता-पिता स्वाभाविक अध्यापक । अनाथ बालकों के लिए ट्यूटर । बालक के साथ ट्यूटर का २५ वर्ष तक रहना । एक दाई की भी व्यवस्था । बालक प्रकृति का शिष्य, न कि अध्यापक का । अध्यापक को प्रकृति का अनुसरण करना । 'प्रकृति' शिक्षा का प्रधान स्रोत ।

चार विकासावस्थाओं द्वारा शिक्षा का सगठन । शिक्षा का सचालन प्रत्येक अवस्था की आवश्यकतानुसार ।

प्रकृतिवाद और शिक्षण-विधि

बालक सारी शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र । बालक का स्वभाव और विकास शिक्षण-विधि का निर्धारक । शिक्षण-विधि की कुञ्जी प्रकृति । विकास, क्रियाशीलता और व्यक्तित्व के सिद्धान्त । बालक को स्वतन्त्र छोड़ना । शिक्षा-क्रम का आयोजन बालक की आवश्यकतानुसार ।

प्रकृतिवाद और विनय की समस्या

शारीरिक दण्ड अथवा कठोर नियन्त्रण हानिकर । अपने अनुभवों के फल के अनुसार बालक को सीखना । प्राकृतिक परिणामों द्वारा विनय का स्थापन ।

प्राकृतिकवाद और शिक्षक

प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक का कार्य बालक के लिए समाज के दोषों से मुक्त एक ऐसे प्राकृतिक वातावरण का निर्माण करना है जिसमें बालक को स्वतः अनुभव तथा ज्ञानार्जन का अवसर मिल सके । शिक्षक का हस्तक्षेप [illegible] हानिकर है ।

प्रकृतिवाद और आदर्शवाद

प्रकृतिवाद में मानव की चेतनता की अवहेलना होती है ।

५

आदर्शवाद और शिक्षा

प्लैटो,[1] कमेनियस[2], पेस्तालॉजी[3] तथा फ्रोबेल[4] आदि शिक्षा में आदर्शवाद के प्रमुख प्रवर्तक कहे जाते हैं। शिक्षा के उपकरणों तथा विधियों पर इन्होंने उतना बल नहीं दिया है जितना कि उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर दिया है। यहाँ पर हम प्रत्येक की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।[5]

प्लैटो

सिद्धान्तों के रूप में प्लैटो ने हमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार दिये हैं। प्लैटो उच्चकोटि का आदर्शवादी था। वह 'साध्य' को 'साधन' से सदा ऊँचा समझता था। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सौन्दर्य-उपासना की शक्ति का प्रादुर्भाव करना है। मनुष्य को यदि शिक्षा न दी जाय तो वह कुप्रवृत्तियों का दास बन जायगा। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को 'सत्य, शिवं और सुन्दरम्' का उपासक बनाना चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य बालक के व्यक्तित्व के विविध अंगों में एक सामञ्जस्य लाना है। व्यक्ति की कुवृत्तियों और सद्वृत्तियों तथा उसके शरीर और मस्तिष्क में एक सामञ्जस्य लाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। यदि शिक्षा यह सामञ्जस्य न ला सकी तो उसे सच्ची शिक्षा नहीं कहा जा सकता। "सच्ची शिक्षा लोगों में सौहार्द ला देगी। मनुष्य सबसे अधिक सभ्य प्राणी है। तथापि उसे उचित शिक्षा की आवश्यकता है। यदि उसे उचित शिक्षा न दी गई तो वह पृथ्वी का सबसे अधिक असभ्य जीव हो जायगा।"[6]

1. Plato (417-347 B. C.). 2. Comenius, John Amos (1592-1670). 3. Pestalozzi, Johann Heinrich (1746-1827). 4. Froebel, Friedrich William August (1782-1852). 5. इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए लेखक की 'पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास,' तृतीय संस्करण पढ़िये। 6. [illegible] § 766.

विकास करना"[1] है। पेस्तालॉजी ने बतलाया है कि शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, वरन् 'विकास करना' है। इस विकास-क्रम में पेस्तालॉजी बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर विशेष ध्यान देना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर बल देने के कारण पेस्तालॉजी शिक्षा को एक मनोवैज्ञानिक आधार देने में सफल हुआ।

फ्रोबेल

फ्रोबेल की धारणा है कि सब का विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार होता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास क्रमवद्ध न हो तो उसकी शिक्षा असम्भव हो जाय। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। उसके अनुसार सभी बालकों में वांछित दशायें निहित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल उनके लिए समुचित बाह्य वातावरण ही उपस्थित करना है। प्रकृति का उद्देश्य विकास है, आध्यात्मिक संसार का उद्देश्य सभ्यता का विकास करना है। इस संसार की समस्या शिक्षा है, जिसका समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही होता है। फ्रोबेल के अनुसार सच्ची शिक्षा की नींव धर्म पर ही डाली जा सकती है। शिक्षा ऐसी हो कि उसकी सहायता से व्यक्ति अपने को तथा प्रकृति, मानव जाति तथा ईश्वर को पहचान सके। इन सभी वस्तुओं में व्यक्ति को एक एकता का भान होना चाहिए। अतः फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति करना है। उसकी धारणा है कि जगत की सभी वस्तुएँ ईश्वर की दी हुई हैं। "सभी वस्तुओं का अस्तित्व दैवी एकता में ही है। प्रकृति तथा उसकी सभी वस्तुएँ दैवी प्रकाशन के रूप हैं।"[2] फ्रोबेल, काण्ट, फिश तथा हीगेल के आदर्शों से बड़ा प्रभावित हुआ था। ये लोग प्रकृति और मनुष्य को सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। फ्रोबेल मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयंभू परमात्मा को समझता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह ईश्वर में स्थित सब एकता पहचान ले। फ्रोबेल का विश्वास है कि यदि व्यक्ति

1. Harmonious Development of all Powers. 2. F[illegible] Edudcation of Man.

फ्रोबेल

फ्रोबेल बड़ा ही धार्मिक था। उसका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में 'ज्ञान'[1], 'पुण्य'[2] और 'ईश्वर के लिए भक्ति'[3] के बीज स्वभावतः उपस्थित रहते हैं। इन तीनों को बढ़ाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। सभी वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। उसे अपने वातावरण तथा अपने ऊपर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करना चाहिये। उसे सभी वस्तुएँ ईश्वर से सम्बन्धित समझनी चाहिये। यदि व्यक्ति ईश्वर का ध्यान रखता तो उसका ध्यान बुरी बातों पर जायगा ही नहीं। फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्त इन्हीं विचारों से विकसित हुए हैं। उसके अनुसार 'ज्ञानेन्द्रिय'[4], 'विवेक'[5] और 'दैवी प्रकाशन'[6] की सहायता से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन तीनों में सामञ्जस्य रहने से व्यक्ति त्रुटि नहीं कर सकता। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो व्यक्ति ज्ञानवान होकर सदैव कर्त्तव्य-पथ पर डटा रहेगा। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के तीन उद्देश्य हैं :—

१—जीवन में सफलता के लिए व्यक्ति को आवश्यक ज्ञान देना।

२—नैतिक तथा चरित्र-विकास के लिए आवश्यक विवेक देना।

३—ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

पेस्तालॉजी

पेस्तालॉजी स्कूलों को शिक्षा का सच्चा स्थान बनाना चाहता था। उसका विश्वास था कि अभ्यास से मनुष्य की प्रकृतिदत्त शक्तियों को विकसित किया जा सकता है। शिक्षा को वह इस विकास का साधन बनाना चाहता था। उसका विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ईश्वरप्रदत्त नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। अतः शिक्षा क्षेत्र में सारा श्रम इसी ओर नियोजित होना चाहिए। पेस्तालॉजी मानव स्वभाव में पूरा विश्वास करता था। वह प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का अंश देखता था। अच्छे बनने की प्रवृत्ति उसे सबमें दिखलाई पड़ती थी। उसको समझ में केवल मार्ग-प्रदर्शन की ही आवश्यकता थी। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'सभी शक्तियों का अनुरूप

1. Truth. 2. Virtue. 3. Faith in God. 4. Senses. 5. Reason. 6. Divine Revelation.

विकास करना"[1] है। पेस्तालॉजी ने बतलाया है कि शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाना नहीं, वरन् 'विकास करना' है। इस विकास क्रम में पेस्तालॉजी बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर विशेष ध्यान देना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक रुचियों पर बल देने के कारण पेस्तालॉजी शिक्षा को एक मनोवैज्ञानिक आधार देने में सफल हुआ।

फ्रोबेल

फ्रोबेल की धारणा है कि सब का विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार होता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास क्रमबद्ध न हो तो उसकी शिक्षा असम्भव हो जाय। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। उसके अनुसार सभी बालकों में वांछित दशायें निहित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल उनके लिए समुचित बाह्य वातावरण ही उपस्थित करना है। प्रकृति का उद्देश्य विकास है, आध्यात्मिक संसार का उद्देश्य सभ्यता का विकास करना है। इस संसार की समस्या शिक्षा है, जिसका समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही होता है। फ्रोबेल के अनुसार सच्ची शिक्षा की नींव धर्म पर ही डाली जा सकती है। शिक्षा ऐसी हो कि उसकी सहायता से व्यक्ति अपने को तथा प्रकृति, मानव जाति तथा ईश्वर को पहचान सके। इन सभी वस्तुओं में व्यक्ति को एक एकता का भान होना चाहिए। अतः फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति करना है। उसकी धारणा है कि जगत की सभी वस्तुएँ ईश्वर की दी हुई हैं। "सभी वस्तुओं का अस्तित्व दैवी एकता में ही है। प्रकृति तथा उसकी सभी वस्तुएँ दैवी प्रकाशन के रूप हैं।"[2] फ्रोबेल, काण्ट, फिश तथा शैलेन के आदर्शों से बड़ा प्रभावित हुआ था। ये लोग प्रकृति और मनुष्य की आभ्यन्तरिक एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। फ्रोबेल मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयम्भू परमात्मा को समझता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह ईश्वर में स्थित सब की एकता पहचान ले। फ्रोबेल का विश्वास है कि यदि व्यक्ति वस्तुओं में निहित

1. Harmonious Development of all Powers. 2. Froebel—The Education of Man.

कमेनियस

कमेनियस बड़ा ही धार्मिक था। उसका विश्वास था कि प्रत्येक
'ज्ञान'[1], 'पुण्य'[2] और 'ईश्वर के लिए भक्ति'[3] के बीज स्वभावतः
है। इन तीनों को बढ़ाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। सभी
बारे में ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। उसे
तथा अपने ऊपर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करना चाहिये। उसे
ईश्वर से सम्बन्धित समझना चाहिये। यदि व्यक्ति ईश्वर का
उसका ध्यान बुरी बातों पर जायगा ही नहीं। कमेनियस के
इन्हीं विचारों से विकसित हुए हैं। उसके अनुसार 'ज्ञानेन्द्रिय',
'दैवी प्रकाशन[4]' की सहायता से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है
सामञ्जस्य रहने से व्यक्ति त्रुटि नहीं कर सकता। यदि ऐ
व्यक्ति ज्ञानवान होकर सदैव कर्तव्य-पथ पर डटा रहेगा

शिक्षा के तीन उद्देश्य हैं :—

१—जीवन में सफलता के लिए व्यक्ति को आवश्
२—नैतिक तथा चरित्र-विकास के लिए आवश्यक
३—ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

पेस्तालॉजी

पेस्तालॉजी स्कूलों को शिक्षा का सच्चा स्थान
विश्वास था कि अभ्यास से मनुष्य की प्रकृतिदत्त
जा सकता है। शिक्षा को वह इस विकास
उसका विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ईश्वरप्रदत्त
शक्तियों का विकास किया जा सकता है।
ओर नियोजित होना चाहिए। पेस्तालॉजी
था। वह प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का
उसे सबमें दिखलाई पड़ती थी। उसकी
आवश्यकता थी। उसके अनुसार शिक्षा

---

1. Truth. 2. Virtue. 3. Fail
- Divine Revelation.

मानव के व्यक्तित्व का निर्माण और पूर्ण विकास करना है। मनुसार मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। अतः मनुष्य की

सम्पत्ति आदर्शवाद के की रक्षा करना तथा

आदर्शवाद : अध्यापक

के विवेचन में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी शिक्षा में अध्यापक

को एक महत्वपूर्ण स्थान देता है। आदर्शवाद के अनुसार की सहायता करने में स्वयं अपना आध्यात्मिक-विकास[4] करता अपने विकास के लिए विद्यार्थी की उतनी ही आवश्यकता है र्थी को अध्यापक की, परन्तु हाँ, दोनो को एक दूसरे की भिन्न रूप में होती है। आदर्शवादी अध्यापक हर समय यह सोचा भिन्न विषयों के पढ़ाने के अतिरिक्त किन साधनों का वह सहारा पने विद्यार्थियों का अधिकतम विकास कर सके। इस प्रकार की प्राप्ति में बालक की पूरी सहायता करता है। शिक्षक को बालक अपनी कुवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व करे। तभी वह प्लैटो के शब्दों में "सत्यं, शिव और सुन्दरम्" सकेगा। अध्यापक को बालक की शिक्षा का प्रयोजन इस प्रकार क अपने वातावरण पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करले। कमेनियस

2. Good, 3. Beauty, 4. Spiritual Growth.

...न्तरिक अविच्छिन्नता को समझ ले तो शिक्षा का उद्देश्य सरल है, अन्यथा
...हीं।
फ्रोबेल के अनुसार एक 'दैवी शक्ति' हमारे कार्यों को सदा नियमित बनाने
...का प्रयत्न करती रहती है। इस 'दैवी शक्ति' के प्रतिकूल चलने से हमारी अव-
...नति होती है। जिस वस्तु का विकास अपेक्षित है उसके रूप को समझने से हम
उसमें निहित 'दैवी शक्ति' को पहचान सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का विकास आनी
क्रियाशीलता के अनुसार भीतर से बाहर की ओर होता है। शिक्षा की समस्या
इस विकास को समझना है और शिक्षा का उद्देश्य इस विकास को ओर आगे
बढ़ाना है।

सृष्टि में, प्रकृति और संसार के क्रम में तथा मानव जाति की उन्नति में
ईश्वर ने शिक्षा के सच्चे रूप की ओर संकेत किया है। सृष्टि और प्रकृति में हमें
हर जगह क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। इस क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने
संकेत किया है। अतः शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता ही हो सकती है।
'चैतन्य रहना', 'क्रियाशील रहना', और 'चिन्तन करना' हमारे विकास के लिये
अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति में इन गुणों का लाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है।
फ्रोबेल हमें ईश्वर से सीखने के लिये कहता है:—"ईश्वर हमें उत्पन्न करता है
वह निरन्तर कार्य करता रहता है" परिश्रम और अध्यवसाय में हमें ईश्वर
सदृश होना है[1]।

आदर्शवाद : शिक्षा के उद्देश्य

कुछ आदर्शवादी शिक्षकों के उपर्युक्त विवेचन के बाद अब आदर्शवाद के
अनुसार शिक्षा के उद्देश्य की रूप-रेखा खींची जा सकती है।
भौतिकवाद के विरुद्ध आदर्शवाद भौतिक जगत की अपेक्षा भाव[2] और अनु-
भव[3] जगत को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। आदर्शवादी वास्तविकता को
आध्यात्मिक[4] मानता है। आदर्शवादी भौतिक विज्ञान की शिक्षा को उतना महत्व
नहीं देता जितना कि वह मानवीय विषयों[5] की शिक्षा को देता है। आदर्शवादी
के अनुसार मनुष्य ही अध्ययन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। अतः शिक्षा

1. Education of Man § 23. 2. Feeling. 3. Experience.
Spiritual. 5. Study of Humanities.

का एकमात्र उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का निर्माण और पूर्ण विकास करना है। आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। अतः मनुष्य की उन्नति करना ही शिक्षा का सर्वप्रथम लक्ष्य होना चाहिए।

व्यक्ति तथा जाति की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति आदर्शवाद के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है। अतः आदर्शवादी इस सम्पत्ति की रक्षा करना तथा उसकी और वृद्धि करना शिक्षा का परम उद्देश्य मानता है। शिक्षा की [illegible] से व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह आध्यात्मिक क्षेत्र में भली-भाँति [illegible] हो सके और उसके क्षेत्र को और आगे विस्तृत कर सके। सत्य, शिव [illegible] सुन्दर तत्वों से आध्यात्मिक क्षेत्र का निर्माण होता है। शिक्षा इस प्रकार [illegible] जाय कि प्रत्येक बालक इन गूढ़ तत्वों को अपना सके।

आदर्शवाद : अध्यापक

प्रकृतिवाद के विवेचन में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी शिक्षा में अध्यापक का स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं। प्रकृतिवाद के अनुसार बालक के [illegible] में अध्यापक का हस्तक्षेप हानिकर समझा जाता है। किन्तु [illegible] शिक्षा-क्रम में अध्यापक को एक महत्वपूर्ण स्थान देता है। [illegible] के अनुसार अध्यापक बालक की सहायता करने में स्वयं अपना [illegible] करता है। अध्यापक को अपने विकास के लिए विद्यार्थी की [illegible] है जितनी कि विद्यार्थी को अध्यापक की, परन्तु [illegible] को एक दूसरे की आवश्यकता विभिन्न रूप में होती है। आदर्शवादी [illegible] करता है कि विभिन्न विषयों के पढ़ाने के [illegible] ले जिससे वह अपने विद्यार्थियों का [illegible] कर सके। इस प्रकार अध्यापक पूर्णता की प्राप्ति में बालक की [illegible] करता है। [illegible] यह देखना है कि बालक अपनी [illegible] का पूरा विकास करे। तभी [illegible] सत्य, शिव और सुन्दर का उपासक हो सकेगा। अध्यापक [illegible] करता कि बालक अपने [illegible] करने।

Wood, J.

के शब्दों में अध्यापक का कर्तव्य स्पष्ट है—अध्यापक को बालक में आवश्यक
ज्ञान, उसके चरित्र का विकास तथा उसमें ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना है। पेस्ता-
लॉजी अध्यापक का उत्तर-दायित्व बालक के व्यक्तित्व के अनुकूल विकास से सम-
झता है और फ्रोबेल के अनुसार अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह बालक को
विभिन्न वस्तुओं में निहित अविच्छिन्नता अथवा एकता का बोध करावे। इस प्रकार
हम देखते हैं कि आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा-क्रम में अध्यापक का स्थान बड़ा
ही महत्वपूर्ण है।

आदर्शवाद : पाठ्यक्रम[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह धारणा निकाल सकते हैं कि
आदर्शवाद व्यक्तित्व अथवा आत्म के विकास पर विशेष बल देता है, परन्तु उसके
अनुसार यह व्यक्तित्व अथवा आत्म रचनात्मक[2] हो। अत जो भी विषय इस
'रचनात्मक आत्म' के विकास का अवसर देता है उसका अध्ययन करना आदर्शवाद
को मान्य होगा। परन्तु अध्ययन का यह विषय केवल व्यक्ति की ही रुचि क
न हो। उसका कुछ सामाजिक मूल्य भी होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम के निरूप
में आदर्शवादी भावों[3] और आदर्शों[4] पर विशेष ध्यान देता है। आदर्शवादी
अनुसार पाठ्यक्रम में मानव जाति के सारे अनुभवों को स्थान मिलना चाहि
पाठ्यक्रम में सभ्यता के उत्कर्ष की झलक होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण
आदर्शवादी पाठ्यक्रम में मानवीय विषयों और विज्ञान दोनों को स्थान
जायगा।

पाठ्यक्रम में उन तत्वों का समावेश करना चाहिए जिनसे बालक
शिव तथा सुन्दरम्' के आदर्श को अपने जीवन में अपना सके। प्लेटो
कहना है। सत्य, शिव और सुन्दरम् मनुष्य की बौद्धिक, कलात्मक
सौन्दर्यात्मक और नैतिक क्रियाओं के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। अतः
में इन सभी क्रियाओं का समावेश करना चाहिए। भाषा और साहित्य
भूगोल, गणित तथा [illegible] बौद्धिक क्रियाओं को प्रेरणा मिलेगी।
शिक्षा से सौन्दर्यात्म[illegible]मक क्रियाओं को प्रेरणा मिलेगी

reative. 3. Feelings

आचरण शास्त्र आदि के अध्ययन से नैतिक क्रियाओं का आयोजन किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में नन[1] के विचारों में आदर्शवाद की झलक मिलती है। नन के अनुसार पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को स्थान देना चाहिए जो व्यक्ति के लिए सबसे अधिक मूल्यवान् और संसार के लिए विशेष महत्व रखते हों। पाठ्यक्रम में नन दो प्रकार की क्रियाओं को प्रधानता देना चाहता है—१. पहले प्रकार की वे क्रियायें हैं जिनसे व्यक्ति और समाज के अस्तित्व की रक्षा होती है जैसे स्वास्थ्य, आचरण, नैतिकता तथा धर्म-सम्बन्धी क्रियायें। अतः नन बालक के लिए शारीरिक व्यायाम, नीतिशास्त्र तथा धर्म की शिक्षा अनिवार्य मानता है। २. दूसरे प्रकार की वे क्रियायें हैं जिनसे सभ्यता का निर्माण होता है—ये क्रियायें साहित्यिक तथा कलात्मक होती हैं। इन क्रियाओं के लिए पाठ्यक्रम में साहित्य, हस्तकला, संगीत, गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि का समावेश करना चाहिए।

आदर्शवाद : विनय की समस्या[2]

गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद स्वतन्त्रता का नारा लगाता है। परन्तु आदर्शवाद विनय पर विशेष बल देता है। वह बालक को एकदम मुक्त नहीं छोड़ना चाहता। आदर्शवादी का विश्वास है कि विनय के अभाव में बालक 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' का उपासक नहीं बन सकता। अतः उसके लिए अध्यापक के नियन्त्रण में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक बालक के सामने उच्चतम आदर्शों को रखता है और उसके लिए एक ऐसे वातावरण का आयोजन करता है कि वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सके। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता के आधार पर शिक्षा के लिए आवश्यक वातावरण के नियोजन में आदर्शवादी का विश्वास नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बालक की स्वाभाविक क्रियाओं के दमन का पक्षपाती है। फ्रोबेल के विचार इसके प्रमाण हैं कि आदर्शवादी बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहता।

1. T. Percy Nunn. 2. 'Idealism and the Problem of Discipline.

[आच]रण शास्त्र आदि के अध्ययन से नैतिक क्रियाओं का आयोजन किया जा [स]कता है।

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में नन[1] के विचारों में आदर्शवाद की झलक मिलती [है]। नन के अनुसार पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को स्थान देना चाहिए जो व्यक्ति [के] लिए सबसे अधिक मूल्यवान् और संसार के लिए विशेष महत्व रखते हों। [पा]ठ्यक्रम में नन दो प्रकार की क्रियाओं को प्रधानता देना चाहता है— पहले [प्र]कार की वे क्रियायें हैं जिनसे व्यक्ति और समाज के अस्तित्व की रक्षा होती है [जै]से स्वास्थ्य, आचरण, नैतिकता तथा धर्म-सम्बन्धी क्रियायें। अतः नन बालक [के] लिए शारीरिक व्यायाम, नीतिशास्त्र तथा धर्म की शिक्षा अनिवार्य मानता है। २. दूसरे प्रकार की वे क्रियायें हैं जिनसे सभ्यता का निर्माण होता है—ये [क्रि]यायें साहित्यिक तथा कलात्मक होती हैं। इन क्रियाओं के लिए पाठ्यक्रम में [सा]हित्य, हस्तकला, संगीत, गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि का [स]मावेश करना चाहिए।

आदर्शवाद : विनय की समस्या[2]

[ग]त पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद स्वतन्त्रता का नारा लगाता है। [प]रन्तु आदर्शवाद विनय पर विशेष बल देता है। वह बालक को एकदम मुक्त नहीं छोड़ना चाहता। आदर्शवादी का विश्वास है कि विनय के अभाव में बालक सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का उपासक नहीं बन सकता। अतः उसके लिए अध्यापक के नियन्त्रण में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक बालक के सामने उच्चतम आदर्शों को रखता है और उसके लिए एक ऐसे वातावरण का आयोजन करता है कि वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सके। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता के आधार पर शिक्षा के लिए आवश्यक वातावरण के नियोजन में आदर्शवादी का विश्वास नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बालक की स्वाभाविक क्रियाओं के दमन का पक्षपाती है। फ्रोबेल के विचार इसके प्रमाण हैं कि आदर्शवादी बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहता।

1. T. Percy Nunn. 2. Idealism and the Problem of Discipline.

उद्देश्य। सांस्कृतिक सम्पत्ति की और वृद्धि करना। आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवृष्ट करना।

आदर्शवाद : अध्यापक

अध्यापक का स्थान महत्वपूर्ण। अध्यापक पूर्णता की प्राप्ति में बालक की सहायता करता है। वातावरण पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त करने में बालक की सहायता करता।

आदर्शवाद : पाठ्यक्रम

भावों और आदर्शों पर विशेष ध्यान। पाठ्यक्रम में मानव जाति के सारे अनुभवों को स्थान। मानवीय विषयों और विज्ञान को स्थान। बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक क्रियाओं का समावेश करना।

आदर्शवाद : विनय की समस्या

विनय पर विशेष बल। बालक की शिक्षा अध्यापक के नियन्त्रण में।

प्रश्न

१—'आदर्शवाद शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण में जितनी सहायता करता है उतनी वह शिक्षा-विधि में नहीं करता'—इस कथन की आलोचना कीजिए।

२—आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं का विवरण दीजिए।

३—आदर्शवाद के सिद्धान्त क्या हैं? शिक्षा के विभिन्न अंगों पर इनका का प्रभाव पड़ा है?

४—शिक्षा में आदर्शवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण हम किस सीमा तक कर सकते हैं? उदाहरण देकर समझाइए।

५—'आदर्शवाद भौतिक और प्रत्यक्ष जगत की उपेक्षा करता है। यह आदर्शवाद की सबसे बड़ी भूल है'—इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

६
यथार्थवाद और शिक्षा[1]

यथार्थवाद का उद्देश्य

यथार्थवाद आदर्शवाद का विरोधी दिखलाई पड़ता है। यह आदर्श की तरह आध्यात्मिकता का पक्षपाती नहीं। यथार्थवाद अपना ध्यान विशेषकर दैनिक जीवन की वास्तविकता की ओर केन्द्रित करता है। यथार्थवाद के अनुसार मस्तिष्क विश्व के विकास-क्रम में विकसित हुआ है। मस्तिष्क उतना ही सत्य अथवा असत्य है जितना कि इस जगत की कोई अन्य वस्तु हो सकती है। यथार्थवाद एक दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से विज्ञान की देन है। इसके अनुसार जीवन की सभी समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। अतः यथार्थवाद किसी वस्तु के अस्तित्व को तभी स्वीकार करेगा जब वह निरीक्षण तथा परीक्षण की कसौटी पर कसा जा सके। यही कारण है कि यथार्थवादी का शिक्षा उद्देश्य वास्तविकता की ओर संकेत करते हुए सामाजिक परिस्थितियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखता है। यथार्थवादी का कहना है कि शिक्षा देने के क्रम में बालकों की विभिन्न रुचियों का विश्लेषण कर यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि उसके तथा समाज के हित में उनमें कौन सी सबसे अच्छी है। इसका पता लग जाने पर उनका अधिकतम विकास करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। यथार्थवाद सर्वप्रथम जीवन के विभिन्न पक्षों को समझ लेना चाहता है, तत्पश्चात् उन पक्षों के हित में व्यक्ति को शिक्षा देना चाहता है। यथार्थवाद का उद्देश्य व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा देना है कि व्यक्ति सभी भांति सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हुए सुखद समाज के निर्माण में अपना योग दे सके।

---

1. Realism and Education.

६
यथार्थवाद और शिक्षा[1]

यथार्थवाद का उद्देश्य

यथार्थवाद आदर्शवाद का विरोधी दिखलाई पड़ता है। वह आदर्शवाद की तरह आध्यात्मिकता का पक्षपाती नहीं। यथार्थवाद अपना ध्यान विशेषकर दैनिक जीवन की वास्तविकता की ओर केन्द्रित करता है। यथार्थवाद के अनुसार मस्तिष्क विश्व के विकास-क्रम में विकसित हुआ है। मस्तिष्क उतना ही सत्य अथवा असत्य है जितना कि इस जगत की कोई अन्य वस्तु हो सकती है। यथार्थवाद एक दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से विज्ञान की देन है। इसके अनुसार जीवन की सभी समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। अतः यथार्थवाद किसी वस्तु के अस्तित्व को तभी स्वीकार करेगा जब वह निरीक्षण तथा परीक्षण की कसौटी पर कसा जा सके। यही कारण है कि यथार्थवादी का शिक्षा उद्देश्य वास्तविकता की ओर संकेत करते हुए सामाजिक परिस्थितियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखता है। यथार्थवादी का कहना है कि शिक्षा देने के क्रम में बालकों की विभिन्न रुचियों का विश्लेषण कर यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि उनके तथा समाज के हित में उनमें कौनसी सबसे अच्छी है। इसका पता लग जाने पर उनका अधिकतम विकास करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। यथार्थवाद सर्वप्रथम जीवन के विभिन्न पक्षों को समझ लेना चाहता है, तत्पश्चात् उन पक्षों के हित में व्यक्ति को शिक्षा देना चाहता है। यथार्थवाद का उद्देश्य व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा देना है कि अर्जित ज्ञान और गुणपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हुए सुन्दर समाज के निर्माण में अपना योग दे सकें।

1. Realism and Education.

जॉन. फ्रेडरिक हरबार्ट १७७६-१८४१)[1]

जॉन फ्रेडरिक हरबार्ट पहला शिक्षा दार्शनिक हुआ जिसने शिक्षा को यथार्थ-के सिद्धान्तों के अनुसार संगठित करने का प्रयास किया है। यद्यपि आदर्शवादियों की तरह उसने भी शिक्षा में नैतिक तथा चरित्र-विकास पर बल दिया है, तु वह शिक्षा के उद्देश्य को पर्याप्त रूप से वास्तविक बनाना चाहता है—: उसने बालक में बहुरुचि के विकास[2] की बात कही है। हरबार्ट के अनुसार तकों को बालकों की रुचियों का विश्लेषण करके यह समझने का प्रयत्न ना चाहिए कि उनमें कौनसी वैयक्तिक तथा सामाजिक हित के लिए सबसे क उपयोगी हैं। ऐसा समझ लेने के बाद शिक्षा द्वारा इन रुचियों का जीवन विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में विकास करना चाहिए। उपदेश द्वारा नैतिकता पढ़ाना उसे पसन्द नहीं था। वह नैतिकता की समस्या को यथार्थवादी ट-कोण से देखता है।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०-१६०३)[3]

हरबर्ट स्पेन्सर ने शिक्षा को यथार्थवाद पर आधारित करने के लिए हरबार्ट अपेक्षा और आगे कदम उठाया। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य युवक पूर्णरूपेण सुख से रहना सिखाना[4] है। पूर्णरूपेण सुख से रहने के लिए स्पेंसर व्यक्ति के कार्यों को निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित किया है:—

१—आत्म रक्षा, अर्थात् स्वास्थ्य[5]।

२—जीविकोपार्जन करना[6]।

३—माता-पिता का कर्तव्य पालन कर सकना, अर्थात् बच्चों का जनना र उनका पालन-पोषण करना[7]।

४—नागरिकता[8]।

८—माता-पिता के कर्तव्य सम्बन्धी क्रियाएँ।[1]

९—अन-व्यावसायिक व्यावहारिक क्रियाएँ।[2]

१०—व्यावसायिक क्रियाएँ।

उपर्युक्त इन क्रियाओं के पुनः सैकड़ों उपविभाग किये गये हैं। ये उपविभाग इतने विस्तृत बनाये गये हैं उनसे एक सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम [illegible] दिखती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यथार्थवाद की [illegible] जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से है और यथार्थवादी शिक्षक बालक को जीवन की परिस्थितियों से सफलतापूर्वक युद्ध में योग्य बनाना चाहता है, और इस उद्देश्य के अनुसार ही शिक्षा-क्रम में विभिन्न विषयों का वह चुनाव करेगा।

सारांश

यथार्थवाद और शिक्षा

यथार्थवाद आदर्शवाद का विरोधी। आध्यात्मिकता का पक्षपाती नहीं। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं पर ध्यान। यथार्थवाद विज्ञान की देन है। समस्याओं के सुलझाव में वैज्ञानिक दृष्टिकोण आवश्यक। जीवन के विभिन्न पक्षों को समझना तथा इन पक्षों के हित में शिक्षा देना। सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए व्यक्ति को तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य।

हरबार्ट

शिक्षा को वास्तविक बनाना। बहुरुचि के विकास का सिद्धान्त। बालक रुचियों का व्यक्तिगत और सामाजिक हित के लिए विकास करना।

स्पेन्सर

व्यक्ति को पूर्णरूपेण सुख से रहना सिखाना। व्यक्ति के कार्यों के विभाजन—आत्म-रक्षा, माता-पिता का कर्तव्य, बच्चों का जनना और पोषण, नागरिकता और अवकाश का सदुपयोग। प्रत्येक के लिए वि अध्ययन श्रेयस्कर।

प्रश्न

१—शिक्षा में यथार्थवाद का क्या तात्पर्य है ?

● ● ●

---

[1] Parental activities. 2. Non-vocational practical a
ocational activities.

न्यतामों का प्रतिपादन इस सिद्धान्त के अनुसार विकास के परिचायक है।
परिस्थितियों के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर उन्हें अपनी इच्छित
मोड़ कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के क्षमता को प्रयोगवाद
त्वपूर्ण मानता है। इस मत के अनुसार यह क्षमता मानव की बुद्धि एवं
सफल प्रयोग है।

प्रयोजनवाद अन्ध आस्था का घोर विरोधी है। इस सिद्धान्त के अनुसार
मूल-प्रेरणा है जिसके सचालन का कार्य 'ज्ञान' करता है। यह विचार-
चार' को 'क्रिया' का अनुगामी मानती है और 'क्रियाओं' को 'ज्ञान' से
क महत्व देती है।

प्रयोजनवाद समाज को एक ऐसा स्थान मानता है जहाँ जीवन को
मिलता है। प्रगति को प्रेरणा मिलती है और मिलता है सफलता एव
का वरदान। अतएव सामाजिक क्षमता एव सफलता को शिक्षा का लक्ष्य
स सिद्धान्त के अनुसार परम उपयुक्त है।

प्रयोगवाद के प्रमुख स्वरूप

गवाद के मुख्यतः तीन स्वरूप हैं।

नवीय[1]

ष्य की इच्छा एवं आवश्यकता की तुष्टि ही सत्य है। मानवीय प्रयोगवाद
कार करता है।

योगात्मक[2]

योगात्मक प्रयोगवाद के अनुसार सत्य वही है जिसका परीक्षण हम प्रायो-
धि से करके सिद्ध कर सकें। यह सिद्धान्त केवल निरीक्षण द्वारा
त सत्य में विश्वास नहीं करता।

विन-शास्त्रीय[3]

नी समस्याओं के समाधान के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करने की
ो जीव-शास्त्रीय प्रयोगवाद बड़ा महत्व देता है।

प्रयोगवाद और मनोविज्ञान का सम्बन्ध

गवाद मन की प्रेरक शक्ति को ही सत्य और शक्ति की मार्ग-प्रदर्शिका

Humanity Pragmatism. 2. Experimental Pragmatism.
logical Pragmatism.

...तुतः यह जीवन के उपयोगी पक्षों पर, जीवन की व्यावहारिकता के साथ बनती है। क्रिया का व्यवहार-पक्ष की भावना का उद्गम है। यह सिद्धान्त अन्य सभी सिद्धान्तों से नवीन है। व्यवहार, एवं उपयोगिता को महत्त्व देने के कारण इस सिद्धान्त का नवीन सिद्धान्तों में भी बड़ा महत्त्व है।

प्रयोगवाद के मूल सिद्धान्त

१. प्रयोगवाद सत्य की चिरन्तन सत्ता में विश्वास नहीं करता। प्रयोगवादियों के अनुसार यदि सत्य को चिरन्तन मान लिया जाय तो यह समाज की प्रगति एवं सहज विकास का अवरोधक बन जायगा। युग एवं परिस्थिति तथा स्थान एवं परिस्थितियाँ नूतन सत्य का निर्माण किया करती हैं। ये नूतन सत्य उपयुक्त परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन के साथ अपना रूप बदलते रहते हैं। प्रयोगवाद शान्त एवं अनिश्चित सत्य का प्रतिपादन करता है। जेम्स सत्य को पूर्ण और निश्चित नहीं मानता। उसके मतानुसार, "सत्य सदैव निर्माण की स्थिति में रहता है।"

२. प्रयोगवाद फल की उपयोगिता की कसौटी पर सिद्धान्तों की परीक्षा करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो सिद्धान्त उपयोगी है वही उपयुक्त है। अधिकतम तुष्टि एवं चरम सुख ही सिद्धान्त की सत्यता का परिचायक है। अतएव वस्तु के महत्व को आँकने का माप-दण्ड कार्य नहीं उसका निष्कर्ष है। इसी निष्कर्ष की उपयोगिता के स्तर के अनुकूल वस्तु अथवा सिद्धान्त के महत्व का स्तर निर्धारित करने पर यह सिद्धान्त बल देता है। प्रयोगवाद का यह मत सोफिस्टों के दृष्टिकोण के अनुरूप है। इसके अनुसार उपयोगी कलाओं के प्रशिक्षण को प्रोत्साहन देना ही समाज को उसके अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हो सकेगा और उसे प्रगति और विकास दे सकेगा।

३. सत्य की ही भाँति प्रयोगवाद जीवन के उद्देश्य एवं मान्यताओं के शाश्वत रूप में विश्वास नहीं करता। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन के आदर्श स्थायी नहीं, अपितु परिवर्तनशील हैं। युग, प्रवाह और उससे उद्भूत परिस्थितिय जीवन के आदर्शों को ही नहीं, बल्कि उनकी मान्यता को भी बदलती रहती हैं। जीवन नव्यादर्शों की प्रयोगस्थली है। एतदर्थ जीवन के लक्ष्य को निश्चि रूढ़ि-रूप में स्वीकार करना समाज की प्रगति के लिए बाधक है। नये ल

एवं नई मान्यताओं का प्रतिपादन इस सिद्धान्त के अनुसार विकास के परिचायक है।

४. परिस्थितियों के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर उन्हें अपनी इच्छित दिशा में मोड़ कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के क्षमता को प्रयोगवाद बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। इस मत के अनुसार यह क्षमता मानव को बुद्धि एवं शक्ति का सफल प्रयोग है।

५. प्रयोजनवाद अन्ध आस्था का घोर विरोधी है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'क्रिया' मूल-प्रेरणा है जिसके सचालन का कार्य 'ज्ञान' करता है। यह विचार-धारा 'विचार' को 'क्रिया' का अनुगामी मानती है और 'क्रियाओं' को 'ज्ञान' से भी अधिक महत्व देती है।

६. प्रयोजनवाद समाज को एक ऐसा स्थान मानता है जहाँ जीवन को विकास मिलता है। प्रगति को प्रेरणा मिलती है और मिलता है सफलता एव सन्तोष का वरदान। अतएव सामाजिक क्षमता एव सफलता को शिक्षा का लक्ष्य बनाना इस सिद्धान्त के अनुसार परम उपयुक्त है।

प्रयोगवाद के प्रमुख स्वरूप

प्रयोगवाद के मुख्यतः तीन स्वरूप हैं।

१. मानवीय[1]

मनुष्य की इच्छा एवं आवश्यकता की तुष्टि ही सत्य है। मानवीय प्रयोगवाद यही स्वीकार करता है।

२. प्रयोगात्मक[2]

प्रयोगात्मक प्रयोगवाद के अनुसार सत्य वही है जिसका परीक्षण हम प्रायोगिक विधि से करके सिद्ध कर सकें। यह सिद्धान्त केवल निरीक्षण द्वारा प्रतिपादित सत्य में विश्वास नहीं करता।

३. जीवन-शास्त्रीय[3]

अपनी समस्याओं के समाधान के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करने की क्षमता को जीव शास्त्रीय प्रयोगवाद बड़ा महत्व देता है।

प्रयोगवाद और मनोविज्ञान का सम्बन्ध

प्रयोगवाद मन की प्रेरक शक्ति को ही लक्ष्य और शक्ति की मार्ग-प्रदर्शिका

1. Humanity Pragmatism. 2. Experimental Pragmatism. 3. Biological Pragmatism.

प्रयोगवादियों का
के रूप में स्वीकार करता है। मन की इसी प्रेरणा-शक्ति में प्रयोगवादी नहीं करते। क्योंकि
दृढ़ आस्था है। प्रयोगवाद 'शक्ति-मनोविज्ञान'[1] को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि
यह मन की केन्द्र-भूत-शक्ति की अवहेलना करता है। 'निष्काम'[2] कार्य एवं
'निर्विषयक'[3] ज्ञान में प्रयोजनवाद किंचित मात्र भी आस्था नहीं रखता।
व्यवहारवाद की भांति प्रयोजनवाद में भी क्रिया को प्रधान तथा विचार को
गौण स्थान मिलता है, तथापि प्रक्रियाशील मनोविज्ञान[4] का ही अधिक प्रभाव
प्रयोगवाद में स्वीकार किया गया है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा
सकता। हृदय-पक्ष को भी प्रयोगवाद में बड़ा महत्व मिला। हृदय से निसृत
भावनाओं को बुद्धि से भी अधिक महत्ता दी गई है। क्रिया एवं ज्ञान पर भावना
की स्पष्ट छाप है, प्रयोगवाद इस तथ्य पर बल देता है।

बालक लघु प्रौढ़ नहीं, प्रत्युत भावी मनुष्य है—विकासवाद के इस
सिद्धान्त को प्रयोगवाद पूर्णतया स्वीकार करता है। प्रयोगवाद प्राचीन मनोवैज्ञा-
निकों की उस धारणा की अवहेलना करता है जिसके अनुसार बालक को 'लघु
प्रौढ़' के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रौढ़ एवं बालकों की वृत्ति, विचार
एवं भावनाओं की क्रिया-भूमि पृथक है। एतदर्थ प्रयोगवाद के समर्थक बालकों
की शिक्षा का नियोजन करते समय उनकी तत्कालीन वृत्तियों की दृष्टि में रखने
की भावना पर पर्याप्त जोर देते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रयोगवाद
का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भावनाओं एवं तथ्यों से अपेक्षित तत्व ग्रहण कर
सिद्धान्त का सहज, सुगम एवं व्यावहारिक वातावरण प्रदान करता है। इसके
अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि प्रयोगवाद नवीन विकासवादी मनोवैज्ञानिक
सिद्धान्तों को स्वीकार कर अव्यावहारिक एवं निर्विषयक तथ्यों की अवहेलना ही
नहीं, वरन् विरोध करता है। कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि प्रयोगवाद
के सिद्धान्त का मनोविज्ञान के सिद्धान्त से सम्बन्ध है।

प्रयोगवाद तथा अन्य सिद्धान्त

प्रयोगवाद और आदर्शवाद का अन्तर

१. प्रयोगवाद अध्यात्मवाद की सत्ता स्वीकार नहीं करता। यह आ

1. Faculty Psychology. 2. Disinterested. 3. Objective
Dynamic Psychology.

वैयक्तिक चेतना को प्रधानता देता है। इसके विपरीत आदर्शवाद 'प्रकृति पुरुष एवम् परमात्मा' को एक ही आध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित मानता है। आदर्शवादी विचारक आध्यात्म तत्व की सत्ता का समर्थन करते हैं। आदर्शवाद के अनुसार अध्यात्म चेतना ही मानव जीवन का मूल है। यह आध्यात्म तत्व किसी शाश्वत सत्ता का प्रतिरूप है, परन्तु प्रयोगवाद किसी चिरन्तन सत्ता की स्थिति स्वीकार नहीं करता।

२. आदर्शवाद बुद्धि को ही सभ्यता एवं नैतिकता की जननी मानता है जब कि प्रयोगवाद भावना और परिस्थिति को इन का आधार मानता है। एक बुद्धि पक्ष को प्रधानता देता है तो दूसरा हृदय अथवा भावना पक्ष को।

३. आदर्शवादी विचार की सत्यता का विश्वासी है। वह व्यक्त जगत को मिथ्या किंवा क्षणभंगुर समझता है। इसके विपरीत प्रयोगवादी भौतिक प्रगति एवं मानव-मंगल की भौतिक उपयोगिता को ही महत्वपूर्ण मानता है। प्रयोगवाद मानव की जटिल समस्याओं का समाधान करने वाली शक्ति को सत्य मानता है। यही कारण है कि समाधान की बदलती विधियों के साथ सत्य में भी इसके प्रतिपादक परिवर्तन देखते हैं, उसे चिरन्तन नहीं मानते। आदर्शवाद विचारों को केंद्र शक्ति मानता है, जब कि प्रयोगवाद क्रियाओं को प्रधानता देता है।

४. प्रयोगवाद एक विकासवादी सिद्धान्त है। यह मनुष्य के लिए नवीन पद्धतियाँ एव समस्याओं के लिए नवीन सत्यों की खोज करता है। आदर्शवाद के सिद्धान्त स्थिर हैं। उसमें नये दृष्टिकोणों के प्रस्तुत करने की छूट नहीं है। 'रॉस' के मतानुसार प्रयोगवाद एव आदर्शवाद की दूरी कम करने के लिए आदर्शवादियों का प्रगतिपरक होना आवश्यक है।

५. प्रयोगवाद शिक्षा विधि एव शिक्षा के लिए अपेक्षित साधनों को प्रधानता देता है। परन्तु आदर्शवाद शिक्षा के लिए महान् उद्देश्य प्रदान करता है। आदर्शवाद के प्रतिपादक शिक्षा में आध्यात्मिक गुणों को अधिक महत्व प्रदान करने के पक्षपाती हैं। परन्तु प्रयोगवाद के समर्थक मानव के उपयोगी गुणों को ही शिक्षा क्षेत्र में प्रधानता देना चाहते है।

६. प्रयोगवाद जगत के परिवर्तन को महत्वपूर्ण है
के अनुसार जगत के इसी परिवर्तन से नयी समस्याओं का जन्म

रखते ही हैं। ऐसी स्थिति में उनका पूर्ण रूप से निर्विषयक होना सम्भव नहीं
इसके विपरीत प्रकृतिवाद वस्तु-विज्ञान के प्राकृतिक नियम को सार्वभौम मान लेत
है और उसको निर्विषयक भी मान लेता है।

प्रयोगवाद की समीक्षा

दोष—

१. मनुष्य मनोयोग से उसी कार्य को करना चाहता है जिसमें किस
उद्देश्य की पूर्ति हो सके। प्रयोगवाद निश्चित आदर्श एवं मान्यताओं की अवहेलन
कर उद्देश्य की महत्ता की उपेक्षा करता है। यह प्रयोगवाद का बहुत बडा अभा
है। उद्देश्य रहित शिक्षा का संयत संचालन नहीं हो पाता।

२. बुद्धि को सहज वृत्ति, अनुभूति एवं भावना की कठपुतली बना देन
मानव की विवेक-शक्ति की उपेक्षा करना है। विवेक-शक्ति की उपेक्षा करना प
वृति को प्रबल करना है। प्रयोगवाद बुद्धि को गौण स्वरूप देकर मानव को प
जीवन की ओर अग्रसर करता है। वास्तव में बुद्धि मानव की नियन्त्रिका शक्ति
है, उसको मनः प्रवृत्तियों से नियन्त्रित करना उस महान शक्ति की उपेक्षा करन
है, जो मनुष्य को विभूति स्वरूप मिली है। प्रयोगवाद ने बुद्धि को गौण स्वरू
देकर, पशुवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है।

३. चिरन्तन सत्य एवं मान्यताओं को पूर्णतया अस्वीकार करना प्रयोगवा
की सबसे बड़ी कमी है। सत्य, युग, वातावरण एवं समस्याओं की उपयोगिता क
उपज मात्र नहीं हैं। जीवन की आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णतया अवहेलना करन
भी समीचीन नहीं। सत्य एवं मान्यतायें हमें आधार प्रदान करती हैं, उनको पूर्ण
तया उपेक्षित करने की प्रयोगवादी विचारधारा दोष पूर्ण है।

४. प्रयोगवाद भौतिक वृत्तियों को ही जीवन के लिए महत्वपूर्ण मानता है
जिससे शिक्षा केवल रुपये का साधन बनकर रह जाती है। फलस्वरूप सांस्कृति
उत्थान की गति अवरुद्ध होती है।

गुण—

१. प्रयोगवाद ने बालक के व्यक्तित्व को ही शिक्षा का केन्द्र-स्थान मान
है। प्रयोगवाद ने केवल पुस्तकीय ज्ञान को ही शिक्षा का मध्यबिन्दु नहीं बनाया
फलस्वरूप बालकों को रूढ़ि परम्पराओं के कारागार से

: समाधान के लिए नूतन मार्गों का अन्वेषण होता है । नये सत्य एवं
ायों के निर्माण का प्रयोगवाद समर्थन करता है । यह विपरीत
' वर्तमान को उसकी समस्याओं के समाधान के लिए पर्याप्त नहीं
आदर्शवाद जीवन एवं जगत के लिए 'सत्य' और 'मान्यताओं', को
अपरिवर्तनीय मानता है । आदर्शवाद अपने सत्य, आदर्श एवं मान्यताओं
नयों को बस्तुगत नहीं मानता । परिस्थितियों से यह अपने आदर्शों
ही नहीं जोड़ता ।

प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद की तुलना

ाश्वत एवं आदर्श के लिए प्रकृतिवाद में कोई स्थान नहीं । जब कि
ायोग एवं अनुभव सिद्ध आदर्शों एवं मान्यताओं को स्वीकार करता
ाश्वत चिरन्तन नहीं मानता ।

प्रयोगवाद हृदय-पक्ष का समर्थक है । एक मानवीय विचारधारा होने
में अनुभूति एवं भावना का पर्याप्त महत्व है । मानव जीवन से
उपयोगी तत्वों पर प्रयोगवाद बल देता है । परन्तु प्रकृतिवाद वैयक्तिक
समर्थन नहीं करता । यह एक यान्त्रिक विचारधारा है ।

प्रयोगवाद ने शिक्षा-विधि को महत्वपूर्ण मानकर उसको विकसित कर
न्त किया । परन्तु इस सिद्धान्त ने शिक्षा को उत्तम आदर्श नहीं दिया ।
से प्रकृतिवाद एवं प्रयोगवाद में कम अन्तर है, क्योंकि प्रकृतिवाद ने
द की भाँति केवल शिक्षा विधि का ही विकास किया । शिक्षा को
व उत्तम आदर्श इस विचार धारा से भी प्राप्त नहीं हो सके ।

प्रयोगवाद एक विधानात्मक[3] विचारधारा है, जब कि प्रकृतिवाद का
ात्मक है । रूसो ने जिस निषेधात्मक शिक्षा को प्रतिपादित किया है,
में यही प्रकृतिवादी विचारधारा है ।

प्रयोगवाद के अनुसार कोई नियम निर्विषयक[4] अथवा सार्वभौमिक नहीं
स्थितियाँ तथा वातावरण नियमों को परिवर्तित करते रहते हैं । इस
के अनुसार मानव की मूलप्रवृत्ति अपनी तुष्टि के लिए नये नियमों
किया करती है । अतएव नियम विषय से कुछ न कुछ सम्बन्ध तो

uth. 2. Values. 3. Positive. 4. Objective.

रखते ही हैं। ऐसी स्थिति में उनका पूर्ण रूप से निर्विषयक होना सम्भव नहीं। इसके विपरीत प्रकृतिवाद वस्तु-विज्ञान के प्राकृतिक नियम को सार्वभौम मान लेता है और उसको निर्विषयक भी मान लेता है।

प्रयोगवाद की समीक्षा

दोष—

१. मनुष्य मनोयोग से उसी कार्य को करना चाहता है जिसमें किसी उद्देश्य की पूर्ति हो सके। प्रयोगवाद निश्चित आदर्श एवं मान्यताओं की अवहेलना कर उद्देश्य की महत्ता की उपेक्षा करता है। यह प्रयोगवाद का बहुत बड़ा अभाव है। उद्देश्य रहित शिक्षा का सयत सचालन नहीं हो पाता।

२. बुद्धि को सहज वृत्ति, अनुभूति एवं भावना की कठपुतली बना देना मानव की विवेक-शक्ति की उपेक्षा करना है। विवेक-शक्ति की उपेक्षा करना पशु वृत्ति को प्रबल करना है। प्रयोगवाद बुद्धि को गौण स्वरूप देकर मानव को पशु जीवन की ओर अग्रसर करता है। वास्तव में बुद्धि मानव की नियन्त्रिका शक्ति है, उसको मनः प्रवृत्तियों से नियन्त्रित करना उस महान शक्ति की उपेक्षा करना है, जो मनुष्य को विभूति स्वरूप मिली है। प्रयोगवाद ने बुद्धि को गौण स्वरूप देकर, पशुवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है।

३. चिरन्तन सत्य एवं मान्यताओं को पूर्णतया अस्वीकार करना प्रयोगवाद की सबसे बड़ी कमी है। सत्य, युग, वातावरण एवं समस्याओं की उपयोगिता की उपज मात्र नहीं हैं। जीवन की आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णतया अवहेलना करना भी समीचीन नहीं। सत्य एवं मान्यतायें हमें आधार प्रदान करती हैं, उनको पूर्णतया उपेक्षित करने की प्रयोगवादी विचारधारा दोष पूर्ण है।

४. प्रयोगवाद भौतिक वृत्तियों को ही जीवन के लिए महत्वपूर्ण मानता है, जिससे शिक्षा केवल रुपये का साचा बनकर रह जाती है। फलस्वरूप सांस्कृतिक उत्थान की गति अवरुद्ध होती है।

गुण—

१. प्रयोगवाद ने बालक के व्यक्तित्व को ही शिक्षा का केन्द्र-स्थान माना है। प्रयोगवाद ने केवल पुस्तकीय ज्ञान को ही शिक्षा का मध्यबिन्दु नहीं बनाया। फलस्वरूप बालकों को रूढ़ि परम्पराओं के कारागार से निक[illegible]

समस्याओं के समाधान के लिए नूतन सत्यों का अन्वेषण होता है। नये सत्य एवं नव्य मान्यताओं के निर्माण का प्रयोगवाद समर्थन करता है। वह चिरन्तन सत्यों को ही वर्तमान की उभरती समस्याओं के समाधान के लिए पर्याप्त नहीं समझता। आदर्शवाद जीवन एवं जगत के लिए 'सत्य'[1] और 'मान्यताओं'[2], को स्थिर एवं अपरिवर्तनीय मानता है। आदर्शवाद अपने सत्य, आदर्श एवं मान्यताओं को परिस्थितियों की अनुगामी नहीं मानता। परिस्थितियों से वह अपने आदर्शों का सम्बन्ध ही नहीं जोड़ता।

प्रकृतिवाद और प्रयोगवाद की तुलना

१. मान्यता एवं आदर्श के लिए प्रकृतिवाद में कोई स्थान नहीं। जब कि प्रयोगवाद प्रयोग एवं अनुभव सिद्ध आदर्शों एवं मान्यताओं को स्वीकार करता है, उनको केवल चिरन्तन नहीं मानता।

२. प्रयोगवाद हृदय-पक्ष का समर्थक है। एक मानवीय विचारधारा होने के नाते इसमें अनुभूति एवं भावना का पर्याप्त महत्व है। मानव जीवन से सम्बन्धित उपयोगी तत्वों पर प्रयोगवाद बल देता है। परन्तु प्रकृतिवाद वैयक्तिक भावना का समर्थन नहीं करता। यह एक यान्त्रिक विचारधारा है।

३. प्रयोगवाद ने शिक्षा-विधि को महत्वपूर्ण मानकर उसको विकसित कर उत्तमता प्रदान किया। परन्तु इस सिद्धान्त ने शिक्षा को उत्तम आदर्श नहीं दिया। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद एवं प्रयोगवाद में कम अन्तर है, क्योंकि प्रकृतिवाद ने भी प्रयोगवाद की भाँति केवल शिक्षा विधि का ही विकास किया। शिक्षा को नये लक्ष्य एवं उत्तम आदर्श इस विचार धारा से भी प्राप्त नहीं हो सके।

४. प्रयोगवाद एक विधानात्मक[3] विचारधारा है, जब कि प्रकृतिवाद का स्वरूप निषेधात्मक है। रूसो ने जिस निषेधात्मक शिक्षा को प्रतिपादित किया है, उसके मूल में यही प्रकृतिवादी विचारधारा है।

५. प्रयोगवाद के अनुसार कोई नियम निर्विषयक[4] अथवा सार्वभौमिक नहीं होता। परिस्थितियाँ तथा वातावरण नियमों को परिवर्तित करते रहते हैं। इस विचारधारा के अनुसार मानव की मूलप्रवृत्ति अपनी तुष्टि के लिए नये नियमों का निर्माण किया करती है। अतएव नियम विषय से कुछ न कुछ सम्बन्ध तो

---

1. Truth. 2. Values. 3. Positive. 4, Objective.

भावों में सामयिक परिस्थितियों तथा परिणामों के अनुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। प्रयोगवादियों का विश्वास है कि मनुष्य में एक ऐसी क्षमता है जिससे वह वातावरण को अपने अनुकूल बना सकता है। उनकी धारणा है कि अपनी समस्याओं के सुलझाव के क्रम में मनुष्य एक उच्चतर तथा श्रेष्ठतर वातावरण का निर्माण कर सकता है, और सदा करता रहता है। अत सभी मान्यतायें मनुष्य द्वारा ही निर्मित की गई हैं।

प्रयोगवादी का व्यक्तिवाद[1] में दृढ़ विश्वास है। अतः शिक्षा के क्रम में वह बालक तथा उसकी प्रकृति के अध्ययन पर विशेष बल देता है। प्रयोगवादी अपने आदर्श की धुन में व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए शिक्षा के उद्देश्य और स्वरूप को प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार परिवर्तित करने की भी माग करने में संकोच नहीं करता। इस अर्थ में प्रयोगवादी अपने 'आदर्श' में आदर्शवादी से बाजी मार ले जाता है।

शिक्षा में प्रयोगवाद

इस विश्व में क्षण-क्षण पर परिवर्तित होने वाली भावना, स्वरूप एवं परिस्थितियों से मानव की आवश्यकतायें नया-नया रूप धारण करती रहती हैं। परिवर्तन की इसी महाशक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप देख कर प्रयोगवादियों की सत्य की शाश्वत सत्ता की प्राचीन विचारधारा में विश्वास नहीं रहा। प्रयोगवाद के अनुसार जीवन के बदलते स्वरूप के कारण सत्य का भी स्वरूप बदलता रहता है।

वातावरण के परिवर्तन के साथ-साथ नवीन समस्याओं का जन्म होता रहत है। शिक्षा को प्रयोगवाद इन समस्याओं के समाधान का साधन मानता है। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षा का समाज की जटिल समस्याओं को हमारे अनुकूल बनाने तथा समाधान का मार्ग प्रशस्त करने में पूर्ण सक्षम होना आवश्यक है।

प्रयोगवाद मानव कल्याण के उपयोगी तथ्यों को ही अध्येय विषय के रू में स्वीकार करते हैं। इस विचारधारा के अनुकूल शिक्षा का उद्देश्य, गठन स्वरूप, एवं क्रम मानव-मंगल की भावना के अनुकूल ही होना चाहिए। महान शिक्षा-शास्त्री, 'डीवी' ने उपर्युक्त भावना को लेकर ही शिक्षा में प्रयोगवाद क व्यवहार किया। इस विचारधारा का शिक्षा-क्षेत्र पर ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ कि वर्तमान शिक्षा-काल को ही हम प्रयोगवाद का युग कह सकते हैं।

1. Individualism.

शिक्षा का स्वरूप अपने पूर्ण रूप में क्रियाओं का एक पुञ्जीभूत समूह है। बुद्धि, नैतिकता, कला और धर्म इन क्रियाओं के अंग हैं। यही क्रियायें बालक के उद्देश्य का निर्माण करती हैं और उसका मूल्य निर्धारित करती हैं। ये क्रियायें ही ऐसे सम्बल का कार्य करती हैं जिसके आधार पर बालक परिस्थितियों पर विजय पाता, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता तथा अपनी जटिल समस्याओं का समाधान खोजता है। प्राचीन रूढ़िग्रस्त जड़वादिता के गहन अन्धकार से शिक्षा को निकाल कर चेतना का भव्य प्रकाश देने का श्रेय प्रयोगवाद को ही है। इस नवीन विचारधारा ने अन्य परम्परा का आमूल अन्त कर दिया। प्रयोगवाद ने शिक्षा को स्वाभाविकता प्रदान की जिससे बालक की प्रतिभा को बलात् लादे विचारों के बोझ होने से अवकाश मिला, और मिला उसकी चिन्तन, मनन एवं गवेषणा की शक्ति को सहज विकास। फलस्वरूप बालक प्रयोग द्वारा प्रमाणित स्वयं खोजे हुए विचारों (जो उसके अनुभव से भी सिद्ध हो गये हों) से स्वतः अपने उद्देश्य का अन्वेषक बनने के लिए स्वतन्त्र हो गया। प्रयोगवाद आगमन की अपेक्षा निगमन विधि को अधिक महत्व देता है। प्रयोगवाद के प्रतिपादक संस्कृति के सोपान बनाने वाली समस्त प्राचीन क्रियाओं की बालकों द्वारा होने वाली पुनरावृत्ति की भावना को महत्व देते हैं। 'प्राथमिक शिल्प' को महत्व देने वाली प्रयोगवादी विचारधारा का आधार यही है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अपने अनेक मौलिक विचारों के साथ-साथ प्रयोगवाद 'पुनरावृत्ति के सिद्धान्त' का भी समर्थक है। किन्तु बहुधा प्रयोगवाद ने शिक्षा को एक नया मोड़ तथा नया उद्देश्य देकर रूढ़िवादी परम्परा के कारागार से मुक्त किया।

शिक्षा में प्रयोगवाद के प्रमुख प्रवर्तक विलियम जेम्स और डीवी माने जाते हैं। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान के लिए ज्ञान का अर्जन करना नहीं है। बौद्धिक, धार्मिक तथा सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी शिक्षा के विविध उपकरण बालक को ऐसी क्रियाओं से सम्बन्धित हों कि वह उनसे मान्यताओं की अनुभूति स्वयं कर सके। ये क्रियायें ऐसी हों कि उनसे बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और वे उसके जीवन के लिए उपयोगी हों। साधारणतः 'शिक्षा' दर्शन का क्रियात्मक रूप है, परन्तु प्रयोगवादी के अनुसार 'शिक्षा-क्रिया' से दर्शन

का निर्माण होना चाहिए। शिक्षा उन मान्यताओं और भावों का निर्माण करती है जिससे दर्शन अपना रूप प्राप्त कर सकता है।

प्रयोगवाद और शिक्षा के उद्देश्य

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि प्रयोगवादी किसी पूर्व-निर्धारित मान्यताओं[1] को लेकर नहीं चलना चाहता। अतः शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किसी पूर्व-निर्धारित मान्यता के आधार पर न होकर मनुष्य के अनुभवों के आधार पर[2] होगा। अतः प्रयोगवादी के लिए शिक्षा के उद्देश्यों की समस्या का समाधान कोई कठिन नहीं। प्रयोगवादी बालक को ऐसा परिस्थितियों में रखना चाहता है कि बालक उत्तम आदर्शों की रचना स्वयं कर ले। बालक पर बाह्य प्रभुत्व अथवा प्रतिमानों को लादना प्रयोगवाद को मान्य नहीं। वह बालक की प्रवृत्तियों तथा अभिरुचियों को उसकी आवश्यकतानुसार नई-नई मान्यताओं के निर्माण के हेतु उचित दिशा में मोड़ना चाहता है। इस क्रम में बालक पर वह किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहेगा। प्रयोगवादी बालक में एक उपक्रमणशील[3] तथा गत्यात्मक[4] मस्तिष्क की रचना करना चाहता है। प्रयोगवादी के अनुसार ऐसा मस्तिष्क ही अज्ञात भविष्य में भी नई-नई मान्यताओं के निर्धारण की क्षमता रखेगा। उसके अनुसार ऐसे मनुष्य ही ऐसे समाज का पुनर्निर्माण कर सकते हैं जहाँ मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है।

प्रयोगवाद के अनुसार पाठ्यक्रम का सिद्धान्त[5]

प्रयोग के अनुसार पाठ्यक्रम की रचना के निम्नलिखित सिद्धान्त निकलते हैं:—

१—उपयोगिता का आधार[6]।

२—बालक की स्वाभाविक रुचि के आधार[7] का सिद्धान्त।

३—बालक की क्रियाओं और अनुभवों का आधार।

४—संघटन का आधार[8]।

नीचे हम इन चारों पर अति संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

---

1. Predetemined values. 2. On the basis of man's own experiences 3. [illegible]
5. [illegible]
U[illegible]
B[illegible]

१. उपयोगिता का आधार—

इस सिद्धान्त के अनुसार बालक को केवल उपयोगी अनुभव ही देना चाहिए। जिसका कोई उपयोग न जान पड़े वैसा अनुभव बालक को देना व्यर्थ है। बालक को ऐसे अनुभव देने चाहिए जिनसे वह अपनी वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु आवश्यक ज्ञान[1] और कौशल[2] प्राप्त कर सके।

इस धारणा के अनुसार प्रयोगवादी पाठ्यक्रम में साहित्य, भाषा, स्वास्थ्य-विज्ञान, व्यायाम-शिक्षा, भूगोल, इतिहास तथा गणित को स्थान दिया जायगा। तथा बालिकाओं की शिक्षा में गृह-विज्ञान को स्थान देना होगा। इन विविध विषयों में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर जीवन की वास्तविकताओं[3] का सामना करने के हेतु सामर्थ्य उत्पन्न करना है। प्रयोगवादी व्यावसायिक शिक्षा को भी शिक्षा क्रम में समुचित स्थान देने का पक्षपाती है। हमें यह ध्यान रखना है कि उपयोगितावाद की बात करके प्रयोगवादी शिक्षा क्षेत्र में सकीर्णता नहीं लाना चाहता। उपयोगितावाद का उसका एकमात्र उद्देश्य मानव[4] की उन्नति करना है।

२. बालक की स्वाभाविक रुचि का आधार—

प्रयोगवादी के अनुसार पाठ्यक्रम का यह दूसरा सिद्धान्त माना जा सकता है। इसके अनुसार पाठ्यक्रम की रचना बालक की विभिन्न विकासावस्था तथा अभिरुचियों के अनुसार करना चाहिए। उदाहरणार्थ; प्रारम्भ में बालक बातचीत, रचना तथा कलात्मक क्रियाओं में अधिक रुचि दिखलाता है। अतः प्रारम्भिक कक्षाओं में संवाद, पठन, लेखन, गणना, प्रकृति-अध्ययन, हस्तकार्य तथा चित्र-कला को स्थान देना चाहिए।

३. बालक की क्रियाओं और अनुभवों का आधार—

इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा एक क्रियाशील प्रक्रिया है, न कि केवल विभिन्न विषयों का सीखना। अतः पाठ्यक्रम में प्रयोगवादी साधारण विषयों के अतिरिक्त सामाजिक, स्वतन्त्र तथा साभिप्राय क्रियाओं को भी स्थान देना चाहता है। स्कूल में उन क्रियाओं का भी चलना आवश्यक है जो समाज में

---

1 *Knowledge.* 2. *Skill.* 3. *Realities of life.* 4. *To elevate* the humanity.

विविध आवश्यकताओं के अनुसार चला करती है। यदि पाठ्यक्रम का आयो
इस उद्देश्य के अनुसार किया जा सका तो बालक में निश्चित ही नैतिक स
और आत्मनिर्भरता का विकास होगा और उसे नागरिकता की उत्तम शि
मिलेगी।

४. संघटन का आधार—

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रयोगवादी ज्ञान तथा कौशल में एक संघटन स्था
करना चाहता है। यदि पाठ्यक्रम विभिन्न विषयों के रूप में विभाजित कर दि
गया तो संघटन के उद्देश्य की पूर्ति न होगी अर्थात् तब ज्ञान और कौशल में
आवश्यक सामञ्जस्य न स्थापित हो सकेगा। इससे यह तात्पर्य न निकाल
चाहिए कि प्रयोगवाद के अनुसार पाठ्यक्रम को विभिन्न विषयों में विभाजित
करना चाहिए, क्योंकि वे भी मानते हैं कि पाठ्यक्रम को विषयों में विभा
करना लाभप्रद है। 'प्रयोगवादियों का इस सम्बन्ध में केवल यह कहना है
विभिन्न विषयों में एक दृढ़ पार्थक्य स्थापित करना शिक्षा के उद्देश्य के हि
घातक है। विभिन्न पाठ्य-विषय एक ही ज्ञान रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखायें
अतः उनमें एक परस्पर¹ सम्बन्ध का समझ सकना अत्यन्त आवश्यक है।
परस्पर-सम्बन्ध को समझने से ही ज्ञान और कौशल में 'अन्ततोगत्वा' एक आवश
सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है।

प्रयोगवाद के अनुसार शिक्षण-सिद्धान्त²

शिक्षण-सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रयोगवाद की देन बहुत है। आजकल के प्र
सभी स्कूल इन देनों से बड़े ही प्रभावित हैं। प्रयोगवाद के अनुसार अध्यापक
सदैव प्रयोगों में रत रहना चाहिए। अध्यापक को पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त तथा
नित परिपाटी पर ही चलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे वास्त
जीवन की परिस्थितियों की परीक्षा कर तदनुसार किसी शिक्षण-सिद्धान्त की व्य
हारिकता की परख करनी चाहिए। सर्वप्रथम प्रयोगवाद बालक के जीवन तथा उ
इच्छाओं और उद्देश्यों में एक सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता है। इस सम
के आधार पर शिक्षण-प्रक्रिया को प्रयोजनात्मक³ बनाना चाहिए। शिक्षण-प्रक्रि

1. Correlation. 2. Principle of Teaching according
Pragmatism. 3. Purposivism.

ऐसी हो कि उससे बालक में सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति इस प्रकार की जा
आगामी समस्याओं के सुलझाने के लिए भी वह सामर्थ्य पाता चले। ग्रतः शि
पद्धति में साभिप्राय क्रियाओं का समावेश ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है। ऐसा होने
बालक के लिए शिक्षा बड़ी रुचिकर हो जायगी ग्रौर वे सरलता से ग्राव
शिक्षा ग्रहण करने में सफल होंगे।

प्रयोगवादी 'सिद्धान्त' ग्रौर 'प्रयोग'[1] में एक दृढ़ सम्बन्ध देखना चाहता
ग्रतः बालक की शिक्षा में क्रियाशीलता को वह प्रधान स्थान देना चाहता
उसके ग्रनुसार बालक ग्रपने ग्रनुभवों द्वारा शीघ्र ही शिक्षा ग्रहण कर
है। ग्रात्मानुभव को 'प्रयोगवादी' बालक के शिक्षा क्रम में प्रमुख स्थान
चाहता है, परन्तु यह याद रखना है कि इस ग्रात्मानुभव का जीवन की वास्त
परिस्थितियों तथा उनकी समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होना ग्रत्यन्त ग्रावश्यक

प्रयोगवाद शिक्षण-प्रक्रिया के संगठन पर बल देता है। मनुष्य का मस्ति
संगठित रूप में काम करता है, ग्रतः प्रयोगवाद बालक के ग्रनुभवों के सं
में दृढ़ विश्वास रखता है। इस संगठन का तात्पर्य यह है कि पढ़ाये जाने
विभिन्न विषयों में एक समन्वय का स्थापित होना ग्रावश्यक है। यह सम
साभिप्राय क्रियाओं द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि समस्त क्रियाओं में
ही ग्रभिप्राय की उपस्थिति बालक को समझायी जा सके तो इस समन्वय
ग्राधार उसे सरलता से दिया जा सकता है, ग्रौर इस प्रकार शिक्षण के वि
रूपों में एक सम्बद्धता दिखलाई पड़ेगी। इस सम्बद्धता के विचारधारा के सा
ग्राधुनिक परीक्षा-प्रणाली तथा विशेषज्ञ-शिक्षकों का स्थान प्रयोगवाद की दृष्टि
निर्बल पड़ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवाद व्यावहारि
पर बल देता है। इस बल के फलस्वरूप प्रयोगवाद ने प्रॉजेक्ट[2]-मेथड या ग्रभि
पद्धति का प्रतिपादन किया है। ग्रागे इस पद्धति के विवेचन के लिए एक
ग्रध्याय ही दिया गया है। ग्रतः यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त ज
पड़ता है कि इस पद्धति के ग्रनुसार स्कूल, शिक्षण-पद्धति तथा उपकरण ग्र
पाठ्यक्रम की व्यवस्था स्वयं बालक के दृष्टिकोण से की जाती है।

1. Principles and Practice. 2. Project Method.

प्रयोगवाद और विनय की समस्या

विनय की समस्या[1] के संबंध में प्रयोगवाद सामाजिक दृष्टिकोण अपनाता है। प्रयोगवाद का विश्वास है कि स्वतन्त्र, साभिप्राय, सुखद तथा सामूहिक क्रियाओं से एक सामाजिक वातावरण का सृजन होता है। इन क्रियाओं से बालकों में स्वतः आत्म-नियंत्रण की शक्ति प्राप्त होती है। इनसे उन्हें नैतिकता और चरित्र-निर्माण की अनुपम शिक्षा प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में स्कूल को विनय की समस्या का सामना ही न करना होगा।

प्रयोगवादी शिक्षकों की देन[2]

विलियम जेम्स[3]—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि प्रयोगवाद ने संसार भर के शिक्षा-सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है। प्रयोगवादी शिक्षकों में विलियम जेम्स और जॉन डीवी[4] के नाम प्रमुख हैं। जेम्स विज्ञान और धर्म में एक समन्वय देखना चाहता है। इस समन्वय को प्राप्त करने के लिए उसने प्रयोगवाद का सहारा लिया और प्रयोगवाद को ही उसने शिक्षा की उत्तम नींव समझा। उसने मानसिक क्रियाशीलता[5] के क्रियात्मक स्वरूप पर बल दिया और ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार किया[6]। जेम्स का विश्वास है कि मस्तिष्क को सदा सुन्दर-भद्दा, अच्छे-बुरे, ठीक-गलत तथा सत्य-असत्य में चुनाव करना होता है। मनुष्य का चुनाव अच्छा अथवा बुरा हुआ यह चुनाव के फल पर निर्भर करता है। जेम्स मनुष्य को एक व्यावहारिक प्राणी मानता है और उसके मस्तिष्क का प्रधान कार्य सांसारिक जीवन में उसे व्यवस्थित करना है। जेम्स की शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कृतियाँ सदैव अमर रहेंगी। जेम्स से प्रेरणा लेकर डीवी ने उसके सिद्धान्त का और आगे प्रतिपादन किया।

सारांश

प्रयोगवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इसकी अर्वाचीन विचारधारा के प्रणेता विलियम जेम्स, एवं विकसित करने

1. The Problem of Discipline. 2. Contribution of Pragmatic Educators. 3. William James (1842-1910) 4. John Dewey (1859-1952) 5. Functional nature of mental activity. 6. Accepted knowledge as an instrument.

वाले जान डीवी और "शिलर" थे। सिद्धान्त के नियोजनकर्ता "जान डीवी" थे। प्रयोगवाद ने जीवन के दार्शनिक आधारों में कुछ परिवर्तन किया।

वस्तु के महत्ता को परीक्षा का मापदण्ड उपयोगिता है। क्रिया का व्यवहार पक्ष ही भावना का उद्गम प्रयोगवाद में माना गया है।

प्रयोगवाद के मूल सिद्धान्त

यह शान्त एवं अनिश्चित सत्य का प्रतिपादक है। सत्य को सर्वेव निर्माण की स्थिति में माना गया है। जो उपयोगी है वही उपयुक्त है। वस्तु के महत्व का मापदण्ड उसका निष्कर्ष है। यह जीवन के उद्देश्य एवं मान्यता के शाश्वत रूप में विश्वास नहीं करता। नवीन लक्षों एवं मूल्यों का प्रतिपादन ही इस सिद्धान्त के अनुसार विकास का परिचायक है। 'क्रिया' को 'ज्ञान' से भी अधिक महत्व दिया जाता है।

प्रयोगवाद के प्रमुख स्वरुप

१. मानवीय, २. प्रयोगात्मक, और ३. जीव-शास्त्रीय।

प्रयोगवाद तथा मनोविज्ञान

निष्काम कर्म एवं निर्विषयक ज्ञान का प्रयोगवाद विरोधी है। यह शक्ति मनोविज्ञान को नहीं स्वीकार करता। हृदय-पक्ष को भी प्रयोगवाद में महत्व नहीं दिया गया है। 'क्रिया' एवं 'ज्ञान' पर भावनाओं की छाप है।

प्रयोगवाद और आदर्शवाद का अन्तर

प्रयोगवाद वैयक्तिक चेतना को प्रधानता देते हुए आध्यात्मिकता की अवहेलना करता है, जब कि आदर्शवाद आध्यात्मिकता का समर्थक है। आदर्शवाद बुद्धिपक्ष को और प्रयोगवाद भावनापक्ष को प्रधानता देता है। प्रयोगवाद मानव की समस्याओं के समाधान करने वाली शक्ति को प्रधान मानता है और आदर्शवाद भौतिक उपयोगिता पर बल देता है। आदर्शवाद के सिद्धान्त स्थिर हैं और प्रयोगवाद के परिवर्तनीय।

प्रयोगवाद और आदर्शवाद में निकटता लाने के लिए आदर्शवादियों का प्रगतिवादी होना आवश्यक है। प्रयोगवाद शिक्षा क्षेत्र में मानव के उपयोगी गुणों को प्रधानता देता है और आदर्शवाद आध्यात्मिकता को। आदर्शवाद जगत एवं जीवन

के लिए सत्य तथा मान्यताओं को स्थिर समझता है, जब कि प्रयोगवाद इसे परिवर्तित समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त नहीं समझता।

प्रयोगवाद और प्रकृतिवाद

प्रयोगवाद हृदय पक्ष का समर्थन करता है। प्रकृतिवाद इसे एक यान्त्रिक विचारधारा मानता है। दोनों वादों ने शिक्षा-विधि को अधिक महत्व प्रदान करके विकसित किया। प्रकृतिवाद का स्वरूप निषेधात्मक है। प्रयोगवाद एक विधानात्मक विचारधारा है।

प्रयोगवाद की समीक्षा

दोष—

उद्देश्य की महत्ता की अवहेलना करना। बुद्धि को सहजवृत्ति, अनुभूति एवं भावना की कठपुतली बना देना। मानव की विवेकशक्ति की अवहेलना करना। पशुवृत्ति को प्रोत्साहन देना। चिरतन सत्य एवम् मान्यताओं की अवहेलना करना, प्रयोगवाद के मुख्य दोष हैं। इस प्रकार शिक्षा केवल मुद्रा साधन बन जाती है।

गुण—

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को ही शिक्षा का केन्द्र मानना। रूढ़ियों का सर्वनाश करना। "प्रोजेक्ट मेथड" द्वारा बालकों की रचनात्मक प्रवृत्तियों को विकसित करना। क्रिया को विचार से अधिक महत्व देना। समष्टिवादी शिक्षा पर बल देना आदि आदि प्रयोगवादी शिक्षा के श्लाघनीय गुण हैं। शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके उसे स्वतन्त्र गति से नूतन पथ पर अग्रसर करने का श्रेय प्रयोगवाद को ही है।

प्रयोगवादी विचारधारा

चिरन्तन, पूर्वनिश्चित तथा प्रचलित आदर्शों में विश्वास नहीं। पूर्व निर्धारित मान्यता के अनुसार चलना विकास के लिए घातक। व्यक्ति को स्वयं मान्यताओं का निर्धारण करना। सुखद निष्कर्ष ही सत्य है। सामयिक परिस्थितियों द्वारा विचारों और भावों में परिवर्तन।

व्यक्तिवाद में दृढ़ विश्वास। अतः शिक्षा के क्रम में बालक के अध्ययन पर विशेष बल।

ामाजिक वातावरण का सृजन । इन क्रियाओं से बालकों में आत्मनिदर्शन की
त्ति स्वतः ।

प्रयोगवादी शिक्षकों की देन

विलियम जेम्स और जॉन डीवी प्रमुख ।

विलयम जेम्स—

विज्ञान और धर्म में एक समन्वय प्राप्त करने के लिए प्रयोगवाद का सहारा लिया। प्रयोगवाद को शिक्षा की उत्तम नींव समझा। ज्ञान साधन मात्र। मनुष्य व्यावहारिक प्राणी।

प्रश्न

१—प्रयोगवाद के सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।

२—अन्य वादों से प्रयोगवाद की तुलना कीजिए।

३—शिक्षा में आदर्शवाद और प्रयोगवाद की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। किस प्रकार किसी एक को उत्तम शिक्षा-प्रणाली का आधार बनाया जा सकता है ?

४—शिक्षा में प्रयोगवाद से आप क्या समझते हैं ?

५—पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में प्रयोगवाद का क्या मत है ? इस मत से आ कहा तक सहमत हैं ?

* * *

है जिनसे मानव की सामाजिक और नैतिक समस्याओं का सुलझाव मिल सके। डीवी किसी वस्तु के स्थायित्व की कल्पना करना भ्रमात्मक समझता है, क्योंकि संसार और सारा मानव समाज ही परिवर्तनशील है। डीवी मानव की शक्ति में बड़ा विश्वास रखता है। अतः मानव के सुधार के लिए किसी दैवी शक्ति की कल्पना करना उसे पसन्द नहीं। उसका दृढ़ विश्वास है कि अपनी विविध समस्याओं का समाधान मानव स्वयं निकाल लेगा। डीवी के अनुसार इस समाधान की खोज में व्यक्ति को प्रयोगात्मक विधियों का सहारा लेना है, क्योंकि उसे अपने अनुभवों के आधार पर सीखना है। अतः व्यक्ति को अपनी 'रच नात्मक बुद्धि'[1] पर पूरा भरोसा रखना है। डीवी की धारणा है कि इस प्रकार का विचार दर्शन-शास्त्र को उपयोगितावाद[2] के स्तर पर लाकर उसे नीचे नहीं गिरा देगा। वस्तुतः इस प्रकार का विचार व्यक्ति के अनुभव की सम्भावनाओं को अधिक तर्कपूर्ण और प्रमाण-सिद्ध बना देगा, क्योंकि तब व्यक्ति अपने विचारों की दौड़ान में जीवन की वास्तविक समस्याओं को न भूलेगा।[3]

डीवी जीवन का कोई निश्चयात्मक उद्देश्य नहीं स्थिर करना चाहता। उसके मन में जीवन जल के प्रवाह के सदृश है। यह परिवर्तनशील है। व्यक्ति की वर्तमान समस्यायें भूत की समस्याओं से भिन्न होती हैं। अतः यह नहीं क या सकता कि भविष्य की समस्याओं का रूप क्या होगा।

डीवी के अनुसार 'ज्ञान'[4] और 'अनुभव'[5] में विशेष अन्तर नहीं। ज्ञान पहले अनुभव का होना आवश्यक है। अनुभव में किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति ः प्रयोजन का होना आवश्यक है। अपने अनुभव के सम्बन्ध में यदि व्यक्ति स यह समझने का प्रयत्न करता रहे कि विभिन्न वस्तुओं का उपयोग क्या है त उसका अनुभव सदा सार्थक होगा। सार्थक अनुभव को ही डीवी ज्ञान की सज्ञ देता। अपने वातावरण से सम्बन्धित आवश्यकताओं, उद्देश्यों और इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति जो कुछ अपने स्वभाव में सुसंगठित करता है वही ज्ञान है।[6]

1. Creative Intelligence. 2. Utilitarianism. 3. Dewey, J. Reconstruction in Philosophy, p. 122. 4. Knowledge. 5. Experience. 6. Dewey, J., Democracy and Education, p. 400, Macmillan, New York, 1916.

डीवी किसी 'पूर्व निश्चित' सत्य[1] में विश्वास नहीं रखता। 'सत्य' अथवा 'वास्तविकता'[2] का रूप सदा एक सा नहीं था। डीवी के अनुसार सत्य अथवा वास्तविकता पर 'काल'[3] और 'स्थान'[4] का सदा प्रभाव पड़ा करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो आज के लिए सत्य है वह कल के लिए सत्य नहीं हो सकता और जो एक स्थान के लिए सत्य है वह दूसरे स्थान के लिए सत्य नहीं भी हो सकता। सत्य की परीक्षा प्रयोगवाद समय, स्थान और परिस्थिति की कसौटी पर करना चाहता है। जब तक कोई बात इस कसौटी पर खरी उतरती है तब तक वह सत्य है। जब कोई बात इस कसौटी पर ठीक-ठीक नहीं उतरती तब अर्थ यह होता है कि कोई अन्य बातें प्रतिद्वन्द्वी होकर उसके स्थान को लेने को तैयार हो गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सत्य सनातन नहीं है और वह मानव के अनुभव के परे की वस्तु है।

आगे हम डीवी के शिक्षा-सम्बन्ध विचारों पर दृष्टिपात करेंगे।

डीवी का शिक्षा दर्शन[5]

वर्तमान युग में डीवी प्रयोगवाद का सबसे बड़ा प्रतिपादक रहा है। डीवी ने जेम्स के दर्शनशास्त्र की दूसरी परिभाषा दी है, और उसके शिक्षा-सिद्धान्तों को भी नये रास्ते पर पुनर्संप्राणित किया है। आज की परिवर्तनशील और जटिल वैज्ञानिक सभ्यता के लिए डीवी ने एक ऐसा शिक्षा-दर्शन दिया है जिसका बहुत से लोग समर्थन करते हैं। डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसी सामाजिक कुशलता[6] का विकास करना है जिससे व्यक्ति जीवन की सार्वलौकिक क्रियाओं में स्वतन्त्र रूप से अपने तथा समाज हित के लिए भाग ले सके। उसका विश्वास है कि स्कूल के कार्यों में भाग लेने से शिक्षा के इस उद्देश की पूर्ति सम्भव है। एक आदर्श स्कूल वही है जो समाज का सभी अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है। डीवी के अनुसार बालक के लिए शिक्षा जीवन है, न कि वह आगामी जीवन के लिए उसे तैयार करने की एक प्रक्रिया[7] है। अतः पाठ्यक्रम में वह बहुत सी आव-

1. Truth. 2. Reality. 3. Time. 4. Place. 5. Educational Philosophy of Dewey. 6. Development of Social Efficiency. 7. Education for the child is life rather than a mere preparation for life.

हारिक बातों का समावेश करना चाहता है। डीवी बालक को 'एक विकसित होता हुआ परिवर्तन शील व्यक्तित्व'[1] मानता है। स्कूल एक ऐसा साधन है जो बालक के व्यक्तित्व-विकास में सहायक होता है। डीवी शिक्षा के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधार पर बहुत अधिक बल देता है। अतः उसका शिक्षा-सिद्धांत शिक्षा को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण देता है। डीवी के शिक्षा-दर्शन से हमें कई नए शिक्षा शब्द मिले हैं, जैसे नई शिक्षा,[2] प्रगतिशील शिक्षा[3], प्रॉजेक्ट मेथड या प्रभिक्षेप पद्धति, क्रिया शीलता कार्यक्रम,[4] अनुबन्धित अन्विति[5], आदि आदि। नीचे हम शिक्षा-क्षेत्र में डीवी का कुछ देन की ओर संक्षेप में संकेत करेंगे।

अपने जीवन में अन्तिम ४० वर्षों में डीवी ने शिक्षा-सम्बन्धी सैकड़ों लेख तथा बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ प्रमुख के नाम नीचे दिए जा रहे हैं :

१—इटरेस्ट ऐन्ड एफर्ट ऐज़ रिलेटेड टु विल-१८९६
२—द स्कूल ऐन्ड सोसाइटी-१८९९
३—द चाइल्ड ऐण्ड द करीक्युलम-१९०२
४—हाऊ वी थिंक-१९१०
५—इन्टरेस्ट ऐन्ड एफर्ट इन एडुकेशन-१९११
६—स्कूल्स ऑव् टुमॉरो-१९१५
७—डेमॉक्रेसी ऐण्ड एडुकेशन-१९१६
८—ह्यूमन नेचर ऐण्ड कॉन्डक्ट —१९२२
९—एक्सपीरियन्स ऐण्ड नेचर—१९२५
१०—द क्वेस्ट फॉर सरटेनिटी—१९२९
११—सोर्सेज ऑव् ए साइन्स ऑव् एडुकेशन—१९२९

डीवी का धारणा है कि 'शिक्षा' समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। शिक्षा की अवहेलना करना समाज की उन्नति के लिए घातक होगा। समाज के

1. A growing changing personality. 2. New Education. 3 Progressive Education. 4. Activity Programme. 5. Integrated unit.

उत्तरोत्तर विकास के लिए सुसंगठित शिक्षा का आयोजन आवश्यक है। शिक्षा एक ऐसी आवश्यक क्रिया है जिससे सभ्यता की रक्षा करना ही नहीं वरन् विकास करना भी सम्भव होता है। 'मानव जाति' के उद्देश्य पालन तथा समाज की विविध क्रियाओं में व्यक्ति का भाग लेना आवश्यक। व्यक्ति यह भाग सफलतापूर्वक ले सके यही शिक्षा का कार्य है। डीवी शिक्षा को 'अनुभव का पुनर्निर्माण'[1] समझता है और इसके द्वारा सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिए व्यक्ति की निपुणता वह बढ़ाना चाहता है। डीवी ने शिक्षा की परिभाषा को बार-बार दोहराया है। डीवी कहता है कि हम सब लोगों का अनुभव प्रतिदिन ही नहीं, वरन् प्रतिक्षण बदला करता है। हमारे सामने नई-नई परिस्थितियाँ बहुधा आया करती हैं। ऐसी समस्यायें आती रहती है। जिनके समाधान के क्रम में हमें उपस्थित वैकल्पिक[2] वस्तुओं में से किसी ठीक वस्तु का चुनाव करना आवश्यक हो जाता है। इन सबका तात्पर्य यह है कि हमें सदैव पुनर्व्यवस्थापन[3] के लिए तैयार रहना अपेक्षित है। इस पुनर्व्यवस्थापन के क्रम में विभिन्न प्रकार के अनुभव संशोधित और पुनर्संगठित होते रहेंगे। शिक्षा का तात्पर्य डीवी अनुभव के विकसित, परिवर्तित और संशोधित होने समझता है।

डीवी के अनुसार शिक्षा का यह दृष्टिकोण सभी प्राचीन तथा वर्तमान युग में प्रचलित शिक्षा-दृष्टिकोणों से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा तभी प्रारम्भ नहीं होती जब बालक स्कूल जाना आरम्भ करता है, वरन् शिक्षा तो उसके जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है और उसके जीवन भर चलती रहती है। दूसरे, इस दृष्टिकोण का अर्थ यह न होगा कि शिक्षा किसी भावी जीवन की तैयारी के लिए है, वरन् यह होगा कि शिक्षा तो स्वयं जीवन है।

शिक्षा का उद्देश्य

डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य[4] हर समय तात्कालिक होता है। यदि शिक्षा सम्बन्धी प्रक्रिया उपयुक्त हुई तो शिक्षा का उद्देश्य सदैव पूरा होता रहेगा,

---

1 Reconstruction or Reconstitution of Experience, 2. Alternatives 3 Redjustment. 4 Education has all the time an immediate end

क्योंकि तब बालक अपने अनुभवों को पुनर्संगठित करने में सफल होगा। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बालक के अनुभवों का पुनर्संगठन है, यह पुनर्गठन है, यह पुनर्संगठन यह करता रहेगा। अतः शिक्षा का उद्देश्य उसकी क्रिया अथवा अनुभव के साथ सदैव पूरा होता रहेगा। इस प्रकार बालक की क्रियाशील तथा अनुभव के साथ शिक्षा सदैव आगे बढ़ती रहेगी। डीवी शिक्षा से तात्पर्य उन उपकरणों[3] के आयोजन से समझता है जिससे व्यक्ति का विकास किसी भी उम्र में सुनिश्चित हो जाता है।

ऐसा कभी भी समय न आयगा जब कि व्यक्ति की सीखने की क्रिया रुक जाय। जब तक वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने का प्रयत्न व्यक्ति करता रहेगा, जब तक वह नये-नये अनुभवों को प्राप्त करता रहेगा—शिक्षा चलती रहेगी। अतः शिक्षा का कोई अन्तिम उद्देश्य निश्चित नहीं किया जा सकता। डीवी कहता है कि शिक्षक शिक्षा का जो कुछ उद्देश्य निर्धारित करेगा वह बालक के लिए उपयुक्त न होगा। शिक्षा का उद्देश्य तो बालक के स्वभाव तथा जीवन के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है।

'शिक्षा' जीवन की एक प्रक्रिया'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि डीवी के लिए 'शिक्षा' जीवन की एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि तात्कालिक है और इससे किसी भविष्य की ओर संकेत नहीं मिलता। डीवी शिक्षा को 'भावी जीवन के लिए तैयारी' के स्वरूप में मानने के लिए तैयार नहीं है। बालक को भविष्य का कुछ ज्ञान नहीं। वह वर्तमान में रहता है और वर्तमान में ही रहना चाहता है। वह प्रौढ़ व्यक्ति के भावी दृष्टिकोण को समझने में असमर्थ रहता होता है। अतः उसके लिए शिक्षा उसके वर्तमान जीवन की प्रक्रिया होनी चाहिए।

शिक्षा-प्रक्रिया के दो आवश्यक अङ्ग

डीवी के अनुसार शिक्षा के दो अङ्ग हैं—मनोवैज्ञानिक[3] और सामाजिक[4]।

---

1. [illegible]

[illegible]

[illegible]logical. 4. Social.

मनोवैज्ञानिक पक्ष का तात्पर्य बालक तथा उसकी स्वाभाविक शक्तियों और मूल-प्रवृत्तियों से है। सामाजिक पक्ष का तात्पर्य सामाजिक कार्यों, संस्थाओं तथा परम्पराओं से है।

मनोवैज्ञानिक या वैयक्तिक पक्ष—

शिक्षा की प्रक्रिया बालक की क्रियाशीलता से प्रारम्भ हो जाती है। शिक्षा की प्रक्रिया का आयोजन करने के पूर्व बालक की शक्तियों, रुचियों और आदतों का अच्छी प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए—इनमें परिवर्तन हुआ करता है,—अतः इन्हें सदैव समझने की चेष्टा होनी चाहिए, तभी बालक की शिक्षा सुचारु रूप से चलाई जा सकती है।

डीवी के अनुसार बालक की चार प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ या रुचियाँ होती हैं—भाव विनिमय तथा संवाद,[1] वस्तुओं के संबंध[2] में जिज्ञासा, रचना में[3] रुचि, और अपने सौंदर्याभिव्यक्ति[4] में रुचि। इन चारों रुचियों को डीवी शिक्षा-प्रक्रिया का सबसे बड़ा प्रसाधन समझता है, क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सभी प्रकार की क्रिया-शीलताएँ विकसित होती हैं।

सामाजिक पक्ष—

डीवी के अनुसार व्यक्ति को समाज से अलग की इकाई समझना भूल है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित है। समाज बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और व्यक्ति बिना समाज का अस्तित्व ही मिट जायगा। व्यक्ति एक ऐसा प्राणी है जिसकी विभिन्न शक्तियाँ समाज के अन्य सदस्यों के साथ संघर्ष में आने पर विकसित होती हैं। समाज की विभिन्न गतियों में सम्पर्क में आकर यदि विकसित होने का उसे अवसर न मिले तो वह मानव न होकर पशु हो जायगा। अतः व्यक्ति की शिक्षा-प्रक्रिया में समाज का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति को शिक्षा सामाजिक दर्भ में न दी जाय तो उस शिक्षा कोई मूल्य ही न होगा। सामाजिक सदर्भ में शिक्षा के आयोजन से बालक की स्वार्थ-प्रवृत्ति का यथोचित दमन हो जाता है और बालक सर्वहित में ही अपना हित समझने की प्रवृत्ति को अपना लेता है। अतः व्यक्ति के विकास का आयोजन हमें इस प्रकार

1. Interest in Conversation, 2. Interest in finding out things.
3. Interest in Construction. 4. Interest in Artisitic Expression.

करना है कि वह समाज के उद्देश्यों अर्थात् सर्वसाधारण के हित के लिए अपने को उत्सर्ग करने को तैयार हो जाय। इसे ध्येय की पूर्ति के लिए ही डीवी स्कूल का संचालन अथवा संगठन करना चाहता है। इस उत्कृष्ट उद्देश्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके डीवी ने 'समाज' तथा 'शिक्षा-क्षेत्र' की बड़ी भारी सेवा की है।

डीवी के अनुसार स्कूल का रूप

साधारणत. स्कूल का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ बालक ज्ञान प्राप्त करने जाया करते हैं। परन्तु डीवी स्कूल को सामाजिक 'जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग समझता है। स्कूल बिना समाज का काम चल ही नहीं सकता। स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जहाँ ऐसे प्रसाधनों का आयोजन किया जाता है जिनसे बालक मानव जाति के सभी सञ्चित सम्पत्ति को इस प्रकार अपने में अपना ले कि सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में वह अच्छी प्रकार सहायक हो सके। डीवी स्कूल को वर्तमान जीवन का प्रतिनिधि बनाना चाहता है। स्कूल में सामाजिक जीवन को सरल से सरल रूप में रखना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब स्कूल को गृह-जीवन के आधार पर सङ्गठित किया जाय। बालक जिन साधारण कार्यों और खेलों में घर में भाग लेता है उन्हीं खेलों और कार्यों का विकसित रूप स्कूल में मिलना चाहिए। इस प्रकार बालक के लिए घर का एक दूसरा रूप होना चाहिए। अतः बालक को स्कूल और घर के वातावरण के विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ना चाहिए। डीवी कहता है कि वर्तमान शिक्षा बहुत अंशों में असफल हो रही है, क्योंकि अभी तक स्कूल को समाज का एक छोटा रूप नहीं बनाया जा सका है।

प्रत्यक्ष अनुभव शिक्षा का आधार[1]

डीवी विज्ञान, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि विषयों पर बालक की शिक्षा आधारित नहीं करना चाहता। वह बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता पर ही उसकी शिक्षा को आधारित करना चाहता है। विभिन्न विषयों का उपयोग यथावसर बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता के सम्बन्ध में ही होना चाहिए। विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध बालक के स्वाभाविक कार्यों के आधार पर

1. Direct experience the basis of all method.

मनोवैज्ञानिक पक्ष का तात्पर्य बालक तथा उसकी स्वाभाविक शक्तियों और मूल-प्रवृत्तियों से है। सामाजिक पक्ष का तात्पर्य सामाजिक कार्यों, संस्थाओं तथा परम्पराओं से है।

मनोवैज्ञानिक या वैयक्तिक पक्ष—

शिक्षा की प्रक्रिया बालक की क्रियाशीलता से प्रारम्भ हो जाती है। शिक्षा की प्रक्रिया का आयोजन करने के पूर्व बालक की शक्तियों, रुचियों और आदतों का अच्छी प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए—इनमें परिवर्तन हुआ करता है,—अतः इन्हें सदैव समझने की चेष्टा होनी चाहिए, तभी बालक की शिक्षा सुचारु रूप से चलाई जा सकती है।

डीवी के अनुसार बालक की चार प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ या रुचियाँ होती है—*भाव विनिमय तथा संवाद,*[1] *वस्तुओं के सम्बन्ध*[2] *में जिज्ञासा, रचना में*[3] *रुचि, और* अपनी सौंदर्याभिव्यक्ति[4] में रुचि। इन चारों रुचियों को डीवी शिक्षा-प्रक्रिया का सबसे बड़ा प्रसाधन समझता है, क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सभी प्रकार की क्रियाशीलतायें विकसित होती हैं।

सामाजिक पक्ष—

डीवी के अनुसार व्यक्ति को समाज से अलग की इकाई समझना भूल हैं। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं। समाज बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और व्यक्ति बिना समाज का अस्तित्व ही मिट जायगा। व्यक्ति एक ऐसा प्राणी है जिसकी विभिन्न शक्तियाँ समाज के अन्य सदस्यों के साथ संघर्ष में आने पर विकसित होती हैं। समाज की विभिन्न गतियों में सम्पर्क में आकर यदि विकसित होने का उसे अवसर न मिले तो वह मानव न होकर पशु हो जायगा। अतः व्यक्ति की शिक्षा-प्रक्रिया में समाज का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति की शिक्षा सामाजिक दर्भ में न दी जाय तो उस शिक्षा कोई मूल्य ही न होगा। सामाजिक सदर्भ में शिक्षा के आयोजन से बालक की स्वार्थ प्रवृत्ति का यथोचित दमन हो जाता है और बालक सर्वहित में ही अपना हित समझने की प्रवृत्ति को अपना लेता है। अतः व्यक्ति के विकास का आयोजन हमें इस प्रकार

1. Interest in Conversation. 2. Interest in finding out things
3. Interest in Construction. 4. Interest in Artisitic Expression.

करता है कि वह समाज के उद्देश्यों अर्थात् सर्वसाधारण के हित के लिए अपने को उत्सर्ग करने को तैयार हो जाय। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए ही डीवी स्कूल का संचालन अथवा संगठन करना चाहता है। इस उत्कृष्ट उद्देश्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके डीवी ने 'समाज' तथा 'शिक्षा-क्षेत्र' की बड़ी भारी सेवा की है।

डीवी के अनुसार स्कूल का रूप

साधारणतः स्कूल का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ बालक ज्ञान प्राप्त करने आया करते हैं। परन्तु डीवी स्कूल को सामाजिक 'जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग समझता है। स्कूल बिना समाज का काम चल ही नहीं सकता। स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जहाँ ऐसे प्रसाधनों का आयोजन किया जाता है जिनसे बालक मानव जाति के सभी सञ्चित सम्पत्ति को इस प्रकार अपने में अपना ले कि सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में वह अच्छी प्रकार सहायक हो सके। डीवी स्कूल को वर्तमान जीवन का प्रतिनिधि बनाना चाहता है। स्कूल में सामाजिक जीवन को सरल से सरल रूप में रखना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब स्कूल को गृह-जीवन के आधार पर सङ्गठित किया जाय। बालक जिन साधारण कार्यों और खेलों में घर में भाग लेता है उन्हीं खेलों और कार्यों का विकसित रूप स्कूल में मिलना चाहिए। इस प्रकार बालक के लिए घर का एक दूसरा रूप होना चाहिए। अतः बालक को स्कूल और घर के वातावरण के विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ना चाहिए। डीवी कहता है कि वर्तमान शिक्षा बहुत अंशों में असफल हो रही है, क्योंकि अभी तक स्कूल को समाज का एक छोटा रूप नहीं बनाया जा सका है।

प्रत्यक्ष अनुभव शिक्षा का आधार[1]

डीवी विज्ञान, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि विषयों पर बालक की शिक्षा आधारित नहीं करना चाहता। वह बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता पर ही उसकी शिक्षा को आधारित करना चाहता है। विभिन्न विषयों का उपयोग यथावसर बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता के सम्बन्ध में ही होना चाहिए। विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध बालक के स्वाभाविक कार्यों के आधार पर

1. Direct experience the basis of all method.

विनय-स्थापन[1] की समस्या

डीवी प्रचलित विनय स्थापन प्रणाली का विरोध करता है। उसके अनुसा
सामाजिकता ही विनय-स्थापन के लिए सबसे अच्छा साधन है, अर्थात् विन
पन का आधार सामाजिक होना चाहिए। स्कूल में सहयोगात्मक और सुसम्ब
ियाओं के चलते रहने से विनय की समस्या स्वतः सुलझती रहेगी, क्यो
हयोगात्मक कार्य में भाग लेने से व्यक्ति में आत्म-नियन्त्रण की भावना
चार होता है। इस आत्म-नियन्त्रण से चरित्र-निर्माण की शिक्षा मिलती है। य
ालक के वातावरण की रचना इस प्रकार की जाय कि सहयोगात्मक क्रिय
के आधार पर उसे सदा उपयोगी नवीन अनुभव मिलते रहें तो विनय की सम
कभी उपस्थित होगी ही नहीं। ऐसा होने से व्यक्ति में सामाजिक गुणों, आभा
रुचियों तथा सामाजिक अभ्यासों का स्वतः विकास होगा। फलतः उसकी वि
भावनायें सामाजिक रूप ही ग्रहण करेंगी।

बलपूर्वक बालक में आज्ञापालन, नियम, धैर्य तथा सहिष्णुता का भाव
उसके नैतिक विकास के हित में घातक होगा। इन सब गुणों को स्वयं अप
के लिए बालक को विभिन्न अवसर देने चाहिए। डीवी का कहना है कि स्
ऐसे सहयोगात्मक क्रियाओं का आयोजन करना चाहिए जिनसे बालक इ
गुणों को स्वतः अपना ले।

डीवी की समालोचना

डीवी एक उच्चकोटि के दार्शनिक एवं प्रगल्भ शिक्षा-शास्त्री हो चु
उनके सिद्धान्तों एवं विचारों ने शिक्षा की एक नवीन धारा प्रवाहित कर
यद्यपि ये सिद्धान्त शिक्षा के लिए बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए, परन्तु इनकी ि
को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

डीवी का कहना है कि जो उपयोगी है वही सत्य है। साथ ही सा
भी कहते हैं कि कोई सिद्धान्त चिरन्तन एवं शाश्वत नहीं है, अपितु व
वातावरण और परिस्थितियों से प्रभावित होकर परिवर्तित होता रहता
आज का सत्य कल असत्य हो सकता है। ... है वह कभी

1. The Problem of Disci...

ही निर्धारित करना चाहिए। बालक की रुचि तथा शक्ति के अनुसार उसकी क्रियाशीलता में वांछित परिवर्तन लाने का प्रयास करना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम[1]

स्पष्ट है कि डीवी की सहानुभूति प्रचलित पाठ्यक्रम से नहीं हो सकती। जो पाठ्यक्रम ज्ञान को विभिन्न शाखाओं में विभाजित करता है उसका डीवी पक्षपाती नहीं है। डीवी के अनुसार बालक का मस्तिष्क[2] अपने अनुभवों को विभिन्न विभागों के रूप में संगठित नहीं करता, वरन् वह तो सबको एक इकाई में ही रखता है। बालक विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध अपनी रुचि, तात्कालिक समस्या तथा अपनी सामाजिक आवश्यकता के अनुसार जोड़ता है।[3] स्कूल के विषयों का सह सम्बन्ध[4] का आधार विज्ञान, साहित्य, भूगोल अथवा इतिहास न होकर बालक की अपनी क्रियाशीलतायें होंगी।[5] अतः स्कूल का कार्य विभिन्न विषयों के अध्यापन से न प्रारम्भ होकर उन क्रियाशीलताओं से प्रारम्भ होना चाहिए जिन्हें बालक बहुधा अपने घर में देखता है अथवा जो मानव जाति के विविध अनुभवों की ओर संकेत करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम में बालक के सामाजिक जीवन तथा सामाजिक क्रियाओं की झलक होनी चाहिए। प्रारम्भिक स्कूल के पाठ्यक्रम का आधार डीवी बालक की चार प्रधान अभिरुचियों—अर्थात् भाव-विनिमय, जिज्ञासा, रचना तथा सौन्दर्याभिव्यक्ति को बनाना चाहता है। अतः प्रारम्भ में पाठ्यक्रम में पठन, लेखन, गणना, हस्तकार्य तथा चित्रकला को स्थान दिया जायगा।

पाठ्यक्रम के सहारे डीवी बालक के विवेक और तर्क को पुष्ट करना चाहता है। इसके लिए पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय वह बालक के जीवन से चुनना चाहता है। डीवी के अनुसार प्रत्येक विषय का वर्तमान और भूत से सम्बन्ध होना चाहिए, परन्तु साथ ही प्रत्येक विषय की वर्तमान में उपयोगिता पर भी विशेष बल देना चाहिए।

1. Curriculum. 2. *Dewey John*, My Pedagogical Creed, Article III 3. *Ibid, Article* III 4. Correlation. 5. *Dewey, John*, Plan of Organisation of the University Primary School, (Privately Printed).

यदि डीवी के इस विचार पर जो प्रत्येक बालक की रुचि के अनुसार पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने तथा बालकों को स्वानुभव द्वारा सीखने के सम्बन्ध में है, ध्यान दिया जाय तो इसमें भी अपूर्णता दृष्टिगोचर होगी। बालकों की रुचि, विचार एवं योग्यताओं की भिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम को तैयार करना, बड़ा ही दुष्कर है। साथ ही साथ कला-कौशल सम्बन्धी कठिन विषयों में बालकों की रुचि का अभाव भी हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार के बहुत से विषयों की शिक्षा छोड़ देनी पड़ेगी। स्वानुभव के विषय में भी जटिल समस्या उपस्थित हो जावेगी। स्वानुभव द्वारा उसी ज्ञान का ग्रहण करना कठिन होगा जिसे हम दूसरों के अनुभवों द्वारा न सीख पावें, अन्यथा प्रत्येक वस्तु के ज्ञानार्जन हेतु स्वानुभव-पद्धति का अनुसरण करके व्यर्थ समय नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

कहना न होगा कि डीवी के सिद्धान्त दोष मुक्त न होने हुए भी बड़े ही महान महत्वपूर्ण और लाभकारी है। यही कारण है कि आधुनिक शिक्षा के ये आधार बन गये है। डीवी ने मानव तथा सामाजिक जीवन में घनिष्ठता ला दी। वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रस्फुटन किया, सर्व साधारण की शिक्षा पर बल दिया। प्राचीन दासता पद्धति की शिक्षा की सकीर्णता को दूर करके उसे सहयोगिता, सहनशीलता, सहानुभूति एवं समाज तथा राष्ट्रोन्नति से सम्बन्धित विषयों एवम् आदर्शों से सुसज्जित किया। शिक्षा-पद्धति को पूर्ण रूपेण सामाजिक एवं वैज्ञानिक बनाने के श्रेय डीवी को ही है। उनके सिद्धान्तों ने शिक्षा का कलेवर ही बदल दिया। आज तक शिक्षा-सम्बन्धी जितने सिद्धान्त प्राप्य हैं डीवी के सिद्धान्तों में उन सब का सार उपलब्ध है।

शिक्षा पर डीवी के सिद्धान्तों का प्रभाव

डीवी की विचारधारा ने शिक्षा में आमूल परिवर्तन कर दिया। सक्रियवादिता के आधार स्वरूप ऐक्टिविटी स्कूलों[1] का शिलान्यास हुआ। प्रोजेक्ट-पद्धति सर्वमान्य पद्धति हो गयी। यह डीवी की ही देन है जिसके . . . के विकास हेतु शिक्षा सर्व साधारण के लिए सुलभ होती विद्यालय स्वशासन एवं स्वव्यवस्था की शिक्षा प्रदान करने के

1. Activity School.

इनके सिद्धान्तों को लगभग सभी प्रगतिशील देशों ने अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। यहाँ तक कि डीवी के निम्नलिखित सिद्धान्तों को मूल रूप में ग्रहण कर शिक्षा का पुनर्गठन किया जा रहा है।

१. शिक्षा का ध्येय सामाजिक कुशलता है।
२. समाज की विकास का आधार व्यक्ति का विकास है।
३. विद्यालय समाज का लघुरूप है।
४. स्वानुभव ही शिक्षा का आधार है।
५. विद्यार्थी की शिक्षा में उसकी व्यक्तिगत रुचियों तथा योग्यताओं को प्रधानता मिलनी चाहिए।
६. शिक्षा की सक्रियता ही उसका प्राण है।
७. नैतिक विकास का प्रमुख साधन क्रियाशीलता है।
८. शिक्षा जीवन है।
९. शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य जनतन्त्र के लिए कुशल शासक का निर्माण है।
१०. विद्यार्थी में ऐसी सक्रियता लाना जो मानव जाति की सामाजिक जागृति का साधन बन सके।
११. विद्यालय की शिक्षा-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो विद्यार्थियों को सामाजिक एवं जनतान्त्रिक जीवन के योग्य बना सके।
१२. शिक्षा सामाजिक भावों के विकास का एकमात्र साधन एवं सामाजिक आवश्यकता है।
१३. विद्यालय का प्रमुख विषय हस्तकला होना चाहिए तथा शिक्षा के साधनों में खेल, रचना और प्रकृति निरीक्षण का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

डीवी के उपर्युक्त शिक्षा सिद्धान्तों से परिचित होने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि उसके पूर्ववर्ती शिक्षा-विशारदों के विचारों से वे कहाँ तक मेल खाते हैं। यहाँ हम अति संक्षेप में हरबार्ट, फ्रोबेल, तथा स्पेन्सर, के मुख्य विचारों का डीवी के मतों से तुलना करेंगे।

हरबार्ट—

यन्त्र पद प्रणाली का डीवी द्वारा विरोध किया गया है। जो

महत्व हरबार्ट ने अध्यापकों को दिया है वह डीवी ने नहीं। डीवी का कहना है कि अध्यापकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों के लिए ऐसा वातावरण और साधन प्रस्तुत करें जिससे बालक स्वतन्त्र रूप में स्वतः क्रियाशील रहे। अध्यापक का कार्य केवल निरीक्षण करना है। जहाँ तक विद्यार्थियों की रुचि वैभिन्नता को महत्व प्रदान करने का प्रश्न है, इस विषय में दोनो लगभग एक ही पद के पथि कहे जा सकते हैं। फिर भी डीवी को हरबार्ट का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। हरबार्ट ने बालकों की केवल बौद्धिक रुचि-वैभिन्नता पर ही बल दिया है, पर डीवी ने वैभिन्नता का मूल्यांकन बालक की सामाजिक साहित्यिक एवं कौ क्षेत्रों में भी यथोचित रूप में किया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ह के रुचि-वैभिन्नता के क्षेत्र की संकीर्णता को डिवी ने विस्तृत रूप प्रदान कि

डीवी तथा स्पेन्सर—

डीवी के मतानुसार शिक्षा स्वयं जीवन है जब कि स्पेन्सर का कहना शिक्षा जीवन की तैयारी है। इस विषमता के साथ ही साथ दोनों ने शि समाज का पोषक अङ्ग मानते हैं।

डीवी और फ्रोबेल—

डीवी तथा फ्रोबेल के विचारों में पर्याप्त समानता पायी जाती है की आत्म क्रिया को अवसर प्रदान करने के दोनो पक्षपाती हैं। दोनों ने ि की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को महत्व प्रदान करते हुए शिक्षा को उनके ि साधन बनाया है। क्रियात्मक पहलू पर दोनों शास्त्रियों में विशेष अन अन्तर केवल इतना है कि डीवी फ्रोबेल के अध्यात्मवादी सिद्धान्तों करके शिक्षा का उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र नहीं मानता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि डीवी मनुष्य के जीवन और उस की व्याख्या सामाजिक दृष्टिकोण से करता है। डीवी प्राचीन स्थान पर विवेक को प्रधानता देना चाहता है, यद्यपि उनसे सीखने में नहीं। शिक्षा देने के पूर्व डीवी बालक की रुचियों और शक्तियों के बल देता है। अध्यापक को इन सभी रुचियों पर ध्यान देने के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन करना है। हरबार्ट बात करता है—परन्तु उसकी 'बहुरुचि सिद्धान्त'

९
नन का व्यक्तिवादी दर्शन[1]

मनुष्य का अपने युग के सम्बन्ध में अपना एक दृष्टिकोण, अपना विचार एवं धारणा होती है। यही शक्तियाँ व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। व्यक्तिवादी दार्शनिक व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास द्वारा इन्हीं शक्तियों को विकसित करने के पक्षपाती होते हैं। नन ने व्यक्तिवादी दर्शन को शिक्षा दर्शन में प्रधानता दी है।

डा. पर्सी. नन लन्दन विश्वविद्यालय में शिक्षा एवं दर्शन के प्राध्यापक तथा अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षा वैज्ञानिक थे। उनका विचार था कि "विश्व को जो भी अच्छी वस्तु प्राप्त होती है वह किसी स्वतन्त्र व्यक्तित्व के माध्यम से हो पाती है। एतदर्थ शिक्षा को इसी आधार पर व्यवस्थित करना चाहिए।" नन व्यक्ति में उस महान शक्ति को देखता है जिसमें व्यक्ति के सहज अस्तित्व और स्वतन्त्र विकास में उसकी पूर्ण आस्था हो गयी थी। नन बालक और व्यक्तियों की योग्यतानुकूल विकास के समर्थक हैं। वह व्यक्ति की शक्ति को विश्व की अन्य शक्तियों से श्रेष्ठ मानते हैं और उसी के चरम विकास को उसने शिक्षा का परम लक्ष्य माना है अपनी पुस्तक "एजूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स" में अपने इसी व्यक्ति-प्रधान-दर्शन का विवेचन उसने किया है।

व्यक्तित्व का विकास समाज में होता है। अतएव सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव डालती हैं। शिक्षक और माता-पिता पर बालक के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी उत्तरदायित्व होती है। अतएव शिक्षक तथा माता-पिता को बालकों के पालन और बौद्धिक विकास तथा व्यक्तित्व के सहज निर्माण के लिए ऐसा वातावरण उपस्थित करना चाहिए जो बालक को बुराइयों के प्रभाव की सीमा से दूर रख कर उसके व्यक्तित्व के विशेष तत्वों की विकास की चरम

1. Individual Philosophy of T. Percy Nunn.

करना ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। बालक की प्रकृति से भिन्न-भिन्न स्तर की विभिन्न योग्यतायें प्राप्त होती हैं। अतएव बालक की विशेष योग्यताओं का अध्ययन कर उन्हें उसकी योग्यतानुसार इच्छित कार्यों में नियोजित कर बालक के व्यक्तित्व का चरम विकास करना ही शिक्षा का परम ध्येय है, ऐसी नन की धारणा है। उचित मार्ग पाने पर प्रत्येक बालक अपनी योग्यतानुकूल अपने व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित करने में सफल हो सकता है।

योग्यता के भिन्न स्तर, बुद्धि और व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण समस्त बालकों के विकास के लिए शिक्षा के भिन्न स्तर और व्यक्तिगत योग्यताओं के विकसित करने के मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता है। समस्त राष्ट्र के बालकों को एक शिक्षा पद्धति में शिक्षा देने से बालकों के सहज गुण कुण्ठित और जड़ हो जायेंगे और राष्ट्र की प्रगति की गति शिथिल पड़ जायगी। नन ने व्यक्तित्व के विकास को ही मानव जाति के परम मंगल का सूचक माना है। वह समाजवादी दृष्टिकोण से दी गयी समष्टिवादी शिक्षा का कायल नहीं। परन्तु साथ ही, समाजवादी दृष्टिकोण का विरोध तथा व्यक्तिवादी शिक्षा पद्धति पर जोर देने में नन का विचार समाज के प्रति मानव को कर्त्तव्यों से विमुख करने का नहीं है। उसका विश्वास है कि व्यष्टि के चरम विकास में ही समष्टि का चरम विकास निहित है। वह व्यष्टि को समष्टि में खोना नहीं चाहता, अपितु वह व्यष्टि की स्वतन्त्र सत्ता का विकास कर समष्टि को विकसित एवं उन्नत बनाने का पक्षपाती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए वह समाज को सहायक मानता है। अकेले व्यक्तित्व को भी समाज से अलग रख कर नन महत्व नहीं देता। नन प्रति-व्यक्तिवादी नहीं है। उसने शिक्षा के दो उद्देश्यों को गंगा-यमुना की तरह मिलाकर एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। पहली धारा है व्यक्ति-विकास की भावना, और दूसरी धारा को वह समष्टि के विकास की भावना के रूप में प्रतिपादित करता है। इस प्रकार नन शिक्षा के द्विमुखी उद्देश्य के समर्थक हैं। उनके मतानुसार व्यक्ति के चरम विकास के लिए सामाजिक वातावरण अपेक्षित है, और इसी को उद्देश्य बनाने से शिक्षा के मन्तव्य में सफलता मिल सकेगी।

पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में नन के विचार

नन के मतानुसार विद्यालय केवल ज्ञान-प्राप्ति का [illegible]

ाया जा सकता है। खेल से शरीर पुष्ट होता है। नैतिकता एवं व्यावहारिकता
विकसित रूप प्रदान करने में खेल सहायक होता है। यह उलझी हुई जीवन
। जटिल समस्याओं के समाधान के लिए बालकों को प्रेरित करने का साधन है।

ल और कार्य—

नन के मतानुसार बालक जिस क्रिया को स्वेच्छा से करता है वह उसे
र समझता है, और जब इसी क्रिया को वह विवश होकर लादा हुआ बोझ
मझ कर करता है तो उसे वह कार्य समझता है। कुछ क्रियायें करने के लिए
म बाध्य होते हैं, उदाहरणार्थ; जीने के लिए भोजन करना। कुछ क्रियायें हम
अपनी ही इच्छानुकूल करते हैं। उनके करने के लिए हमारे ऊपर कोई बाहरी
दबाव नहीं पड़ता, उदाहरणार्थ; फुटबाल खेलना। भोजन करना और फुटबाल
खेलना—इन दोनों क्रियाओं को हम क्रमशः कार्य और खेल की संज्ञा दे सकते
हैं। खेल से बालक की स्वाभाविक शक्तियों को शान्ति मिलती है। उसमें लगन
के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी होती है। खेल को कई भागों में बाँटा गया है:—

१. अवकाश-काल-बिताने के लिए,
२. रचनात्मक,
३. अनुकरणात्मक,
४. शिक्षा प्रदान करने वाले,
५. गाम्भीर्य से युक्त उच्च स्तरीय खेल।

यदि हम कार्यों के विभाग करें तो ज्ञात होगा कि ठीक यही विभाग कार्य
के भी होंगे। सर्वोत्तम कार्य और सर्वोत्तम खेलों में तो पूर्ण समानता होती है।
दोनों की विशेषताओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस प्रकार कार्य और
खेल के अन्तिम छोर—गंगा-यमुना—मिल जाते हैं।

शिक्षा में स्वतन्त्रता का स्थान

मानव स्वतन्त्र रूप में धरती पर अवतीर्ण होता है। एतदर्थ जीवन के
प्रत्येक क्षेत्र में उसे समुचित विकास के लिए स्वतन्त्रता की अपेक्षा होती है। नन
खेल और स्वतन्त्रता को दो भिन्न रूप नहीं देता। वह दोनों को लगभग एक ही
अर्थ में लेता है। नन शिक्षा में स्वतन्त्रता को महत्व देता है, पर उस स्वतन्त्रता
को स्वच्छंदता का रूप देकर उसमें उच्छृंखलता लाना वह स्वीकार नहीं करता।

बालक के बन्धनहीन स्वाभाविक विकास को ही वह दार्शनिक स्वतन्त्रता का ध्येय मानता है, और इस विकास की शुद्ध प्रक्रिया के हेतु वह मनोहित नियमों के नियन्त्रण को भी स्वीकार करता है। बालक को बन्धनों के बोझ से मुक्त कर सैद्धान्तिक सहायक नियमों का पालन करते हुए उसका विकास करना उसे अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

स्वतन्त्रता और अनुशासन—

स्पष्ट है कि नन जहाँ बालक के स्वाभाविक विकास पर बल देता है वहाँ दूसरी ओर वह उस विकास को सयमित रूप भी देना चाहता है। बालक की बुद्धि जब तक कुछ विकसित न हो जाय तब तक उसके लिए इस सयम का भा यह शिक्षकों को सौंपता है। लेकिन शिक्षक को बालकों के कार्य में अनावश्य रूप से बाधा पहुँचाने की छूट वह नहीं देता। उसके विचार से शिक्षक को बाल के कार्यों में तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब उसके कार्य उस दिशा की ओर ज रहे हों जो मानव की कल्याण भावना में बाधक हो। वह कर्म को अनुशासन का सहचर मानता है। नन के अनुसार अनुशासन का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में न डाल कर उसे अनुशासितों तथा कुछ अशों में उनके शिक्षकों को देना चाहिए। लेकिन अनुशासन और बन्धन उपस्थित करने में शिक्षक को बड़ी सतर्कता से काम लेना चाहिए। नन ने अनुशासन और स्कूल आर्डर को पर्यायनहीं माना है। वह अनुशासन को यदि अन्तरात्मा की तरह मानता है तो स्कूल आर्डर को शरीर। स्कूल आर्डर वक्षा की शान्ति का बाह्य रूप है जब कि अनुशासन से आन्तरिक प्रवृत्तियाँ सयमित की जाती है। शिक्षा में स्वतन्त्रता को उत्तम रूप देने के लिए ऐसा वातावरण चाहिए कि उपयुक्त नियमों तथा सिद्धान्तों का पाल बालक स्वतः समझकर करने लगें। ऐसी स्थिति में सयम के नियम भी स्वतंत्र के वाहक बन जायगे।

शिक्षा संगठन

बालकों की बुद्धि का क्रमिक विकास ही शिक्षा का मन्तव्य है। इस प्रि और लाभप्रद बनाने के लिए विद्यालयों को वैज्ञानिक दृष्टि से व

वातावरण देना—'नन' के दर्शनवाद का समन्वय है। उसका व्यक्तिवाद समाज का विरोध नहीं करता, वरन् उसे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मानता है।

नन की मनोवैज्ञानिक विचारधारा—

नन मन को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं मानता। वह मन को इकाई मान कर उसे ग्रहण और प्रेरक शक्तियों के आधार पर दो भागों में विभाजित करता है। मन की, अनुभव तथा उसके प्रभाव की ग्रहण शक्ति को नन "नीमी" (ग्रहण शक्ति) की संज्ञा देता है। मानव के अन्तस्तल में विद्यमान प्रेरणा की शक्ति को नन होर्म (प्रेरक शक्ति) की संज्ञा देता है। शिक्षा के कार्यों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ सहायता पहुँचाती हैं।

शिक्षा का उद्देश्य—

नन व्यक्तित्व के परम विकास की परिस्थिति पैदा करने को शिक्षा का सच्चा कार्य मानता है। बालकों की योग्यता के स्तर का अध्ययन कर उनके अनुकूल शिक्षा प्रदान करने से बालक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकेगा—ऐसा नन का विश्वास है।

पाठ्यक्रम—

नन विद्यालय को केवल ज्ञान-प्राप्ति में ही सहायक नहीं मानता। उसके विचार में विद्यालयों द्वारा बालकों की क्रियाओं को विकास एवं प्रवीणता मिलनी चाहिए। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में नन के विचार आदर्शवादी विचारों से मेल खाते हैं। पूर्व प्राप्तियों को स्थायित्व प्रदान करने तथा सभ्यता के निर्माण में सहायता पहुँचाने वाले विषयों को वह पाठ्यक्रम में स्थान देता है। साहित्य, सङ्गीत, कला, हस्त-कला, विज्ञान के साथ ही इतिहास, भूगोल, जैसे विषयों को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

खेल—

खेल आत्म-प्रदर्शन की रचनात्मक वृत्ति का स्पष्ट एवं विशुद्ध प्रदर्शन है। "जब करने वाला क्रिया को स्वेच्छा से करता है तो वह उसे खेल समझता है। खेल को नन ने शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। नैतिकता व्यावहारिकता को [illegible], जीवन की जटिल समस्याओं को प्रेरणा देने एवं बालक की [illegible] समझने में खेल सहायक होते हैं।

स्वतन्त्रता—

नन शिक्षा में स्वतन्त्रता को महत्व देता है। पर उस स्वतन्त्रता को स्वच्छन्दता का रूप देकर उसमें उच्छृंखलता नहीं लाना चाहता। वह पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक है। खेल और स्वतन्त्रता में वह भेद नहीं करता।

संगठन—

नन ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षा को तीन भागों में बाँटा है।

१. शिशु कालीन शिक्षा—यह शिक्षा शिशु-विद्यालयों में देनी चाहिए।

२. बाल कालीन शिक्षा—यह शिक्षा प्रारम्भिक विद्यालयों में दी जानी चाहिए।

३. किशोर कालीन शिक्षा (१२ से अठारह वर्ष तक)—यह शिक्षा माध्यमिक विद्यालयों में देनी चाहिए। नन महोदय ने माध्यमिक शिक्षा को ही शिक्षा का "केन्द्र बिन्दु" माना है।

प्रश्न

१—"नन" के व्यक्तिवादी दर्शन का सामाजिक भावनाओं से सामञ्जस्य हो सकता है ? यदि हाँ, तो किस सीमा तक ? समीक्षा कीजिए।

२—खेल और कार्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए शिक्षा में खेल के महत्व का विवेचन "नन" के विचार को ध्यान में रखते हुए कीजिए।

३—"स्वतन्त्रता" और "अनुशासन" व्यक्तित्व के विकास में किस सीमा तक सहायक होते हैं ? "नन" स्वतन्त्रता और अनुशासन शिक्षा में क्या महत्व देता है ?

४—"शिक्षा बालक के क्रमिक विकास के अनुकूल वातावरण प्रदान करती है और किशोरावस्था उस विकास का केन्द्र-बिन्दु है।" इससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?

५—'शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में विरोध नहीं है'—इस कथन पर अपने विचार प्रगट कीजिए।

• • •

वातावरण देना—'नन' के व्यक्तिवाद का मन्तव्य है। उसका व्यक्तिवाद सम
का विरोध नहीं करता, वरन् उसे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मानता है

नन की मनोवैज्ञानिक विचारधारा—

नन मन को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं मानता। वह मन को
मान कर उसे सचय और प्रेरक शक्तियों के आधार पर दो भागों में विभ
करता है। मन की, अनुभव तथा उसके प्रभाव की ग्रहण-शक्ति को नन
(सचय शक्ति) की संज्ञा देता है। मानव के अन्तस्तल में विद्यमान
की शक्ति को नन होर्म (प्रेरक शक्ति) की संज्ञा देता है। शिक्षा के
दोनों प्रवृत्तियाँ सहायता पहुँचाती हैं।

शिक्षा का उद्देश्य—

नन व्यक्तित्व के चरम विकास की परिस्थिति पैदा करने
सच्चा कार्य मानता है। बालकों की योग्यता के स्तर का अध्ययन
अनुकूल शिक्षा प्रदान करने से बालक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण
सकेगा—ऐसा नन का विश्वास है।

पाठ्यक्रम—

नन विद्यालय को केवल ज्ञान-प्राप्ति में ही सहायक नहीं
विचार से विद्यालयों द्वारा बालकों की क्रियाओं को विकास एवं
चाहिए। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में नन के विचार आदर्शवादी नि
हैं। पूर्व प्राप्तियों को स्थायित्व प्रदान करने तथा सभ्यता के
पहुँचाने वाले विषयों को वह पाठ्यक्रम में स्थान देता है। स
हस्त-कला, विज्ञान के साथ ही इतिहास, भूगोल, जैसे
में महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

पूरी छाप है। अतः आश्चर्य नहीं कि शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में 'सामाजिक विज्ञान'[1] अब पहले से अधिक महत्वपूर्ण स्थान पाने लगे हैं। संकुचित व्यावसायिक शिक्षण[2] के स्थान पर स्कूलों में 'साधारण सांस्कृतिक शिक्षण'[3] पर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। प्रौढ़ शिक्षा[4] को अब शिक्षा व्यवस्था में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। बालिकाओं की शिक्षा को उनके स्वभाव और जीवन में उत्तरदायित्व के अनुकूल बनाने की माँग की जा रही है। शिक्षा को अब ऐसी बनाने की माग की गई है कि व्यक्ति अपने अवकाश-काल[5] का सदुपयोग करने में समर्थ हो सके। गणतंत्रात्मक सिद्धान्तों के प्रचारस्वरूप व्यक्ति को अब यह जानना है कि वह अपने व्यवहार में कैसी उदारता एवं सहिष्णुता लाये कि देश में स्थापित जनतंत्र सफल हो सके और सार्वजनिक कल्याण की ओर अग्रसर हो सके दिया जा सके। फलतः सरकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों-सम्बन्धी अब नये विचारों का प्रादुर्भाव हो चला है। अतः जन साधारण को इन नये विचारों से अवगत होना अनिवार्य है, अन्यथा समाज जर्जरित होकर अधःपतन की ओर मुड़ता जायगा। सरकारी कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व जिनके ऊपर है उन्हें भी अब एक नई शिक्षा की आवश्यकता है जिसमे जनता के हित को सदा अपने हृदय में रक्खें। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें आज व्यावहारिक शिक्षा-दर्शन[6] की आवश्यकता है।

वर्तमान युग की यह माँग है कि शिक्षा सारा ध्यान जीवन की वास्तविकता की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है और अब यह देखना है कि मानव का शिक्षा पा सके जिससे वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं को भली भाँति पूरा में समर्थ हो सके। शिक्षा के इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए गत युगों में सभी शिक्षा-दर्शनों से हमें कुछ न कुछ सहायता लेनी पड़ेगी। इन विभिन्न दर्शनों में प्रत्येक के जो अच्छे-अच्छे विचार हैं उनसे हमें लाभ उठाना है किसी भी शिक्षा-दर्शन की हम सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकते। शिक्षा कर्णधारों को यह समझना है कि विभिन्न शिक्षा-दर्शनों के किन-किन अंशों से

1. Social Sciences. 2. Narrow Vocational Trai 3. General Cultural Training. 4 Adult E. 5 Worthy use of leisure. 6. Practical Philosophy of 7. Realities of Life.

१०

वर्तमान जगत की समस्यायें और शिक्षा[1]

विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों ने वर्तमान युग को ऐसा कलेवर दे रखा है जो भूतकाल के सभी उदाहरणों से भिन्न दिखलाई पड़ता है। आज का हमारा युग बड़ा ही परिवर्तनशील हो चला है और जान पड़ता है कि परिवर्तन की गति सदैव अविरल रहेगी। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो आए हुए परिवर्तन जान पड़ते हैं उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए अभी मानव तैयार नहीं है। जीविकोपार्जन के साधन बढ़ते जा रहे हैं, तथापि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग बेकारी से परेशान हो रहा है। आर्थिक परस्परतन्त्रता[2] के कारण पहले का वैयक्तिक स्वातंत्र्य जाता दिखलाई पड़ता है। साधारण जनता भी अपने दैनिक जीवन के स्तर को आर्थिक दृष्टि से और ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील हो चली है। महिलायें एक नई सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए गतिशील दिखलाई पड़ती हैं। पहले की तुलना में उनमें असन्तोष की भावना बढ़ती हुई जान पड़ती है। वैयक्तिक उद्यमों और कार्यों[3] पर सरकार अपना नियन्त्रण बढ़ती जा रही है और हर व्यावसायिक क्षेत्र अथवा उद्योग-धन्धों पर राष्ट्रीयकरण[4] की छाप पड़ती जा रही है। नई सामाजिक व्यवस्था के ये कतिपय लक्षण शिक्षा के लिए नई-नई समस्यायें उपस्थित कर रहे हैं।

उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तनों द्वारा शिक्षा का प्रभावित होना एकदम स्वाभाविक है। फलतः आज के शिक्षा दर्शन पर वर्तमान परिवर्तनशील संसार की

1. The Modern World Problems and Education. 2. Economic Interdependence. 3. Private enterprise and activities. 4. Nationalisation.

पूरी छाप है। अतः आश्चर्य नहीं कि शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में 'सामाजिक विज्ञान'[1] अब पहले से अधिक महत्वपूर्ण स्थान पाने लगे हैं। संकुचित व्यावसायिक शिक्षण[2] के स्थान पर स्कूलों में 'साधारण सांस्कृतिक शिक्षण'[3] पर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। प्रौढ़ शिक्षा[4] को अब शिक्षा व्यवस्था में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। बालिकाओं की शिक्षा को उनके स्वभाव और जीवन में उत्तरदायित्व के अनुकूल बनाने की माँग की जा रही है। शिक्षा को अब ऐसी बनाने की माग की गई है कि व्यक्ति अपने अवकाश-काल[5] का सदुपयोग करने में समर्थ हो सकें। गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रचारस्वरूप व्यक्ति को अब यह जानना है कि वह अपने व्यवहार में कैसी उदारता एवं सहिष्णुता लाये कि देश में स्थापित जनतंत्र सफल हो सके और सार्वजनिक कल्याण की ओर समुचित ध्यान दिया जा सके। फलतः सरकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों-सम्बन्धी अब नये विचारों का प्रादुर्भाव हो चला है। अतः जन साधारण को इन नये विचारों से अवगत होना अनिवार्य है, अन्यथा समाज जर्जरित होकर अध:पतन की ओर झुकता जायगा। सरकारी कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व जिनके ऊपर उन्हें भी अब एक नई शिक्षा की आवश्यकता है जिसमें जनता के हित को सदा अपने हृदय में रक्खें। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें आज व्यावहारिक शिक्षा-दर्शन[6] की आवश्यकता है।

वर्तमान युग की यह माँग है कि शिक्षा सारा ध्यान जीवन की वास्तविकता[7] की ओर जाना अत्यन्त आवश्यक है और अब यह देखना है कि मानव ऐसी शिक्षा पा सके जिससे वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं को भली भाँति पूरा करने में समर्थ हो सके। शिक्षा के इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए गत युगों के सभी शिक्षा-दर्शनों से हमें कुछ न कुछ सहायता लेनी पड़ेगी। इन विभिन्न दर्शनों में प्रत्येक के जो अच्छे-अच्छे विचार हैं उनसे हमें लाभ ... किसी भी शिक्षा-दर्शन की हम सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकते ... कर्णधारों को यह समझना है कि विभिन्न शिक्षा-दर्शनों ...

1. Social Sciences. 2. Narrow Vocational Training. 3. General Cultural 4. Adult
5. Worthy use of leisure. 6. Practical
7. Realities of Life.

११
शिक्षा और उसका अर्थ

१—शिक्षा क्या है ?[1]

शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षा के उद्देश्य का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस क्षेत्र में जो कुछ परिश्रम किया जाता है वह उद्देश्य ही द्वारा निर्धारित किया जाता है। शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी मतैक्य का पाना यदि असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है, क्योंकि इसके निर्धारण में व्यक्ति अथवा जाति के जीवन-दर्शन[2] का प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति अथवा जाति के जीवन-दर्शन में विभेद का पाया जाना एकदम स्वाभाविक है। अतः शिक्षा के उद्देश्य में मतैक्य का न मिलना आश्चर्यजनक नहीं। शिक्षा के उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए नीचे पहले हम समझने की प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा और उसका अर्थ क्या है। इसे समझने के क्रम में शिक्षा का उद्देश्य स्वतः निखरता जायगा। इसके बाद दूसरे अध्याय में हम अलग से शिक्षा के उद्देश्य का विवेचन करेंगे।

शिक्षक द्वारा ज्ञान देना[3]

शिक्षक द्वारा ज्ञान दिये जाने का उद्देश्य बहुत ही पुराना है। इस उद्देश्य के अनुसार यह विश्वास किया जाता था कि शिक्षा-प्रक्रिया[4] में शिक्षार्थी के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना है। अज्ञान मस्तिष्क को खाली मस्तिष्क समझा जाता था। इस खाली मस्तिष्क में ज्ञान को बड़ी सावधानी के साथ उसी तरह भरना है जैसे अन्नागार में अनाज को ठीक से रखा जाता है। इस धारणा को मानने वाले शिक्षक बालकों के मस्तिष्क की परिधि और शक्ति को बहुत छोटी समझते हैं।

1. What is Education. 2 Philosophy of Life. 3 Knowledge by the Teacher. 4. Process of Education.

भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अधिक सहायता मिल सकती है। गत पृष्ठों में प्रधान शिक्षा दर्शनों के स्वरूप की ओर संकेत किया जा चुका है। जो जिज्ञासु हैं वे अपने लि आवश्यक उपकरणों को उनमें से स्वयं चुन लेने में समर्थ होंगे—ऐसा विश्वा किया जा रहा है।

सारांश

वैज्ञानिक उन्नति के कारण 'वर्तमान' भूतकाल से एकदम भिन्न। हमारा युग परिवर्तनशील। आने और जाने हुए परिवर्तनों का सामना करने के लिए मानव अभी तैयार नहीं। जीविकोपार्जन के अनेक साधन, परन्तु बेकारी का बढ़ना। आर्थिक परस्परतन्त्रता। जीवन स्तर को उठाने की माँग। महिलायें अपने अधिकार प्राप्ति के लिए गतिशील। उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण। नई सामाजिक अवस्था के ये लक्षण शिक्षा के लिए नई समस्यायें उपस्थित करते हैं।

आज के शिक्षा दर्शन पर वर्तमान परिवर्तनशील संसार की पूरी छाप। फलतः पाठ्यक्रम से सामाजिक विज्ञानों को पहले से अधिक स्थान। सांस्कृतिक शिक्षण पर अधिक ध्यान। प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था। बालिकाओं की शिक्षा उनके कर्त्तव्यों के अनुकूल। अवकाश के सदुपयोग के लिए शिक्षा। नागरिक के कर्तव्यों और अधिकारों में शिक्षा। व्यावहारिक शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता। शिक्षा का ध्यान जीवन की वास्तविकताओं की ओर जाना। प्रत्येक शिक्षा-दर्शन में कुछ न कुछ अच्छी बातें।

प्रश्न

१—सामाजिक परिवर्तन शिक्षा के लिए नई समस्यायें कैसे उपस्थित करते हैं? उदाहरण देकर समझाइए।

* * *

११
शिक्षा और उसका अर्थ

१—शिक्षा क्या है ?[1]

शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षा के उद्देश्य का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस क्षेत्र में जो कुछ परिश्रम किया जाता है वह उद्देश्य ही द्वारा निर्धारित किया जाता है। शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी मतैक्य का पाना यदि असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है, क्योंकि इसके निर्धारण में व्यक्ति अथवा जाति के जीवन-दर्शन[2] का प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति अथवा जाति के जीवन-दर्शन में विभेद का पाया जाना एकदम स्वाभाविक है। अतः शिक्षा के उद्देश्य में मतैक्य का न मिलना आश्चर्यजनक नहीं। शिक्षा के उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए नीचे पहले हम समझने का प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा और उसका अर्थ क्या है। इसे समझने के क्रम में शिक्षा का उद्देश्य स्वतः निखरता जायगा। इसके बाद दूसरे अध्याय में हम अलग से शिक्षा के उद्देश्य का विवेचन करेंगे।

शिक्षक द्वारा ज्ञान देना[3]

शिक्षक द्वारा ज्ञान दिये जाने का उद्देश्य बहुत ही पुराना है। इस उद्देश्य के अनुसार यह विश्वास किया जाता था कि शिक्षा-प्रक्रिया[4] में शिक्षार्थी के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना है। अज्ञान मस्तिष्क को खाली मस्तिष्क समझा जाता था। इस खाली मस्तिष्क में ज्ञान को बड़ी सावधानी के साथ उसी तरह भरना है जैसे भण्डागार में अनाज को ठीक से रखा जाता है। इस धारणा को मानने वाले शिक्षक बालकों के मस्तिष्क की परिधि और शक्ति को बहुत छोटी समझते हैं।

1. What is Education, 2. Philosophy of Life, 3. Knowledge by the Teacher, 4. Process of Education

अत: उनके मस्तिष्क में ज्ञान के भागों को अति छोटे तार्किक क्रम में रखना है। ऐसे शिक्षकों लिए पाठ्य-वस्तु के प्रमुख अंग सबसे महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें छात्र के मस्तिष्क में किसी प्रकार भरा देना ही उनका प्रधान उद्देश्य होता है। इस प्रकार की शिक्षा-क्रम में शिक्षक ही गतिशील रहता है और छात्र को उसके प्रदत्त ज्ञान को स्वीकार कर लेना है। छात्र जितना ही आज्ञाकारी होगा वह उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा और अन्त में परीक्षा के लिए उतना ही अधिक उसे याद रहेगा।

आलोचना—

यह सत्य है कि शिक्षा में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसे हठात् अनिच्छुक छात्रों के मस्तिष्क में भरा जाय। सीखने वाले को स्वयं अपने अनुभव के आधार पर किसी ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षक को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि उसके सहारे विद्यार्थी अपने गत अनुभव के उन अंशों का पुनर्स्मरण कर ले जिनकी सहायता से उपस्थित नई बातों की वह व्याख्या करेगा। यदि शिक्षण के इस मनोवैज्ञानिक क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता तो शिक्षक द्वारा बताई हुई बातों का विद्यार्थीगण बहुधा गलत अथवा अथवा अपूर्ण अर्थ लगायेंगे। इस प्रकार उनकी शिक्षा अधूरी होगी। वस्तुत: वास्तविक ज्ञान तो विद्यार्थी के पास अपने परिश्रम के द्वारा आ सकता है। उसे आई हुई बातों के परस्पर सम्बन्ध को अपने गत अनुभव के सन्दर्भ में स्वय समझने में समर्थ होना चाहिए। शिक्षक को केवल पथ [illegible] है और उसे बालकों को सीखने के लिए अनुप्रेरित करते रहना है।

मानसिक विनय के रूप में शिक्षा[1]

'मानसिक विनय प्राप्त करने के लिए शिक्षा का [illegible]
दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण १९वीं शताब्दी तक बड़ा [illegible]
के विरुद्ध रूसो, पेस्तालॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल आदि [illegible]
थी। इस दृष्टिकोण के [illegible] का निर्धारण जीवन
के आधार पर न करके मा[illegible]
जाना है; अर्थात् पढ़ाने के [illegible]

1. Education as [illegible]

उनसे विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ किस प्रकार क्रियाशील होंगी। इसके लिए बालक को अत्यधिक परिश्रम करके किसी वस्तु को सीखने के लिए प्रेरणा दी जाती है, चाहे वह वस्तु उसे कितनी ही अरुचिकर क्यों न लगे। कुछ विशिष्ट विषयों के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि उनसे मानसिक विनय अथवा मानसिक अभ्यास भली-भाँति प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, तर्कशक्ति के विकास के लिये गणित को तथा स्मृति के विकास के लिए कविता तथा कुछ निरर्थक शब्दों को याद करना आवश्यक समझा जाता है। अतः बालक को ये सब बातें तर्क तथा स्मृति शक्ति के विकास के लिए पढ़ाई जावेंगी, चाहे इन विषयों का सम्बन्ध उसके वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं से भले ही न हो।

आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त शक्ति मनोविज्ञान[1] पर आधारित है। शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क विभिन्न स्वतन्त्र-शक्तियों—जैसे, तर्क, स्मृति तथा निर्णय आदि—का एक पुञ्ज है, और प्रत्येक को स्वतन्त्र अभ्यास द्वारा प्रौढ़ बनाया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शक्ति मनोविज्ञान की सार्थकता पर सन्देह किया जाने लगा और लगभग ३०-३५ वर्षों से तो इसको एकदम तिरस्कृत कर दिया गया है। अब इस धारणा पर विश्वास नहीं किया जाता है कि एक विषय में प्राप्त किया हुआ शिक्षण दूसरे विषयों में सहायक होगा। शिक्षण के स्थानान्तर[2] के सम्बन्ध में प्राचीन विचार अब गलत सिद्ध कर दिये गये हैं। अब प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक और शिक्षकों का एकमत है कि केवल समान[3] तत्वों के सम्बन्ध में ही शिक्षण का स्थानान्तर होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य में प्राप्त किया हुआ शिक्षण इतिहास में उसी सीमा तक सहायक होगा जिस सीमा तक साहित्य और इतिहास में कुछ समान तत्व मिलते हैं। शिक्षण के स्थानान्तर पर थार्नडाइक[4] तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षण किये हैं और उनकी धारणा है कि समान तत्वों के सम्बन्ध में ही कुछ स्थानान्तर सम्भव होता है। शिक्षण में इस प्रकार के स्थानान्तर को 'समान-

1. Faculty Psychology. 2. Transfer of Training. 3. Identical Elements. 4. Thorndike, E. L.

कर उसके मस्तिष्क में ज्ञान के भण्डार को भर छोड़े अधिक बल दे सकता है। ऐसे शिक्षकों लिए पाठ्यवस्तु के अनुसार पाठ सबसे महत्वपूर्ण है और उन्हें छात्र के मस्तिष्क म किसी प्रकार भरा देना ही उनका प्रधान उद्देश्य हुआ है। इस प्रकार की शिक्षा क्रम में शिक्षक ही क्रियाशील रहता है और छात्र का उसके ज्ञान ज्ञान को स्वीकार कर लेता है। छात्र जितना ही आज्ञाकारी होगा वह उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा और अन्त में परीक्षा के लिए उतना ही अधिक उसे याद रहेगा।

आरोपणा—

यह सत्य है कि शिक्षा में ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसे इतना अनिच्छुक छात्रों के मस्तिष्क में भरा जाय। सीखने वाले को स्वयं अपने अनुभव के आधार पर किसी ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षक को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि उसके सहारे विद्यार्थी अपने गत अनुभव से उन बातों का पुनःस्मरण कर ले जिनकी सहायता से उपस्थित नई बातों की वह व्याख्या करेगा। यदि शिक्षण के इस मनोवैज्ञानिक क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता तो शिक्षक द्वारा बताई हुई बातों का विद्यार्थीगण बहुधा गलत अथवा अथवा अधूरा अर्थ लगायेंगे। इस प्रकार उनकी शिक्षा अधूरी होगी। वस्तुतः वास्तविक ज्ञान तो विद्यार्थी के पास अपने परिश्रम के द्वारा आ सकता है। उसे आई हुई बातों के परस्पर सम्बन्ध को अपने गत अनुभव के सन्दर्भ में स्वयं समझने में समर्थ होना चाहिए। शिक्षक को केवल पथ-प्रदर्शक होना है और उसे बालकों को सीखने के लिए अनुप्रेरित करते रहना है।

मानसिक विनय के रूप में शिक्षा[1]

'मानसिक विनय प्राप्त करने के लिए शिक्षा का देना' शिक्षा का एक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण १६वीं शताब्दी तक बड़ा प्रचलित था। इसी के विरुद्ध रूसो, पेस्तालॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल आदि शिक्षकों ने आवाज उठाई थी। इस दृष्टिकोण के अनुसार पाठ्यवस्तु का निर्धारण जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर न करके मानसिक अभ्यास[2] अथवा व्यायाम के लिए किया है; अर्थात् पढ़ाने के लिए किसी विषय के चुनने में यह देखा जाता है कि

1. Education as Mental Discipline. 2. Mental Exercise.

इनके विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ किस प्रकार विकसित होंगी। इसके लिए बालक को मानसिक परिश्रम करके किसी वस्तु को सीखने के लिए प्रेरणा दी जाती है, चाहे वह वस्तु उसे कितनी ही अरुचिकर क्यों न लगे। कुछ विशिष्ट विषयों के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि उनसे मानसिक विनय अथवा मानसिक व्यायाम भली भाँति प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ; तर्कशक्ति के विकास के लिये गणित को तथा स्मृति के विकास के लिए व्याकरण तथा कुछ निरर्थक शब्दों को याद करना आवश्यक समझा जाता है। अतः बालक को वे सब बातें तर्क तथा स्मृति शक्ति के विकास के लिए पढ़ाई जायेंगी, चाहे इन विषयों का सम्बन्ध उनके वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं से भले ही न हो।

आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त शक्ति मनोविज्ञान[1] पर आधारित है। शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क विभिन्न स्वतन्त्र शक्तियों—ध्यान, तर्क, स्मृति तथा निर्णय आदि—का एक पुञ्ज है, और प्रत्येक को स्वतन्त्र अभ्यास द्वारा प्रौढ़ बनाया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शक्ति मनोविज्ञान की सार्थकता पर सन्देह किया जाने लगा और लगभग १०-१५ वर्षों से तो इसको एकदम तिरस्कृत कर दिया गया है। अब इस धारणा पर विश्वास नहीं किया जाता है कि एक विषय में प्राप्त किया हुआ शिक्षण दूसरे विषयों में सहायक होगा। शिक्षण के स्थानान्तर[2] के सम्बन्ध में प्राचीन विचार अब गलत सिद्ध कर दिये गये हैं। अब प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक और शिक्षकों का एकमत है कि केवल समान[3] तत्वों के सम्बन्ध में ही शिक्षण का स्थानान्तर होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य में प्राप्त किया हुआ शिक्षण इतिहास में उसी सीमा तक सहायक होगा जिस सीमा तक साहित्य और इतिहास में कुछ समान तत्व मिलते हैं। शिक्षण के स्थानान्तर पर थार्नडाइक[4] तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षण किये हैं और उनकी धारणा है कि समान तत्वों के सम्बन्ध में ही कुछ स्थानान्तर सम्भव होता है। शिक्षण में इस प्रकार के स्थानान्तर को 'समान...

1. Faculty Psychology. 2. Transfer of Training. 3. Identical Elements. 4. Thorndike, E. L.

के स्तर पर ही रहने दिया जाए, ऐसा करने पर तो वह अनुदार हो जाएगा। स्वाभाविक विकास का तात्पर्य यह है कि उसकी मूलप्रवृत्तियों का अवदमन[1] न करके यथासम्भव उनके शोधन[2] का प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः व्यक्ति के स्वाभाविक विकास-क्रम में उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों आवश्यकताओं पर ध्यान देने का तात्पर्य ही 'सुसंगठित समाज की नींव डालना' है। इस प्रकार मानव के स्वाभाविक विकास में योग देने से हम सामाजिकता के विरुद्ध कार्य नहीं करते।

शिक्षा समायोजन है[3]

मानव शिशु को वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने में बड़ी ही कठिनाई होती है। अन्य जीवों की अपेक्षा उसका शैशव बहुत दिनों तक चलता रहता है और अपने अवयवों की दक्षता प्राप्त करने में उसे कई वर्ष लग जाते हैं। बहुत प्रारम्भ से ही उसके प्रयत्न का उद्देश्य अपने प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण पर नियन्त्रण प्राप्त करना होता है, जिससे उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती रहे। थोड़े ही दिन बाद उसे अनुभव हो जाता है कि वातावरण पर पूर्णतः नियन्त्रण प्राप्त करना सम्भव नहीं, और उसे भी अपने व्यवहार में सुधार लाना आवश्यक है। पहले तो व्यवहार में सुधार लाना उसे बड़ा ही अखरता है, परन्तु बाद में काम न चलता देख वह प्रयत्न करने लगता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप उसमें ज्ञान[4], कौशल[5], तथा संवेगात्मक परिवर्तन[6] आने लगते हैं। यह सब उसके अनुभव[7] और सीखने का फल होता है। इस अनुभव और सीखने को ही शिक्षा का नाम दिया जा सकता है और ऐसी शिक्षा को समायोजन अथवा व्यवस्थापन की संज्ञा दी जाती है।

मानव स्वभावतः अपने वातावरण से असन्तुष्ट रहता है और अपने आराम तथा सुविधा के उपकरणों के बढ़ाने की चिन्ता में सदा लगा रहता है। इस चिन्ता के क्रम में वह अपने ज्ञान को सुसंगठित करता है और उसे बहुत सी नई-

1. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा", अध्याय ६ और ७, प्रकाशक लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, द्वि० सं० १९५३। 2. Sublimation. 3. Education is Adjustment. 4. Kn[illegible] 5. Skill 6. Emotional Changes. 7. Experience.

पुस्तक में वर्णित किण्डरगार्टेन तथा मान्तीसरी आदि पद्धतियों की शिक्षा [illegible] बालक की निजी शिक्षा पर ही आधारित है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें शिक्षा के अर्थ पर थोड़ा प्रकाश मिलता है। हम यहीं सोचने का प्रयत्न करेंगे कि शिक्षा का अर्थ क्या है।

२—शिक्षा का अर्थ

शिक्षा उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानव। जब से मानव इस [illegible] आया तभी से शिक्षा का क्रम जारी है, क्योंकि शिक्षा बिना उसका [illegible] नहीं सकता। परन्तु खेद है कि अब भी बहुत से लोग शिक्षा के अर्थ [illegible] ठीक नहीं समझते। शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में इस [illegible] हैं। पहला कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे [illegible] शिक्षा मिली या न मिली हो, कुछ ऐसे अनुभव रखता है [illegible] परिणाम समझता है। अतः उसकी यह धारणा हो [illegible] को कुछ-कुछ वह समझने लगा है। इसीलिए [illegible] विद्यालयों के कार्यों की आलोचना प्राय: सभी [illegible] यह है कि शिक्षा एक विज्ञान अथवा शास्त्र के [illegible] में ही है। अतः भौतिक विज्ञानों की तरह इसे [illegible] नहीं प्राप्त हो सकी है।

उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है तो वह भी शिक्षा का अर्थ उसके उद्देश्य और कार्य तक ही सीमित करता है।

दूसरे दृष्टिकोण से शिक्षा का अर्थ शिक्षा के मनोविज्ञान से लिया जाता है। इसमें शिक्षा-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किया जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार ही शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ का निर्धारण किया जाता है। शिक्षा-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण से यह समझा जाता है कि बालक की शिक्षा किस प्रकार चलती है, उसकी शिक्षा के लिए किन-किन अवस्थाओं का आयोजन आवश्यक है। शिक्षा-मनोविज्ञान इन सब प्रश्नों का उत्तर देता है। फ्रोबेल और डीवी ऐसे शिक्षा-चिन्तकों का कार्य इन्हीं प्रश्नों का समुचित उत्तर देना है। अब हरबार्ट और लॉक के उपर्युक्त दृष्टिकोण पुराने माने जाते हैं और अब शिक्षा के अर्थ के अन्तर्गत प्रायः 'शिक्षण प्रक्रिया'[1] का ही विश्लेषण किया जाता है। अत: शिक्षा के अर्थ के अन्तर्गत हमारा ध्यान शिक्षण-प्रक्रिया के विश्लेषण की ही ओर रहेगा।

शिक्षा का अर्थ बालक की क्रियाशीलता और अनुभव से

शिक्षा का अर्थ केवल स्कूल या कालेज में प्राप्त शिक्षा से ही नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः व्यक्ति इन शिक्षा-केन्द्रों के अतिरिक्त अपने दूसरे वातावरण से भी बहुत कुछ ज्ञान और अनजान में सीखता रहता है। जब पुस्तकें साधारण जनता के लिए सरलता से उपलब्ध नहीं थीं तब स्कूल के अन्दर विभिन्न विषयों का ज्ञान देना शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों में समझा जाता था। शिक्षा के इस दृष्टिकोण की प्रायः सभी आधुनिक शिक्षा-विशेषज्ञों ने आलोचना की है, क्योंकि इससे बालक का व्यक्तित्व बड़ा ही संकुचित हो जाता है। गत पृष्ठों में यथास्थान कही हुई बातों से यह स्पष्ट है। यदि शिक्षा-प्रक्रिया में विषयों के ज्ञानार्जन[2] पर ही सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया जाय तो वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए घातक हो सकता है, क्योंकि ज्ञान से ही व्यक्ति के व्यवहार में वांछित सुधार आ जाना आवश्यक नहीं। हम देखते भी हैं कि पढ़े-लिखे बहुत से व्यक्तियों का व्यवहार ऐसा होता है कि उन्हें 'शिक्षित' कहना 'शिक्षा' का अपमान करना है। स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर वांछित

1. Educative Process. 2 Acquisition of Knowledge.

दिशा में व्यक्ति के व्यवहार में सुधार लाता है। ग्रतः केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद[1] है जो कि व्यक्ति के व्यवहार में वांछित सुधार लाता है।

केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद हो सकता है जिसकी व्यक्ति को स्वयं अनुभूति होती है, अर्थात् जिसे व्यक्ति अपने अनुभवों से सीखता है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य जाति के अनुभवों को व्यक्ति के अनुभवों के अन्तर्गत लाना है। इसीलिए तो डीवी जैसे महान शिक्षकों ने बालक के निजी अनुभव तथा उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता पर इतना बल दिया है। स्कूल को बालक के वातावरण का इस प्रकार उपयोग करना है कि उसे इस प्रकार के वांछित अनुभव मिलें कि उसके व्यवहार में आवश्यक सुधार आ जाये। इस प्रकार यदि शिक्षा का अर्थ कोरा ज्ञानार्जन न होकर बालक की क्रियाशीलता और अनुभव[2] है तो शिक्षा को हम केवल स्कूल की चहारदीवारी तक ही सीमित नहीं कर सकते।

शिक्षा का अर्थ व्यवहार में सुधार से

जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति में शारीरिक मानसिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन आया करते हैं। व्यक्ति में परिवर्तन आने के दो कारण माने जा सकते हैं, पहला कारण यह है कि उसमें उसके अन्दर से ही परिवर्तन आते हैं, दूसरा कारण उसका बाह्य वातावरण माना जा सकता है। पहले कारण से आये हुए परिवर्तन को विकास कहते हैं और दूसरे से आये हुए को शिक्षा। अपनी विविध इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को बहुधा वातावरण के साथ संघर्ष में आना होता है। मानव संस्कारशील[3] होता है, अतः इस संघर्ष के कारण उसके व्यवहार में सुधार आता रहता है। स्पष्ट है कि मानव स्वभाव की संस्कारशीलता[4] के आधार पर वातावरण के साथ संघर्ष के फलस्वरूप व्यवहार में जो कुछ सुधार आता है वही शिक्षा है। व्यक्ति का कोई भी अनुभव—छोटा या बड़ा किसी न किसी रूप में शिक्षाप्रद होता है, क्योंकि उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है और तदनुसार उसके व्यवहार में कुछ सुधार आता है। जान या अनजान में जीवन भर हर पग पर व्यक्ति शिक्षा पाता है। इस प्रकार उसका

1. Educative. 2. Activity and Experience. 3. Plastic. 4. Plasticity.

अन्दर ही दी जा सकती है। आधुनिक प्रगतिशील स्कूलों[1] में बालक की
कुछ आयोजन कक्षा के बाहर सुसंगठित क्रियाशीलताओं द्वारा भी किये
। इन क्रियाशीलताओं से भी उनके व्यवहार में वांछित सुधार लाने की
की जाती है और बहुत से अंशों में यह अपेक्षा पूरी भी होती है। इन
ीलताओं के अतिरिक्त भी स्कूल में कक्षा के बाहर शिक्षक और शिक्षार्थी
रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और इस सम्पर्क से विद्यार्थी गण
व्यवहार में सुधार लाते हैं। अतः स्पष्ट है कि अविधिक अथवा सविधिक
को केवल कक्षा की सीमा के अन्दर ही नहीं बाँधा जा सकता।

बालक स्वयं सीखता है

शिक्षक को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह बालक को पढ़ाता है। उसे यह
रखना चाहिए कि बालकों को कुछ पढ़ाया नहीं जा सकता, वरन् बालक सी
अपने अनुभव से सीखते हैं। एक पथप्रदर्शक के रूप में शिक्षक बालकों को
रास्ते पर कर सकता है कि उनका अनुभव उपयोगी और शिक्षा-प्रद ही हो।
एक ऐसी संस्था है जहाँ सभी बालकों को समान अधिकार है और सभी को
स्वाभाविक क्रियाशीलता के लिए पूरी स्वतन्त्रता है। अतः स्कूल में जिन
का आयोजन किया जाय उनमें सभी बालकों के हित तथा इच्छाओं पर
ध्यान देना है। प्रत्येक बालक को इन कार्यों के संगठन में अपना अपना
देना है और प्रत्येक को उनकी सफलता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना
स्पष्ट है कि स्कूल की ऐसी परिस्थिति में शिक्षक का यह सोचना कि बालकों
वह पढ़ाता है अथवा उसीके विचार और इच्छानुसार बालक चले भ्रमात्मक है।
, शिक्षक को यह भी याद रखना है कि स्कूल में पूरे समूह द्वारा जो क्रिया-
लतायें आयोजित और संगठित की जाती है उनसे उसकी भी शिक्षा होती है,
कि केवल बालकों की ही, क्योंकि स्कूल के उस समूह का एक सदस्य शिक्षक
ता है। इस प्रकार शिक्षा-प्रक्रिया दो-मुखी है। इससे शिक्षक और विद्यार्थी
ों के व्यवहार में सुधार होता है। स्पष्ट है कि 'पढ़ाना' और 'सिखाना' दोनों
ही साथ चलता रहता है और शिक्षक पढ़ाने के क्रम में स्वयं अपना भी
ास करता है।

1. Modern Progressive Schools.

पूरा जीवन ही एक लम्बी शिक्षा-प्रक्रिया[1] है। अतः एक दृष्टिकोण से शि को जीवन की प्रक्रिया कह सकते है।[2] स्पष्ट है कि शिक्षा का किसी स्कूल अथ कालेज से ही सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से शिक्षा का क्षेत्र बड़ा ही असीमित हो जाता है। अत सविधिक[3] और अविधिक[4] शिक्षा में अन्तर की ओर संकेत करना आवश्यक जा पड़ता है। नीचे[5] हम इसी अन्तर की ओर आ रहे हैं।

अविधिक शिक्षा

अविधिक शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार में आए हुए उस सुधार को कहते हैं जो उसके बिना किसी चेतनायुक्त[6] प्रयत्न के आ जाता है। अविधिक शिक्षा किसी पूर्व योजना के अनुसार नहीं चलती, और न इसमें कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य ही होता है। वस्तुतः अविधिक शिक्षा अनजान में चला करती है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति किसी समारोह में आ जाता है, वह वहाँ परस्पर-व्यवहार तथा शिष्टाचार की रीतियाँ अनजान में सीख लेता है—न तो वहाँ कोई शिक्षक रहता है, और न 'सीखने वाला' शिक्षार्थी के रूप में किसी से शिष्टाचार-सम्बन्धी रीति ही सीखता है। व्यवहार और शिष्टाचार सम्बन्धी सारी शिक्षा यहाँ पर व्यक्ति आकस्मिक[7] रूप में पाता है। यहाँ पर यह ध्यान देना है कि अविधिक शिक्षा जो आकस्मिक रूप में चलती है उसका सदैव अच्छा ही होना आवश्यक नहीं। हम सब लोगों का अनुभव है कि बालक अनजान में बहुत सी बुरी बातें और आदतें सीख लेता है। परन्तु यह याद रखना है कि बुरी आदतों का सीखना शिक्षा नहीं है, वस्तुतः वह तो कुशिक्षा है।

सविधिक शिक्षा

सविधिक शिक्षा में एक निश्चित उद्देश्य होता है और इसमें एक पूर्व योजना होती है। यह शिक्षा प्रायः इसी उद्देश्य से संस्थापित संस्थाओं—अर्थात् स्कूल और कालेजों में दी जाती है। इसमें शिक्षक और शिक्षार्थी अपनी जान में एक प्रक्रिया में संलग्न होते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सविधिक शिक्षा

1. The Individual's whole life is one long process of education. 2 Education is a process of living. 3. Formal 4. Informal. 5. तृतीय अध्याय का प्रारम्भ भी देखिए। 6. Without any conscious effort. 7. ental way.

कक्षा के अन्दर ही दी जा सकती है। आधुनिक प्रगतिशील स्कूलों[1] में बालक की शिक्षा के कुछ आयोजन कक्षा के बाहर सुसगठित क्रियाशीलताओं द्वारा भी किये जाते हैं। इन क्रियाशीलताओं से भी उनके व्यवहार में वांछित सुधार लाने की अपेक्षा की जाती है और बहुत से अंशों में यह अपेक्षा पूरी भी होती है। इन क्रियाशीलताओं के अतिरिक्त भी स्कूल में कक्षा के बाहर शिक्षक और शिक्षार्थी विविध रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और इस सम्पर्क से विद्यार्थी गण अपने व्यवहार में सुधार लाते हैं। अतः स्पष्ट है कि अविधिक अथवा सविधिक शिक्षा को केवल कक्षा की सीमा के अन्दर ही नहीं बाँधा जा सकता।

बालक स्वयं सीखता है

शिक्षक को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह बालक को पढ़ाता है। उसे यह याद रखना चाहिए कि बालकों को कुछ पढ़ाया नहीं जा सकता, वरन् बालक तो स्वयं अपने अनुभव से सीखते हैं। एक पथप्रदर्शक के रूप में शिक्षक बालकों को ऐसे रास्ते पर कर सकता है कि उनका अनुभव उपयोगी और शिक्षा-प्रद ही हो। स्कूल एक ऐसी संस्था है जहाँ सभी बालकों को समान अधिकार हैं और सभी को अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता के लिए पूरी स्वतन्त्रता है। अतः स्कूल में जिन कार्यों का आयोजन किया जाय उनमें सभी बालकों के हित तथा इच्छाओं पर समुचित ध्यान देना है। प्रत्येक बालक को इन कार्यों के संगठन में अपना अपना भाग देना है और प्रत्येक को उनकी सफलता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना है। स्पष्ट है कि स्कूल की ऐसी परिस्थिति में शिक्षक का यह सोचना कि बालकों को वह पढ़ाता है अथवा उसीके विचार और इच्छानुसार बालक चले भ्रमात्मक है। दूसरे, शिक्षक को यह भी याद रखना है कि स्कूल में पूरे समूह द्वारा जो क्रियाशीलतायें आयोजित और सगठित की जाती हैं उनसे उसकी भी शिक्षा होती है, न कि केवल बालकों की ही, क्योंकि स्कूल के उस समूह का एक सदस्य शिक्षक भी तो है। इस प्रकार शिक्षा-प्रक्रिया दो-मुखी है। इससे शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के व्यवहार में सुधार होता है। स्पष्ट है कि 'पढ़ाना' और 'सिखाना' दोनों साथ ही साथ चलता रहता है और शिक्षक पढ़ाने के क्रम में स्वयं अपना भी विकास करता है।

1. M[illegible]

सारांश

१—शिक्षा क्या है ?

शिक्षा के उद्देश्य में मतैक्य नहीं। इसके निर्धारण में जीवन-दर्शन का प्रभाव।

शिक्षक द्वारा ज्ञान देना

यह उद्देश्य बहुत ही पुराना। बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भ
पाठ्यक्रम के प्रमुख अंश को बालक के मस्तिष्क में सजाना। छात्र का प्राशा
होना।

आलोचना—

छात्र को स्वयं अपने अनुभव से सीखना। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक।

मानसिक विनय के रूप में शिक्षा

यह एक दृष्टिकोण, पाठ्यक्रम का निर्धारण मानसिक अभ्यास के लिए,
कुछ विशिष्ट विषयों से मानसिक अभ्यास अधिक सरलता से प्राप्त किया जा
सकता है।

ालोचना—

शिक्षण के स्थानान्तर के सम्बन्ध में पुराने विचार अब गलत सिद्ध कर दिये
है। केवल समान तत्त्वों के सम्बन्ध में ही स्थानान्तर। इस दृष्टिकोण के
रे वर्तमान की समस्याओं का सामना करने में व्यक्ति असमर्थ।

क्षा-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता

शिक्षा का आयोजन सीखने के मनोविज्ञान के अनुसार। व्यक्ति और समाज
पर सम्बन्धों पर ध्यान। बालक की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को प्रधानता।
त्तियों के शोधन करने का

शिक्षा निजी क्रियाशीलता

. . बालकों पर शिक्षा लादना नहीं। उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता के आधार पर उन्हें शिक्षा देना।

२—शिक्षा का अर्थ

शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में अनिश्चितता। प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा का आलोचक, शिक्षा एक शास्त्र के रूप में अभी अपने विकास-क्रम में।

शिक्षा का अर्थ दो दृष्टिकोणों से

१—शिक्षा के उद्देश्य तक सीमित। जैसे हरबार्ट और लॉक का दृष्टि-कोण।

२—शिक्षा के मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान। शिक्षा-प्रक्रिया का स्पष्टी-करण। जैसे, फ्रोबेल और डीवी।

शिक्षा का अर्थ बालक की क्रियाशीलता और अनुभव से

ज्ञान से ही व्यक्तित्व में वाछित सुधार आ जाना आवश्यक नहीं। व्यवहार में वाछित सुधार लाना उद्देश्य।

केवल वही ज्ञान शिक्षाप्रद जिसमे व्यक्ति को अनुभूति होती है। जाति के अनुभवों को व्यक्ति के अनुभवो के अन्तर्गत लाना है। शिक्षा स्कूल तक ही सीमित नहीं।

शिक्षा का अर्थ व्यवहार में सुधार से

व्यक्ति में परिवर्तन आने के दो स्रोत—अन्दर से और बाहर से—अन्दर से विकास और बाहर से शिक्षा। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, वाता-वरण के संघर्ष में आता। इस संघर्ष से व्यवहार में सुधार—यह सुधार शिक्षा। सुधार जीवन भर। अतः शिक्षा-प्रक्रिया जीवन भर।

अविधिक शिक्षा

बिना किसी चेतनायुक्त प्रयास के। पूर्व योजना नहीं। आकस्मिक शिक्षा।

१२
शिक्षा के उद्देश्य[1]

१—क्या शिक्षा की परिभाषा करना सम्भव है[2] ?

शिक्षा की परिभाषा करना सरल नहीं। अपने-अपने विचारानुसार लोगों ने शिक्षा की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। वस्तुतः शिक्षा की परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। यह विवादग्रस्त विषय है, अतः इस पर केवल विचार विनिमय किया जा सकता है। शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के आदर्श के अनुसार ही इसका सगठन करना उचित है। व्यक्ति का अपना विशिष्ट आदर्श होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करना कोरी प्रवचना है। तथापि विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपना परिश्रम बन्द नहीं किया है, क्योंकि विभिन्न विचार और आदर्श के होते हुए भी मानव स्वभाव में कुछ एकता पाई जाती है। इसी एकता के आधार पर शिक्षा के कुछ साधारण उद्देश्यों का उल्लेख कर दिया गया है। अपनी रुचि के अनुसार किसी उद्देश्य को अपनाने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। शिक्षा की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। शिक्षा वह साधना है जिससे वातावरण सुधारा जाता है अथवा नये वातावरण की रचना की जाती है। शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है। इस मत के मानने वाले यहाँ तक कह जाते हैं कि स्कूल में सीखे हुए ज्ञान के भूल जाने पर जो कुछ बचता है वही शिक्षा का फल है। कुछ लोग शिक्षा का अर्थ समझते हैं—अन्धकार में प्रकाश दिखलाना। जड़वादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सुखपूर्वक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना सिखलाना है।

संक्षेप में विभिन्न विशेषज्ञों के मतानुसार शिक्षा के उद्देश्य ये हैं :—

(१) व्यक्ति की सभी आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास करना जिससे उसमें आत्म-निर्भरता आ सके।

1. The Aims of Education. 2. Is it possible to define education ?

(२) स्वतन्त्र आलोचनात्मक शक्ति का विकास करना।

(३) व्यक्ति में दूसरों के सुख-दुःख में सहानुभूति दिखलाने की शक्ति उत्पन्न करना।

(४) संसार में प्रचलित सभ्यता के विभिन्न अंगों का ज्ञान कराना।

(५) व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस प्रकार करना कि सामाजिक हित की उपेक्षा न की जा सके।

(६) व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तियों और स्थायी-भावों में सामञ्जस्य उत करना।

उपर्युक्त छः उद्देश्यों के सूक्ष्मतम विश्लेषण से शिक्षा के केवल दो ही प्रधा उद्देश्य ठहरते हैं—वैयक्तिक और सामाजिक[1]। वैयक्तिक और सामाजिक उद्दे देखने में परस्पर-विरोधी जान पड़ते हैं। ये उद्देश्य शिक्षा-क्षेत्र में ही नहीं वरः राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। इन सभी क्षेत्रों में दोनों के कट्टर प्रतिपादक मिलते हैं। यहाँ हम केवल शिक्षा-क्षेत्र में ही इन दोनों उद्देश्यों के तात्पर्य पर प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य

हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के इसी उद्देश्य की पोषक रही है। उनके अनुसार वैयक्तिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्ति के आत्म-बोध से रहा है। स आत्मबोध का तात्पर्य ईश्वर में आत्मसात् करना था। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट ी शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के प्रतिपादक थे और उन्होंने समाज की सभी ान्यताओं के आँकने के लिये केवल व्यक्ति को ही मापदण्ड रूप में[2] स्वीकार या। फलतः शिक्षा द्वारा वे व्यक्ति में 'सत्यं शिव और सुन्दरम्'[3] का विकास ना चाहते थे। मध्य युग के ईसाई शिक्षा-काल[4] में कठोर नियमों के आधार व्यक्ति में निहित पापों को दूर कर उसे विशुद्ध बनाना शिक्षा का उद्देश्य था। पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि रूसो, पेस्तालॉजी तथा फ्रोबेल शिक्षा के क्षेत्र यक्तिक उद्देश्य के ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि व्यक्ति का विकास करना ही

. Individual and Social Aims of Education 2. Individual ... of all values. 3. Truth, Goodness and Beauty. ...ducation in the Middle Ages.

उसका प्रधान उद्देश्य है। बीसवीं शताब्दी में सर टी० पी० नन इस उद्देश्य के प्रधान प्रतिपादक माने जाते हैं। शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्ति के उच्चतम विकास अथवा आत्म ज्ञान[1] से है। व्यक्ति के 'आत्म' के पूर्ण विकास[2] की ओर शिक्षा को नियोजित करना है। प्रत्येक व्यक्ति का आत्म सार्वभौमिक आत्म[3] से सम्बन्धित होता है। सार्वभौमिक आत्म से सम्बन्धित होने के नाते उसका सम्बन्ध सार्वभौमिक मान्यताओं से भी रहता है। सार्वभौमिक मान्यतायें व्यक्ति के अपने व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व[4] से अधिक स्थायी होती हैं।

व्यक्तिवाद के अनुसार शिक्षा-दर्शन—

व्यक्तिवाद के शिक्षा दार्शनिक सिद्धान्त की ओर इस प्रकार संकेत किया जा सकता है:—

१—सार्वभौमिक मान्यतायें सनातन और अपरिवर्तनशील होती हैं।

२—ये मान्यतायें व्यक्ति में निहित रहती हैं और अपने पूर्ण विकास की प्रतीक्षा में रहती हैं।

३—व्यक्ति ही 'वास्तविक'[5] है, समाज की रचना केवल उसके लाभ के लिये की गई है। अतः व्यक्ति की सम्भावनाओं[6] का उच्चतम विकास करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के विकास पथ में रोड़ों को दूर करना है। शिक्षा व्यक्ति के विकास की एक प्रक्रिया है, और शिक्षक को यह देखना है कि यह प्रक्रिया बिना किसी अड़चन के चलती रहे।

अतः शिक्षा के तत्वों का निर्धारण सामाजिक क्रियाशीलताओं के आधार पर न करके बालक की रुचियों के आधार पर करना चाहिये। जब कि सार्वभौमिक मान्यतायें स्वयं व्यक्ति में निहित रहती हैं तो उसे विकसित होने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये, क्योंकि तब वह उसी पथ का अनुसरण करेगा जिससे उसका विकास सर्वोत्तम रूप से चलेगा। शिक्षा में पाठ्यवस्तु का चुनाव व्यक्ति के विकास के उद्देश्य से करना चाहिये। किसी भी विषय के पढ़ाने का उद्देश्य व्यक्ति का विकास ही होगा। ऐसी स्थिति में सभी बालकों के लिये एक ही पाठ्यवस्तु निर्धा-

---

1. Highest development of the individuality or self-realisation.
2. Perfection of the self. 3. Universal-self.
5. Individual is the reality. 6. Potentialities.

रित कर देना घातक होगा, क्योंकि व्यक्ति की रुचियो और विकास-प्रक्रिया में भेद का पाया जाना स्वाभाविक है। अतः आदर्श की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम होना चाहिये। यदि ऐसा सम्भव न हो तो पाठ्यक्रम का सङ्गठन कम से कम इस प्रकार करना चाहिए कि उसमें आवश्यकतानुसार वाछित परिवर्तन किया जा सके।

शिक्षा-विधि के क्षेत्र में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार बालक स्वतन्त्र क्रियाशीलता को प्रधानता दी जाती है। कोई व्यक्ति अपने निजी अनुभ के आधार पर ही सीख सकता है। विविध प्रकार के अनुभवो के लिए स्कूल को इस प्रकार आयोजन करना है कि बालक आवश्यक बातें स्वय सीख ले। स्वतन्त्र क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण विनय-समस्या भी जटिल न होगी। उसका समाधान तो स्वतः होता जायगा। इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास को सदैव प्रेरणा देनी है। शिक्षा की सभी विधियो का उद्देश्य इसी प्रेरणा को देना है।

अब नीचे हम शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की चर्चा करेंगे।

३—शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

विज्ञान, गणतन्त्र तथा समाजवादी विचारों के प्रचार से शिक्षा में समा की ओ झुकाव बढ़ता गया। शिक्षा में समाजवादी विचार धारा को स्पष्टतः ला का श्रेय सर्वप्रथम हरबर्ट स्पेन्सर' को दिया जा सकता है। स्पेन्सर के अनुसार 'अच्छी तरह जीवन बिता सकना' शिक्षा का उद्देश्य है, अर्थात् व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वह सभी प्रकार से अच्छी तरह सुखी जीवन बिता सके। स्पेन्सर के शिक्षा उद्देश्य की ओर गत पृष्ठों में हम कुछ सकेत कर चुके हैं। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्रतिपादक बालक को ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं जिससे वह अपने भावी जीवन में सभी आवश्यक सांसारिक उत्तरदायित्वो को निभा सके। इस प्रकार उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी है। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्र[illegible] का दार्शनिक आधार निम्नलिखित है :—

. . वस्व में कुछ सनातन [illegible] स्पष्टतः अनुभूति होती है वही [illegible] मानना ठीक है।

(२) मानव मान्यतायें[1] समाज से विकसित होती है। अतः व्यक्ति सामाजिक आदर्शों को अपना समझकर स्वीकार करता है।

(३) अपने में सामाजिक गुणों के विकास से ही व्यक्ति अपने आत्म[2] को समझ सकता है, अथवा अपना पूर्ण विकास कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक में विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। समाजशास्त्रीय विचार धारा[3] के अनुसार समाज ही सब कुछ है। व्यक्ति तो समाज रूपी चलने वाली नाड़ी की एक धड़कन के समान है। व्यक्ति में जो कुछ गुण और तत्व होते हैं उसे वह समाज से ही पाता है। व्यक्ति सामाजिक वातावरण में जन्म लेता है। जन्म के पूर्व ही उसका वातावरण एक प्रकार से सुनिश्चित रहता है। व्यक्ति इस वातावरण के अनुसार अपने को ढालने में समर्थ होता है क्योंकि परिस्थिति के अनुसार अपने में परिवर्तन लाने का उसमें गुण होता है। अतः अपने शैशव, बचपन तथा कैशोर में वातावरण के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने की वह चेष्टा किया करता है। जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है उनके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए यह वह सीखता रहता है। जिन विधियों से यह सब वह सीखता है उसी को शिक्षा कहते हैं। इस प्रकार शिक्षा से ही उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्धारण होता है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के प्रतिपादक बालक की किसी जन्म-जात सम्भावनाओं[4] में विश्वास नहीं करते। उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपनी सारी शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ अर्जित करता है, न कि सक्रमित। सभी व्यक्तियों के सामाजिक वातावरण[5] में कुछ समान तत्व होते हैं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को कुछ समान सामाजिक अभिप्रेरणाओं का सामना करना होता है। अतः सभी व्यक्तियों के व्यवहार में कुछ समान तत्त्व पाये जा सकते हैं। इस समानता के आधार पर ही व्यक्ति समाज में रहना चाहता है और समाज में रहने से उसका व्यक्तिगत विकास होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक ही बनाना है जिससे वह अपना विकास कर सके। शिक्षा के सहारे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि समाज में वह सुखी जीवन व्यतीत कर सके। सुखी जीवन व्यतीत करने

1. Human Values. 2. Self. 3. Sociological Thinking.
4 Innate Potentialities. 5. Social Environment.

के लिये उसे विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्वों को उठाने के लिए अपने को तैयार करना होगा। इस तैयारी में व्यक्ति की सहायता करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के अनुसार पाठ्य-वस्तु का सङ्गठन सामाजिक स्रोतों से किया जायगा। सामाजिक जीवन के लिए जो वस्तुएँ उपयोगी और वाञ्छित होंगी उन्हीं को पाठ्य-वस्तु में रखा जायगा। इस प्रकार समाज में देखी जाने वाली क्रियाशीलताओं[1] और स्कूल की क्रियाशीलताओं में कोई विशेष भेद नहीं होना चाहिये। वस्तुतः समाज एक ऐसी पुस्तक है जिसका बालक को स्कूल में गूढ़ अध्ययन करना है। समाज की महत्त्वपूर्ण क्रियाशीलताओं का विश्लेषण करना चाहिये और शिक्षा का निर्धारण उसी विश्लेषण के आधार पर करना चाहिये। शिक्षा उद्देश्य ही नहीं, वरन् शिक्षा विधि[2] का भी सामाजिक होना आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण[3] के आधार पर ही शिक्षा का समुचित रूप से परिचालन किया जा सकता है। स्कूल को एक छोटा समाज ही समझना चाहिये। स्कूल जितना ही अधिक सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करेगा उतना ही अच्छा वह बालकों की शिक्षा का साधन होगा।

४—शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य में भेद

उपर्युक्त विवरण में हम देखते हैं कि वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी हैं। वैयक्तिक उद्देश्य बालक की जन्मजात सम्भावनाओं में विश्वास करता है और शिक्षा द्वारा इन सम्भावनाओं का उच्चतम विकास करना चाहता है। इस विचारधारा के प्रतिकूल सामाजिक उद्देश्य बालक की जन्मजात सम्भावनाओं में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार बालक अपने सारे गुण समाज से ही सीखता है। अतः उसे सामाजिक बनाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है। दूसरे, वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार पाठ्य-विषय का निर्धारण बालक की स्वाभाविक रुचियों के अनुसार होना चाहिये। इसके विपरीत सामाजिक उद्देश्य बालक की स्वाभाविक रुचियों में विश्वास नहीं करता। अतः इसके अनुसार पाठ्य विषय का निर्धारण उन सामाजिक उत्तरदायित्वों के आधार पर करना चाहिये जिनके निभाने के लिये बालक को शिक्षित करना है, अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य

Activities. 2. Method of Education. 3. Social Control.

बालक को अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये तैयार करना है। वैयक्तिक उद्देश्य बालक को स्वतन्त्र छोड़ना चाहता है, और सामाजिक उद्देश्य उस पर सामाजिक नियन्त्रण[1] रखना चाहता है,

५—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य की देन

(१) वैयक्तिक : वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में इतनी प्रतिकूलता होते हुए भी इन दोनों का प्रभाव हमारी शिक्षा-प्रणालियों पर पड़ा है वैयक्तिक उद्देश्य के प्रभाव-स्वरूप अब हम शिक्षा को बाल-केन्द्रित[2] बनाना चाहते हैं, अर्थात् शिक्षा-प्रक्रिया में हम बालकों की रुचियों और स्वाभाविक क्रियाशीलताओं को प्रधानता देना चाहते हैं। फलतः उन्हें अब कठोर नियन्त्रण के अन्तर्गत रखना अमनोवैज्ञानिक समझा जाता है। वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार हम बालक के नैतिक स्वभाव का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं।

(२) सामाजिक : सामाजिक उद्देश्य के प्रभाव स्वरूप शिक्षा में अब पहले से अधिक वास्तविकता आ गई है। यह उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी पर बल देता है। फलतः व्यावसायिक शिक्षा[3] और नागरिकता के लिये शिक्षा[4] पर अब विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। अब स्कूल समाज का प्रतिनिधि माना जाता है। अतः स्कूल और समाज में परस्पर-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। गणतन्त्र की सफलता[5] के लिये शिक्षा का दृष्टिकोण भी सामाजिक उद्देश्य की ही देन है।

६—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय[6]

शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में एक समन्वय प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः इस समन्वय की हमें बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी एक की ही विचारधारा से हम शिक्षा को संचालित करें तो हमें आदर्श स्थिति प्राप्त न हो सकेगी। हमें तो व्यक्ति के विकास और समाज हित दोनों पर ध्यान देना है, क्योंकि 'एक' 'दूसरे' पर निर्भर रहते हैं। व्यक्ति का हित समाज के विकास

1. Social Control. 2. Child-centred. 3. Vocational Education. 4. Education for Citizenship. 5. Education for the success of Democracy. 6. Synthesis between the Individual and Sociological Aims of Education:

पर और समाज का हित व्यक्ति के विकास पर निर्भर है। व्यक्ति ही तो समाज बनाता है और समाज में व्यक्ति ही तो है। अतः हमें इन दोनों उद्देश्यों के पूरकता भावों को अपनाना होगा। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण दिखाई पड़ता है।

'समाज' और 'व्यक्ति' दोनों सत्य माने जा सकते हैं। व्यक्ति केवल समाज का ही अंग नहीं है। एक ही समाज में रहने वाले अनेक व्यक्ति विभिन्न स्वभाव और रुचि के होते हैं। किन्हीं भी दो व्यक्तियों की योग्यताओं में समानता नहीं मिलती। व्यक्ति एक दम कोरा नहीं पैदा होता। वह अपने साथ अपनी कुछ विशिष्ट सम्भावनायें लाता है। इन विशिष्ट सम्भावनाओं के आधार पर बड़े बड़े व्यक्ति, सभ्यता और संस्कृति के विकास में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अपनी विचारधाराओं द्वारा योग देते हैं।

समाज को केवल विभिन्न व्यक्तियों का एक योग ही मान बैठना गलत होगा। व्यक्ति आते हैं और जाते हैं, परन्तु समाज का एक विशिष्ट स्वरूप सदा वर्तमान दिखाई पड़ता है। समाज की अपनी कुछ ऐसी विशिष्टतायें होती हैं जिन पर व्यक्तियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना प्रभाव वे स्वयं व्यक्तियों पर डालती हैं।

स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनों को सत्य मानना चाहिए। दोनों में एक घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज से पृथक् रहकर व्यक्ति अपना व्यक्तित्व नहीं रख सकता। अपने जीवन के क्षण में वह समाज द्वारा प्रभावित होता है, और समाज पर भी अपना कुछ प्रभाव डालता है। इसी प्रकार बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, यह सत्य है कि समाज व्यक्ति को शिक्षा देता है, पर उस नियन्त्रण रखता है और अपना प्रभाव डालता है। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्तियों की देन से समाज का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का विकास साथ ही साथ चला करता है, क्योंकि 'एक के विकास' का तात्पर्य 'दूसरे के विकास' से होता है। अतः आदर्श स्थिति में व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं हो सकता। परन्तु यदि आदर्श न हुई तो व्यक्ति और समाज के हितों में विरोध आना स्वाभाविक है।

पर और समाज का हित व्यक्ति के विकास पर निर्भर है। व्यक्ति ही तो समाज बनाता है और समाज में व्यक्ति ही तो है। अतः हमें इन दोनों उद्देश्यों के उच्चतम भावों को अपनाना होगा। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण दिखलाई पड़ता है।

'समाज' और 'व्यक्ति' दोनों सत्य माने जा सकते हैं। व्यक्ति केवल समाज का ही फल नहीं है। एक ही समाज में रहने वाले अनेक व्यक्ति विभिन्न स्वभाव और शक्ति के होते हैं। किन्हीं भी दो व्यक्ति की योग्यताओं में अनुकूलता नहीं मिलती। व्यक्ति एक दम कोरा नहीं पैदा होता। वह अपने साथ अपनी कुछ विशिष्ट सम्भावनायें लाता है। इन विशिष्ट सम्भावनाओं के आधार पर बड़े बड़े व्यक्ति सभ्यता और संस्कृति के विकास में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अपनी विचारधाराओं द्वारा योग देते हैं।

समाज को केवल विभिन्न व्यक्तियों का एक योग ही मान बैठना गलत होगा। व्यक्ति आते हैं और जाते हैं, परन्तु समाज का एक विशिष्ट स्वरूप सदा वर्तमान दिखलाई पड़ता है। समाज की अपनी कुछ ऐसी विशिष्टतायें होती हैं जिन पर व्यक्तियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना प्रभाव वे स्वयं व्यक्तियों पर डालती हैं।

स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनों को सत्य मानना चाहिए। दोनों में एक घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज में पृथक् रहकर व्यक्ति अपना व्यक्तित्व नहीं रख सकता। अपने जीवन के क्रम में वह समाज द्वारा प्रभावित होता है, और समाज पर भी अपना कुछ प्रभाव डालता है। इसी प्रकार बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, यह सत्य है कि समाज व्यक्ति को शिक्षा देता है, पर उस नियन्त्रण रखता है और अपना प्रभाव डालता है। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्तियों की देन से समाज का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का विकास साथ ही साथ चला करता है, क्योंकि 'एक के विकास' का तात्पर्य 'दूसरे के विकास' से होता है। अतः आदर्श स्थिति में व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नहीं हो सकता। परन्तु यदि आदर्श [illegible] न हुई तो व्यक्ति और समाज के हितो में विरोध आना स्वाभाविक है।

बढ़ते जा रहे हैं। प्रत्येक धन्धे के लिए एक विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता होती है। कभी-कभी यह शिक्षा बड़ी लम्बी होती है। इसमें तीन चार साल तक लग जाते हैं। दूसरे, शिक्षा अब सर्व साधारण के लिए सुलभ हो गयी है। ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग समझने लगे हैं कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उसके विशिष्ट व्यवसाय अथवा धन्धे के लिए तैयार करना है। शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य सामाजिक उद्देश्य से ही निकला जान पड़ता है। परन्तु यह याद रखना है कि व्यक्ति को केवल अपने व्यवसाय या धन्धे के क्षेत्र में ही कार्य नहीं करना है। केवल अपने धन्धे में ही सफलता पाने से व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य धन पैदा करना नहीं है। धन तो केवल एक साधन मात्र है। व्यक्ति के हृदय में कुछ ऐसी प्रेरणायें होती हैं जिनके अनुसार वह अपना विकास करना चाहता है। ये प्रेरणायें उसके व्यावसायिक क्षेत्र के परे हो सकती हैं। स्पष्ट है कि व्यावसायिक उद्देश्य शिक्षा का बड़ा ही अपूर्ण उद्देश्य जान पड़ता है। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूरी अवहेलना होने का डर है। शिक्षा को व्यक्ति के केवल आर्थिक जीवन पर ही ध्यान देना नहीं है, वरन् उसके सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन तथा व्यक्ति की सभी सम्भावनाओं पर ध्यान देना है। स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य यदि व्यावसायिक ही होगा तो वह शिक्षा एकदम अधूरी रह जायगी।

६—शिक्षा का उद्देश्य पूर्णरूप से रहना सिखाना[1]

गत पृष्ठों में हरबर्ट स्पेन्सर पर प्रकाश डालते हुए इस उद्देश्य की चर्चा की जा चुकी है। उसे यहाँ दोहराना ठीक नहीं है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि स्पेन्सर की भी विचारधारा सामाजिक उद्देश्य से ही अभिप्रेरित है। स्पेन्सर की विचारधारा की इतनी आलोचना यहाँ कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि उसने जीवन की आवश्यकताओं के जो पाँच वर्गीकरण किये हैं वह उचित उपयुक्त नहीं प्रतीत होते, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं में परिवर्तन आ सकता है, अतः सदा के लिये उन्हें निश्चित समझ लेना गलत है। दूसरे, यह सम्

1. Complete Living as the Aim of Education (यथार्थवाद के [illegible] के सम्बन्ध में स्पेन्सर को पढ़िए)

कि स्पेन्सर शिक्षा द्वारा व्यक्ति का जीवन सुखी बनाना चाहता है, परन्तु उसकी विचारधारा में व्यक्ति के उच्चतम विकास पर विशेष बल नहीं दिया गया है।

१०—शिक्षा का उद्देश्य चरित्र विकास[1]

वर्तमान युग में व्यक्ति का जहाँ-तहाँ नैतिक पतन दिखलाई पड़ता है। अतः कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-विकास मानना चाहते हैं। चरित्र-विकास का उद्देश्य रहने से व्यक्ति नैतिक होगा। एक आदर्शवादी के लिये चरित्र-विकास का तात्पर्य व्यक्ति में उच्चतम नैतिक सिद्धान्तों के विकास से है। चरित्र-विकास *का उद्देश्य शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य से अभिप्रेरित है।* परन्तु इस उद्देश्य के अन्तर्गत व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की चर्चा नहीं आती। अतः य‍ उद्देश्य सकुचित जान पड़ता है। परन्तु यदि चरित्र का अर्थ हम बहुत वृहद् रू में लें और इसके अन्तर्गत व्यक्ति के अन्तःकरण के अनुरूप उसके व्यक्तित्व उन गुणों को लें जो कि सामाजिक मान्यताओं से मेल खाते हैं तो शिक्षा क उद्देश्य हम व्यक्तित्व के विकास से मान सकते हैं। स्पष्ट है कि चरित्र-विका *के उद्देश्य का तात्पर्य सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसे व्यक्ति व्यक्तित्व के विकास* से है जिससे व्यक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाय, परन्तु साथ ही साथ उसे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का भी ध्यान रहे। यह ध्यान रखना है कि चरित्र-विकास के उद्देश्य में ज्ञान[2] और कौशल[3] की प्राप्ति की अवहेलना की जा सकती है, और यदि ऐसा हुआ था चरित्र-विकास का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा।

११—शिक्षा की आवश्यकता और प्रधान उद्देश्य[4]

गत पृष्ठों के विवरण से स्पष्ट है कि शिक्षा की आवश्यकता पर सन्देह नहीं *किया जा सकता।* जन्म के समय बालक पूर्ण असहाय रहता है। उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ[5] अनिश्चित अवस्था में रहती हैं। अतः शिक्षा के न पाने से वह पशुवत् हो जायगा। यही कारण है कि जंगली आदमी हम लोगों से इतना भिन्न होता है। शिक्षा से ही हममें विभिन्न गुणों का विकास होता है। इससे हम अपनी

1. Development of Character as the Aim of Education. 2. Knowledge. 3 Skill. 4. The Need and the Main Purpose of E[illegible]. 5. Instincts.

शक्ति का अनुमान लगा सकते है। मनुष्य ऐसा जीव है जिसका विकास कुछ निश्चित नियमों के आधार पर होता है। उसका विकास कभी रुकता नहीं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य 'विकास करना' है। डीवी ने भी 'विकास'[1] की गणना शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में की है। पर यहाँ विकास का तात्पर्य क्या है ? विकास का अर्थ यहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के विकास से है। आजकल गणतन्त्र का युग है। इस प्रणाली में व्यक्ति और समाज दोनों के हितों की रक्षा की जाती है। व्यक्तिगत विकास की ओर ध्यान देने का तात्पर्य समाज-हित की उपेक्षा नहीं है, पर समाज-हित का भी अर्थ साम्यवाद की तरह व्यक्ति को गौण नहीं समझना है। समाज और व्यक्ति दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज व्यक्ति का समूह है। व्यक्ति की उन्नति से समाज की उन्नति निश्चित हो जाती है।

अत: शिक्षा में व्यक्ति के ही विकास पर जोर देना आवश्यक है। उसके शारीरिक और मानसिक विकास के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। मानसिक क्षेत्र में बुद्धि के विकास पर विशेषकर जोर देना आवश्यक है, क्योंकि बुद्धि ही से हम शिक्षा के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति का पता लगा सकते हैं। बुद्धि ही से व्यक्तित्व और चरित्र का विकास सम्भव होता है। विषम परिस्थितियों का सामना बुद्धि से ही किया जा सकता है। बुद्धि ही अन्धकार में प्रकाश का काम करती है। बुद्धि की कमी से आवश्यक बल और अन्य साधन रखते हुए भी व्यक्ति सफलता पाने में असमर्थ होता है। बालक जितनी सम्भावनाओं के साथ जन्म लेता है उन सबका विकास बिना शिक्षा के सम्भव नहीं। कुछ व्यक्ति मूर्ख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें मूर्ख बनाया जाता है। उनकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाती, इसलिए सन्निहित गुण रखते हुए भी वे पीछे रह जाते हैं। गणतन्त्र राज्य में व्यक्ति की ऐसी स्थिति अपेक्षित नहीं। इसमें आगे बढ़ने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने का प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने के लिये शिक्षा का एक सामाजिक उद्देश्य भी आवश्यक है। इसका केवल वैयक्तिक ही उद्देश्य नहीं होता। इसीलिए गत पृष्ठों में हमने वैयक्तिक और सामाजिक दोनों उद्देश्यों पर बल दिया है। समाज के

1 Growth.

जिसकी सभी गतियाँ उसके प्रत्येक सदस्य के लिए शिक्षाप्रद हो सकें और वह अपनी इच्छा-शक्ति, बुद्धि, चरित्र और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।

अब तक हमारे देश की शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः परीक्षा पास करना रहा है। यह उद्देश्य बदल कर शिक्षा-क्षेत्र में सारा उद्योग व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर केन्द्रित करना होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि शिक्षा समाज से अपने को अलग नहीं कर सकती। फलतः स्वतन्त्र भारत में शिक्षा पर समाज के समुचित विकास का पूरा उत्तरदायित्व रखना होगा। आज हमारे देश की शिक्षा के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि इस दायित्व को कैसे निभाया जाय। जब तक यह समस्या हल नहीं होगी समाज का उचित विकास न हो सकेगा। सामाजिक परिवर्तन में प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व निभाना है। इस परिवर्तन में उसे यथाशक्ति योग देना है। अतः प्रारम्भ से ही उस क्रियाशील रहने की शिक्षा देनी होगी, जिससे वह आत्म निर्भर रह कर अपने कर्तव्य को समझ सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें बचपन से ही ध्यान देना होगा और बालक को इस प्रकार शिक्षा देनी होगी कि वह सभ्यता की गति को समझते हुए आत्म-निर्भरता, कर्तव्य-परायणता और सच्चरित्रता का पाठ सीख सके। हमें शिक्षा द्वारा बालकों को ऐसे ज्ञान, निरीक्षण तथा निर्णय की बुद्धि देनी है कि वे परिस्थिति को शीघ्र समझकर अभीष्ट दिशा की ओर कार्य करने के लिए तैयार हो जायँ, जिससे उनके कल्याण के साथ-साथ समाज का भी हित हो।

१३—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

बालक को शिक्षा देने का प्रधान उद्देश्य उसे शक्ति देना है, ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान देना ही उद्देश्य हुआ तो तोते के रटे हुए 'राम राम' और बालक के ज्ञान में विशेष अन्तर न होगा। शक्ति का तात्पर्य यहाँ जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के पालन की शक्ति और बुद्धि से है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब हम व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्णरूपेण विकसित करने का प्रयत्न करें। आज हमारी शिक्षा-प्रणाली कुछ दूषित हो गई है। चारों ओर परीक्षा का ही भूत सवार दिखलाई पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी न होकर परीक्षा की तैयारी हो गया है। फलतः हमारी शिक्षा में

स्मरण-शक्ति पर ही ध्यान दिया जाता है। इसमें मौलिकता का ह्रास हो जाता है और बालक स्वयं विचार किये बिना दूसरे की बात मान लिया करता है। हम मानते हैं कि मनुष्य तार्किक प्राणी है। उसे ज्ञान की प्यास रहती है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये संसार, प्रकृति, समाज तथा मानव स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। पर इस प्रकार के ज्ञान को व्यक्ति के पूर्ण विकास के लि साधन समझना चाहिये। इसे साध्य मान बैठना ऊपर निकली हुई बूंद की ज को बूंद मान लेना होगा।

प्रत्येक व्यक्ति शांति और सुख की कामना करता है। परन्तु उसे कैसे ि सकता है? संसार में सभी प्रचलित धर्म व्यक्ति को शान्ति और सुख प्राप्त करने ही मार्ग बतलाते हैं। शिक्षा का संचालन भी इस प्रकार करना चाहिये कि व्यक्ति अपने जीवन में वास्तविक शान्ति और सुख का अनुभव कर सके। यह अनुभव कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यहाँ हमें अपनी भारतीय संस्कृति की याद आती है। हम अपने को कितना ही दूसरे के साँचे में क्यों न ढालें पर हमारी भारतीय सदा हमारे साथ ही रहेगी। अतः हमारे शिक्षा उद्देश्य में भारतीय संस्कृति का पुट अवश्य होना चाहिये। इसके बिना हमारे शिक्षित नवयुवकों का जीवन सूना होगा। वह न भारतीय कहा जायगा और न विदेशी, उसकी स्थिति ठीक 'त्रिशंकु' सदृश होगी। भारतीय संस्कृति के पुट की माँग करने का तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा का सारा संचालन प्राचीन प्रणाली के अनुसार हो। ऐसी माँग निरी मूर्खता होगी। समाज परिवर्तनशील है। आज का समाज पहले से बहुत बढ़ा हुआ है। हम संसार के अन्य राष्ट्रों की दौड़ में आना है, जिससे दूसरे हमारी शान्ति और सुख को भंग न कर सकें। सभ्यता के आदि काल से ही भारत संसार को शान्ति का पाठ सिखलाता रहा है। आज भी भारत का यह सन्देश महात्मा गांधी के कारण संसार के कोने कोने में पहुँच चुका है। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने भली-भाँति यह घोषित कर दिया है कि भारत न तो किसी की शान्ति और सुख को भंग करना चाहता है और न अपनी शान्ति और सुख दूसरे से भंग ही होने देना चाहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे राष्ट्र का उद्देश्य देश में शान्ति और सुख [illegible]। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ वह संसार के अन्य राष्ट्रों के

उद्देश्य आत्मा-बोध की प्राप्ति ही हो सकता है। कम से कम हमारी भारतीय संस्कृति की तो माँग यही है। इसी माँग की पूर्ति में सभी प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-विशेषज्ञों के विभिन्न शिक्षा आदर्श आ जाते हैं, चाहे वह जीविकोपार्जन, अवकाश का उपयोग, पूर्ण जीवन की तैयारी, व्यक्तित्व-विकास, सामाजिक-उपयोगिता-वृद्धि, चरित्र गठन या ज्ञानार्जन हो। आत्म-बोध ही एक ऐसा शब्द-सूत्र है जिसमें इन सब के अर्थ निहित हो जाते हैं। वस्तुतः विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ये सब उद्देश्य आत्म-बोध प्राप्ति के साधन मात्र हैं। साधन के रूप में हमें उन्हें क्रमशः लेना होगा। पर हम किसी साधन को साध्य नहीं मान बैठेंगे। ऐसा करना भारतीय संस्कृति, जिसके हम उत्तराधिकारी हैं, को धोखा देना होगा।

१४—शिक्षा का संचालन किस प्रकार

अब प्रश्न यह है कि शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति आत्म-बोध की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। इस प्रश्न के उत्तर के लिये तो एक अलग ही पुस्तक की आवश्यकता होगी। दूसरे, इसकी विवेचना करना इस पुस्तक का उद्देश्य भी नहीं है, तथापि अति संक्षेप में इसकी ओर थोड़ा संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। सर्वप्रथम हमें शारीरिक विकास पर ध्यान होगा शरीर-माद्य खलु धर्म साधन—अर्थात् धर्मपालन के हेतु शरीर ही हमारा साधन है। अतः सर्वप्रथम हमें अपने शरीर को ऐसा बनाना है कि इसके कारण हमारे किसी कार्य में विघ्न न पड़े। शारीरिक विकास के लिये व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह शरीर के महत्व को भली-भाँति समझ ले और उसकी उसी उद्देश्य से परिचर्या करे जैसे मशीन से काम लेने के लिये उसमें तेल दे दिया जाता है। शरीर का उसे दास नहीं होना है, वरन् शरीर ही को उसका दास होना है। हमारे कर्तव्य-पालन के क्षेत्र में शरीर का इतना महत्व होते हुए भी इसकी इतनी अवहेलना की जाती है कि हमारे देशवासियों की औसत उम्र लगभग २७ साल ही है। शारीरिक शिक्षा के नाम पर आज जो कुछ हमारे स्कूलों में किया जाता है वह कोरी विडम्बना है। मानसिक विकास पर जितना ध्यान दिया जाता है यदि उसका दशांश भी इस ओर उद्योग किया जाता तो दशा इतनी शोचनीय न होती।

शारीरिक शिक्षा के बाद हमें संवेग[1] की शिक्षा पर ध्यान देना होगा। आज समाज में जितनी अव्यवस्था दिखलाई पड़ रही है उन सबका कारण संवेग की शिक्षा की अवहेलना ही है। हम दूसरों को कष्ट में देखकर क्यों भागी होते हैं ? दूसरे के हित की उपेक्षा कर हम अपने ही स्वार्थ में क्यों लीन र हैं ? सहायता देने के योग्य होते हुए भी हम किनारा क्यों कसे रहते हैं क्यों हमारे संवेग की उचित शिक्षा नहीं हो पाती है। मानसिक शिक्षा की धुन 'हृदय' की शिक्षा की एकदम उपेक्षा की गयी है। जब तक हृदय की शिक्षा उचित ध्यान नहीं दिया जायगा हम सभ्य नहीं कहे जा सकते। जिस सीमा त हम दूसरों की कोमल भावनाओं का आदर करते हैं वहीं तक हम सभ्य कहे सकते हैं। कोमल भावनाओं का 'संवेग' अथवा 'हृदय' से घनिष्ठ सम्बन्ध हो है। 'कोमल भावनाओं' अथवा 'संवेग' की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें सेवा-भाव ललित कलाओं, महानता तथा महान परम्पराओं के प्रति व्यक्ति में अनुराग पैद करना होगा। यदि व्यक्ति इन सब भावों में पग सका तो उसका हृदय पवि और उदार होगा। वह दूसरे को समझ सकेगा और साथ ही साथ अपने को भी समझने में समर्थ होगा, क्योंकि दूसरों को समझने का वास्तविक तात्पर्य अपने को ही समझना होता है। यह एक बड़ा भारी सत्य है।

प्रारम्भिक काल में शिक्षा का प्रधान रूप क्रियात्मक होगा, इसके बाद भावात्मक होगा, तीसरा रूप ज्ञानात्मक होगा। क्रियात्मक रूप में शारीरिक, भावात्मक में संवेग अथवा हृदय की और ज्ञानात्मक में मानसिक अथवा बौद्धिक शिक्षा की प्रधानता होगी। हमारा यह विश्वास है कि इन तीनों अंगों के उचित समन्वय से व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा। पूर्णता को प्राप्त होने का तात्पर्य ही आत्म-बोध है। ज्ञानात्मक अंग में मानसिक शिक्षा का समावेश हो जाता है। विभिन्न साहित्य तथा विज्ञान में व्यक्ति को निपुण करना ही इस शिक्षा का रूप होगा। हमारा यह विश्वास है कि इन तीनों अंगों के समुचित समन्वय से व्यक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त करेगा। पूर्णता को प्राप्त करने का तात्पर्य ही आत्म-बोध है।

---

1. Emotion.

सारांश

शिक्षा के उद्देश्य

१—क्या शिक्षा की परिभाषा करना सम्भव है?

शिक्षा का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध, इसकी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन क्योंकि व्यक्तियों के विभिन्न आदर्श होते हैं।

२—शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य

भारतीय शिक्षा-प्रणाली इसी उद्देश्य की पोषक।

व्यक्ति का उच्चतम विकास अथवा आत्म-ज्ञान शिक्षा का उद्देश्य। प्रत्येक का आत्म सार्वभौमिक आत्म से सम्बन्धित। सार्वभौमिक मान्यतायें व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से अधिक स्थायी। ये मान्यतायें व्यक्ति में निहित और अपने पूर्ण विकास की प्रतीक्षा में व्यक्ति ही वास्तविक। समाज की रचना उसके लाभ के लिए। शिक्षा व्यक्ति के विकास की एक प्रक्रिया।

शिक्षा के तत्वों का निर्धारण बालकों की रुचियों के आधार पर। सभी बालकों के लिए एक ही पाठ्य वस्तु नहीं।

बालक की स्वतन्त्र क्रियाशीलता को प्रधानता। बालक को आवश्यक बातें अपने निजी अनुभव से सीखना।

३—शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

विज्ञान, गणतन्त्र तथा समाजवादी विचारों का प्रचार।

बालक को ऐसी शिक्षा देना कि वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभा सके। शिक्षा का उद्देश्य भावी का जीवन की तैयारी।

जिसकी स्पष्टतः अनुभूति वही सत्य। मानव मान्यताएँ समाज से विकसित। सामाजिक गुणों के विकास से ही व्यक्ति को अपना 'आत्म' समझ सकना।

सामाजिक गुणों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य। बालक में जन्मजात् सम्भावनाएँ नहीं। व्यक्ति अपनी सम्भावनाएँ अर्जित करता है, सन्नहित नहीं। व्यक्ति को सुखी जीवन बिताने के उपायों को देना।

पाठ्य-वस्तु का संगठन सामाजिक स्रोतों से। सामाजिक नियन्त्रण [illegible] पर स्कूल का सचालन। स्कूल एक छोटा समाज।

९—शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण रूप से रहना सिखाना

स्पेन्सर का यह उद्देश्य अपूर्ण, क्योंकि व्यक्ति के अपूर्ण विकास पर ध्यान नहीं।

१०—शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-विकास

इस उद्देश्य से व्यक्ति नैतिक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की चर्चा नहीं। सामाजिक उत्तरदायित्वों पर ध्यान रखते हुए उच्चतम विकास करना।

११—शिक्षा की आवश्यकता और प्रधान उद्देश्य

शिक्षा की आवश्यकता। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना, बुद्धि के विकास की आवश्यकता।

१२—शिक्षा के उद्देश्य में समाज-गति के अनुसार परिवर्तन

शिक्षा का कोई शाश्वत उद्देश्य नहीं। देश-काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक। समाज की माँग के अनुसार शिक्षा का आयोजन। शिक्षा और समाज एक दूसरे पर निर्भर। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का दृष्टिकोण।

१३—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा देने का उद्देश्य शक्ति देना। शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्ण-रूपेण विकसित करना। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली कुछ दूषित भौतिक ज्ञान साधन—साध्य नहीं। शिक्षा का उद्देश्य वास्तविक सुख व शांति देना हमारे उद्देश्य में भारतीयता का पुट आवश्यक। शान्ति और सुख का पाठ दूसरों को सिखलाना हमारा उद्देश्य। अतः शिक्षा-श्रम इसी ओर केन्द्रित करना आवश्यक।

शक्ति प्राप्त करना हमारी शिक्षा का उद्देश्य नहीं, आत्म-बोध शिक्षा का परम उद्देश्य।

आत्म-बोध से प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के परस्पर-सम्बन्ध की ओर संकेत। आत्म-बोध को प्राप्त करने का अर्थ विश्व के पूरे रहस्य को समझना।

'आत्म' ही एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु जिससे संसार की सारी वास्तुएँ सम्बन्धित। 'आत्म-बोध' के उद्देश्य में सभी उद्देश्य निहित।

९—शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण रूप से रहना सिखाना

स्पेन्सर का यह उद्देश्य अपूर्ण, क्योंकि व्यक्ति के अपूर्ण विकास पर ध्यान नहीं।

१०—शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-विकास

इस उद्देश्य से व्यक्ति नैतिक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की चर्चा नहीं। सामाजिक उत्तरदायित्वों पर ध्यान रखते हुए उच्चतम विकास करना।

११—शिक्षा की आवश्यकता और प्रधान उद्देश्य

शिक्षा की आवश्यकता। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना, बुद्धि के विकास की आवश्यकता।

१२—शिक्षा के उद्देश्य में समाज-गति के अनुसार परिवर्तन

शिक्षा का कोई शाश्वत उद्देश्य नहीं। देश-काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक। समाज की माँग के अनुसार शिक्षा का आयोजन। शिक्षा और समाज एक दूसरे पर निर्भर। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का दृष्टिकोण।

१३—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा देने का उद्देश्य शक्ति देना। शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्ण-रूपेण विकसित करना। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली कुछ दूषित भौतिक ज्ञान साधन—साध्य नहीं। शिक्षा का उद्देश्य वास्तविक सुख व शांति देना हमारे उद्देश्य में भारतीयता का पुट आवश्यक। शान्ति और सुख का पाठ दूसरों को सिखलाना हमारा उद्देश्य। अतः शिक्षा-क्रम इसी ओर केन्द्रित करना आवश्यक।

शक्ति प्राप्त करना हमारी शिक्षा का उद्देश्य नहीं, आत्म-बोध शिक्षा का परम उद्देश्य।

आत्म-बोध से प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के परस्पर-सम्बन्ध की ओर संकेत। आत्म-बोध को प्राप्त करने का अर्थ विश्व के पूरे रहस्य को समझना।

'आत्म' ही एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु जिससे संसार की सारी वस्तुएँ सम्बन्धित। 'आत्म-बोध' के उद्देश्य में सभी उद्देश्य निहित।

१४—शिक्षा का संचालन किस प्रकार

सबसे पहले शारीरिक विकास पर ध्यान। शरीर का दास नहीं होना, वरन् शरीर को अपना दास बनाना।

संवेग की शिक्षा पर ध्यान। संवेग की शिक्षा की अवहेलना सामाजिक अव्यवस्था का कारण। हृदय की शिक्षा पर ध्यान देना। 'संवेग' अथवा 'हृदय' की शिक्षा के लिए सेवा-भाव, ललित कलायें, तथा महान परम्पराओं के प्रति अनुराग पैदा करना।

प्रारम्भिक काल में शिक्षा का रूप क्रियात्मक, तब भावात्मक और ज्ञानात्मक।

प्रश्न

१—शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों की विवेचना कीजिए। आप किस उद्देश्य से सहमत हैं ? और क्यों ?

२—भारत में वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए और उसका संचालन कैसे करना चाहिए ?

३—शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य से आप क्या समझते हैं ? इन उद्देश्यों में समन्वय कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

४—देश, काल और पात्र के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों में क्यों परिवर्तन होते रहने चाहिए ?

५—व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का क्या तात्पर्य है ? शिक्षा द्वारा यह विकास कैसे किया जा सकता है ?

● ● ●

प्रथम खण्ड के लिए

सहायक पुस्तकें

१—बाइल्डस, ई० एच०—द फ़ौउन्डेशन्स ऑव मॉडर्न एडूकेशन, राइनहार्ट कम्पनी, न्यूयार्क, १६४२।

२—सिडनी हुक—एडूकेशन फॉर मॉडर्न मैन, द डायल प्रेस, न्यूयार्क, १६४६।

३—टॉमस ऐण्ड लैङ्ग—प्रिन्सीपुल्स ऑव एडूकेशन, हूटन मिफ़्लिन कम्पनी, न्यूयार्क, १६३७।

४—नन, टी० पी०—एडूकेशन इट्स डेटा ऐंण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १, एडवर्ड अर्नाल्ड कं०, लन्दन १६४५।

५—हैमिल्टन, ई० आर०—द टीचर ऑन द यूँगहोल्ड, अध्याय २।

६—रेन, पी०—द इण्डियन टीचर्स गाइड, अध्याय १।

७—ऑलसन ऐंण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय १, २, प्रेन्टिसहाल, न्यूयार्क, १६४५।

८—रेमाण्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव एडूकेशन, अध्याय १, ओरिएण्ट लॉङ्गमैन्स, कलकत्ता, १६५५।

९—चौबे, सरयू प्रसाद—सम फॉउण्डेशन्स ऑव एडूकेशन, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १६५६।

१०—चौबे, सरयू प्रसाद—सेकेण्डरी एडूकेशन फॉर इण्डिया, अध्याय ६, आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली, १६५६।

११—मैरीटेन, जे०—एडूकेशन एट द क्रासरोड्स, खण्ड १, न्यू हेवन, १६४३।

१२—हेण्डेरसन, एस० वी० पी०—इन्ट्रोडक्शन टु फ़िलॉसॉफ़ी ऑव एडूकेशन, युनिवर्सिटी ऑव शिकागो, शिकागो, १६४७।

१३—लॉज, आर० सी०—फ़िलासॉफ़ी ऑव एडूकेशन, हार्पर, १६४७।

१४—एडी ऐण्ड ऐरोउड—द डेवलपमेंट ऑफ मॉडर्न एजूकेशन, अध्याय ७, ८, १३, १७, २०, २१, २२ प्रेंटिस-हॉल, न्यूयार्क, १९५४।

१५—बोड, बी॰, एच॰—हाउ वी लर्न, अध्याय १४ व १५, डी॰ सी॰ हीथ ऐण्ड कम्पनी, बोस्टन १९४०।

१६—रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑफ एजूकेशन थियरी, जार्ज हैरप, लन्दन १९४१।

१७—रस्क—डॉक्ट्रिन्स ऑफ द ग्रेट एजूकेटर्स, मैकमिलन, लन्दन, १९४८।

१८—रस्क—द फिलॉसॉफिकल बेसेज ऑफ एजूकेशन, यू॰ लन्दन प्रेस, १९५६।

१९—ह्वाइटहेड—द ऐम्स ऑफ एजूकेशन।

२०—रॉस—एजूकेशन ऐण्ड सोशल [illegible], लन्दन, १९३१।

२१—ईटन—फिलॉसोफी ऑफ एजूकेशन।

२२—हॉर्न, एच॰ एच॰—द डेमोक्रैटिक फिलॉसॉफी ऑफ एजूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क १९३२।

२३—डीवी, जॉन—डेमोक्रेसी ऐण्ड एजूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९१६।

२४— ,, ,, —एक्सपीरियन्स ऐण्ड नेचर, पृष्ठ ४०३-४०४।

२५—जेम्स, डब्लू॰—प्रैग्मैटिज्म।

२६—चाइल्ड्स, जे॰ एल॰—एजूकेशन ऐण्ड द फिलॉसॉफी ऑफ एक्सपेरिमेण्टलिज्म, डी॰ ऐप्लीटन न्यूयार्क, १९३१

२७—चाइल्ड्स—एजूकेशन ऐण्ड मॉरल्स, ऐप्लिटन-सेन्चुरी न्यूयार्क, १९५०।

२८—फिण्डले—द फॉउण्डेशन्स ऑफ एजूकेशन, भाग १, अध्याय, २-५।

द्वितीय खण्ड

शिक्षा का ऐतिहासिक आधार

द्वितीय खण्ड के विषय में दो शब्द

सफल शिक्षक होने के लिए शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक आधारों का समझना बड़ा ही आवश्यक है, क्योंकि इससे उसे भूतकाल की शिक्षा सम्बन्धी सफलताओं के ज्ञान के साथ साथ यह भी मालूम हो जाता है कि किन-किन क्षेत्रों में अभी कैसे-कैसे अन्वेषण करने हैं;—अर्थात् इन आधारों की सहायता से हमें शिक्षा-सम्बन्धी भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल की बातों का अनुमान होता है। इन बातों के अनुमान बिना शिक्षा-क्षेत्र में कोई भी अपने उत्तरदायित्वों का सम्पादन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। गत खण्ड में हमने शिक्षा के दार्शनिक आधार पर दृष्टिपात किया है। अगले दो खण्डों में हम शिक्षा के ऐतिहासिक और सामाजिक आधारों की क्रमशः चर्चा करेंगे। यहाँ पहले ऐतिहासिक आधारों की चर्चा की जायगी। ऐतिहासिक आधार में हम केवल योरपीय और भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की ऐतिहासिक धारा पर ही अति संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे। स्पष्ट है कि यहाँ पर हम शिक्षा के इतिहास पर विचार नहीं करेंगे। यहाँ हम केवल यह समझने की चेष्टा करेंगे कि शिक्षा के उद्देश्यों में उत्तरोत्तर विकास कैसे हुआ है। इस विवेचन की सहायता से हम यह समझेंगे कि सामाजिक वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के क्रम में मानव अपने शिक्षा के उद्देश्यों के किस प्रकार समय-समय पर परिवर्तन करता रहा है। शिक्षा के उद्देश्यों के ऐतिहासिक आधार का सम्बन्ध मानव विकास की उन सफलताओं से है जिनका 'मानव' के 'सीखने' पर प्रभाव पड़ता है और जो वर्तमान शैक्षिक अवसरों की पृष्ठभूमि बनाती हैं। अतः आशा की जाती है कि अगले पृष्ठों की बातें उपादेय सिद्ध होंगी।

शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सैनिक जीवन के योग्य बनाना था। स्पार्टन शिक्षा-प्रणाली में बौद्धिक शिक्षा का अभाव था। सैनिक शिक्षा के आगे इसे एकदम गौण समझा जाता था। पढ़ना-लिखना वर्जित न था। अतः कुछ लोग स्वतः घर पर ही पढ़ लिया करते थे। अंकगणित को विशेष महत्व नहीं दिया गया था। भूगोल, इतिहास और संगीत आदि विषयों की तो कोई चर्चा ही न था। साहित्य के अध्ययन को भी विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। परन्तु होमर की कविताओं तथा युद्ध-सम्बन्धी गानों को याद करने के लिए सबको प्रेरणा दी जाती थी। शिक्षा-क्रम में संगीत को स्थान अवश्य प्राप्त था, परन्तु वाद्य संगीत को गौण समझा जाता था। स्वर की मधुरता को प्रधानता दी जाती थी।

स्पार्टन स्त्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने स्त्रियों को स्वतन्त्रता दे रखी थी। उनके शब्दों का बड़ा आदर किया जाता था। किसी को उच्च अथवा नीच ठहराने में उनके निर्णय को बहुधा माना जाता था। स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे वे कुशल सैनिक उत्पन्न कर सकें। उनकी शारीरिक शिक्षा तथा सफल गृहिणी बनने की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

शिक्षा के द्वारा स्पार्टन युवकों में साहस, उत्साह, देशभक्ति तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि गुण आ जाते थे। स्पार्टनों की शिक्षा-प्रणाली शताब्दियों तक चलती रही। एथेन्स के व्यक्तिवाद की लहर का उन पर विशेष प्रभाव न पड़ सका। वे अपने सैनिक जीवन को ही बहुत काल तक श्रेयस्कर समझते रहे। फलतः शारीरिक बल तथा सौन्दर्य की पराकाष्ठा को वे पहुँच गये और इस सम्बन्ध में अब भी उनसे प्रेरणा ली जाती है, परन्तु जीवन के रहस्य को समझने

---

1. लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' पृ० ३. द्वितीय सं०, रायण अग्रवाल, आगरा, १६५३ ई

वे असफल रहे। फलतः उनमें कोई बड़ा कलाकार, दार्शनिक अथवा नाट्यकार हीं हो सका। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव हित की दृष्टि से स्पार्टी शिक्षा ने हम सफल नहीं कह सकते।

यूनानी शिक्षा[1]

एथेन्स में प्रचलित शिक्षा स्पार्टी शिक्षा-प्रणाली से भिन्न थी, क्योंकि पार्टा और एथेन्सवासियों के जीवन-आदर्शों में भेद था। एथेन्सवासी व्यक्तित्व पूर्ण विकास पर ध्यान देने के पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि शक्तियों समान विकास से ही आत्मसंयम, शुद्धता और गाम्भीर्य आ सकता है। शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति की धुन में मानसिक उन्नति की ओर भी वे पूरा यान देते थे। एथेन्स की शिक्षा में राज्य-सेवा के उद्देश्य पर पूरा ध्यान रखा जाता था। राज्य और व्यक्ति के हित में सामञ्जस्य हमें पहली बार एथेन्स शिक्षा-प्रणाली में ही मिलता है। शिक्षा राज्य की देख-रेख में दी जाती थी, रन्तु वह अनिवार्य न थी। स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

४७६ ई० पू० परशियन युद्ध के बाद यूनानी युवकों के जीवन आदर्श में परिवर्तन आने लगा। फलतः उनका सामाजिक सगठन भी अब एक दूसरे प्रकार का हो चला। अब परम्परागत विचारों में परिवर्तन आने लगे। अब लोग पहले की तरह 'राजहित' को 'व्यक्तिहित' से ऊपर समझने के पक्षपाती नहीं रहे। फलतः शिक्षा का आधार अब व्यक्तिवाद माना गया। नैतिकता की एक नई परिभाषा दी गई जिसमें व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को प्रमुख स्थान दिया गया। इन सब सामाजिक परिवर्तनों के कारण शिक्षा को भी एक नया रूप दिया गया। अब लोग शिक्षा द्वारा सभी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने की योग्यता प्राप्त करना चाहते थे। शिक्षा की ये सब माँगे पूरी करने के लिए सोफिस्टो[2] ने आश्वासन दिया।

सोफिस्टों की विचारधारा सोफिस्टवाद[3] के नाम से प्रसिद्ध है। सोफिस्टवाद संसार में दैहिक सुख को सबसे अधिक प्रधानता देता है। अतः व्यक्ति-हित राज्यहित से कहीं ऊपर है। नैतिकता की कसौटी स्वयं व्यक्ति पर है। अच्छे और बुरे का निर्णय व्यक्ति स्वयं करेगा। एथेन्स के नवयुवक नये जोश में मग्न

1. Greek Education. 2. Sophists. 3. Sophism.

[illegible] अपने जीवन का आदर्श मानते थे। फलतः शिक्षा का भी उद्देश्य इसी ओर था। इन सबकी व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य था। अधिकारों और कर्त्तव्यों का संतुलन ही 'राज्य-न्याय' का लक्ष्य समझा जाता था।

रोमन शिक्षा के इतिहास को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग ७५३ ई० पू० से २७२ ई० पू० तक माना जा सकता है। इस काल में शिक्षा का पूरा भार कुटुम्ब पर था। दूसरा काल २७५ ई० पू० से १३२ ई० पू० तक का है। इस काल में रोमन शिक्षा यूनानियों से प्रभावित हुई और उन्हीं के अनुकरण में ग्रामर तथा साहित्य एवं अलंकार शास्त्र के स्कूल खोले गये। तीसरा काल १३२ ई० पू० से ईसा से १०० वर्ष बाद तक का है। यह काल लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में लैटिन ग्रामर स्कूल खूब सुसंगठित हो चले थे। चौथा काल सन् १०० से २७५ ई० तक का है। इस काल में शिक्षा राज-नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थी और शिक्षा का कौटुम्बिक रूप समाप्त हो चला था। पाँचवा काल सन् २७५ से सन् ५२६ ई० तक माना जा सकता है। इस काल में शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण था। बिना राज्य की आज्ञा के कोई अध्ययन-कार्य नहीं कर सकता था।

रोमन 'विद्या' का अध्ययन जीवन में उसकी उपयोगिता के लिए करना चाहते थे। यूनानियों का ध्यान विशेषतः बौद्धिक विकास की ओर था। रोमन [illegible]

[illegible]

जाता था, और वह वेतन पाता था।

मध्ययुग[1]

ईसाई धर्म के प्रचार के साथ योरोपीय जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में एक नई जागृति आई। ईसाई धर्म ने नैतिकता के एक नये स्तर[2] का निर्माण किया

1. Medieval Period. 2. A New Standard of Morality.

थे और ऊँची शिक्षा पाने के लिए लालायित थे। अतः उन्होंने सोफिस्टों नैतिकता पर बिना ध्यान दिये उनसे ऊँची शिक्षा लेना प्रारम्भ कर दि सोफिस्टों के नियन्त्रण में शिक्षा का रूप एकदम बदल गया। प्राथमिक शि सात से तेरह वर्ष तक चलती थी। इस काल में पढ़ना, लिखना, ग्रंकगणित वाद्यसंगीत पर विशेष ध्यान दिया जाता था। माध्यमिक शिक्षा का काल ते से सोलह वर्ष तक था। इस काल में व्याकरण, ज्यामिति, संगीत तथा भाष कला पर विशेष बल जाता दिया था। सोफिस्टों के प्रभावस्वरूप विद्या साहित्य का प्रचार चारों ओर होने लगा। इस प्रचार का प्रभाव यूनान के प्र विद्वानों पर भी पड़ा और उन्होंने भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अल अलग विद्यालय स्थापित किये। सुकरात की दृष्टि में सोफिस्टों का प्रभाव यूना युवकों के नैतिक और बौद्धिक पतन का कारण था। अतः वह युवकों को प्रश्नोत्त द्वारा सच्चा ज्ञान देकर उन्हें सत्य के पथ पर लाना चाहता था। प्लेटो[1] एकेडेमी और अरस्तू[2] ने लीसियम की स्थापना की। एपीक्यूरस ने अपने एपीक्यू रियन सिद्धान्त[3] के प्रचार के लिए अलग स्कूल खोला। एपीक्यूरियन सिद्धान्त में इन्द्रिय-सुख को प्रधानता दी जाती है। क्षेनोफन[4] ने 'विवेक' और 'आत्म-संयम' के प्रचार के लिए एक चौथे स्कूल की स्थापना साइप्रस में की। एथेन्सवासियों की शिक्षा सम्बन्धी ये सब प्रवृत्तियाँ शताब्दियों तक चलती रहीं। धीरे-धीरे एथेन्स विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र हो गया और योरप के भिन्न-भिन्न स्थानों से विद्याध्ययन के लिए जिज्ञासु यहाँ आने लगे।

रोमन शिक्षा

रोमनों के जीवन तथा शिक्षा के आदर्श यूनानियों से भिन्न थे। इसलिए शिक्षा-क्षेत्र में उनकी बहुत सी बातें यूनानियों से निराली हैं। रोमन तात्कालिक उपयोगिता की अवहेलना करना उचित नहीं समझते थे। वे अपने विचारों को कार्यान्वित करना चाहते थे। विचारों की केवल दौड़ान में रहना उन्हें पसन्द नहीं था। रोमन अपने जीवन में अधिकार और कर्त्तव्य को प्रधान स्थान देते थे। अपने विभिन्न सम्बन्धियों तथा राज्य के प्रति अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का

1. Plato. 2. Aristotle. 3. Epicurianism, 4. Xenophon.

बैठी थी। विद्या के प्रचार से जनवर्ग भी बाइबिल को स्वयं पढ़कर चर्च के दोषों को कुछ हद तक समझ सकता था। लूथर तथा काल्विन[1] के आन्दोलनों में धार्मिक बातों में चर्च के पादरियों का अधिकार न मानकर 'बाइबिल' का माना गया। बाह्याडम्बर के स्थान पर सच्चाई को स्थान देना सुधार काल का प्रधान उद्देश्य था। सुधार काल में साधारण वर्ग का यह विश्वास हो चला कि अपने पापों से उद्धार के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। इस प्रकार धर्म और आध्यात्मिकता की कुञ्जी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सौंप दी गई। सर्वसाधारण के लिए ऐसा विचार बड़ा ही नया था। सबकी आँखें खुलीं। सब लोग अपने-अपने विकास के लिए सचेत हो चले। फलतः शिक्षा के क्षेत्र का भी विकसित होना अनिवार्य हो गया। अब शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानी जाने लगी। यहीं से सार्व-लौकिक[2] शिक्षा का विकास प्रारम्भ होता है।

लूथर शिक्षा को सभी वर्गों के लिए सुलभ करना चाहता था। वह शिक्षा द्वारा व्यक्ति को ऐसा बनाना चाहता था कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईसाई समाज के स्थायित्व में योग दे सके। लूथर की तरह काल्विन भी धार्मिक मामलों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देना चाहता था। शिक्षा द्वारा वह व्यक्ति में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहता था। परन्तु खेद है कि लूथर और काल्विन के अनुयायी उनके सिद्धान्तों को शिक्षा-क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं कर सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विचार स्वातन्त्र्य आदि आदर्श केवल कहने के लिये थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता संस्थाओं में घटक गई। सुधारकों में कई दल हो गये।

सुधार की लहर को रोकने के लिये 'आर्डर ऑवजीसस'[3] की स्थापना की गई। इस 'आर्डर' ने अपने अलग शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। सुधार काल में इसकी शिक्षा-प्रणाली सबसे अधिक प्रभावशाली थी। इस आर्डर के संस्थापक इगनेशस लायला[4] थे। 'आर्डर' के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रोटेस्टेंट लोगों को पुनः रोमन चर्च में लाना तथा सुधार की लहर को रोकना था। धर्म के अतिरिक्त सार्वलौकिक बातों में भी व्यक्ति को शिक्षा देना 'आर्डर' का उद्देश्य था।

---

1. John Galvin (1509-1564). 2. Universal Education. 3. The Order of Jesus. 4. Ignatius Loyola (1491-1556).

और व्यक्तित्व और समाज के पूरे संगठन को एक नया कलेवर दिया। विश्वास[1], आशा[2] और प्रेम[3] की लहर, चारों ओर फैल गई। भ्रातृत्व और समानता में लोग पहले से अधिक विश्वास करने लगे। व्यष्टिवाद के स्थान पर जीसस क्राइस्ट ने सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और जीवन का एक नया आदर्श उपस्थित किया। जीवन के आदर्श में परिवर्तन के साथ शिक्षा का भी बदलना स्वाभाविक था। जीवन में नैतिकता को प्रधान स्थान दिया गया। फलतः शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास से बदल कर नैतिक विकास हो चला। सारी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये शिक्षा को एक साधन माना गया। इस दृष्टिकोण के कारण शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध दिन पर दिन बढ़ता गया। शैक्षिक संस्थायें गिरजाघरों से सम्बन्धित हो चली और बहुत प्रारम्भ से ही बालकों को धर्म में दीक्षा दी जाने लगी। धर्म के इस प्रभाव के कारण सारा योरप पोप के आधिपत्य के अन्तर्गत आने लगा। फलतः अब धार्मिक शिक्षा को ही प्रधानता दी जाने लगी और शिक्षा का प्रधान उद्देश्य नैतिक हो चला। संयम, आत्म-त्याग, शरीर को कष्ट देकर आध्यात्मिक उन्नति करना, धार्मिक वादविवाद में कौशल प्राप्त करना, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा कुछ उदार कलाओं में शिक्षा देना आदि शैक्षिक संस्थाओं के प्रधान उद्देश्य हो गये। परन्तु इस लहर के फलस्वरूप धार्मिक विशदता और उदारता का लोप होने लगा और धार्मिक शिक्षा अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड में भटक गई। फलतः जीवन आदर्शों में आवश्यक परिवर्तन लाने के लिये सुधार की लहरों का आगमन हुआ। नीचे हम इन लहरों से अनुप्राणित शैक्षिक उद्देश्यों की धारा पर सक्षेप में दृष्टिपात करेंगे।

सुधार काल[4]

पुनरुत्थान[5] के प्रभाव स्वरूप नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता बहुत दिनों से समझी जाने लगी। फलतः मार्टिन लूथर[6] के बहुत पहले ही फ्रांस, जर्मनी तथा इंगलैंड में सुधार की ध्वनि उठाई जा चुकी थी। वस्तुतः सुधार की वास्तविक लहर जर्मनी में मार्टिन लूथर द्वारा उठाई गई। धर्म में नाना-प्रकार के दोष आ गये थे। बाह्याडम्बर की ओट में धर्म वास्तविकता का

---

1. Faith. 2. Hope. 3. Love. 4. Reformation Period. 5. Renaissance. 6. Martin Luther (1483-1546).

बैठी थी। विद्या के प्रचार से जनवर्ग भी बाइबिल को स्वयं पढ़कर चर्च के दोषों को कुछ हद तक समझ सकता था। लूथर तथा काल्विन[1] के आन्दोलनों से धार्मिक बातों में चर्च के पादरियों का अधिकार न मानकर 'बाइबिल' का माना गया। बाह्याडम्बर के स्थान पर सच्चाई को स्थान देना सुधार काल का प्रधान उद्देश्य था। सुधार काल में साधारण वर्ग का यह विश्वास हो चला कि अपने पापों से *उद्धार के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। इस प्रकार धर्म और आध्यात्मिकता* की कुञ्जी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सौंप दी गई। सर्वसाधारण के लिए ऐसा विचार बड़ा ही नया था। सबकी आँखें खुलीं। सब लोग अपने-अपने विकास के लिए सचेत हो चले। फलतः शिक्षा के क्षेत्र का भी विकसित होना अनिवार्य हो गया। अब शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानी जाने लगी। यहीं से सार्वलौकिक[2] शिक्षा का विकास प्रारम्भ होता है।

लूथर शिक्षा को सभी वर्गों के लिए सुलभ करना चाहता था। वह शिक्षा द्वारा व्यक्ति को ऐसा बनाना चाहता था कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईसाई समाज के स्थायित्व में योग दे सके। लूथर की तरह काल्विन भी धार्मिक मामलों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देना चाहता था। शिक्षा द्वारा वह व्यक्ति में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहता था। परन्तु खेद है कि लूथर और काल्विन के अनुयायी उनके सिद्धान्तों को शिक्षा-क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं कर सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विचार स्वातन्त्र्य आदि आदर्श केवल कहने के लिये थे। *व्यक्ति की स्वतन्त्रता संस्थाओं में अटक गई। सुधारकों में कई दल हो गये।*

सुधार की लहर को रोकने के लिये 'आर्डर ऑव जीसस'[3] की स्थापना की गई। इस 'आर्डर' ने अपने अलग शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। सुधार काल में इसकी शिक्षा-प्रणाली सबसे अधिक प्रभावशाली थी। इस आर्डर के संस्थापक इगनेशस लायला[4] थे। 'आर्डर' के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य प्रोटेस्टैंट *लोगों को पुनः रोमन चर्च में लाना तथा सुधार की लहर को रोकना था।* धर्म के अतिरिक्त सार्वलौकिक बातों में भी व्यक्ति को शिक्षा देना 'आर्डर' का उद्देश्य था।

---

1. John Galvin (1509-1564). 2. Universal Education. 3. *The Order of Jesus.* 4, *Ignatius Loyola (1491-1556).*

आधुनिक काल

मध्यकालीन शिक्षण-प्रक्रिया में बालक के व्यक्तित्व-विकास पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता था। फलतः व्यक्ति बन्धनों में जकड़ा हुआ था। व्यक्ति को परतन्त्रता की बेड़ी से छुड़ाने के लिये फ्रांस की राजक्रान्ति हुई। इस राज्यक्रान्ति के पूर्व कमेनियस[1] ने शिक्षा के तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे : (१) व्यक्ति को जीवन में सफलता के लिये ज्ञान देना (२) नैतिक तथा चरित्र-विकास के लिये उसे विवेक देना, तथा (३) उसमें ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

कमेनियस के बाद शिक्षा-क्षेत्र में जॉन लॉक[2] को प्रमुख व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। लॉक मनुष्य को स्वभाव से ही स्वतन्त्र मानता था। व्यक्ति के आगे राज्य का अस्तित्व उसने स्वीकार नहीं किया। लॉक का शिक्षा-उद्देश्य शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक था।

रूसो[3] शिक्षा-क्रम में व्यक्तिवाद का कट्टर पक्षपाती है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक में नैसर्गिक गुणों का स्वाभाविक ढंग से उच्चतम विकास करना है। पिछले खण्ड में शिक्षा-सम्बन्धी रूसो के विचार का विवेचन हम कर चुके हैं। संक्षेप में यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि एक प्रकार से शिक्षा में आधुनिक काल का प्रारम्भ रूसो से होता है, क्योंकि शिक्षा में वर्तमान प्रगतियों के बीज हमें रूसो की विचार-धारा में ही मिलते हैं। रूसो सामाजिक बन्धनों को तोड़ना चाहता है और व्यक्ति को उनसे स्वतन्त्र कर उसकी ज्ञानेन्द्रियों का उच्चतम विकास करना चाहता है जिससे वह अपना हृदय और मस्तिष्क स्वयं शिक्षित कर सके।

रूसो के प्रभावस्वरूप शिक्षा में मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और सामाजिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव होता है। मनोवैज्ञानिक विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादकों में पेस्तालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल के नाम लिए जा सकते हैं। इनके शिक्षा-उद्देश्यों की विवेचना करते हुए प्रथम खण्ड में हम देख चुके हैं कि इन्होंने अपने शिक्षा-सिद्धान्त को बालक के व्यक्तित्व पर आधारित किया।

स्पेन्सर तथा हक्सले ने शिक्षा में वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिपादन किया

---

1. Comenius (1592-1670). 2. John Locke (1632-1704). 3. Rousseau (1712-1778)

बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए तथा उसे सुखी सांसारिक जीवन बिताने के योग्य बनाने के हेतु, इन्होंने शिक्षा में विज्ञान तथा व्यावसायिक उद्देश्यों को महत्व दिया।

शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण को लाने का प्रमुख श्रेय डीवी को है। डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह सामाजिक उन्नति में अपना हाथ अच्छी तरह बटा सके। स्कूल में वास्तविक सामाजिक वातावरण का आभास देते रहने से व्यक्ति अपनी शक्तियों का समुचित और वांछित विकास कर लेगा और वह सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने में सफल होगा। सामाजिक दृष्टिकोण के साथ ही साथ डीवी शिक्षा में उपयोगितावाद को भी लाता है। उसका कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक को उपयोगी अनुभव देना है और यह उपयोगी अनुभव उसको वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में दिया जायगा। इस प्रकार डीवी के प्रभाव स्वरूप शिक्षा में प्रयोजनवाद[1] का प्रचार हुआ है।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक उन्नति तथा उद्योगों के यन्त्रीकरण के कारण व्यक्ति को किसी व्यवसाय-विशेष में कौशल देना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य हो चला है। फलतः आज शिक्षा का उद्देश्य अव्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक ज्ञान न प्राप्त करके किसी विशिष्ट व्यवसाय में उच्चतम ज्ञान प्राप्त करना है। प्रयोजनवाद के कारण शिक्षा-क्षेत्र में परम्परागत मान्यताओं को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति जागृत हो गई है और उनके स्थान पर नई-नई मान्यताओं के निर्माण के लिए बालक को प्रनुप्रेरित करने की चर्चा की जाती है। शिक्षा में यान्त्रीकरण की प्रगति तथा संकुचित व्यावसायिक कौशल की प्रवृत्ति के आ जाने के कारण बालक का व्यक्तित्व शिक्षा-क्रम में कुछ उपेक्षित अवश्य हुआ है। परन्तु मनोविज्ञान तथा व्यावसायिक निर्देशन[2] के प्रचार से बालक के व्यक्तित्व के महत्व को भी बहुत हद तक वर्तमान शिक्षा-क्रम में स्वीकार किया जाता है।

वर्तमान शताब्दी से शिक्षा-क्षेत्र में हम एक दूसरी प्रगति भी पाते हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा इटली आदि पाश्चात्य देशों की शिक्षा-व्यवस्था में राष्ट्रीय भावना तथा देशभक्ति के उद्देश्य के

1. प्रथम खण्ड में देखिए। 2. Vocational Guidance.

...को शिक्षित किया जाता था। फलतः इन सभी देशों के नवयुवकों में
...पने देशों को अन्य देशों से अच्छा समझने की प्रवृत्ति आ गई। अतः इन
... सामूहिक कार्य भी संकुचित राष्ट्रीयता से अभिप्रेरित हो चले। फल यह
...क विश्व की दो महायुद्धों की ज्वाला में तपना पड़ा और मानव की पूरी
...त्रिक नींव ही हिल पड़ी। इसीलिये द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शिक्षा में
...चित राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण को बहिष्कृत किया गया और उसके स्थान पर
...वबन्धुत्व[1] की भावना का संचार किया गया। शिक्षा-क्षेत्र में आज यह विश्वास
...या जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का सफल नागरिक होते हुए भी विश्व
...गरिकता[2] की भावना अपने में अपना सकता है।

आज शिक्षा में गणतन्त्र[3] की बात कही जाती है। इस विचारधारा के
...ारण व्यक्ति तथा समाज को एक दूसरे पर निर्भर समझा जाता है। अतः नाग-
...रिकता की शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को 'राज्य[4]' का दास नहीं बनाना है। नाग-
...रिकता की शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों से अवगत
कराना है, जिससे वह समाज-हित के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास
कर सके। अब व्यक्ति-हित और समाज-हित को अलग-अलग नहीं माना जाता।
फलतः व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में ही समाज की उन्नति निर्भर समझी जाती
है। समाज व्यक्तियों का ही तो समूह है, और समाज के परे व्यक्ति की कल्पना
नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यक्ति को समाज में रहना ही है। इस प्रकार शिक्षा
में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कल्याण को प्रधानता दी जाती है।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा के उद्देश्यों में मनो-
वैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक आदि सभी भावनाओं का निचोड़ आ गया
है। अतः आज की शिक्षा में पिछले सभी अच्छे उद्देश्यों का समावेश दिखलाई
पड़ता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि नागरिकता के उद्देश्य के साथ सामाजिक कल्याण
पर पूरा ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर
है। आजकल जब यह कहा जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जाति की
आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति के अनुकूल बनाना है तो इसके अन्तर्गत

---

1. Internationalism. 2. World citizenship. 3. Democracy in ...ucation. 4. State.

सारांश

सभी देशों की शिक्षा पर योरपीय शिक्षा के आदर्शों का कुछ प्रभाव।

स्पार्टा, यूनानी और रोमन जीवन आदर्श पाश्चात्य देशों के लिए अनुकरणीय।

स्पार्टी शिक्षा

व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं। दो आदर्श—युद्ध रक्षा, और नागरिक की शिक्षा। शिक्षा राज्य का कर्त्तव्य। शिक्षा का शारीरिक ... कोमल भावनाओं को स्थान नहीं।

बौद्धिक शिक्षा का अभाव। पढ़ना-लिखना घर पर ही सीखना।

स्त्रियों का बड़ा आदर। स्त्रियों की शारीरिक शिक्षा तथा ... शिक्षा पर विशेष ध्यान।

शिक्षा-द्वारा युवकों में साहस, उत्साह, देश-भक्ति तथा कष्ट-सहिष्णुता गुण देना।

मानव-हित में स्पार्टी शिक्षा सफल नहीं।

यूनानी शिक्षा

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर ध्यान। शारीरिक सौन्दर्य पर भी ध्यान। राज्य-सेवा के उद्देश्य पर ध्यान। राज्य और व्यक्तिहित में सामंजस्य।

परशियन युद्ध के बाद शिक्षा का आधार व्यक्तिवाद। सोफिस्टों के ... के कारण दैहिक सुख की ओर झुकना। सोफिस्टों द्वारा शिक्षा का प्रचार। एथेन्स सारे यारप के लिए विद्या का केन्द्र।

रोमन शिक्षा

तात्कालिक उपयोगिता की अवहेलना नहीं। अधिकार और कर्त्तव्य जीवन में प्रधान स्थान। अतः शिक्षा का उद्देश्य इसी ओर।

रोम शिक्षा के पांच काल।

सरकार की ओर से स्कूलों को सहायता। शिक्षक का बड़ा

प्रगति और मनोविज्ञान तथा व्यावसायिक निर्देशन के प्रचार से बालक के व्यक्तित्व पर ध्यान।

अब शिक्षा में विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार।

आज की शिक्षा में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कल्याण की प्रधानता।

आज की शिक्षा में पिछले सभी अच्छे उद्देश्यों का समावेश।

प्रश्न

१—स्पार्टा शिक्षा की क्या विशेषतायें हैं ?

२—यूनानी शिक्षा की संक्षिप्त रूप रेखा खींचिए।

३—यूनानी शिक्षा और रोमन शिक्षा की तुलना कीजिए।

४—मध्ययुग और सुधार युग में शिक्षा का भिन्न भिन्न रूप क्यों था ?

५—आधुनिक कालीन शिक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर संकेत कीजिए ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—मनरो, पी० : हिस्ट्री ऑव एडुकेशन, मैकमिलन, १६१६।

२—वाइल्ड्स, इ० एच० : द फाउण्डेशन्स ऑव मॉडर्न एडुकेशन, राइनहार्ट ऐण्ड कं०, न्यूयार्क, १६४२।

३—एबी एण्ड एरोउड : द डेवलपमेण्ट ऑव मॉडर्न एडुकेशन, प्रेन्टिस हॉल, न्यूयार्क, १६३४।

४—,, ,, ,, द हिस्ट्री ऐण्ड फिलॉसॉफी ऑव एडुकेशन, ऐनशियण्ट ऐण्ड मीडीवल, प्रेन्टिस-हॉल, १६४०।

प्रगति और मनोविज्ञान तथा व्यावसायिक निर्देशन के प्रचार से बालक के व्यक्तित्व पर ध्यान।

अब शिक्षा में विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार।
आज की शिक्षा में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कल्याण की प्रधानता।
आज की शिक्षा में पिछले सभी अच्छे उद्देश्यों का समावेश।

प्रश्न

१—स्पार्टी शिक्षा की क्या विशेषतायें हैं ?
२—यूनानी शिक्षा की संक्षिप्त रूप रेखा खींचिए।
३—यूनानी शिक्षा और रोमन शिक्षा की तुलना कीजिए।
४—मध्ययुग और सुधार युग में शिक्षा का भिन्न भिन्न रूप क्यों था ?
५—आधुनिक कालीन शिक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर संकेत कीजिए ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—मनरो, पी० : हिस्ट्री ऑव एडूकेशन, मैकमिलन, १९१६।
२—वाइल्ड्स, इ० एच० : द फाउण्डेशन्स ऑव मॉडर्न एडूकेशन, राइनहार्ट ऐण्ड कं०, न्यूयार्क, १९४२।
३—एबी एण्ड एरोउड़ : द डेवलपमेण्ट ऑव मॉडर्न एडूकेशन, प्रेण्टिस-हॉल, न्यूयार्क, १९३४।
४—,, ,, ,, द हिस्ट्री ऐण्ड फिलॉसॉफी ऑव एडूकेशन, ऐनशियण्ट ऐण्ड मीडीवल, प्रेण्टिस-हॉल, १९४०।

१४

रतीय शिक्षा के उद्देश्यों का ऐतिहासिक आधार

प्राचीन काल

धीरे-धीरे बौद्ध शिक्षालयों तथा विहारों के मूल आदर्शों तथा शिक्षा के
उद्देश्यों में परिवर्तन आने लगा। इनमें भी व्यावसायिक कौशलता पर ध्यान
दिया जाने लगा और धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा होने लगी। शिक्षा को राजकीय
अथवा किसी उच्चपद पाने का साधन माना जाने लगा। बौद्ध धर्म के प्रचार
से ब्राह्मण-शिक्षा के उद्देश्यों का प्रभाव नष्ट नहीं हो गया था। फलतः सामा-
जिक व्यवस्था दृढ़ न हो सकी। ब्राह्मण तथा बौद्ध शिक्षा के प्रभाव स्वरूप
व्यक्ति इहलोक की अवहेलना करके परलोक-साधन की ओर अधिक उन्मुख
हुआ। व्यक्ति भौतिक जीवन को असत्य मानने लगा और आत्मा को जीवन-
मरण से मुक्त करना वह अपना प्रधान जीवन-उद्देश्य समझ बैठा। ऐसी भाव
को पालने वाला समाज उत्तरोत्तर विकास नहीं कर सकता था। अतः फल
हुआ कि मध्यकाल में होने वाले यवनों के आक्रमणों का सामना सफलतापूर्व
नहीं किया जा सका।

मध्यकाल

मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार
था। आक्रमणकारियों ने अधिकांश प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों को नष्ट कर डाला,
परन्तु हिन्दू शिक्षा की धारा सदैव अजस्र बनी रही। हिन्दुओं की सामाजिक
व्यवस्था इतनी दृढ़ थी कि मुसलमानों के प्रभाव से वह छिन्न-भिन्न न हो सक
फलतः भारतीय संस्कृति और शिक्षा प्रणाली ज्यों की त्यों चलती रही। राज
नैतिक उथल पुथल का प्रभाव बड़े बड़े शहरों तक ही सीमित रहा, और ग्राम्य
जीवन उससे अधिक प्रभावित न हो सका। फलतः मध्ययुग के प्रशासन काल में
भी हिन्दू उच्चकोटि के साहित्य के सृजन में संलग्न रहे और अपनी शिक्षा प्रणाली
को उत्थान जारी रखा।

मध्ययुग में भी भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक जीवन यापन था।
[illegible] परन्तु शिक्षा का उद्देश्य बहुत ऊँचा न हो सका।
[illegible]

मकतब और मदरसों आदि में भी शिक्षा का ध्येय पाठशालाओं की तरह धार्मिक ही था। मकतब और मदरसे प्रायः धार्मिक संस्थाओं के अंग हुआ करते थे। बालकों को धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त कुछ अन्य विषय, जैसे—गणित, ज्योतिष, व्याकरण, तथा भूगोल आदि भी पढ़ाये जाते थे। मुगलकाल में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक न होकर नैतिक कर दिया गया। मध्य काल में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक जीवन, चारित्रिक विकास तथा व्यावसायिक कौशल प्राप्त करना था। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों के लिए शिक्षा का प्रधान उद्देश्य केवल विद्वत्ता तथा ज्ञानार्जन भी था।

इस्लामी शिक्षा

इस्लामी शिक्षा धार्मिक तथा सांसारिक शिक्षा में एक समन्वय प्राप्त करना चाहती थी। इस्लाम का परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है। अतः इस्लामी शिक्षा में स्वभावतः जीवनोपयोगी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। एक नये देश में मुसलमानों ने अपनी धार्मिक कट्टरता और उग्रता को बनाये रखना आवश्यक समझा। फलतः इस कट्टरता और उग्रता का उस काल की शिक्षा पर प्रभाव पड़ना एकदम स्वाभाविक था। समय-समय पर धार्मिक गुरुओं ने व्यावहारिक जीवन में ज्ञान के महत्व की चर्चा की। पैगम्बर मुहम्मद ने ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक सच्चे मुसलमान का प्रधान कर्तव्य माना। फीरोज़, अकबर और औरंगज़ेब ने सांसारिक और व्यावहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। राज्य-कार्य के संचालन के लिए काज़ी, वज़ीर तथा सेनापति आदि का पद यथासम्भव तत्कालीन मदरसों से निकले हुए कुशल स्नातकों को दिया जाता था। कला-कौशल, शिल्प, कृषि, चिकित्सा तथा वाणिज्य आदि की शिक्षा पर भी मदरसों में बल दिया जाता था। इस प्रकार धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ सांसारिक शिक्षा को भी देने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। मकतबों में कुरान और हदीस आदि का अध्ययन कराया जाता था परन्तु साथ ही सांसारिक शिक्षा प्रदान कर व्यक्ति के जीवन में साम्य लाने का भी प्रयास किया जाता था।

आधुनिक काल

आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही भारतीयों के लिये रोटी की समस्या

प्रधान हो चली। ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक होते हुए भी उसमें व्यावसायिक पुट आ गया था। परन्तु तब व्यावसायिक शिक्षा का कोई सविधिक प्रबन्ध नहीं था। बालक अपने घर से सीमित वातावरण में अपने पिता से अपनी जाति के अनुसार किसी विशिष्ट व्यवसाय में कौशल प्राप्त कर अपनी जीविकोपार्जन करने लगता था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य प्रायः जीविकोपार्जन ही हो जाता था। शिक्षा-संस्थाओं में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। वहाँ धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन तथा सैद्धान्तिक ज्ञानार्जन पर ही बल दिया जाता था। इस प्रकार शिक्षा जीवन की सत्यता से दूर ही रह गई।

ब्रिटिश कालीन भारत में शिक्षा का प्रधान उद्देश्य कोई व्यवसाय अथवा हस्त-कला सीखना था, या नौकरी पाना। शिक्षा के इस संकीर्ण उद्देश्य से अब भी हमारी अधिकांश शैक्षिक संस्थायें प्रभावित हैं।

परन्तु गत २०-२५ वर्षों से हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली पर पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता जा रहा है। फलतः अब शिक्षा का प्रधा उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास से लिया जाता है। देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब लोग प्रचलित शिक्षा के गुण-दोष के विवेचन की ओर अधिक गतिशील दिखलाई पड़ते हैं। फलतः केन्द्रीय सरकार को विश्व-विद्यालय[1] और माध्यमिक[2] शिक्षा में सुधार के लिए दो कमीशनों को नियुक्त करना पड़ा। वर्तमान शताब्दी में दो विश्व-युद्धों ने व्यक्ति की परम्परागत मान्यताओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। फलतः अब व्यक्ति का आदर्श नई मान्यताओं की खोज की ओर उन्मुख हुआ है। पाश्चात्य देशों की औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा भौतिक उन्नति से हम लोग कुछ प्रभावित हो चले हैं और हम अपनी शिक्षा व्यवस्था में उन तत्वों का समावेश करना चाहते हैं जो अन्य राष्ट्रों की दौड़ में साथ-साथ लिए रहें।

[illegible]ता पाने के बाद हमारे देश का उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र [illegible] है। हम [illegible] उत्तरदायित्वों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निभ[illegible]

[illegible] 1948-1949, 2. Secondary Edu-

सके इसके लिये यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम अपनी देश की जनता के प्रति अपने विविध कर्तव्यों का पालन करें। आज हमारे देश की जनता दुखी है। लाखों व्यक्ति बिना घर-द्वार के सड़कों पर लेटते हैं, लाखों को दोनों समय पेट भर भोजन नहीं मिलता, लाखों को अपने तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं है। लाखों व्यक्ति नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हैं और उनके लिए चिकित्सा की उचित व्यवस्था उपलब्ध नहीं। बाजार से खाने-पीने की शुद्ध वस्तुएं प्राप्त करना असम्भव हो गया है, क्योंकि व्यावसायिक क्षेत्र में हमारा नैतिक पतन हो गया है। विविध पञ्चवर्षीय योजना की सफलता के लिए हमें कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता है। परन्तु अभी तक देश का लगभग ७५ प्रतिशत जनवर्ग अशिक्षित पड़ा हुआ है। हमारे देश की ये सब स्थितियाँ हमारी शिक्षा के लिये विभिन्न समस्यायें उपस्थित करती हैं। अतः अब हमें अपने शिक्षा के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है। स्पष्ट है कि हमें अपने शिक्षा के उद्देश्यों का पुनर्निर्माण करना है। इस पुनर्निर्माण के स्वरूप का निर्धारण प्रथम खण्ड में विवेचित सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है।

सारांश

प्राचीन काल

वैदिक काल

शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक। वेदों का अध्ययन। छोटे-छोटे पारिवारिक स्कूल। सदाचार के निश्चित नियम।

उत्तर वैदिक काल अथवा ब्राह्मण काल

शिक्षा को जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित करने की चेष्टा।

कठिन जातीय बन्धनों का प्रसार। फलतः शिक्षा का उद्देश्य जाति विशेष के अनुसार निर्धारित। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की उपेक्षा।

ब्राह्मणों के प्रभावस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य परलोक सुधारने के लिए दार्शनिक चिन्तन और अकर्मण्यता की प्रधानता।

बौद्ध शिक्षा

सामाजिक ह्रास को रोकने के लिए शिक्षा में शुद्ध आचरण, चरित्र-निर्माण, धार्मिक व्यापकता तथा मानवीय एकता पर बल।

बौद्ध विहारों में कुछ समय बाद व्यावसायिक कौशलता पर ध्यान दिया जाने लगा। धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा।

ब्राह्मण शिक्षा के उद्देश्यों का प्रभाव वर्तमान।

मध्य काल

मुसलमानो के आक्रमण से हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं हो सकी।

शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक जीवनयापन। उद्देश्य सकुचित। पैत्रिक व्यवसाय में ही शिक्षित होना अनिवार्य।

मकतब और मदरसे धार्मिक संस्थाओं के अग। मुगल काल में शिक्षा का उद्देश्य नैतिक।

इस्लामी शिक्षा

धार्मिक तथा सांसारिक शिक्षा में समन्वय प्राप्त करने का उद्देश्य। जीवन पयोगी शिक्षा पर बल।

आधुनिक काल

ब्रिटिश काल में शिक्षा का उद्देश्य व्यवसाय तथा हस्तकला सीखना अथवा नौकरी पाना।

आजकल शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से। व्यक्ति का आदर्श नई मान्यताओं की खोज की ओर। उन्नति में अन्य राष्ट्रों के साथ रहने के लिए नई शिक्षा-व्यवस्था के स्थापित करने का उद्देश्य।

शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का समावेश। देश की विवि समस्याओं के कारण हमें अपने शिक्षा के उद्देश्यों का पुनर्निर्माण करना है।

प्रश्न

१—प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य क्या थे। उनकी प्राप्ति के लिए किन साधनों का अवलम्बन लिया जाता था?

२—वैदिककालीन शिक्षा और बौद्धकालीन शिक्षा की तुलना कीजिए।

३—मध्ययुग में भारतीय [illegible]क्षा क्या रूप था।

४—वर्तमान भारत में [illegible] है?

सहायक पुस्तकें

१—अल्तेकर, एस० ए० : एडूकेशन इन ऐनशियेण्ट इण्डिया, नन्दकिशोर बनारस, १९४८।

२—मुकर्जी, राधाकुमुद : ऐनशियेण्ट एडूकेशन इन इण्डिया, मैक

१९४७।

३—जाफर : एडूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया।

४—की, एफ० ई० : हिस्ट्री ऑव इण्डियन एडूकेशन, ऐनशियेण्ट एण्ड इन टाइम्स।

५—रावत, प्यारेलाल : भारतीय शिक्षा का इतिहास, भारत पब्लिकेशन आगरा, १९५५।

६—मुनेश्वर प्रसाद : भारतीय शिक्षा का इतिहास, प्रथम भाग, श्री अजन्ता लि०, पटना, १९५५।

७—सरयू प्रसाद चौबे : भारतीय शिक्षा का इतिहास, प्रकाशक—रामनरायन लाल, इलाहाबाद, १९५८।

तृतीय खण्ड

शिक्षा के कुछ सामाजिक आधार

तृतीय खण्ड के विषय में दो शब्द

पुस्तक के इस तृतीय खण्ड का उद्देश्य शिक्षा के कुछ सामाजिक आधारों को समझना है; अर्थात् व्यक्ति के विकास हेतु मानव की विभिन्न क्रियाशीलताओं और संस्थाओं द्वारा जो शिक्षा का आयोजन और संगठन किया जाता है उनमें सामाजिक सम्बन्ध[1] क्या है—इसे समझना है। इनके सामाजिक सम्बन्ध के समझने से ही हम विभिन्न संस्थाओं के शिक्षा-सम्बन्धी धर्मों को एक सूत्र में बाँध सकते हैं जिससे शिक्षाक्रम में आने पर अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में व्यक्ति को अधिक से अधिक योग मिल सके। दूसरे, इन सामाजिक सम्बन्धों के समझने से ही हम गणतन्त्रात्मक युग में हम अपनी इच्छानुसार उस नए शिक्षा-सिद्धान्त का निर्माण कर सकते हैं जो हमारे सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

इस खण्ड में हमने शिक्षा के कुछ अविधिक और सविधिक स्रोतों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। पहले नीचे हम अविधिक और सविधिक शिक्षा की परिभाषा देंगे। प्रथम खण्ड में भी इस पर कुछ कहा जा चुका है।

अविधिक और सविधिक शिक्षा

साधारणतः यह कहा जा सकता है विभिन्न सामाजिक स्थानों में सविधिक[2] और अविधिक[3] रूप से जो हम अनुभव प्राप्त करते हैं वही शिक्षा है। अविधिक शिक्षा हम फुटकर रूप में पाते हैं। कहीं हम प्रशंसा पाते हैं और कहीं निन्दा। किसी महात्मा से हम कोई उपदेश पा जाते हैं अथवा किसी घटना से कोई नई बात सीख लेते हैं। किसी वीर योद्धा, प्रसिद्ध लेखक अथवा कलाकार आदि के किसी विशिष्ट व्यवहार या बातों का हम अनजान में अनुकरण करते हैं। इस प्रकार का हमारा सीखना अविधिक शिक्षा के अन्तर्गत आता है। हमारा अविधिक प्रकार का सीखना किस प्रकार का होगा यह उस 'समाज' पर निर्भर करता है

1. Sociological Relationships. 2. Formally. 3. I

जिसमे हम रहते हैं। इस खण्ड में अविधिक शिक्षा-सम्बन्धी कुछ स्रोतो की चर्चा करेंगे, जैसे—कुटुम्ब, धार्मिक संस्थायें, चलचित्र तथा नभवाणी आदि

सविधिक शिक्षा हम किसी निश्चित स्थान अथवा समय पर पूर्व योजनानुसार किसी शिक्षक से पाते हैं। सविधिक शिक्षा केवल स्कूल अथवा कालेज तक ही सीमित नही होती। सविधिक शिक्षा के अन्तर्गत किसी योजना के अनुसार किसी से भी कुछ सीखना आ जाता है, चाहे फैक्टरी में सुपरिन्टेण्डेन्ट से वह सीखना हो अथवा किसी दूकानदार से विक्रय की कला सीखनी हो। किसी संस्था द्वारा धार्मिक शिक्षा अथवा किसी अध्ययन गोष्टी की बैठको में नियमानुसार कुछ सीखना सविधिक शिक्षा के ही अन्तर्गत माना जा सकता है। परन्तु साधारणतः सविधिक शिक्षा का तात्पर्य लोग स्कूल, कालेज अथवा विश्वविद्यालय की ही शिक्षा से समझते हैं। इस खण्ड में हम देखेंगे कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ सविधिक शिक्षाक्रम में व्यक्ति की किस प्रकार की सेवा कर सकती है।

१५

कुटुम्ब एक शिक्षा-संस्था

बालक के विकास में कुटुम्ब का महत्व

बालक के विकास में कुटुम्ब का स्थान स्कूल से कम महत्वपूर्ण नहीं है। स्कूल में बालकों को एकसी शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है, पर उनका विकास समान नहीं होता, क्योंकि वे विभिन्न कुटुम्ब अथवा वातावरण व वंशानुक्रम से आते है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि एक ही माता-पिता के तथा एक ही घर में रहने वाले बालकों का वंशानुक्रम और वातावरण भिन्न भिन्न होता है। क्योंकि गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक और शारीरिक स्थिति एक सी नहीं रहती और न एक ही घर में रहने वाले बालकों के साथ समान व्यवहार ही सम्भव होता है, क्योंकि अपने-अपने रूप रंग और स्वभाव के कारण विभिन्न बालक दूसरों से भिन्न-भिन्न व्यवहार पाते हैं।[1] यही कारण है कि एक ही माता पिता के सभी बालक समान रूप से विकसित नहीं होते। बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव पर अलग-अलग विचार करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं।

बालक के विकास में कुटुम्ब का भी भारी हाथ रहता है। यदि स्कूल के कार्य में कुटुम्ब सहयोग न दे अर्थात् यदि माता-पिता शिक्षक की राय के अनुसार बालकों पर ध्यान न दें तो उनका विकास ठीक ढंग पर न चल पायगा। यदि कुटुम्ब का प्रभाव अवांछित दिशा की ओर गया तो स्कूल किसी प्रकार भी

1. इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए पाठक लेखक की "मनोविज्ञान और शिक्षा", तृतीय सं०, अध्याय ५ पढ़ें।

जिसमे हम रहते हैं। इस खण्ड में अविधिक शिक्षा-सम्बन्धी कुछ स्रोतो की चर्चा करेंगे, जैसे—कुटुम्ब, धार्मिक संस्थायें, चलचित्र तथा नभवाणी आदि।

सविधिक शिक्षा हम किसी निश्चित स्थान अथवा समय पर पूर्व योजनानुसार किसी शिक्षक से पाते हैं। सविधिक शिक्षा केवल स्कूल अथवा कालेज तक ही सीमित नही होती। सविधिक शिक्षा के अन्तर्गत किसी योजना के अनुसार किसी मे भी कुछ सीखना आ जाता है, चाहे फैक्टरी में सुपरिन्टेण्डेन्ट से वह सीखना हो अथवा किसी दूकानदार से विक्रय की कला सीखनी हो। किसी संस्था द धार्मिक शिक्षा अथवा किसी अध्ययन गोष्ठी की बैठको में नियमानुसार कु सीखना सविधिक शिक्षा के ही अन्तर्गत माना जा सकता है। परन्तु साधारणतः सविधिक शिक्षा का तात्पर्य लोग स्कूल, कालेज अथवा विश्वविद्यालय की हो शिक्षा से समझते हैं। इस खण्ड में हम देखेंगे कि समाज की विभिन्न इकाइयाँ सविधिक शिक्षाक्रम में व्यक्ति की किस प्रकार की सेवा कर सकती हैं।

के व्यक्तित्व का सन्तोषजनक विकास वांछित है तो इन गलतियों के प्रति सहानुभूति ही दिखलानी होगी। डाँट सुनाकर बालक को किसी बात का सिखलाना मानो डण्डे मारकर बिल्ली को अपने पास फिर बुलाने की चेष्टा करना है। इन सब बातों पर कुटुम्ब में भी पूरा-पूरा ध्यान देना आवश्यक है। कहने का अर्थ यह है कि कुटुम्ब भी एक प्रकार की शिक्षा-संस्था है। नीचे हम शिक्षा-संस्था के रूप में कुटुम्ब के महत्व पर प्रकाश डालेंगे।

बालक स्कूल मे अपनी कौटुम्बिक संस्कृति लाता है

कुछ को छोडकर प्रायः सभी बच्चे कम से कम अपने प्रथम छः या सात वर्ष कुटुम्ब में ही व्यतीत करते हैं। इन प्रथम छ. या सात वर्ष के अन्तर्गत बालक अपने माता-पिता से अत्यधिक प्रभावित होता है। परन्तु माता-पिता के

अपना योग

की सारी

हो जाने

पर बालक जब स्कूल आता है तो वह एक स्वतन्त्र बालक के सम्पर्क में न आकर एक स्कूल रूपी कुटुम्ब के सम्पर्क में आता है। क्योंकि बालक के व्यक्तित्व पर कौटुम्बिक परम्पराओं और रहन सहन का पूरा प्रभाव पडा रहता है। स्पष्ट है कि अपने व्यक्तित्व के रूप में बालक अपनी कौटुम्बिक संस्कृति को स्कूल में लाता है।

कौटुम्बिक प्रभाव की अवहेलना न करना

कुटुम्ब एक ऐसी संस्था है जो कि जीवन भर व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। शिक्षा समाप्त हो जाने पर अथवा शिक्षा-काल में भी छुट्टियों के अवसर पर व्यक्ति का स्कूल से सम्पर्क नहीं रहता। दूसरे, स्कूल में बालक विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जब वह पढ़ने आता है तो उसे दूसरे-दूसरे अध्यापक पढ़ाते हैं। इस प्रकार स्कूल में बालक पर शिक्षकों का व्यक्तिगत प्रभाव[2] आंशिक हुआ करता है, परन्तु कुटुम्ब में साल भर बालक पर एक क्रमिक प्रभाव पडा करता है। अत बालक के लिए कुछ

1. Formation of the Personality. 2 Personal Fragmentary Nature.

एक सामाजिक संस्था के रूप में गत सौ वर्षों में कुटुम्ब के रूप में बड़ा ही परिवर्तन आया है, और इस परिवर्तन की गति अभी रुकी नहीं है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप जीवन की कृत्रिमता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है कुटुम्ब के दायित्वों में कमी होती जा रही है। तथापि बालक की शिक्षा तथा विकास के हित में कुटुम्ब को कुछ दायित्वों का पालन करना ही होगा, जैसे : भोजन-वस्त्र, चिकित्सा तथा शिक्षा आदि की व्यवस्था करना।

कुटुम्ब को एक स्वाभाविक सामाजिक समूह[1] कहा जा सकता है, क्योंकि जिन बन्धनों से विभिन्न सदस्य एक दूसरे के प्रति अपने को उत्तरदायी समझते हैं वे नैतिक हैं, न कि वैधानिक। ये नैतिक बन्धन एक दूसरे के लिए प्यार का रूप लेकर सबको परस्पर-निर्भर बना देते हैं। फलतः कुटुम्ब के सभी सदस्य एक दूसरे के लिए संवेगात्मक भावनाओं में ओतप्रोत रहते हैं। इन संवेगात्मक भावनाओं के कारण कुटुम्ब व्यक्तित्व के निर्माण के लिए एक महत्वपूर्ण केन्द्र हो जाता है।

कुटुम्ब के सदस्यों में स्वतन्त्र विचार-विनिमय उन्हें 'संवेगात्मक[2] और सामाजिक व्यवस्थापन' में सहायता देता है। कुटुम्ब की एकता बालक को एक ऐसी संवेगात्मक[3] सुरक्षा प्रदान करती है जो उसके उच्चतम विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुटुम्ब बालक के लिए एक ऐसा स्थान हो जाता है जिसे वह अपना आत्मसात कर लेता है, क्योंकि उसके अप्रौढ़ व्यक्तित्व के विकास के लिए कुटुम्ब आवश्यक उपकरणों का आयोजन करता है। इस प्रकार बालक और कुटुम्ब का सम्बन्ध निर्भरता[4] अथवा परतन्त्रता का न होकर [illegible] है। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों आत्म-निर्भरता की [illegible] उसमें बढ़ती जाती है, परन्तु तब भी वह अपने को कुटुम्ब का सदस्य ही समझता है और उसके प्रति अपने कुछ उत्तरदायित्वों को वह निभाना चाहता है।

हाँ, यह सत्य है कि सभी कुटुम्ब में अक्षुण्ण एकता के चिन्ह [illegible] नहीं दिखलाई पड़ते। संवेगात्मक बन्धनों पर आश्रित रहने के कारण इनके अभाव में कुटुम्ब कभी कभी छिन्न-भिन्न हो सकता है और उसके एकता की भावना [illegible]

1. A natural social group. 2. Emotional and Social [illegible]ment. 3. Emotional Securities. 4 Dependence.

करता है। बचपन में ज्ञानेन्द्रियों के सदुपयोग पर बालक का मानसिक विकास बहुत हद तक निर्भर करता है। आलोचनात्मक शक्ति तथा चित्त एकाग्र करने की शक्ति पर बचपन की शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि कुटुम्ब के वातावरण में बालक कई प्रकार की शिक्षायें पाता है। इन शिक्षाओं की दृढ़ नींव पर ही स्कूल बालक के प्रति अपने कर्त्तव्य में सफल हो सकता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बालक अपनी संवेगात्मक और सामाजिक आदतें[1] अपने जन्म के साथ ही लाता है। परन्तु वस्तुतः ये आदतें वह अपने वातावरण[2] में अर्जित करता है। कहना न होगा कि इस अर्जन में कुटुम्ब का ही सबसे पहले उस पर प्रभाव पड़ता है।

कुटुम्ब के वातावरण में आदतें और प्रवृत्तियां

गत ३०-३५ वर्षों से मनोवैज्ञानिकों ने बालक की प्रारम्भिक शिक्षा[3] पर बड़ा बल दिया है। इस शिक्षा में उनका ध्यान 'क्या' पर उतना नहीं है जितना कि 'कैसे' पर। बालक को शिक्षा देने में प्रौढ़ लोगों को अपने संवेगों पर बड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए, अन्यथा आवेश में बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों[4] का वे दमन कर बैठेंगे। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि कुछ मातायें, पिता, शिक्षक तथा अभिभावक गण बालक को कुछ सिखाने में कभी-कभी बड़ा पीट देते हैं। आवेश में वे यह नहीं समझ पाते कि बालक कोई बात क्यों नहीं समझ रहा है। फलतः बालक को कभी-कभी बड़ी निराशा या भग्नाशा[5] का सामना पड़ता है। यदि किसी कार्य में उसे बड़े लोगों से प्रशंसा मिलती है तो वह फूला नहीं समाता, और वह बड़े सन्तोष का अनुभव करता है। भग्नाशा और सन्तोष की भावना का बालक के व्यक्तित्व विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विकास की गति में उचित योग दिया जा सकता है यदि बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में 'क्या' के स्थान पर 'कैसे' पर विशेष ध्यान दिया जाय, अर्थात् बालक को प्रेम तथा सहानुभूति से ही कोई बात सिखलाने से उसके विकास को उचित मार्ग पर बढ़ाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस उचित मार्ग के अनुसरण तथा निर्माण में पहला

---

1. Emotional and Social Habits. 2. Environment. 3 Early Training. 4. Natural Tendencies. 5. Frustration.

की छाया को पाती है। चोरों के बच्चों पर प्रारम्भ से ही कुछ सन्देह किया जाता है, परन्तु अच्छे आदमियों के बच्चों को अच्छा ही मान लिया जाता है।

बालक ज्यों-ज्यों विकास के पथ पर आगे बढ़ता है उसे अपने व्यक्तिगत और व्यक्तित्व का ज्ञान होने लगता है, और एक समय ऐसा आता है जब वह अपने को दूसरे से भिन्न मानता है। अब वह अपनी प्रतिक्रियाओं[1] में संयम रखना सीखने लगता है और कुछ अवसरों पर समाज सिद्धान्तों के अनुसार आचरण दिखलाने में समर्थ होता है।

बालक कुटुम्ब के विभिन्न सदस्यों के साथ एक ही सा व्यवहार नहीं करता। माता जिस बच्चे की देख-रेख आवश्यकता से अधिक करती है और अत्यधिक लाड़ प्यार से जिसे वह बिगाड़ डालती है उसे कुटुम्ब के अन्य सदस्य [illegible] उतने प्यार से नहीं देखेंगे, क्योंकि लाड़ प्यार से बिगड़े बच्चे के ऊधमों से घर के अन्य लोग तंग हो सकते हैं। ऐसा बिगड़ा हुआ बालक जब अपनी [illegible] पड़ौस में बढ़ाता है तो पड़ोसियों के लिए भी वह एक कण्टक सिद्ध होता है। इस प्रकार के बालक में अन्तर्द्वन्द्व[2] आ जाता है, और उसका व्यवहार एक समान रूप में नहीं होता। ऐसी स्थिति में उसके व्यक्तित्व के कई रूप हो सकते हैं; और विभिन्न स्थलों पर विभिन्न व्यवहार उसमें देखे जा सकते हैं। अन्तर्द्वन्द्व आ जाने के कारण बालक के 'व्यक्तित्व' का विकास सुसंगठित[3] नहीं हो पाता। इसका फल यह होगा कि बालक कुटुम्ब में एक प्रकार का, स्कूल में दूसरे प्रकार का और अन्य बालकों के साथ खेल में तीसरे प्रकार का व्यवहार दिखलायेगा। ऐसा बालक बड़ा होने पर घर में एक व्यक्तित्व रखेगा तथा घर के बाहर विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रकार का व्यक्तित्व दिखलायेगा। कहना न होगा कि व्यक्तित्व के इस कुव्यवस्थापन की नींव बहुत हद तक कुटुम्ब में ही पड़ती है। स्पष्ट है कि कुटुम्ब रूपी क्यारी में ही व्यक्तित्व रूपी पौधे का बीजारोपण होता है। अतः व्यक्तित्व के निर्माण में कुटुम्ब का बड़ा भारी हाथ है।

कुटुम्ब संस्कृति का पोषक

बालक का स्वभाव तथा आचरण जिस प्रकार की संस्कृति को अपनाता

1. Responses. 2. Conflict. 3. Well-integrated ... of personality.

यह कुटुम्ब पर ही प्रायः निर्भर करता है। यदि व्यक्ति ऐसे समाज में रहता जहां विभिन्न लोगो के विविध कार्य-प्रणालियां तथा 'आचरण' समान सिद्धान्तों और 'स्तरो' द्वारा अनुशासित होते हैं तो कुटुम्ब का काम इस सर्वमान्य सांस्कृतिक सम्पत्ति को बालको को देना ही जाता है। परन्तु एक समाज में हम देखते हैं कि कुटुम्ब विभिन्न प्रकार की सांस्कृतियो के पोषक होते हैं। फलतः कुटुम्ब सर्वप्रथम अपने मन की सस्कृति चुनता है, तब इसी को जान या अनजान में वह अपने वंशजो को देता है। कुटुम्ब तीन प्रकार की सांस्कृतियों को बालक को देता है :—(१) अपनी कौटुम्बिक परम्परायें तथा आचरण के विभिन्न स्तर, (२) स्थानीय जन समुदाय की संस्कृति, तथा (३) वृहद समाज की संस्कृति।

कुटुम्ब का दायित्व

कुटुम्ब का महत्व केवल मनुष्य जाति के लिए ही नही, वरन् पशु-पक्षियों के लिए इसका कुछ महत्व है, क्योंकि पशु-पक्षी भी तो कुटुम्ब में ही जन्म लेते और कुछ काल तक अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें कुटुम्ब में ही रहना होता है। पशु-पक्षियो की अपेक्षा मानव के लिए कुटुम्ब अधिक महत्वपूर्ण है। मानव कुटुम्ब में रह कर केवल अपना आत्म-विकास ही ही नही करता, वरन् उसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपना कर उसकी वृद्धि की चेष्टा करता है कौटुम्बिक संस्कृति में अपना योग देने के बाद वह उसे अपने वंशजों के लिए छोड़ भी जाता है। इस प्रकार कुटुम्ब मानव विकास के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था हो चली है। प्रायः यह देखा भी जाता है कि जिस व्यक्ति का पालन पोषण अपने माता-पिता के कुटुम्ब में नहीं होता उसका व्यक्तित्व कई अर्थों में अधूरा रह जाता है। अतएव बालक के विकास के हित में कुटुम्ब के कई दायित्व हो जाते हैं।

कुटुम्ब बालक के लिए शिक्षा का प्रधान स्थान है। उसकी पहली शिक्षा कुटुम्ब में ही प्रारम्भ होती है। बालक के भावी जीवन को बनाने अथवा बिगाड़ने में उसके प्रारम्भिक कौटुम्बिक अनुभवों का बड़ा भारी हाथ रहता है। प्राय: मनोवैज्ञानिकों ने कुटुम्ब में पाये हुए शैशव के अनुभवों के महत्व को स्वीकार- ... पर मे बालक पर माता का प्रभाव बड़ा ही गम्भीर रहता है। प्रायः

महापुरुषों ने माता के प्रभाव के गुण को गाया है । माता के बाद पिता, बहिन, अतिथि, नौकर तथा अन्य व्यक्तियों की गणना की जाती है । अपने वरण के विभिन्न अंगों से शिक्षा ग्रहण करने की बालक में एक विशेष क्षमता ी है । इस क्षमता के कारण जान अथवा अनजान में कुटुम्ब में रहते हुए वह क शिक्षायें ग्रहण किया करता है। इसी क्षमता के कारण बालक अपने वाता- णतथा कुटुम्ब में पाई जाने वाली रुचियों, परम्पराओं, आदर्शों तथा संस्कृतियों प्रतीक कहा जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि बालक स्कूल में अपने क्तित्व के साथ अपने वातावरण तथा कुटुम्ब की परम्पराओं तथा संस्कृतियों भी लाता है । अतः कुटुम्ब का यह दायित्व है कि वह अपनी संस्कृति को रिष्कृत बनावे ।

कौटुम्बिक वातावरण में बालक की विभिन्न मूलप्रवृत्तियों[1] की सन्तुष्टि[2] तथा ोधन[3] होता है । घर की परिस्थितियों के अनुसार इन मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि, ोधन अथवा अवदमन होता है । यदि कौटुम्बिक वातावरण सुखद हुआ और बालक का पथ-प्रदर्शन अच्छा किया गया तो उसकी मूलप्रवृत्तियाँ[4] सन्तुष्ट तथा शोधित होकर बालक के अच्छे व्यक्तित्व की नींव डालेंगी । यदि घर का वाता- वरण दूषित हुआ, माता-पिता में आये दिन झगड़े हुआ करते हैं, पिता शराबी हुआ और नशे में घर के लोगों के साथ दुर्व्यवहार करता है; तो ऐसे घरों के बालकों में नाना प्रकार के दोष आ सकते हैं । कुछ कुटुम्बों में बालकों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है । यद्यपि यह नियन्त्रण बालकों के हित में ही रखा जाता है, परन्तु इसका प्रभाव बालकों पर प्रायः उलटा ही पड़ता है। अतः बालकों के वांछित विकास के लिए कुटुम्ब की विभिन्न परिस्थितियों का आयोजन बड़े सोच-समझकर करना चाहिये ।

हमारे अधिकांश भारतीय कुटुम्ब बालक के समुचित विकास के लिए अच्छे वातावरण के आयोजन में प्रायः सफल नहीं होते । कदाचित इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे यहाँ के माता-पिता बच्चों की शिक्षा-सम्बन्धी अपने सारे उत्तर-

1. Instincts. 2. Satisfaction. 3. Sublimation. 4. लेखक की "मनोविज्ञान और शिक्षा" अध्याय ६, पृ० स०, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, १९५७ ।

दायित्व को ठीक-ठीक नहीं समझते। निम्न कोटि के कुटुम्बों में बालकों की रक्षा, पालन-पोषण तथा शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध नहीं रहता। इसका कारण प्रधानतः धनाभाव हो सकता है। परन्तु जिन घरों में धन की कमी नहीं है वहाँ ज्ञानाभाव ही दूषित वातावरण उपस्थित किये रहता है।

कुछ कुटुम्ब ऐसे होते हैं जिनमें बालकों को स्पर्द्धाशील[1] वातावरण मिलता है। ऐसे वातावरण ने बालकों को एक विशिष्ट दिशा में चलने के लिए उत्साहित किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ कुटुम्ब अपने बालकों को परीक्षा में प्रथम श्रेणी लाने के लिये सदैव उत्साहित करते रहते हैं। कुछ कुटुम्ब अपने बालकों को खेल में नाम पैदा करने के लिए अभिप्रेरित करते रहते हैं। इस प्रकार के वातावरण से बालकों का विकास सम्पूर्ण न होकर एकांगी हो जाता है और उनमें एक प्रकार की खींचातानी चलती रहती है, जिससे एक व्यक्ति अपना रहस्य दूसरों के सामने नहीं खोलना चाहता। कुछ दूसरे प्रकार के कुटुम्बों में सांस्कृतिक कार्यों और रुचियों की हँसी उड़ाई जाती है। ऐसे कुटुम्बों में यदि बालक स्कूल में सीखी हुई बातों का प्रदर्शन करता है तो उसका उपहास किया जाता है। ऐसे कुटुम्ब बालक की रुचियों को परिष्कृत करने का अवसर नहीं देते। कुछ कुटुम्ब भावना प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते। स्नेह, आनन्द, आह्लाद तथा सहानुभूति आदि भावों के प्रदर्शन को वे बुरा समझते हैं। फलतः कुटुम्ब के सभी सदस्य प्रायः अपने व्यवहार में ठण्डे दिखलाई पड़ते हैं। ये तीनों प्रकार के कुटुम्ब बालक के विकास के हित के विरुद्ध हैं। कुटुम्ब की चेष्टा बालक के सर्वांगीण विकास की ओर होनी चाहिए और तदनुसार उसे आवश्यक उपकरणों का आयोजन करना चाहिए।

कुटुम्ब को अपना निवास स्थान स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रखना चाहिए, जिससे स्वास्थ्य के लिये शुद्ध वायु, जल तथा भोजनादि के लिए शुद्ध पदार्थ उपलब्ध हो सकें। मकान की स्थिति ऐसी हो कि उसमें पर्याप्त सूर्य-प्रकाश और शुद्ध हवा आ सके और आस-पास पानी इकट्ठा करने वाले गड्ढे और नालियाँ न हों। मकान के पास कुछ हरियाली, उद्यान तथा खेलने का मैदान हो तो

[1] Emulative Environment.

प्रयुक्त है। बालक के विकास पर उसके स्वास्थ्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में रहने के स्थान पर विशेष ध्यान देना है।

स्वास्थ्यकर रहने के स्थान के अतिरिक्त बालकों को पौष्टिक[1] तथा सन्तुलित भोजन मिलना अत्यन्त आवश्यक है। वह भोजन पौष्टिक और सन्तुलित होता है जिसमें प्रर्याप्त और उचित मात्रा में कार्बोहाइड्रेट[2] प्रोटीन,[3] चर्बी,[4] नमक[5] तथा विभिन्न विटामिन[6] रहते हैं। अच्छे भोजन के साथ-साथ बालकों को भोजन के नियमों से भी अवगत कराना चाहिए। कुटुम्ब के सदस्यों को यह देखना है बालक के भोजन के सम्बन्ध में एक नियम बना लिया जाय। कभी हो कि तभी उन्हें तुरन्त खिलाना हानिकर होगा। यदि बालक नट जाता है कि वह 'बरफ-मलाई' ले करके ही रहेगा तो इसे उस समय न देना ही ठीक होगा। बालक को यह सिखलाना चाहिए कि भोजन खूब चबा चबा कर शान्तिपूर्वक करना चाहिए।

कुटुम्ब को बालक के खेल पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उसके विकास में खेल कूद का बड़ा महत्व है। जिन बालकों को विविध प्रकार के खेल खेलने के अवसर नहीं दिये जाते उनके शारीरिक और मानसिक विकास कुण्ठित रह जाते हैं। बालकों के खेल शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के होने चाहिए। प्रारम्भ में बालकों के खेल में खिलौने का बड़ा भारी हाथ होता है। हमारे देश के अधिकांश कुटुम्ब धनाभाव के कारण खिलौने नहीं खरीद पाते। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि मँहगे विदेशी खिलौनों के स्थान पर सस्ते देशी खिलौने कभी-कभी खरीदे जा सकते हैं, अथवा माता-पिता स्वयं कुछ ऐसी वस्तुओं को एकत्रित कर सकते हैं जो खिलौने का काम करते हैं।

यह याद रखना है कि केवल खिलौने का आयोजन कर देना ही पर्याप्त

---

1 Nourishing Balanced Diet 2 Carbohydrate, जैसे चावल, गेहूँ, आलू आदि। 3. Protein, जैसे, दूध, अण्डा, दाल आदि। 4. Fat, जैसे मक्खन घी बादाम, गरी आदि। 5. Salts, जैसे, हरी तरकारियाँ, फल आदि। 6. Vitamins, जैसे 'ए' 'बी' 'सी' और 'डी' आदि। दूध, मक्खन और गाजर से 'ए'; गेहूँ, अण्डा, मटर आदि से 'बी', नीबू, नारंगी, सतरा, हरी तरकारियों और फलों से 'सी'; दूध और मछली आदि से 'डी' विटामिन मिलती है।

नहीं है। बालकों की खेल-कूद में कुटुम्ब के वयस्क
आवश्यक है। वयस्क लोगों के भाग लेने से बालको
हैं। वयस्कों के भाग लेने का अर्थ यह नहीं है कि बा
में विघ्न डाला जाय।

कुटुम्ब को बालक की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दे
स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वच्छता के अ
की सफाई आ जाती है। सुबह उठकर हाथ-मुँह धो
होकर स्नानादि करने में एक नियम का होना आवश्यक
करना और कभी दोपहर को स्नान करना स्वास्थ्य के
स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ आदतों का डालना आवश्यक है।
याद रखना है कि बच्चे अपनी आदतों के दास न बन जा

कुटुम्ब को यह देखना है कि बालक की रुचि क्या
उसकी रुचि के अध्ययन से उसके भावी व्यवसाय के सम्ब
जा सकती है। कुटुम्ब का यह कर्तव्य नहीं कि वह बालक
कार्य में निपुण करने की चेष्टा करे, जब तक कि स्वयं बा
आकर्षण न दिखलाई पड़े। तथापि, कुटुम्ब को यह देखना
भावी व्यावसायिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक
दिया जाय। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यवसाय तथा उद्योग
के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ दूर तक यह प्र
प्रारम्भ किया जा सकता है। शारीरिक श्रम तथा हस्त
सिखाना इस दिशा में प्रथम पग कहा जा सकता है।
शारीरिक कार्य में [illegible], स्वावलम्बन तथा कर्तव्य [illegible]
इन सब गुणों की नींव डालना कुटुम्ब का कर्तव्य है।

बालक के बौद्धिक विकास के लिए बौद्धिक वातावरण
आवश्यक है। बौद्धिक विकास में खिलौने के महत्व को बता
चुका है। खिलौनों के बाद पुस्तकों का स्थान [illegible]
के लिए [illegible] पुस्तकों का होना आवश्यक है
[illegible] कुटुम्ब के लिए बालकों के बौद्धिक [illegible]

आयोजन करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु यथासम्भव बालकों के लिए कुछ अच्छी पुस्तकें अवश्य उपलब्ध करनी चाहिए। प्रारम्भ में जब बच्चे पढ़ना-लिखना न: जानते तो उनके लिए चित्रों वाली पुस्तकें भी बड़ी लाभप्रद सिद्ध होंगी। कुटु: को इस पर ध्यान देना चाहिए।

बालकों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वे कभी-कभी अपने प्रश्न की ऐसी झड़ी लगाते हैं कि उनका उत्तर देना बड़ों के लिए प्राय: असम्भव र हो जाता है। कुटुम्ब के लोग बहुधा बच्चों को डाँटकर चुप कर दिया करते हैं अथवा उनके प्रश्नों का कभी कभी ऊटपटाँग उत्तर दे दिया जाता है। बालक: मानसिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि उनके प्रश्नों का सहज और ठीक ठीक उत्तर दिया जाय। इसके लिए कुटुम्ब के लोगों को स्वयं अपना ज्ञा बढ़ाना चाहिए, अन्यथा बच्चे नौकरों तथा अपढ़ लोगों से अपने प्रश्नों का उत्त प्राप्त कर लेंगे, और ये उत्तर गलत और हानिकारक हो सकते हैं। कुटुम्ब क यह देखना है कि बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति की वृद्धि होती चले और उसक कभी अवदमन न किया जाय।

बालकों की कल्पना शक्ति का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनका बौद्धिक विकास उनकी कल्पना शक्ति के विकास पर ही निर्भर होता है कल्पना-शक्ति के विकास के लिए पहेलियों और कहानियों का सहारा लिया ज सकता है। माता-पिता तथा कुटुम्ब के अन्य बड़े सदस्यों को बालकों के योग रोचक कहानियाँ याद रखनी चाहिए, और समय-समय पर उन्हें सुनानी चाहिए सोते समय वृद्ध जन बच्चों को प्राय कहानियाँ सुनाया करते हैं। यह बड़ी अच्छी प्रथा है। पहेलियों द्वारा बालकों को अच्छा मानसिक व्यायाम मिलत है। इनसे उनमें चिन्तन, एकाग्रता और विश्लेषण की शक्ति बढ़ती है। मात पिता को कुटुम्ब का वातावरण बालक के कार्य में सहायक बनाना चाहिये। दि रात झगड़े उपस्थित किया करना या बालकों पर कड़ा नियन्त्रण रखना उन वांछित विकास में बाधक है। कुटुम्ब का वातावरण ऐसा हो कि बालक के का में बाधा न पड़े।

कुटुम्ब में ही बालक के चरित्र का निर्माण प्रारम्भ होता है। कु बालक की अच्छी अथवा बुरी आदतों की नींव डाली जा सकती है

मे अच्छी आदतें डालना कुटुम्ब का कुटुम्ब का कर्त्तव्य है। कुटुम्ब का व
ऐसा हो कि ईमानदारी, भद्रता, सत्यता, स्नेह, बलिदान तथा त्याग अ
बालक स्वय अपना ले। कुटुम्ब के नैतिक वातावरण का बालक पर
गहरा प्रभाव पडता है। आगे चलकर इस प्रभाव को बालक पूरे स
बिखेरता है। बालक अनुकरण से बहुत कुछ सीखता है। अतः कुटु
वातावरण ऐसा होना चाहिए कि बालक अनुकरण से कोई बुरी बात न सी

कुटुम्ब के सदस्यो के अतिरिक्त बालको पर उनके साथियो, घर के
तथा अतिथियो आदि का भी प्रभाव पडता है। प्रायः यह देखा जाता है
कुछ बडे घरो के लडके नौकरो के कारण बहुत सी बुरी आदतें सीख लेते
अत. नौकरो के रखने में उनके चरित्र पर विशेष ध्यान देना है। यह भी दे
है बालक पडोस के बुरे लडको का साथ न कर ले।

बालक के चरित्र निर्माण में पुरस्कार और दण्ड का भी बडा भारी
है। कुटुम्ब में बालक के लिए समय-समय पर दण्ड और पुरस्कार दोनो
आवश्यक होता है। अत इन दोनो के औचित्य पर कुटुम्ब के सदस्यो
विशेष ध्यान देना चाहिए। दण्ड और पुरस्कार दोनो सार्थक होने चाहिए
व्यर्थ का बढावा देने के लिए पुरस्कार देना अमनोवैज्ञानिक होगा और अ
क्रोध को बालक पर उतारना उसके विकास के लिए घातक है।

आत्म-विश्वास चरित्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अग है। इसे जाग्र
करने के लिए कुटुम्ब मे पर्याप्त अवसर देना चाहिए, क्योकि यदि इसका प्रारम्
बचपन में न किया गया तो बाद में इस गुण का आना बडा ही कठिन हो
जायगा। आत्म[illegible] की [illegible] के लिए बालक को सुरक्षा की भावना देनी
चाहिए। यदि [illegible] टुम्ब में [illegible] व्यर्थ और अरक्षित अनुभव करता है
तो उसे बडी [illegible] इस पीडा को दूर करने के लिए घर
के बाहर बह [illegible] है। घर के कुछ कार्यों का
[illegible] की भावना दी जा सकती
[illegible] बहिनों की रखवाली करना
[illegible] है जो बालकों को कभी-कभी
[illegible] श्रद्धापूर्ण व्यवहार किया

प्रश्न

१—बालक के विकास में कुटुम्ब का क्या स्थान है ?

२—बालक के विकास के हित में किन दायित्वों के पालन की कुटुम्ब से अपेक्षा की जा सकती है।

३—'बालक के साथ उसके कुटुम्ब की संस्कृति लगी रहती है'—इससे आप क्या समझते हैं ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—बॉसर्ड, जेम्स, एच० एस० : द सोशियालॉजी ऑव चाइल्ड डेवलपमेण्ट, हार्पर, न्यूयार्क, १९४८।

२—फॉस्टर, आर० जी०—मैरेज एण्ड फेमिली रीलेशनशिप्स, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९५०।

३—जेसेल, ए०—द फर्स्ट फाइव इयर्स ऑव लाइफ, हार्पर, न्यूयार्क, १९४०।

४—वॉलर, डब्लू—द फ़ेमिली, ड्राइडेन, न्यूयार्क, १९५१।

५—विन्च, ऑर० एफ०—द मॉडर्न फैमिली, हेनरी, हॉल्ट, न्यूयार्क, १९५२।

६—मूर एण्ड कुन—सोशियालॉजी इन एडुकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ३, हूटन मिफलिन, न्यूयार्क, १९५२।

७—यङ्ग के०—परसनाल्टी ऐण्ड प्रॉब्लेम्स ऑव ऐडजस्टमेण्ट—एफ० एस० क्रॉफ्ट्स, १९४०।

८—साइमण्ड्स पी० एम०—द साइकॉलॉजी ऑव पेरेण्ट-चाइल्ड रीलेशनशिप्स, एप्लिटन—सेञ्चुरी, १९३९।

आदर्श बनाता है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण का बालक के विकास पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। दूसरों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति में सहकारिता की भावना का विकास होता है और वह परस्पर निर्भरता के महत्व को समझता है। परन्तु दूसरों का सम्पर्क उसे एक सुसंगठित रूप में मिलना चाहिए अन्यथा उसका व्यक्तित्व सुसंगठित न हो सकेगा। यह सुसंगठित सम्पर्क उसे स्कूल से ही सरलता से मिल सकता है। स्कूल में बालक ऐसी शिक्षा पाता है जिससे वह विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों में सफलतापूर्वक भाग लेने में समर्थ होता है। अतः बालक की शिक्षा किसी भी संस्था अथवा संयोग पर नहीं छोड़ी जा सकती। बालक की शिक्षा का संचालन एक निश्चित उद्देश्य को लेकर करना है, और इस उद्देश्य का निर्माण व्यक्ति तथा समाज के हित के अनुसार करना है। वस्तुतः व्यक्ति-हित को समाज हित से अलग नहीं किया जाता, क्योंकि एक दूसरे पर सदैव निर्भर रहते हैं।

स्कूल को समाज का एक ऐसा प्रतिनिधि समझा जा सकता है जो कि सांस्कृतिक मान्यताओं[1] की रक्षा करते हुए उन्हें विभिन्न व्यक्तियों को उनके कल्याणार्थ देता रहता है। स्कूल की सहायता से व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को समझता है। अतः उसके विकास में अपना योग देने का उद्देश्य अपने जीवन में वह अपना लेता है। स्कूल को छोड़ कर कोई दूसरी संस्था इस कार्य को सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। स्कूल के अतिरिक्त, कुटुम्ब, निकट पड़ोस के समाज के साथ सम्पर्क, पुस्तकें तथा पत्रिकाओं के पढ़ने, रेडियो, सिनेमा, संगीत सम्मेलन तथा अन्य सभाओं से व्यक्ति समाज की बहुत सी सांस्कृतिक मान्यताओं से अवगत हो जाता है। परन्तु बालक को उन कौशलों से युक्त करना है जिनकी सहायता से वह इन सब साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाने में समर्थ होता है।

सभ्यता के आदि काल में व्यक्ति की शिक्षा [illegible] हो जाती थी। कुटुम्ब में अविधिक रूप से व्यक्ति की [illegible] थी। परन्तु लिखने की कला के विकास के साथ [illegible] तथा और [illegible] उठाना कुटुम्ब के [illegible] हो [illegible] माता-पिता

[1] [illegible] ral Values.

१६

स्कूल का क्षेत्र

शिक्षा की सहायता से ही मानव अपना विकास करते हुए सभ्यता के विक
में कुछ योग देने में समर्थ होता है। शिशु केवल कुछ प्रवृत्तियों[1] अ
सम्भावनाओं[2] के साथ जन्म लेता है, और उसका विकास समुचित अवसर
मिलने से ही हो सकता है। मानव का व्यवहार उसकी केवल कुछ जन्मज
मूलप्रवृत्तियों[3] पर ही निर्भर नहीं रहता। जन्म के बाद मानव कुछ आदतें डाल
है और उसके बहुत से व्यवहार इन आदतों[4] द्वारा नियमित होते हैं। ये आद
मनुष्य की शिक्षा पर निर्भर करती हैं। जैसी शिक्षा व्यक्ति पाता है उसी
अनुरूप उसमें आदतें पड़ती हैं, अर्थात् तदनुसार उसका स्वभाव बनता है। अत
व्यक्ति के जीवन में शिक्षा का बड़ा भारी महत्व है। यह शिक्षा बहुत दूर त
स्कूल और कालेजों तथा अन्य सविधिक और अविधिक संस्थाओं से प्राप्त होत
है। इस शिक्षा में स्कूल का हाथ क्या है इसे ही यहाँ पर हम अति संक्षेप मे
समझने का प्रयत्न करेंगे।

मानव शिशु एक कुटुम्ब में पैदा होता है। जन्म के समय वह निरा असहाय
होता है और अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए वह दूसरों पर निर्भर रहता
है। कुटुम्ब में रहने के कारण बालक लोगों की अपेक्षा के अनुसार अपना व्यव-
स्थापन करने का प्रयत्न करता है। वह बड़ों की भाषा सीख लेता है। उनसे
कुछ विश्वासों और परम्पराओं को वह अपने स्वभाव में अपनाने लगता है।
अपने सम्पर्क में आने वालों के अनुकरण के आधार पर वह अपने आदर्श और

1. Tendencies. 2. Potentialities. 3. Innate Instinct. 4. Habits.

ग्रादर्श बनाता है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण का बालक के विकास पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। दूसरों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति में सहकारिता की भावना का विकास होता है और वह परस्पर निर्भरता के महत्व को समझता है। परन्तु दूसरो का सम्पर्क उसे एक सुसगठित रूप में मिलना चाहिए अन्यथा उसका व्यक्तित्व सुसगठित न हो सकेगा। यह सुसगठित सम्पर्क उसे स्कूल में ही सरलता से मिल सकता है। स्कूल में बालक ऐसी शिक्षा पाता है जिससे वह विभिन्न सामाजिक सम्बन्धो में सफलतापूर्वक भाग लेने में समर्थ होता है। ग्रतः बालक की शिक्षा किसी भी सस्था ग्रथवा सयोग पर नही छोडी जा सकती। बालक की शिक्षा का संचालन एक निश्चित उद्देश्य को लेकर करना है, और इस उद्देश्य का निर्माण व्यक्ति तथा समाज के हित के अनुसार करना है। वस्तुत: व्यक्ति-हित को समाज हित से अलग नही किया जाता, क्योकि एक दूसरे पर सदैव निर्भर रहते हैं।

स्कूल को समाज का एक ऐसा प्रतिनिधि समझा जा सकता है जो कि सांस्कृतिक मान्यताओं[1] को रक्षा करते हुए उन्हे विभिन्न व्यक्तियों को उनके कल्याणार्थ देता रहता है। स्कूल की सहायता से व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को समझता है। ग्रतः उसके विकास में अपना योग देने का उद्देश्य अपने जीवन में वह अपना लेता है। स्कूल को छोड कर कोई दूसरी सस्था इस कार्य को सफलतापूर्वक नही कर सकती। स्कूल के अतिरिक्त, कुटुम्ब, निकट पडोस के समाज के साथ सम्पर्क, पुस्तकें तथा पत्रिकाओं के पढ़ने, रेडियो, सिनेमा, सगीत सम्मेलन तथा ग्रन्य सभाओं से व्यक्ति समाज की बहुत सी सांस्कृतिक मान्यताओं से अवगत हो जाता है। परन्तु बालक को उन कौशलों से युक्त करता है जिनकी सहायता से वह इन सब साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाने में समर्थ होता है।

सभ्यता के आदि काल में व्यक्ति की शिक्षा बहुधा कुटुम्ब में ही हो जाती थी। कुटुम्ब में अविधिक रूप से व्यक्ति की सारी शिक्षा हो जाती थी। परन्तु लिखने की कला के विकास के साथ शिक्षा का रूप जटिलतर होने लगा और उसका सारा भार उठाना कुटुम्ब के लिए सम्भव न हो सका। फलतः माता-पिता

1. Cultural Values.

१६

स्कूल का क्षेत्र

शिक्षा की सहायता से ही मानव अपना विकास करते हुए सभ्यता के विकास मे कुछ योग देने में समर्थ होता है। शिशु केवल कुछ प्रवृत्तियों[1] और सम्भावनाओं[2] के साथ जन्म लेता है, और उसका विकास समुचित अवसर के मिलने से ही हो सकता है। मानव का व्यवहार उसकी केवल कुछ जन्मजात मूलप्रवृत्तियों[3] पर ही निर्भर नहीं रहता। जन्म के बाद मानव कुछ आदतें सीखता है और उसके बहुत से व्यवहार इन आदतों[4] द्वारा नियमित होते हैं। ये आदतें मनुष्य की शिक्षा पर निर्भर करती हैं। जैसी शिक्षा व्यक्ति पाता है उसी के अनुरूप उसमें आदतें पड़ती है, अर्थात् तदनुसार उसका स्वभाव बनता है। अतः व्यक्ति के जीवन में शिक्षा का बड़ा भारी महत्व है। यह शिक्षा बहुत दूर तक स्कूल और कालेजों तथा अन्य सविधिक और अविधिक संस्थाओं से प्राप्त होती है। इस शिक्षा में स्कूल का हाथ क्या है इसे ही यहाँ पर हम अति संक्षेप में समझने का प्रयत्न करेंगे।

मानव शिशु एक कुटुम्ब में पैदा होता है। जन्म के समय वह निरा असहाय होता है और अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए वह दूसरों पर निर्भर रहता है। कुटुम्ब में रहने के कारण बालक लोगों की अपेक्षा के अनुसार अपना व्यवस्थापन करने का प्रयत्न करता है। वह बड़ों की भाषा सीख लेता है। उनके कुछ विश्वासों और परम्पराओं को वह अपने स्वभाव में अपनाने लगता है। अपने सम्पर्क में आने वालों के अनुकरण के आधार पर वह अपने आ:

1. Tendencies. 2. Potentialities. 3. Innate I[illegible]
4. Habits.

कारण शिक्षण की बहुत सी वैज्ञानिक प्रणालियों का निर्माण किया गया है और साथ ही एक शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-शास्त्र की भी कल्पना की गई है। स्कूल बालक के विकास के लिए एक अच्छा वातावरण उपस्थित करता है। जब तक बालक स्कूल में रहता है तब तक वह अपने पड़ोस तथा कुटुम्ब के दूषित वातावरण से दूर रहता है। बिना स्कूल गये बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं, क्योंकि स्कूल के वातावरण में उसे विभिन्न प्रकार के अनुभव उसे मिलते हैं जो कि उसके व्यक्तित्व-निर्माण में बड़े सहायक होते हैं।

स्कूल को समाज से पृथक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जिस समाज में स्कूल रहता है उस समाज की विभिन्न समस्याएँ स्कूल में आने वाले बालकों की समस्याओं से आंकी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, हमारे भारतीय समाज के दोष —अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुष भेद, जाति-व्यवस्था, बेकारी तथा निर्धनता आदि हमारे स्कूलों में स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी स्कूल में ये सब बुराइयाँ प्रायः बहुत उग्र रूप नहीं पकड़ पातीं। स्कूल की योजना समाज के अन्तर्गत एक सुव्यवस्थित रूप में की जाती है, और समाज के अवगुण को यथासम्भव उसमें नहीं आने दिया जाता। फलतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्कूल को समाज का एक छोटा परिष्कृत रूप माना जा सकता है।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में अब स्कूल का उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा है और कुटुम्ब का दायित्व घटता जा रहा है। पहले स्कूल का क्षेत्र बालक को विभिन्न विषयों का केवल ज्ञान ही देना था, परन्तु अब स्कूल के क्षेत्र के अन्तर्गत बालक का सर्वाङ्गीण विकास-शारीरिक मानसिक तथा चारित्रिक—आ जाता है। बालकों को स्कूल में बुलाकर उन्हें दूसरों के अनुभव का केवल ज्ञान ही नहीं कराना है। वस्तुतः स्कूल का उद्देश्य अब 'पढ़ाना' नहीं, वरन् 'विकास' करना है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक को स्वाभाविक रुचियों के अनुसार दी जाती है। उसकी स्वाभाविक रुचियों को समझने के लिए सहानुभूति सबसे बड़ा साधन है। इसीलिये पेस्तालॉजी ने स्कूल को 'प्यार का घर'[1] की संज्ञा दी है। फ्रोबेल भी कहता है कि स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही प्रसन्नचित्त जाय जैसे वह खेल के मैदान में जाता है। पेस्ता-

1. Home of Love.

की सहायता के लिए शिक्षक की कल्पना की गई और शिक्षक के बाद स्कूल की स्थापना हुई। इस प्रकार स्कूल ने बालक की शिक्षा-सम्बन्धी उन सभी दायित्व को ले लिया जिन्हें पहले कुटुम्ब ढोता था। कुटुम्ब के दायित्वों को लेने के कारण स्कूल अपने कार्य का सम्पादन बिना कुटुम्ब की सहायता के नहीं कर सकता। गत अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है।

स्कूल एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसका प्रधान कार्य व्यक्तियों को कुशल और सुव्यवस्थित समाज का सदस्य बनाना है। अत. स्कूल को उस निकट समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करनी है जिसके बीच में वह स्थित है। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्कूल के अधिकारी समाज की आवश्यकताओं से अपने को सदा अवगत रखें। एक वातावरण की आवश्यकतायें दूसरे वातावरण की आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं। गांव और शहर के बालकों की आवश्यकताओं में भेद का होना एकदम स्वाभाविक है। अतः शहर के स्कूल के ढांचे पर देहात में स्कूल स्थापित कर देना ठीक नहीं। अतः किसी स्कूल-कार्यक्रम के प्रारम्भ करने से पूर्व निकट समाज का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये जिससे स्कूल का परिश्रम विफल न जाय।

कुटुम्ब अपने बच्चों को स्वयं शिक्षा नहीं दे पाता, इसलिए वह उन्हें स्कूल में भेजता है। प्रायः यह देखा जाता है कि माता-पिता स्वयं बालकों को शिक्षा देने में बड़ा आलस्य करते हैं। वे अपनी दिनचर्या तथा उद्यम में अपने को इतना व्यस्त समझते हैं कि बालकों के समुचित विकास की ओर ध्यान देने में अपने को समर्थ नहीं पाते। ऐसी दशा में वे अपने बच्चों को स्कूल में भेजना आवश्यक समझते हैं। सभ्यता के आदि काल में समाज की आवश्यकताएँ जब बहुत सीमित थीं और व्यक्ति थोड़े में ही परम सन्तोष का अनुभव करता था तब आज जैसी जीवन की विषम समस्याओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। अतः तब बच्चों की शिक्षा कुटुम्ब में ही हो जाती थी। परन्तु आज के जीवन की जटिल समस्याओं के कारण प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट प्रकार का कौशल प्राप्त करना आवश्यक जान पड़ता है, अन्यथा वह उनका समाधान न खोज सकेगा। इस कौशल का प्राप्त करना स्कूल की सहायता से सरल हो जाता है। ऐसी स्थिति के कारण स्कूल में ही बालकों को शिक्षित करने की एक प्रथा चल पड़ी है। इस प्रथा के

कारण शिक्षण की बहुत सी वैज्ञानिक प्रणालियों का निर्माण किया गया है और साथ ही एक शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-शास्त्र की भी कल्पना की गई है। स्कूल बालक के विकास के लिए एक अच्छा वातावरण उपस्थित करता है। जब तक बालक स्कूल में रहता है तब तक वह अपने पड़ोस तथा कुटुम्ब के दूषित वातावरण से दूर रहता है। बिना स्कूल गये बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं, क्योंकि स्कूल के वातावरण में ऐसे विभिन्न प्रकार के अनुभव उसे मिलते हैं जो कि उसके व्यक्तित्व-निर्माण में बड़े सहायक होते हैं।

स्कूल को समाज से पृथक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जिस समाज में स्कूल रहता है उस समाज की विभिन्न समस्यायें स्कूल में आने वाले बालकों की समस्याओं से आंकी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, हमारे भारतीय समाज के दोष—अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुषभेद, जाति-व्यवस्था, बेकारी तथा निर्धनता आदि हमारे स्कूलों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी स्कूल में ये सब बुराइयाँ प्रायः बहुत उग्र रूप नहीं पकड़ पातीं। स्कूल की योजना समाज के अन्तर्गत एक सुव्यवस्थित रूप में की जाती है, और समाज के अवगुण को यथासम्भव उसमें नहीं आने दिया जाता। फलत, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्कूल को समाज का एक छोटा परिष्कृत रूप माना जा सकता है।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में अब स्कूल का उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा है और कुटुम्ब का दायित्व घटता जा रहा है। पहले स्कूल का क्षेत्र बालक को विभिन्न विषयों का केवल ज्ञान ही देना था, परन्तु अब स्कूल के क्षेत्र के अन्तर्गत बालक का सर्वाङ्गीण विकास-शारीरिक मानसिक तथा चारित्रिक—आ जाता है। बालकों को स्कूल में बुलाकर उन्हें दूसरों के अनुभव का केवल ज्ञान ही नहीं कराना है। वस्तुतः स्कूल का उद्देश्य अब 'पढ़ाना' नहीं, वरन् 'विकास' करना है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की स्वाभाविक रुचियों के अनुसार दी जाती है। उसकी स्वाभाविक रुचियों को समझने के लिए सहानुभूति सबसे बड़ा साधन है। इसीलिये पेस्तालॉजी ने स्कूल को "प्यार का घर"[1] की संज्ञा दी है। फ्रोबेल भी कहता है कि स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही प्रसन्नचित्त जाय जैसे वह खेल के मैदान में जाता है। पेस्ता-

1. Home of Love.

संसार के अग्रगण्य राष्ट्रों के समकक्षी होने की धुन में लग गया है। मानव इतिहास इसका साक्षी है कि प्रत्येक महाभारत के बाद देश के शिक्षा-विशारद शिक्षा प्रणाली की छान-बीन की जाती है और आवश्यकतानुसार उसे पुनर्व्यवस्थित करने का उद्योग किया जाता है। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद योरप के कई देशों की शिक्षा प्रणालियों में महान परिवर्तन किये गये। सन् १९१७ की रूस की क्रान्ति के बाद वहाँ की शिक्षा प्रणाली की पूरी कायापलट की गई। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप आज भी हम प्रायः सभी देशों की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ उथल पुथल देखते हैं। प्रत्येक देश अपनी शिक्षा के पुनर्संगठन में लीन है। अब कर्णधारों का शिक्षा के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान है। नैतिक,[1] भावनात्मक,[2] शारीरिक[3] और बौद्धिक[4] सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की शिक्षा द्वारा अपेक्षा की जाती है। फलतः शिक्षा-सिद्धान्त का भी कुछ इधर ही झुकाव हो रहा है और अनुभव किया जाने लगा है कि स्कूल को इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यक्ति को योग्य बनाना है।

आज के संसार में अभूतपूर्व परिवर्तनशीलता दिखलाई पड़ती है। शिक्षा-क्षेत्र में इसका रूप बहुत ही उग्र दिखलाई देता है। अब समस्या यह है कि शिक्षा की व्यवस्था किस प्रकार की जाय कि राष्ट्र की मांग अधिक से अधिक पूरी हो सके। स्कूल का यह कर्त्तव्य है कि बालकों को समाज की कुरीतियों से अवगत करे और उन्हें दूर करने के लिए उनमें दृढ़ इच्छा उत्पन्न करे। विभिन्न परिस्थितियों के समझने और तत्सम्बन्धी उचित निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए स्कूल सबसे सुगम साधन है। सहिष्णुता[5], उदारता[6] तथा प्रजातन्त्रात्मक[7] सिद्धान्तों में व्यक्ति का विश्वास स्कूल ही द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। समाज-हित का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझने की प्रवृत्ति व्यक्ति में स्कूल ही को डालनी है। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति का उत्तरदायित्व स्कूल के अपने ऊपर ले लेने से क्या हमारी शिक्षा-समस्या का हल नहीं निकल आता? अतः

1. Moral. 2. Emotional. 3. Physical. 4. Intellectual. 5. Tolerance. 6. Liberal attitudes. 7. Democratic Principles.

लॉजी कहता है कि बालक को पढ़ाना नहीं है, वरन् प्यार करना है। एक बार
किसी विद्यार्थी का पिता पेस्तालॉजी का स्कूल देखने गया। उसके मुँह से निकल
पड़ा "अरे ! यह तो स्कूल नहीं, एक घर है।" पेस्तालॉजी ने कहा "यही तुम
मुझे सबसे बड़ी प्रशंसा दे सकते हो। ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं यह दिखा
सका कि स्कूल और घर के वातावरण में कोई भेद नहीं।" हमारे देश के
प्राइमरी स्कूल अभी इस दृष्टिकोण से बहुत ही पीछे हैं। यद्यपि शारीरिक दण्ड के
विरुद्ध शिक्षाधिकारियों ने नियम पास कर दिया है, पर अभी हमारे शिक्षकों
इतनी जागृति नहीं कि उस नियम का वे पालन कर सकें। गाँव तथा शहरों
प्रायः सभी प्राइमरी स्कूलों में बालक सदा सशंक रहते हैं कि पता नहीं अध्यापक
का हाथ रूपी बाण उनके ऊपर कब छूट जाय। बालक के विकास में दण्ड का
भी स्थान अवश्य है। माता-पिता भी तो बच्चों को दण्ड देते ही हैं। पर भेद
मनोवृत्ति का आ जाता है। किसी विषय के न समझने पर मार खाने का
औचित्य बालक की समझ में कभी नहीं आता। वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर
अटपटा जाता है। मार से भय उत्पन्न होता है। 'भय' संवेग से पलायन-मूल
प्रवृत्ति[1] जागृति होती है। अतः भय देकर किसी विषय को सिखाना 'पढ़ाना'
नहीं वरन् उसे उससे दूर भगाना है।

बालक की रुचि पर ध्यान रखकर प्यार के साथ उसका इस प्रकार मार्ग-
दर्शन करना है कि उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास हो सके। इस चेष्टा
रहना ही स्कूल का प्रधान उत्तरदायित्व है। स्कूल अपना उत्तरदायित्व बिना
अभिभावकों और माता-पिता के सहयोग के नहीं निभा सकता। माता पिता
अथवा अभिभावकगण कुछ अर्थों में बालकों की रुचियों को अच्छी प्रकार समझ
सकते हैं, क्योंकि वे उनके सम्पर्क में अधिक आते हैं। स्कूल के अधिकारियों को
उचित है कि वे यदाकदा अभिभावकों से राय लिया करें और उनके सहयोग से
बालकों के चरित्र विकास का प्रयत्न करें।

स्कूल का रूप अब पहले से बहुत बदल गया है। अब उसका जीवन से
घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता जान पड़ती है। वर्तमान शिक्षा
की अव्यावहारिकता अब पहले से अधिक खटकने लगी है, क्योंकि हमारा राष्ट्र

[1] Escape.

गया है उसके वांछित दिशा की ओर पहुँचने की अधिक आशा की जा सकती है। स्कूल के बाहर शिक्षित व्यक्ति का दृष्टिकोण कदाचित् उतना उदार न होगा जितना स्कूल से निकले हुए व्यक्तियों के सम्बन्ध में आशा की जा सकती है। स्कूल अथवा कालेज के बाहर शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति [illegible] हो सकता है, पर अन्य सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी उसके विचार अपने ही सीमित वर्ग के हित के अनुसार होंगे।

क्या सामाजिक समस्याएँ बदलती नहीं रहतीं? क्या भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है? यदि नहीं, तो भावी समस्याओं के विषय में स्कूलों में पहले ही कैसे विचार किया जा सकता है? यह ठीक है कि भावी समस्याओं का हम ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। पर क्या उनका सामना करने के लिए युवकों को पहले से ही आवश्यक बुद्धि व बल देना युक्तिसंगत न होगा? क्या घर में आग लगने पर कुआँ खोदने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी का काम है? हम स्कूलों में किसी समस्या विशेष के लिए बालकों को शिक्षित करने का उद्योग नहीं करेंगे। हमारा प्रयत्न तो उन्हें केवल साधारण ज्ञान और सिद्धान्तों से ही अवगत कराना होगा। इस उद्देश्य का यह तात्पर्य नहीं कि स्कूल का कर्तव्य राजनीतिज्ञों की उत्पत्ति करना है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि स्कूल ऐसी शिक्षा दे कि देश में ऐसे नागरिक हों जिन्हें केवल अपना राष्ट्र हित ही इच्छित न हो, वरन् समाज-हित भी उतना ही प्रिय हो। यदि स्कूल भावी नवयुवकों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न करने में सफल न हो सका तो ऐसे व्यक्ति सदा उत्पन्न होते रहेंगे जिनसे विश्व-शान्ति सदा खतरे में पड़ी रहेगी। यदि लोकतन्त्र को सुरक्षित रखना है तो स्कूल को यह सिखाना होगा कि अपना नेता किस प्रकार चुनना चाहिए। यदि सामाजिक समस्या सम्बन्धी व्यक्ति में अपेक्षित जागृति न हो सकी तो वह भीड़ में पड़कर अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा और समूह-मनोविज्ञान[1] का शिकार हो अयोग्य व्यक्ति नेतृत्व स्वीकार कर बैठेगा और इस प्रकार समाज के अकल्याण में हाथ बटायेगा।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या विवादग्रस्त[2] विषयों में पढ़ाना समय नष्ट करना नहीं है? स्कूल में उन्हीं विषयों को क्यों

1. Mob Psychology 2. Controversial Subjects.

[illegible] विकास की प्रेरणा देता है। यह [illegible]
है। [illegible] हो सकता है। [illegible]
बालकों को [illegible] रहती है। [illegible] बातों को [illegible] या नहीं
[illegible] के [illegible] और सामाजिक [illegible]
इस वातावरण के माध्यम से ही इस तरह युक्त है कि इन गुणों की प्राप्ति स्कूल के
[illegible] में कल्पना न हो सकती है। यदि स्कूल के वातावरण में विशाल
विषयों पर विचार नहीं किया जाता तो उपर्युक्त गुणों का प्रादुर्भाव कहाँ
से हो सकता है? ये गुण अभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्कूल में इस
[illegible] कराना आवश्यक है। यदि स्कूल केवल देश की प्राचीन संस्कृति में ही
बालकों का अनुराग पैदा करने का प्रयत्न करता है, यदि वह अपने ही राष्ट्र की
सर्वश्रेष्ठ समझने की भावना बालक में डाल देता है अथवा केवल कुछ विशेषों को
पढ़ा देने में ही वह अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझता है, तो यह निश्चित है कि
यह ऐसे नागरिकों को तैयार करेगा जो अपने ही हित में रत रहेंगे और एक
दिन वे समाज में अशान्ति उत्पन्न करने में योग देंगे।

बहुधा स्कूल अपना ध्यान 'भूतकालीन सभ्यता'[1] के तत्वों को समझाने में
ही अधिक देते हैं, क्योंकि बौद्धिक और सौन्दर्यविकास[2] का यही सबसे अच्छा
साधन समझा जाता है। यह प्रणाली व्यक्ति के विकास में सहायक हो सकती
है, पर स्कूल को यह भी सिखलाना चाहिए कि समाज के प्रति व्यक्ति को अपने
कर्त्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिये। सामाजिक विकास में व्यक्ति
का भाग क्या है इसकी स्कूल में पूरी विवेचना होनी चाहिये। यदि व्यक्ति यह
समझ कर तदनुसार कार्य कर सका तो उसे शान्ति मिलेगी और तभी वह अपनी
रुचि के अनुसार किसी एक विषय में पाण्डित्य प्राप्त करने में सफल होगा। हमारे
देश के नवयुवक स्कूल अथवा कालेज से निकलने के बाद बेकारी का अनुभव
करते हैं। नौकरी के लिये वे इधर-उधर घूमते हैं और पेट-पालन की समस्या के
आगे उन्हें कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। फलतः उनका सारा सामाजिक विकास,
उदारता और परमार्थ वहीं ठप्प हो जाता है। ऐसी स्थिति को रोकना बड़ा
आवश्यक है। स्कूल में ऐसी शिक्षा देनी है कि उससे निकलने के बाद युवक

1. Elements of past civilization. 2. Aesthetic.

बेकारी का अनुभव न करे। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा द्वारा उसकी रुचियों का अच्छी प्रकार विकास किया जा सके। अगले पृष्ठों में हम यह देखेंगे कि बालकों की विभिन्न रुचियों के विकास के लिये पाठ्यक्रम में भिन्न-भिन्न विषयों को स्थान देना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्कूल के क्षेत्र में समाज की आवश्यकतानुसार समय समय पर परिवर्तन होता रहा है। आज सभ्यता अपने विकास की इस सीमा तक पहुँच आई है कि जीवन में सफलता के लिये व्यक्ति को जो न्यूनतम शिक्षा की आवश्यकता होती है, उसे भी अविधिक साधनों[1] द्वारा नहीं दिया जा सकता। अतः सार्वलौकिक शिक्षा[2] की आवश्यकता का सभी लोग अनुभव करने लगे हैं, और इसे लोग एक सामाजिक आदर्श[3] मानने लगे हैं। सामाजिक अवस्थाओं[4] में परिवर्तन के कारण स्कूल के कर्तव्य की सीमा निम्नलिखित रूप में बाँधी जा सकती है . यह सीमा गत पृष्ठों में दिये हुए विवरण का निचोड़ होगा।

१—स्कूल का कर्तव्य व्यक्ति को सामान्य[5] संस्कृति के कम से कम उस भाग को दे देना है जिससे वह सरल और सुखी जीवन व्यतीत कर सके, चाहे समाज के किसी भी अङ्ग से उसका सम्बन्ध हो। सामान्य संस्कृति का कम से कम भाग का तात्पर्य केवल पढ़ना-लिखना ही सिखाने से नहीं है, वरन् इसके अन्तर्गत विज्ञान और समाज-विज्ञान के उन सभी अंगों का ज्ञान देना है जिनकी सहायता से व्यक्ति अपने प्राकृतिक,[6] राजनैतिक,[7] सामाजिक,[8] आर्थिक,[9] सांस्कृतिक[10] तथा धार्मिक सभी वातावरणों से अच्छी तरह परिचित हो जाय।

२—स्कूल का कर्तव्य अब व्यक्ति को व्यावसायिक शिक्षा[11] देना है। आज से लगभग १०० वर्ष पहले व्यक्ति अपनी व्यावसायिक शिक्षा प्रायः घर पर ही

---

1. Informal Agencies. 2 Universal Education. 3. Social Ideal. 4. Due to changes in sociological conditions. 5. General culture 6. Natural. 7 Political 8 Social 9 Economic. 10. Cultural. 11. Vocational Education.

पा जाता था। परन्तु आज विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों की जटिलता के कारण व्यावसायिक शिक्षा यथेष्ट रूप से घर तथा और गृहकार्यपूर्वक नहीं दी जा सकती। अतः हमें ऐसे स्कूलों की भी स्थापना करनी है, जो व्यक्तियों को आवश्यक व्यावसायिक शिक्षा दे सकें।

३—देश में प्रजातन्त्र के स्थापन के कारण नागरिकों ने प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों[1] के अनुसार जीवन यापन हेतु कुछ कौशलों[2] का जानना आवश्यक है। अतः व्यक्ति को नागरिकता का पाठ सिखलाने का उत्तरदायित्व स्कूल को अपने ही ऊपर लेना है।

४—आज व्यक्ति के नैतिक[3] शिक्षा का भी उत्तरदायित्व स्कूल को ही लेना है। पहले धार्मिक संस्थाओं तथा कुटुम्ब द्वारा व्यक्ति को यह शिक्षा मिल जाया करती थी। परन्तु आजकल धार्मिक संस्थाओं में एकता का अभाव दिखलाई पड़ता है और संयुक्त[4] परिवार का भी विघटन प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में कुटुम्ब और धार्मिक संस्थाओं पर नैतिक शिक्षा के लिए निर्भर रहना कठिन है। अतः स्कूल को ही बालकों के नैतिक और चारित्रिक[5] शिक्षा की व्यवस्था करनी है।

५—स्कूल को केवल व्यक्ति को सभी भाँति से सफल जीवन बिताने के लिये ही तैयार नहीं करना है, वरन् उसे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह सभ्यता के विकास में अपना योग दे सके, और फलतः संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती रहे। इस प्रकार स्कूल को ज्ञान के सभी अंगों में अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है और व्यक्ति के उच्चतम विकास के लिए प्रयत्न करना है।

गत पृष्ठों से स्पष्ट है कि स्कूल और समाज में घनिष्ठतम सम्बन्ध है। स्कूल एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना विविध सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है। अतः स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण समाज द्वारा ही किया जा सकता है। स्कूल की पाठ्यवस्तु समाज में चलने वाली क्रियाशीलताओं

---

1. Democratic Principles. 2. Skills. 3. Moral Education. 4. Family. 5. Character Education

को द्योतक होगी और शिक्षण विधि बालक को यह सिखलायेगी कि वह अपने भावी जीवन में विभिन्न सामाजिक कार्यों में किस प्रकार भाग लेगा।

एक समाज की सांस्कृतिक मान्यतायें दूसरे समाज की मान्यताओं से भिन्न हो सकती हैं। अतः सभी स्कूलों के लिए किसी एक ही प्रणाली और उद्देश्य की बात नहीं कही जा सकती। स्कूल का समाज से अलग करना बड़ा हानिकर होगा, क्योंकि समाज से अलग होने पर वह व्यक्ति को उन मान्यताओं में शिक्षा दे सकता है जिनका जीवन से विशेष सम्बन्ध न होगा। सामाजिक रूप से शिक्षा दे सकता है जिनका जीवन से विशेष सम्बन्ध न होगा। सामाजिक रूप और आवश्यकताओं के अनुसार स्कूल में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। कहना न होगा कि ग्राम्य और शहर के वातावरण में बड़ा भेद पाया जाता है। अतः ग्रामीण तथा शहरी वातावरण के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूल की आवश्यकता है।

यदि स्कूल को समाज का प्रतिनिधि होना है और उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करना है तो उसके लिए समाज का पूरा सहयोग आवश्यक है। यह सोचना गलत है कि स्कूल में शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल शिक्षकों पर ही है। वस्तुतः शिक्षा का उत्तरदायित्व तो पूरे समाज को ही अपने ऊपर लेना है शिक्षकों को उन उपायों को खोजना और अपनाना है जिनसे वे समाज को स्कूल की ओर आकर्षित कर सकें। निम्नलिखित उपायों से समाज को स्कूल की ओर आकर्षित किया जा सकता है :—

१—स्कूल में किये जाने वाले उत्सवों में माता-पिता तथा अभिभावकों को आमन्त्रित करते रहना।

२—स्कूल की प्रबन्धकारिणी समिति में समाज के प्रौढ़ व्यक्तियों को सदस्य बनाना।

३—स्कूल में कार्य किये जाने के समय माता-पिता को उसे देखने बुलाना और अवसर पर स्कूल के कुछ कार्यों में उन्हें भी भाग उत्साहित करना।

पा जाता था। परन्तु आज विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों की जटिलता के कारण व्यावसायिक शिक्षा अविधिक रूप से सरलता और सफलतापूर्वक नहीं दी जा सकती। अतः हमें ऐसे स्कूलों की भी स्थापना करनी है, जो व्यक्तियों को आवश्यक व्यावसायिक शिक्षा दे सकें।

३—देश में गणतन्त्र के स्थापन के कारण नागरिकों में गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों[1] के अनुसार जीवन-यापन हेतु कुछ कौशलों[2] का आना आवश्यक है। अतः व्यक्ति को नागरिकता का पाठ सिखलाने का उत्तरदायित्व स्कूल को अपने ही ऊपर लेना है।

४—आज व्यक्ति के नैतिक[3] शिक्षा का भी उत्तरदायित्व स्कूल को ही लेना है। पहले धार्मिक संस्थाओं तथा कुटुम्ब द्वारा व्यक्ति को यह शिक्षा मिल जाया करती थी। परन्तु आजकल धार्मिक संस्थाओं में एकता का अभाव दिखलाई पड़ता है और संयुक्त[4] परिवार का भी विघटन आरम्भ हुआ जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में कुटुम्ब और धार्मिक संस्थाओं पर नैतिक शिक्षा के लिए निर्भर रहना कठिन है। अतः स्कूल को ही बालकों के नैतिक और चारित्रिक[5] शिक्षा की व्यवस्था करनी है।

५—स्कूल को केवल व्यक्ति को सभी भाँति से सफल जीवन बिताने के लिये ही तैयार नहीं करना है, वरन् उसे व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह सभ्यता के विकास में अपना योग दे सके, और फलतः संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती रहे। इस प्रकार स्कूल को ज्ञान के सभी अंगों में अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है और व्यक्ति के उच्चतम विकास के लिए प्रयत्न करना है।

गत पृष्ठों से स्पष्ट है कि स्कूल और समाज में घनिष्ठतम सम्बन्ध है। स्कूल एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना विविध सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है। अतः स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण समाज द्वारा ही किया जा सकता है। स्कूल की पाठ्यवस्तु समाज में चलने वाली क्रियाशीलताओं

1. Democratic Principles. 2. Skills. 3. Moral Education. 4. Joint Family. 5. Character Education.

की द्योतक होगी और शिक्षण-विधि बालक को यह सिखलायेगी कि वह अपने भावी जीवन में विभिन्न सामाजिक कार्यों में किस प्रकार भाग लेगा।

एक समाज की सांस्कृतिक मान्यतायें दूसरे समाज की मान्यताओं से भिन्न हो सकती हैं। अतः सभी स्कूलों के लिए किसी एक ही प्रणाली और उद्देश्य की बात नहीं कही जा सकती। स्कूल का समाज से अलग करना बड़ा हानिकर होगा, क्योंकि समाज से अलग होने पर वह व्यक्ति को उन मान्यताओं में शिक्षा दे सकता है जिनका जीवन से विशेष सम्बन्ध न होगा। सामाजिक रूप मे शिक्षा दे सकता है जिनका जीवन से विशेष सम्बन्ध न होगा। सामाजिक रूप और आवश्यकताओं के अनुसार स्कूल में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। कहना न होगा कि ग्राम्य और शहर के वातावरण में बड़ा भेद पाया जाता है। अतः ग्रामीण तथा शहरी वातावरण के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूल की आवश्यकता है।

यदि स्कूल को समाज का प्रतिनिधि होना है और उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करना है तो उसके लिए समाज का पूरा सहयोग आवश्यक है। यह सोचना गलत है कि स्कूल में शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल शिक्षकों पर ही है। वस्तुतः शिक्षा का उत्तरदायित्व तो पूरे समाज को ही अपने ऊपर लेना है शिक्षकों को उन उपायों को खोजना और अपनाना है जिनसे वे समाज को स्कूल की ओर आकर्षित कर सकें। निम्नलिखित उपायों से समाज को स्कूल की ओर आकर्षित किया जा सकता है :—

१—स्कूल में किये जाने वाले उत्सवों में माता-पिता तथा अभिभावकों को आमन्त्रित करते रहना।

२—स्कूल की प्रबन्धकारिणी समिति में समाज के प्रौढ़ व्यक्तियों को सदस्य बनाना।

३—स्कूल में कार्य किये जाने के समय माता-पिता को उसे देखने के लिए बुलाना और अवसर पर स्कूल के कुछ कार्यों में उन्हें भी भाग लेने के लिए उत्साहित करना।

१७
समाज और शिक्षा[1]

समाज क्या है ?

समाज का निर्माण मनुष्य ही करता है क्योंकि बिना समाज के उसका काम नहीं चल सकता। जब कुछ आदमी एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और अपने कुछ हितों की रक्षा के लिए परस्पर व्यवहार तथा आदान-प्रदान करते हैं तो वे अपने समाज का निर्माण करते हैं। केवल किसी जन-समुदाय को ही समाज का नाम दे देना ठीक नहीं। समाज में रहने वालों में एकत्व तथा परस्पर सम्बन्ध की भावना का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। जब किसी समुदाय के विभिन्न व्यक्ति एक दूसरे में रुचि का अनुभव करते हैं और अपने को दूसरों से कुछ भावनाओं से सम्बद्ध समझते हैं तो वे अपने को एक सामाजिक एकता के सूत्र में बाँधते हैं।

समाज के आकार की कोई सीमा नहीं। इसके आकार में दो व्यक्ति से लेकर सारे विश्व तक को लिया जा सकता है। एक बड़े समाज के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे समाज या इकाइयाँ हो सकती हैं और कोई एक व्यक्ति कई सामाजिक इकाइयों का सदस्य हो सकता है। विश्व-समाज में अनेक राष्ट्र, राष्ट्र के अन्दर विभिन्न प्रान्त, प्रान्त में जिला और नगर, जिला में गाँव, और नगर में मोहल्ले, सभा परिषद आदि विभिन्न सामाजिक इकाइयों के नाम लिए जा सकते हैं।

समाज का अपना एक आदर्श होता है। इस आदर्श की रक्षा करना प्रत्येक सदस्य अपना कर्तव्य समझता है। समाज का संगठन ऐसा होता है कि उसका

1. Society and Education.

सहायक पुस्तकें

१—ग्रॉलसन ऐण्ड मदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी, प्रेण्टिस हॉल, न्यूयार्क, १९४५।

२—डीवी, जॉन—स्कूल ग्रॉव टुमॉरो, ग्रध्याय ७, ८।

३—वीयर, राबर्ट एम०—द सोशल फक्शन ग्रॉव् एडुकेशन, पृ० ३-२०, ५७-७९, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९३७।

४—हार्ट, जोजेफ किनमाड—ए सोशल इटरप्रेटेशन ग्रॉव् एडुकेशन, हेनरी, हॉल्ट, न्यूयार्क, १९२९।

५—ब्लेक ऐण्ड एसोशिएट्स—सोशियालॉजिकल फाउण्डेशन्स ग्रॉव् एडुकेशन, ग्रध्याय १, टॉमस वाई० क्रामवेल, न्यूयार्क, १९४२।

६—मूर ऐण्ड कोल—सोशियालॉजी इन एडुकेशनल प्रैक्टिस, ग्रध्याय ८, हूटन मिफ्लिन, न्यूयार्क, १९५२।

७—कुक ऐण्ड कुक—सोशियालाजिकल ग्रप्रोच टु एडुकेशन।

उन्हें सामाजिक बनाना है। परन्तु उनके सामाजीकरण[1] की प्रतिक्रिया ऐसी हो कि उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो। किसी किसी सामाजिक व्यवस्था, जैसे रूस में बालक की शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व राज्य[2] अपने ही ऊपर ले लेता है। गणतन्त्रात्मक[3] व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति बालक के प्रति अपने दायित्व को निभाने की चेष्टा करता है। गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में समाज की सभी इकाइयाँ अपनी विभिन्न संस्थाओं द्वारा बालक की शिक्षा का आयोजन करती हैं, परन्तु ये संस्थायें बालक की शिक्षा के लिए राज्य के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अर्थात् गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में भी बालक के विकास और शिक्षा का उत्तरदायित्व 'राज्य' अपने ही ऊपर समझता है और साथ ही समाज भी अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए बालक की शिक्षा से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर

बालक ही समाज का भावी नागरिक होता है। अतः समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय। समाज को अपने इस उत्तरदायित्व का गम्भीरतापूर्वक पालन करना चाहिए। बालक के लिए ऐसे वातावरण का आयोजन करना है कि वह अपने समुचित विकास को स्वयं चलाकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करे। प्रत्येक सदस्य को सामाजिक बनाये रखने के प्रयत्न में समाज कभी-कभी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और यह देखा जाता है कि अनेक व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं, नियमों और रूढ़ियों में पड़ जाते हैं और उनका विकास कुण्ठित हो जाता है। ऐसी दशा में सामाजिक नियमों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को किसी सामाजिक दण्ड का भाजन बनना होता है हमारे देश में 'टाट' या 'बिरादरी' से बाहर किये जाने का डर कुछ लोगों में इतना समाया रहता है कि लोग कभी-कभी किसी अनुचित बात के विरुद्ध भी आवाज नहीं उठा पाते। इससे व्यक्ति का निजत्व मर जाता है और समाज की प्रगति रुक जाती है व्यक्ति के सामाजीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि वह समाज का एकदम दास हो जाय

1. Socialization. 2. State. 3. Democratic set-up.

सदस्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता हुआ भी समाज हित पर पूरा ध्यान रख सकता है। डाक्टर, इन्जीनियर, शिक्षक, कलाकार तथा संगीतज्ञ आदि होता हुआ भी व्यक्ति अपने क्षेत्र में समाज के आदर्श के अनुसार कार्य कर सकता है, समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी होता है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन के सभी अङ्ग आ जाते हैं।"[1]

समाज की परिभाषा—

'समाज' की परिभाषा विभिन्न रूप से की जाती है और किसी विशिष्ट सदर्भ में ये विभिन्न परिभाषायें प्रायः उपयुक्त भी होती हैं। इस अध्याय में समाज का अर्थ हम एक ऐसे जन-समुदाय से समझेंगे जो भौगोलिक दृष्टि से एक ही क्षेत्र में रहता है और जो कुछ सामान्य अनुभवों और संस्कृति का पोषक होता है। सर्व साधारण के हित के लिये यह समुदाय कुछ संस्थाओं को चलाता है और इसे एक स्थानीय एकता की चेतना सदा बनी रहती है। किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में यह जन-समुदाय एक इकाई में काम करता है।

बालक की शिक्षा के लिए समाज का उत्तरदायित्व

व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज का निर्माण व्यक्ति ही करता है, परन्तु समाज का प्रभाव उस पर भी हर समय पड़ा करता है। समाज के एक सदस्य हो जाने नाते व्यक्ति सामाजिक आदर्शों तथा परम्पराओं से इतना घिर जाता है कि उनके प्रतिकूल जाने पर उसकी प्रायः निन्दा की जाती है और वह अनैतिक कहा जाता है। समाज के प्रभाव से परिवर्तित और परिवर्द्धित व्यक्ति को ही तो शिक्षित कहा जाता है। कुटुम्ब, स्कूल और राज्य सभी विभिन्न कोटि की सामाजिक संस्थायें हैं और इन सबका बालक के विकास पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बालक का जैसा वातावरण होता है उसी के अनुसार बहुत सी बातें बालक अनजान में ही सीख लेता है। अतः जिन पर बालकों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व है उन्हें देखना है कि उनका वातावरण ऐसा हो कि उन पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। वस्तुतः बालकों के प्रति हमारा कर्तव्य है

१. लेखक का "मनोविज्ञान और शिक्षा" पृ० ३३०, द्वि० सं०, लक्ष्मीनारायण आगरा, १९५६।

उन्हें सामाजिक बनाना है । परन्तु उनके सामाजीकरण[1] की प्रतिक्रिया ऐसी हो कि उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो । किसी किसी सामाजिक व्यवस्था, जैसे रूस में बालक की शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व राज्य[2] अपने ही ऊपर ले लेता है । गणतन्त्रात्मक[3] व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति बालक के प्रति अपने दायित्व को निभाने की चेष्टा करता है । गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में समाज की सभी इकाइयाँ अपनी विभिन्न संस्थाओं द्वारा बालक की शिक्षा का आयोजन करती हैं, परन्तु ये संस्थायें बालक की शिक्षा के लिए राज्य के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अर्थात् गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में भी बालक के विकास और *शिक्षा का उत्तरदायित्व 'राज्य' अपने ही ऊपर समझता है* और साथ ही समाज भी अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए बालक की शिक्षा से अपने को मुक्त नहीं कर सकता ।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर

बालक ही समाज का भावी नागरिक होता है । अतः समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय । समाज को अपने इस उत्तरदायित्व का गम्भीरतापूर्वक पालन करना चाहिए । बालक के लिए ऐसे वातावरण का आयोजन करना है कि वह अपने समुचित विकास को स्वयं चलाकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करे । प्रत्येक सदस्य को सामाजिक बनाये रखने के प्रयत्न में समाज कभी-कभी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और यह देखा जाता है कि अनेक व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं, नियमों और रूढ़ियों में पड़ जाते हैं और उनका विकास कुण्ठित हो जाता है । ऐसी दशा में सामाजिक नियमों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को किसी *सामाजिक दण्ड का भाजन बनना होता है* हमारे देश में 'टाट' या 'बिरादरी' से बाहर किये जाने का डर कुछ लोगों में इतना समाया रहता है कि लोग कभी-कभी किसी अनुचित बात के विरुद्ध भी आवाज नहीं उठा पाते । इससे व्यक्ति का निजत्व मर जाता है और समाज की प्रगति रुक जाती है व्यक्ति के सामाजीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि वह समाज का एकदम दास हो जाय

1. Socialization. 2 State. 3. Democratic set up.

और उसके दोषों को दूर करने की चेष्टा न करे। वस्तुतः समाज का वातावरण इतना खुला होना चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुँचने के लिये प्रयत्न कर सके और किसी के व्यक्तित्व का हनन न हो। व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों परस्पर सहयोग तथा सामञ्जस्य से कार्य करें और दोनों एक दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति समझें। इस प्रकार व्यक्ति और समाज अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं।

स्कूल और समाज में सहयोग आवश्यक

जैसे व्यक्ति और समाज में सहयोग की आवश्यकता है उसी प्रकार समाज की विभिन्न इकाइयों में भी सहयोग का होना आवश्यक है। कुटुम्ब तथा स्कूल और स्कूल तथा समाज में सहयोग के अभाव में व्यक्ति के विकास के लिए समुचित वातावरण का आयोजन नहीं हो सकेगा। कुटुम्ब तथा समाज में सहयोग की समस्या उतनी जटिल नहीं है जितनी कि कुटुम्ब और स्कूल के सहयोग की समस्या हो जाती है, क्योंकि कुटुम्ब का सदस्य समाज का सदस्य होता ही है। परन्तु स्कूल तथा समाज में अभी सन्तोषजनक सहयोग का अभाव दिखलाई पड़ता है। सविधिक शिक्षा तथा विविध शिक्षण-प्रणालियों के कारण अब स्कूल समाज में एक पृथक् संस्था अथवा संगठन समझा जाता है। स्कूल में एक दूसरे ही प्रकार के सामाजिक वातावरण के निर्माण की चेष्टा की जाती है। फलतः स्कूल में कृत्रिमता आ गई है और वह अभी तक समाज का एक वास्तु अङ्ग भी सुचारु रूप से नहीं बन पाया है। वास्तविक समाज और स्कूल के कृत्रिम समाज की खाई कभी-कभी इतनी चौड़ी हो जाती है कि बालक को दो प्रकार के वातावरण में से होकर चलना पड़ता है। फलतः उसके व्यवहार-संगठन[1] में सामञ्जस्य[2] नहीं आ पाता। अतएव डीवी तथा अन्य शिक्षा शास्त्री स्कूल तथा समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देते नहीं थकते। डीवी तो यहाँ तक कह जाता है कि स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि होना है, अर्थात् स्कूल की क्रियाशीलताओं में समाज में चलने वाले सभी उद्योग-धन्धों तक कार्यों की स्पष्ट झलक होनी चाहिए।

---

1. Behaviour organization, 2. Harmony.

स्कूल को समाज से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाज के विकास के लिए स्कूल एक आवश्यक संस्था है। स्कूल के छात्र तथा शिक्षक समाज के सदस्य होते हैं और अपने-अपने विभिन्न सम्पर्क के साथ समाज की विभिन्न समस्याएँ तथा प्रभाव स्कूल में लाते हैं। अभिभावकगण भी अपनी बातों और भावनाओं द्वारा स्कूल पर बाह्य समाज का प्रभाव डालते हैं। तथापि स्कूल और समाज के बीच में स्पष्ट खाई दिखाई पड़ती है, क्योंकि स्कूल का वातावरण कृत्रिम हो गया है। स्कूल में जो कुछ पढ़ाया जाता है उसका जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। अतः शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ नहीं होता और बेकारी के शिकंजे पर उसे करवटें बदलनी होती हैं। स्कूल को समाज के निकटतर लाने से ही व्यक्तियों में हम आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता ला सकते हैं, क्योंकि तब वे समाज और साथ ही अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने को तैयार करने में सफल होंगे। स्कूल को बाह्य समाज से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हमें अवश्य करना चाहिए। इस हेतु यह आवाज उठाई गई है कि स्कूल का पाठ्यक्रम ऐसा हो कि वह सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। यह भी राय दी गई है कि स्कूल में समय-समय पर अभिभावकों को आमन्त्रित कर उन्हें स्कूल की कार्य प्रणाली समझानी चाहिये जिससे वे स्कूल के कार्य में रुचि लेने लगें। विशिष्ट समारोहों के अवसर पर आमन्त्रित होने पर अभिभावकगण यह समझने लगेंगे कि स्कूल उनका आदर करता है। अच्छा होगा कि कभी-कभी शिक्षक बालकों के घर स्वयं जाकर उनकी (बालकों की) कठिनाइयों के सम्बन्ध में अभिभावकों से बात कर उन्हें समझने तथा सुलझाने का प्रयत्न करें। शिक्षाविदों का कहना है कि शिक्षकों को अपने निकट समाज के सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। इसके लिये उन्हें समय-समय पर अपने समाज में छोटे-छोटे कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। इस प्रकार स्कूल अपना स्वस्थकर प्रभाव समाज पर भी डालता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज और स्कूल में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये दो विधियों का सहारा लिया जा सकता है। एक विधि यह जान पड़ती है कि स्कूल को सामाजिक जीवन का

ौर उसके दोषों को दूर करने की चेष्टा न करे। वस्तुतः समाज का वातावरण
ऐसा खुला होना चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुँचने के
लिये प्रयत्न कर सके और किसी के अधिकार का हनन न हो। व्यक्ति और
समाज दोनों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों परस्पर सहयोग तथा
सामंजस्य से कार्य करें और दोनों एक दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति
समझें। इस प्रकार व्यक्ति और समाज अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे पर
निर्भर हैं।

स्कूल और समाज में सहयोग आवश्यक

जैसे व्यक्ति और समाज में सहयोग की आवश्यकता है उसी प्रकार समाज
की विभिन्न इकाइयों में भी सहयोग का होना आवश्यक है। कुटुम्ब तथा स्कूल
और स्कूल तथा समाज में सहयोग के अभाव में व्यक्ति के विकास के लिए अनु-
चित वातावरण का आयोजन नहीं हो सकता। कुटुम्ब तथा समाज में सहयोग
की समस्या उतनी जटिल नहीं है जितनी कि कुटुम्ब और स्कूल के सहयोग की
समस्या हो जाती है, क्योंकि कुटुम्ब का सदस्य समाज का सदस्य होता ही है।
परन्तु स्कूल तथा समाज में अभी सन्तोषजनक सहयोग का अभाव दिखलाई
पड़ता है। सविधिक शिक्षा तथा विविध शिक्षण-प्रणालियों के कारण अब स्कूल
समाज में एक पृथक् संस्था अथवा संगठन समझा जाता है। स्कूल में एक दूसरे
ही प्रकार के सामाजिक वातावरण के निर्माण की चेष्टा की जाती है। फलतः
स्कूल में कृत्रिमता आ गई है और वह अभी तक समाज का एक बाह्य अङ्ग भ
सुचारु रूप से नहीं बन पाया है। वास्तविक समाज और स्कूल के कृत्रिम समाज
की खाई कभी-कभी इतनी चौड़ी हो जाती है कि बालक को दो प्रकार के वाता-
वरण में से होकर चलना पड़ता है। फलतः उसके व्यवहार-संगठन[1] में
सामंजस्य[2] नहीं आ पाता। अतएव: डीवी तथा अन्य शिक्षा शास्त्री स्कूल तथा
समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देते नहीं थकते। डीवी तो यहाँ तक कह
जाता है कि स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि होना है, अर्थात् स्कूल की
क्रियाशीलताओं में समाज में चलने वाले सभी उद्योग-धन्धों तक कार्यों की स्पष्ट
क होनी चाहिए।

1. Behaviour organization. 2. Harmony.

स्कूल को समाज से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाज के विकास के लिए स्कूल एक आवश्यक संस्था है। स्कूल के छात्र तथा शिक्षक समाज के सदस्य होते हैं और अपने-अपने विभिन्न व्यक्तित्व के साथ समाज की विभिन्न समस्यायें तथा प्रभाव स्कूल में लाते हैं। अभिभावकगण भी अपनी मांगों और अपेक्षाओं द्वारा स्कूल पर वाह्य समाज का प्रभाव डालते हैं। तथापि स्कूल और समाज के बीच में स्पष्ट खाई दिखलाई पड़ती है, क्योंकि स्कूल का वातावरण कृत्रिम हो चला है। स्कूल में जो कुछ पढ़ाया जाता है उससे जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। फलतः शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ नहीं होता और बेकारी के बिछौने पर उसे करवटें बदलनी होती हैं। स्कूल को समाज के निकटतर लाने से ही व्यक्तियों में हम आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता ला सकते हैं, क्योंकि तब वे समाज और साथ ही अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने को तैयार करने में सफल होंगे। स्कूल को वाह्य समाज से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हमें अवश्य करना चाहिए। इस हेतु यह आवाज उठाई गई है कि स्कूल का पाठ्यक्रम ऐसा हो कि वह सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। यह भी राय दी गई है कि स्कूल में समय-समय पर अभिभावकों को आमन्त्रित कर उन्हें स्कूल की कार्य-प्रणाली समझानी चाहिये जिससे वे स्कूल के कार्य में रुचि लेने लगें। विशिष्ट समारोहों के अवसर पर आमन्त्रित होने पर अभिभावकगण यह समझने लगेंगे कि स्कूल उनका आदर करता है। अच्छा होगा कि कभी-कभी शिक्षक बालकों के घर स्वयं जाकर उनकी (बालकों की) कठिनाइयों के सम्बन्ध में अभिभावकों से बात कर उन्हें समझने तथा सुलझाने का प्रयत्न करें। शिक्षाविदों का कहना है कि शिक्षकों को अपने निकट समाज के सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। इसके लिये उन्हें समय-समय पर अपने समाज में छोटे छोटे कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। इस प्रकार स्कूल अपना स्वस्थकर प्रभाव समाज पर भी डालता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज और स्कूल में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये दो विधियों का सहारा लिया जा सकता है। एक विधि यह जान पड़ती है कि स्कूल को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया

जाय । हमारे देश में पहले शिक्षालय सामाजिक जीवन के केन्द्र हुआ करते थे। स्कूल का अध्यापक गाँव का प्रायः मुखिया हुआ करता था और सामाजिक समारोह तथा उत्सव बहुधा स्कूल पर ही हुआ करते थे। फलतः स्कूल और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। स्कूल के कार्यों में जन साधारण का विश्वास होता था और जनसाधारण को अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में स्कूल को नेतृत्व मिला करता था। परन्तु आज की स्थिति कुछ और ही है। आज जनसाधारण का प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में विश्वास नहीं है। फलतः स्कूल को जनता का पूरा सहयोग प्राप्त नहीं है और आज की शिक्षा हमारी सामाजिक आवश्यकताओं से बहुत दूर दिखलाई पड़ती है। इस स्थिति में वांछित परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि स्कूल को सामाजिक जीवन का केन्द्र बनाया जाय।

समाज और स्कूल में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दूसरी विधि यह है कि स्कूल को ही समाज में लाया जाय, अर्थात् अध्यापक तथा विद्यार्थीगण समाज में आकर उस पर अपना शैक्षिक प्रभाव फैलावें। इस प्रक्रिया में समाज तथा अध्यापक और विद्यार्थी का भी हित होगा, क्योंकि वे स्वयं समाज की अच्छाइयों को अपने व्यवहार तथा चरित्र में अपनाने का प्रयत्न करेंगे। इससे समाज स्कूल की उपयोगिता को समझने लगेगा और शिक्षित व्यक्तियों में समाज-सेवा की भावना का प्रादुर्भाव होगा।

हमारे देश में आज शिक्षा की बड़ी कमी है। फलतः बहुत से लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में समाज हित में हाथ बटाना उनके लिए यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन है। देश में स्थापित जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि लोगों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान हो और तदनुसार बनने के लिये वे तैयार हों। ऐसी स्थिति पैदा करने के लिये सर्व प्रथम हमें स्कूल से ही अपना कार्य प्रारम्भ करना होगा, क्योंकि यही एक ऐसी संस्था है जिससे होकर सभी भावी नागरिक ऐसे समय पर (अर्थात् अपने बचपन में) गुजरते हैं जब कि उन पर अधिक सरलता से प्रभाव डाला जा सकता है। ऐसी स्थिति लाने के लिए हमें बालकों को यह
...ती है कि स्कूल समाज का एक अभिन्न अंग है और स्कूल में जो कुछ
समाज हित से सीधा सम्बन्ध है, अतः स्कूल की उन्नति तथ

समाज-हित के पक्ष में सबको अपना-अपना योग यथाशक्ति देना है। इस भा को देने के लिये स्कूल के पाठ्यक्रम का विकास और संगठन स्थानीय जीवन आवश्यकताओं के आधार पर करना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है अध्यापक और विद्यार्थी अपने समाज की दशा से अच्छी तरह परिचित रहें अपने सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लें। आज हमारे भारत की शि समस्याओं में सबसे प्रमुख समस्या यही है कि शिक्षा को जीवन से कैसे सम्बन्धि किया जाय, स्कूल में समाज और देश के प्रति सद्भावना और सहानुभूति पैदा की जाय, तथा स्कूलों का सङ्गठन कैसे किया जाय कि वे समाज समस्याओं के सुलझाने में आवश्यक सहायता दें।

समाज के कुछ शैक्षिक कर्तव्य[1]

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि आज के जनतन्त्र के युग में स्कूल को सम के अति निकट लाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। परन्तु इसके साथ ही स समाज का भी व्यक्ति के विकास के हित में कुछ कर्तव्य हो जाता है। कर्तव्य व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के सम्बन्धित है। यदि समाज व्यक्ति सर्वाङ्गीण विकास पर ध्यान देगा तो प्रत्येक सामाजिक संस्था किसी न कि रूप में एक शिक्षा-संस्था का काम करेगी। तब व्यक्ति के साधारण जीवन-क्र में ही उसकी शिक्षा चलती रहेगी। अब यहाँ व्यक्ति के हित में समाज के कु कर्तव्यों की चर्चा की जायगी। इस चर्चा से समाज के शैक्षिक कर्तव्यों का कुछ स्पष्टीकरण हो जायगा।

जिस प्रकार स्कूल स्थापित कर समाज बालक के मानसिक विकास के लि आवश्यक उपकरणों का आयोजन करता है उसी प्रकार समाज को बालक के शारीरिक विकास पर भी समुचित ध्यान देना है। इसके लिये स्थान-स्थान पर व्यायामशाला, अखाड़ा, खेल-कूद के मैदान, घूमने के लिये पार्क और उद्यान, चिकित्सा के लिये चिकित्सालयों की स्थापना तथा औषधि और चिकित्सा-सहायता का समुचित वितरण, स्वस्थ रहने तथा बीमारियों से बचने के लिये आवश्यक साधनों को व्यक्ति के लिए सुलभ करना, पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करना,

1. Some Educational Duties of the

समस्याओं पर निर्णय लेने के लिये उनमें सामर्थ्य आ सके। इस सामर्थ्य को पैदा करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं, प्रेस, रेडियो, पुस्तकालय तथा नाट्यशाला आदि साधनों का सहारा समाज ले सकता है। वर्तमान युग में इन सब साधनों का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थल है। व्यक्ति के लिये इन सब साधनों का सुलभ करना समाज का कर्तव्य है।

हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है। साधारण जनता को शिक्षित करना भी समाज का कर्तव्य है। प्रौढ़ स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा की व्यवस्था 'सामाजिक शिक्षा'[1] अथवा 'प्रौढ़ शिक्षा'[2] के नाम पर किये जाने का प्रयत्न कुछ दिनों से हमारे देश में किया जा रहा है। सामाजिक शिक्षा अथवा प्रौढ़ शिक्षा का तात्पर्य प्रौढ़ों को केवल साक्षर बनाने का ही नहीं है। साक्षरता केवल साधन है, और इसके सहारे व्यक्ति को शिक्षित करना है। शिक्षित करने का तात्पर्य प्रौढ़ व्यक्ति को प्रतिदिन की आवश्यकताओं, स्वच्छता, देश-विदेश की बातों तथा क्रिया कलापों का ज्ञान देना है, क्योंकि इसी ज्ञान के सहारे वह नागरिक के कर्तव्यों का पालन कर सकता है। अपने देश की असंख्य जनता को शिक्षित करने का उत्तरदायित्व समाज को लेना है।

समाज के रहने वाले व्यक्तियों की नैतिकता पर ही किसी समाज की नींव टिक सकती है। यदि व्यक्तियों में दुश्चरित्रता की प्रचुरता आ गई तो समाज अपना नाश स्वयं कर बैठेगा। अतः समाज में विनय, सहयोग, नम्रता, धैर्य, उदारता, सहिष्णुता, तथा कर्तव्यपरायणता आदि का नैतिक वातावरण होना चाहिये। यदि समाज ऐसा वातावरण उपस्थित कर सका तो व्यक्ति स्वयं इन गुणों को अपना लेगा। आजकल हमारे देश में चोर बाजार, व्यापारियों और दूकानदारों की बेइमानी तथा कार्यकर्ताओं की कामचोरी इसीलिये पाई जाती है क्योंकि समाज उन्हें सहन करता है। राज्य-नियम के आधार पर इन बुराइयों को दूर नहीं किया जा सकता। इन बुराइयों को दूर करने के लिये एक नैतिक वातावरण का निर्माण करना समाज का कर्तव्य है। यदि समाज अपने इस कर्तव्य का पालन कर सका तो व्यक्ति सच्चरित्रता की शिक्षा स्वतः पाता रहेगा।

---

1. Social Education. 2. Adult Education.

आदि-आदि समाज का कर्तव्य है। यह कर्तव्य केवल बालकों के ही सम्बन्ध में नहीं, वरन् वृद्ध, युवा तथा स्त्री-पुरुष सभी के लिये होना चाहिये, चाहे व्यक्ति कारखाने, कार्यालय, खेत अथवा कहीं भी काम करता हो।

शारीरिक विकास के अतिरिक्त समाज को बालक के व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना है। इस प्रबन्ध के ही फलस्वरूप-समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होकर अपने में आत्म-निर्भरता और परमार्थ की भावना का विकास कर सकेगा। किसी भी समाज का स्थायित्व उसके सदस्यों में इन भावनाओं पर बहुत हद तक निर्भर करता है। व्यक्ति में इन भावनाओं को लाने के लिये बचपन से ही प्रयत्न करना चाहिये। आत्म-निर्भरता लाने के लिये बचपन से ही व्यक्ति को हस्तकला तथा किसी कला-कौशल में शिक्षा दी जानी चाहिए। बहुत से अग्रगण्य देशों में व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं का संचालन समाज ही करता है और इन संस्थाओं का उनकी शिक्षा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है।

हमारे देश में शिक्षित नवयुवकों को अपने हाथ से काम करने में झिझक होती है। अभी वे शारीरिक परिश्रम के महत्व को ठीक ठीक नहीं समझ पाये हैं। हमारा देश कृषिप्रधान होते हुए भी अपनी आवश्यकता भर अन्न नहीं उत्पन्न कर पाता। अतः समाज के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति को शारीरिक परिश्रम का महत्व समझाये और कृषि-सुधार की योजनायें बनाये जिससे देश की आर्थिक कठिनाई का समाधान हो सके। कुछ पाश्चात्य देशों में समाज स्वयं जागृत दिखलाई पड़ता है। हमारे देश में भी इस दिशा में अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए समाज को आगे बढ़ना चाहिये। परन्तु इसका तात्पर्य समाज को धन-संचय तथा भौतिकता का आधार नहीं देना है। जीवन में 'धन' साधन है, साध्य नहीं। अतः हमारा दृष्टिकोण सन्तुलित होना चाहिये।

समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों में विचार-स्वातन्त्र्य को प्रश्रय दे। इसके लिये बहुत प्रारम्भ से ही बालक के मानसिक विकास पर पूरा ध्यान देना होगा। बिना समझे दूसरों के विचारों का अक्षरशः पालन करने की प्रवृत्ति बड़ी ही घातक है, क्योंकि इससे व्यक्ति का नैतिक पतन हो जाता है। बालकों का मानसिक विकास ऐसे वातावरण में हो कि पाने का दर विषय से विषय

सुन्दर जीवन-यापन के अभ्यस्त हो जायँ। कहना न होगा कि इस दिशा में नगर-पालिकाओं का विशेष कर्तव्य है।

धर्म के प्रति भी समाज का अपना कुछ विशेष कर्तव्य है। हाँ, यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, परन्तु प्रत्येक धर्म का एक सामाजिक रूप भी होता है और इस सामाजिक रूप का अर्थ लोक-कल्याण के हेतु उच्च आदर्शों का निर्माण। सर्वप्रथम समाज को धार्मिक सहिष्णुता का बीज बोना है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म के अनुसरण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जीवन में धर्म का विशेष महत्व है, क्योंकि वह इसके सहारे अपने विभिन्न कर्तव्यों का ज्ञान करता है। यदि वास्तव में व्यक्ति धार्मिक हुआ तो उसमें सहयोग, भ्रातृत्व, समाज-सेवा, परमार्थ और विश्वबन्धुत्व का भाव कूट-कूट कर भरा रहेगा। इन सब भावनाओं के अभाव में उसे समाज का आदर्श सदस्य नहीं कहा जा सकता। अतः समाज का कर्तव्य है कि वह स्वयं उच्च आदर्शों पर स्थित होते हुए व्यक्ति के धार्मिक विकास में किसी प्रकार की अड़चन न डाले। समाज का अपना कोई निजी धर्म नहीं होना चाहिए और न उसे व्यक्तियों को किसी विशिष्ट धर्म के अनुसरण के लिए बाध्य ही करना चाहिए।

यदि समाज उपर्युक्त प्रयत्नों के अनुसार चल सका तो वह निश्चय ही अपने शैक्षिक कर्तव्यों का पालन कर सकेगा। उसके शैक्षिक कर्तव्यों के पालन में ही उसका तथा व्यक्ति का कल्याण निहित है।

बालक का समाजीकरण[1]

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसे सर्वप्रथम बालक घर पर सीखता है। इसके बाद खेल में साथियों से अथवा स्कूल में विभिन्न प्रकार के व्यवहार-प्रणालियाँ वह ज्ञान या अनजान में हृदयगम करता है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है उसके बड़े लोग समाज की सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार उसे आचरण करना सिखलाते हैं। इस प्रकार उसे अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता इस पूरे प्रक्रिया को व्यक्ति के दृष्टिकोण से 'व्यक्तित्व का विकास'[2]

1. Socialization of the child, 2. Development of .

समाज को अपने आदर्श बहुत ऊँचे रखने चाहिए, जिससे उनका कभी पतन न हो सके। जिस समाज का आदर्श ऊँचा होता है वहाँ ईमानदारी, चरित्र, आत्मसम्मान, स्वावलम्बन के आधार पर ही व्यक्ति माने जाते हैं न कि अच्छे अच्छे पोशाक तथा बाह्य सौन्दर्य के आधार पर नैतिकता के आधार पर व्यक्ति का जीवन सुखी हो सकता है। अतः उपर्युक्त आदर्शों के आधार पर समाज को ऊँचे आदर्शों की ओर प्रगतिशील होना चाहिए।

बालकों में सौन्दर्यानुभूति की भावना का देना भी समाज का कर्तव्य है। सौन्दर्यानुभूति द्वारा बालक लोक-मर्यादा को समझ कर तदनुसार आचरण दिखलाने में सफल हो सकता है। लोक-मर्यादा के अनुसार चलने से ही वह लोक-कल्याण की भावना हृदयगम कर सकता है। सौन्दर्यानुभूति के लिए संगीत, चित्रकला तथा नृत्य आदि जैसी ललित कलाओं के रसास्वादन के लिये बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। परन्तु साथ ही साथ समाज को यह भी प्रयत्न करना है कि व्यक्ति विविध कलाओं की सार्थकता जीवन की उन्नति में ही समझ सके। जिस कलाकार के व्यवहार में कला अथवा सौन्दर्य नहीं, अर्थात् जिस कलाकार के जीवन और व्यवहार में उदारता, सहिष्णुता, नम्रता तथा विनय नहीं उसे वास्तविक कलाकार नहीं कहा जा सकता। उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपने जीवन मे सौन्दर्यानुभूति की है। जीवन में सौन्दर्यानुभूति का तात्पर्य जीवन के सभी कार्य "सत्य शिव और सुन्दरम्" के रस में पगने से है। यदि सौन्दर्यानुभूति का अनुवाद जीवन में किया जायगा तो उसका अर्थ घर, गाँव तथा मुहल्ले आदि की स्वच्छता, अपने वातावरण में सौन्दर्य स्थलो का निर्माण, सुन्दर सरोवर तथा उद्यान के विकास से होगा। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति करने से सादा जीवन ही सुन्दरमय हो जायगा और सामाजिक जीवन प्रत्येक के लिए सुखमय हो जायगा। हमारे देश में इस प्रकार की सौन्दर्यानुभूति की बडी ही आवश्यकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ लोग प्रकृति द्वारा दी हुई सुन्दर वस्तु को अपनी गन्दी आदतो के कारण गन्दा कर देते हैं। लड़ाई-झगड़ो से शान्त वातावरण को हम अशान्त बना डालते हैं। अतः इस दिशा में समाज को विशेष रूप से क्रियाशील होना पडेगा जिससे लोग

सुन्दर जीवन-यापन के अभ्यस्त हो जाँय। कहना न होगा कि इस दिशा में नगर पालिकाओं का विशेष कर्तव्य है।

धर्म के प्रति भी समाज का अपना कुछ विशेष कर्तव्य है। हाँ, यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, परन्तु प्रत्येक धर्म का एक सामाजिक रूप भी होता है और इस सामाजिक रूप का अर्थ लोक-कल्याण के हेतु उच्च आदर्शों का निर्माण। सर्वप्रथम समाज को धार्मिक सहिष्णुता का बीज बोना है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म के अनुसरण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जीवन में धर्म का विशेष महत्व है, क्योंकि वह इसके सहारे अपने विभिन्न कर्तव्यों का ज्ञान करता है। यदि वास्तव में व्यक्ति धार्मिक हुआ तो उसमें सहयोग, भ्रातृत्व, समाज-सेवा, परमार्थ और विश्वबन्धुत्व का भाव कूट-कूट कर भरा रहेगा। इन सब भावनाओं के अभाव में उसे समाज का आदर्श सदस्य नहीं कहा जा सकता। अतः समाज का कर्तव्य है कि वह स्वयं उच्च आदर्शों पर स्थित होते हुए व्यक्ति के धार्मिक विकास में किसी प्रकार की अड़चन न डाले। समाज का अपना कोई निजी धर्म नहीं होना चाहिए और न उसे व्यक्तियों को किसी विशिष्ट धर्म के अनुसरण के लिए बाध्य ही करना चाहिए।

यदि समाज उपर्युक्त प्रयत्नों के अनुसार चल सका तो वह निश्चय ही अपने शैक्षिक कर्तव्यों का पालन कर सकेगा। उसके शैक्षिक कर्तव्यों के पालन में ही उसका तथा व्यक्ति का कल्याण निहित है।

बालक का समाजीकरण[1]

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसे सर्वप्रथम बालक घर पर सीखता है। इसके बाद खेल में साथियों से अथवा स्कूल में विभिन्न प्रकार के व्यवहार-प्रणालियाँ वह जान या अनजान में हृदयगम करता है। ज्यों-ज्यों वह पढ़ता है उसके बड़े लोग समाज की सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार उसे आचरण करना सिखलाते हैं। इस प्रकार उसे अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता है। इस पूरे प्रक्रिया को व्यक्ति के दृष्टिकोण से 'व्यक्तित्व का विकास'[2] कहा जा

1. Socialization of the child. 2. Development of Personality.

सकता है और सामाजिक उद्देश्यों की दृष्टि से बालक का समाजीकरण कहा जा सकता है। अपने समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति को यह भी बोध होने लगता है कि यदि वह सर्वमान्य परम्पराओं और आदर्शों के अनुसार चलने में विफल हुआ तो उसका परिणाम क्या होगा। इस परिणाम के अनुमान से वह अपने को एक प्रकार के 'सामाजिक नियन्त्रण'[1] में पाता है। स्कूल तथा अन्य शैक्षिक संस्थायें बालक के समाजीकरण में सहायक होती हैं और परस्पर सम्पर्क से वह सामाजिक बन्धन का अर्थ ठीक ठीक समझने लगता है। बालक का समाजीकरण करना ही स्कूल तथा शैक्षिक संस्थाओं और समाज का कर्तव्य होना चाहिए।

• समाज तथा स्कूल में सहयोग[2]

बहुत से पाश्चात्य देशों में समाज स्कूलों के कार्यों में बड़ी रुचि रखता है। यद्यपि पाठ्यक्रम की रूपरेखा राज्य द्वारा निर्धारित कर दी जाती है, तथापि स्थानीय जन-समुदाय अपना प्रभाव स्कूल के कार्यक्रम पर डालता ही है। साल में जितने महीने, महीने में जितने दिन और दिन में जितने घण्टे बालक स्कूल में रहता है उसका बालक के घर-सम्बन्धी कार्य अथवा रुचि तथा उसके मनोरञ्जन-सम्बन्धी कार्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः स्कूल तथा घर में कभी कभी प्रतिद्वन्दिता की भावना का आ जाना कठिन नहीं। इस प्रतियोगिता की भावना-वश माता पिता बालक को कभी अपनी रुचियों की ओर खींचने का प्रयत्न कर सकते हैं। माता-पिता का जान या अनजान में ऐसा प्रयास बालक के विकास के हित में घातक होगा। अतः स्कूल को अपना कार्यक्रम ऐसी नीति से चलाना है कि घर के लोगों में इस प्रतियोगिता-भावना की उत्पत्ति न हो। गृह-शास्त्र तथा गृह प्रबंधशास्त्र ऐसे विषयों को अपने कार्यक्रम में स्थान देकर स्कूल अपने निकट समाज का सहयोग सरलता से प्राप्त कर सकता है।

अपने कार्य में समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए स्कूल को समाज की भावना[3] का अध्ययन करना चाहिये। बहुत ही कम शिक्षक यह जानते हैं कि

---

1. Social control. 2. Cooperation between the society and the school. 3. Attitude.

स्कूल और शिक्षा के प्रति उनके समाज की भावना क्या है। इस भावना के ज्ञान की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। 'यह स्कूल का उत्तरदायित्व है कि वह अपने कार्यों के प्रति समाज की भावना का अध्ययन करे।'[1] स्कूल में आये हुए बालकों की भावना में समाज का प्रौढ़ लोगों की भावना का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु सबसे अच्छा यह होगा कि शिक्षकगण स्वयं समाज में जाकर अपने कार्यों और कार्यक्रमके प्रति समाज की भावना का अध्ययन करें। इसके अतिरिक्त जनसाधारण के सदस्यों को भी स्कूल-कार्यों को देखने के लिये समय-समय पर आमन्त्रित करना चाहिये। इस ओर ऊपर भी गत अध्याय में संकेत किया जा चुका है।

प्रत्येक समाज बालकों के विकास के लिए समान अवसरों की सुलभ नहीं कर सकता और प्रत्येक स्कूल समाज तथा बालक के सुधार के लिए विविध साधनों का आयोजन ही कर सकता है। अतः समाज तथा विभिन्न स्कूलों में परस्पर-सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। शहर तथा गाँवों के स्कूलों को सामाजिक आयोजनों का केन्द्र बनाना चाहिए और प्रौढ़ों के मनोरंजन तथा विकास के लिए आवश्यक साधनों का संगठन करना चाहिए। गाँव के स्कूलों में कृषि-सम्बंधी शिक्षा प्रौढ़ों के सहयोग में प्रदान की जा सकती है। इससे कुछ स्थानीय समस्याओं का भी निराकरण होता रहेगा। स्थानीय समस्याओं का विस्तार भूमि रक्षा[2] से सहकारी क्रय-विक्रय[3] तक हो सकता है। वस्तुतः इसका विस्तार स्थानीय समस्याओं और स्कूल में उपलब्ध सुविधाओं पर निर्भर करेगा।

समाज और शिक्षा में घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिये हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१—सवप्रथम स्थानीय जनसमुदाय की प्रधान आवश्यकताओं का पता लगाना चाहिए। तब अन्य बातों को छोड़ सबसे पहले उन्हीं को पूरा करने का स्कूल को प्रयत्न करना चाहिए।

---

1. Warren C. Seyfert, "What the Public thinks of its school" School Review, 1930, Vol. 48, p. 417. 2. Soil-preservation. 3. Co operative marketing.

२—समाज में उपलब्ध शैक्षिक सामग्री[1] का पता लगाना तथा उनका सदुपयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कृषि, खेत, घर, दुकानें, बगीचे तथा प्रयोगशालाएँ[2] होनी चाहिए और समाज में कार्य करने वालों की सहायता स्कूल शिक्षाओं में करनी चाहिए।

३—राज्य में वर्तमान सभी उपलब्ध सस्थाओं की सेवाओं के उपयोग का प्रयत्न करना चाहिए।

४—समाज को ही पाठ्यक्रम[3] के प्रत्येक भाग का प्रारम्भ-बिन्दु[4] होना चाहिए।

५—सभी कुछ पढ़ाने की चेष्टा करना विशेष लाभप्रद न होगा। एक या दो ही बातों के सम्बन्ध में सभी सम्भव अनुभवों से बालकों को अवगत करना अधिक शिक्षाप्रद होगा।

६—कार्यक्रम बनाने, उस पर पूरा विचार और प्रयोग करने के लिए विद्यार्थियों को पर्याप्त सुविधा दी जानी चाहिए।

७—पढ़ने, लिखने तथा अङ्कगणित[5] के आवश्यक कौशल का प्रत्येक बालक को ज्ञान दे देना अत्यन्त आवश्यक है।

८—स्कूल के कार्यक्रम में कुछ बातों का छूट जाना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः पढ़ने के लिए बालकों को कुछ ऐसी पुस्तकों की सूची देनी चाहिए जिससे इन सब बातों का ज्ञान स्वतः हो जाय।

९—पाठ्यक्रम का रूप ऐसा हो कि उसमें विभिन्न व्यक्तियों, समूह तथा स्थान की आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

✓ सारांश

समाज क्या है ?

एकत्व तथा परस्पर-सम्बन्ध की भावना का होना आवश्यक।

---

1. To discover and utilize community resources. 2. Laboraries. 3. Curriculum. 4. Starting-point. 5. Knowledge of the ree R's.

समाज के आकार की सीमा नहीं।

समाज का अपना एक आदर्श। समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी।

शिक्षा सविधिक और अविधिक।

बालक की शिक्षा के लिए समाज का उत्तरदायित्व

समाज और व्यक्ति में घनिष्ट सम्बन्ध।

व्यक्ति सामाजिक आदर्शों और परम्पराओं से घिरा। बालकों को सामाजिक बनाना।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर निर्भर

बालक समाज का भावी नागरिक।

बालकों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना। व्यक्ति का निजत्व न मारना। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवसर।

स्कूल और समाज में सहयोग आवश्यक

समाज के विभिन्न इकाइयों में सहयोग आवश्यक।

स्कूल और समाज। कुटुम्ब और समाज। कुटुम्ब और स्कूल। स्कूल और समाज में सन्तोषजनक सहयोग का अभाव। स्कूल में कृत्रिमता का आना। स्कूल तथा समाज में घनिष्टतम सहयोग का होना अत्यन्त आवश्यक।

स्कूल समाज से अलग नहीं। छात्र और शिक्षक समाज के सदस्य। अभिभावकों का स्कूल पर प्रभाव।

स्कूल और समाज के बीच खाई। स्कूल का पाठ्यक्रम सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। शिक्षकों को सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना है।

स्कूल को ही समाज में लाया जाय।

जनता को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान देना। पाठ्यक्रम का संगठन जीवन की आवश्यकताओं के आधार पर।

के हाथ में आ जायगा। अयोग्य शासकों के अन्तर्गत राज्य और समाज अवनति की ओर झुक जायेगा। अतः यह आवश्यक है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता की उचित शिक्षा पर ध्यान दिया जाय। जनता की शिक्षा बिना जनतंत्रात्मक राज्य सबके लिए सुखद न हो सकेगा। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी ही आवश्यकता है।

शिक्षा पर किसका नियन्त्रण[1] ?

राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियों में संघर्ष—

कुछ देशों की नीति से यह प्रकट होता है कि शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है। शासकगण अपनी नीति अनुसार शिक्षालयों में शिक्षा का संगठन करते हैं और बालकों को अपने राजनैतिक मत में रंगने की चेष्टा करते हैं। राज्य जैसा आदेश देता है उसी के अनुसार बालकों को शिक्षा दी जाती है। रूस, जर्मनी, अमेरिका, चीन तथा जापान आदि देशों में प्रायः ऐसा देखा जाता है। कुछ लोग तो शिक्षा पर राज्य का यह नियन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं और जो शास्त्रीय स्वतन्त्रता[2] के पोषक होते हैं वे ऐसी स्थिति के घोर विरोधी होते हैं। ऐसे विरोधी प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं। शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियों की विचार-धाराओं में प्रायः संघर्ष चला करता है। हमारे भारत देश में यह समस्या अब आ खड़ी हुई है कि शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण किस हद तक स्वीकार किया जाय।

राज्य-नियन्त्रण से स्वतन्त्र विचार का प्रसार नहीं—

राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण और आधिपत्य रहने से व्यक्तियों में स्वतन्त्र विचारों का प्रसार रुक जाता है और धीरे-धीरे 'वाणी की स्वतन्त्रता'[3] का लोप हो जाता है। 'वाणी की स्वतन्त्रता' के लोप से जनतन्त्रात्मक का विकास रुक जाता है और राज्य तानाशाहियों[4] के हाथ में आ जाता है। तानाशाहियों के हाथ में शिक्षा उनकी दासी हो जाती है। इस प्रकार शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य आ जाने से केवल उसी ज्ञान का प्रसार किया जाता है जो राज्य-

---

1. Whose Control over Education ? 2 Academic Freedom. 3. Freedom of Speech. 4. Dictators.

१८

राज्य और शिक्षा[1]

जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी आवश्यकता[2]

अपने विभिन्न हितों की रक्षा के लिए मानव ने राज्य-स्थापना की कल्पना की। इस प्रकार एक सामाजिक संस्था के रूप में राज्य का जन्म हुआ। समाज ने अपनी रक्षा तथा देख-भाल के लिए कुछ व्यक्तियों को शासक नियुक्त किया। धीरे-धीरे राज्य का सारा भार इन व्यक्तियों के हाथ में आ गया। ये व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भूलकर अपने अधिकारों की अधिक चिन्ता करने लगे। फलतः उनकी सत्ता अनियन्त्रित हो चली। उनकी अनियन्त्रित सत्ता का धीरे-धीरे विरोध किया गया। इस विरोध के फलस्वरूप आज का युग जनतन्त्रात्मक हो चला है। अब राज्य की सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में केन्द्रित न होकर जनता के कुछ प्रतिनिधियों में केन्द्रित होती है। ये प्रतिनिधि परस्पर-सहयोग और सहकारिता के आधार पर जन-हित के लिए यत्नशील रहते हैं। जब ये प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं तो जनता उनका अधिकार छीन कर उनके स्थान पर दूसरों को निर्वाचित करती है। इस प्रकार जनतन्त्रात्मक राज्य में स्वशासन की प्रणाली रहती है। जब जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता को अपने शासक को चुनने का अधिकार है तो जनता में इतना ज्ञान और विवेक होना चाहिए कि वह उपयुक्त शासकों को चुन सके। आवश्यक ज्ञान और विवेक के अभाव में जनता कुटिल व्यक्तियों की बातों में आकर अनुपयुक्त व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन लेगी और इस प्रकार राज्य का शासन अयोग्य व्यक्तियों

1. State and Education. 2. Education very necessary in a democratic state.

के हाथ में आ जायगा। अयोग्य शासकों के अन्तर्गत राज्य और समाज अवनति की ओर झुक जायेगा। अतः यह आवश्यक है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में जनता की उचित शिक्षा पर ध्यान दिया जाय। जनता की शिक्षा बिना जनतन्त्रात्मक राज्य सबके लिए सुखद न हो सकेगा। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक राज्य में शिक्षा की बड़ी ही आवश्यकता है।

शिक्षा पर किसका नियन्त्रण[1] ?

राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियों में संघर्ष—

कुछ देशों की नीति से यह प्रकट होता है कि शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है। शासकगण अपनी नीति अनुसार शिक्षालयों में शिक्षा का संगठन करते हैं और बालकों को अपने राजनैतिक मत में रंगने की चेष्टा करते हैं। राज्य जैसा आदेश देता है उसी के अनुसार बालकों को शिक्षा दी जाती है। रूस, जर्मनी, अमेरिका, चीन तथा जापान आदि देशों में प्रायः ऐसा देखा जाता है। कुछ लोग तो शिक्षा पर राज्य का यह नियन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं और जो शास्त्रीय स्वतन्त्रता[2] के पोषक होते हैं वे ऐसी स्थिति के घोर विरोधी होते हैं। ऐसे विरोधी प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं। शिक्षा प[र] *राज्य-नियन्त्रण के पोषकों और विरोधियों की विचार-धाराओं में प्रायः संघ[र्ष]* चला करता है। हमारे भारत देश में यह समस्या अब आ खड़ी हुई है कि शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण किस हद तक स्वीकार किया जाय।

राज्य-नियन्त्रण से स्वतन्त्र विचार का प्रसार नहीं—

राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण और आधिपत्य रहने से व्यक्तियों में स्वतन्[त्र] विचारों का प्रसार रुक जाता है और धीरे-धीरे 'वाणी की स्वतन्त्रता'[3] का लोप हो जाता है। 'वाणी की स्वतन्त्रता' के लोप से जनतन्त्रात्मक का विकास रुक जाता है और राज्य तानाशाहियों[4] के हाथ में आ जाता है। तानाशाहियों के हाथ में शिक्षा उनकी दासी हो जाती है। इस प्रकार शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य आ जाने से केवल उसी ज्ञान का प्रसार किया जाता है जो राज्य

1. Whose Control over Education ? 2. Academic F[reedom]
3. Freedom of Speech. 4. Dictators.

व्यवस्था के अनुसार होता है और स्वतन्त्र वैज्ञानिक खोज और अनुसन्धान को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। सत्य की खोज के लिए स्वतन्त्र वातावरण का होना आवश्यक है। परन्तु जब शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है तो स्वतन्त्र वातावरण का मिलना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन हो जाता है।

राज्य-नियन्त्रण से व्यक्तित्व-विकास में बाधा—

राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा व्यवस्था में बालक के व्यक्तित्व-विकास[1] पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि उसकी रुचियों[2], सीमाओं[3] और इच्छाओं[4] की पूरी अवहेलना की जाती है और उसे राज्य द्वारा निर्धारित एक निश्चित साँचे के अनुसार अपने को ढालना होता है। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी, जापान और रूस के अनेक कवियों, साहित्यिकों और कलाकारों को सैनिक बनने के लिए विवश किया गया था। जिस शिक्षा-व्यवस्था में राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है उसमें बालक का आत्म-विकास[5] नहीं होता और उसकी मौलिकता[6] जाती रहती है। यदि बालकों को उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार विकसित होने की स्वतन्त्रता न दी जायगी तो कला, साहित्य और विज्ञान की उन्नति न होगी और अनेक भावी कलाकार, साहित्यिक, और वैज्ञानिक नैसर्गिक गुणों के रखते हुए भी अविकसित रह जायेंगे। फलतः मानव का सांस्कृतिक विकास रुकेगा और वह दासता की वेदियों में जकड़ा जायगा और उसका मानसिक और नैतिक पतन होगा।

राजकीय और व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं में तुलना—

जो लोग शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण के पक्षपाती हैं उनका कहना है कि शिक्षा क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयत्नों[7] को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिगत संस्थायें बालकों के हित को सर्वोपरि न रखकर व्यावसायिक दृष्टिकोण से अपना काम करती हैं। व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षा के सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध नहीं रहते। अध्यापकों का स्तर नीचा होता है, क्योंकि उनको

1. Development of personality of the Child. 2. Interests 3. Limitations. 4. Desires. 5. Self development. 6. Originality. 7. Private Enterprises.

मिलता। इन सब कठिनाइयों के कारण व्यक्तिगत विद्यालयों के अध्यापक अपने तन-मन से बालक की शिक्षा में योग नहीं दे पाते। इस प्रकार व्यक्तिगत संस्थाओं का क्षेत्र बड़ा ही सीमित होता है और इस सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत अध्यापकों को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। इसके विपरीत राजकीय संस्थाओं में शैक्षिक साधन और सामग्री की कोई कमी नहीं होती और उनकी शैक्षिक व्यवस्था व्यक्तिगत विद्यालयों से श्रेष्ठतर होती है। इन दो पक्षों के विभिन्न तर्कों को सामने सामने रखकर हम स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि हमारे देश की राजकीय और व्यक्तिगत शैक्षिक विद्यालयों में बालक के हित में किसमें अधिक अच्छा काम किया जाता है।

राजकीय नियन्त्रण के लिए तर्क—

शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण के पोषकों का यह भी कहना है कि शिक्षित व्यक्तियों का उपयोग राज्य ही को करना है। शिक्षा पा लेने पर व्यक्ति सुयोग्य नागरिक के रूप में समाज और राज्य की सेवा में जुटेगा। इस सेवा के रूप का निर्धारण राज्य ही करता है अतः राज्य यह अधिक अच्छी तरह समझ सकता है कि शिक्षित व्यक्तियों का उपयोग किस क्षेत्र में कैसे किया जाय। यदि शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण के पोषकों का यह तर्क ठीक है तो वस्तुतः राज्य को यह अधिकार है कि वह बालक की शिक्षा के रूप का निर्धारण करे।

जनतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राज्य अपने समाज का इच्छाओं का प्रतिनिधि होता है, और समाज के सदस्य ही बालक के माता पिता और अभिभावक हैं। इसीलिए राज्य की इच्छा तो माता-पिता और [illegible] ती है। ऐसी [illegible] मा जा सकता [illegible] ता है?

शिक्षा क्षेत्र में कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना आवश्यक—

उपर्युक्त तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनतन्त्रात्मक [illegible] अवस्था में शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण बुरा नहीं, परन्तु इसके साथ

यह भी भान होता है कि शिक्षा पर राज्य का सम्पूर्ण नियन्त्रण सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता। शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण मे दोष आ सकता है इसका यह भी तात्पर्य नही कि राज्य जनता की शिक्षा के प्रति उदासीनता का रुख अपनाये। वस्तुतः सर्वोत्तम स्थिति तो यह है कि राज्य जनता की शिक्षा में पूरी रुचि ले और इस रुचि का प्रधान रूप विशेषज्ञो द्वारा राय तथा धन आदि द्वारा सहायता होना चाहिए। राज्य को व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाओ को पूरा प्रोत्साहन देना चाहिए और समय-समय पर आवश्यकतानुसार उन्हे आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देनी चाहिए। जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तो[1], कौशल[2] और व्यवहार[3] में जनता को शिक्षण देने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कुछ अपने कार्य संभालने का उत्तरदायित्व दिया जाय। यदि राज्य अपने ऊपर समस्त शैक्षिक उत्तरदायित्व ले लेता है तो वह जनता की आत्मनिर्भरता पर कुठाराघात करता है। कोई भी राज्य जनता के सभी कार्यों को अपने ऊपर लेने में समर्थ नही हो सकता। शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें जनता को अपने उत्तरदायित्व की चेतना सरलता से हो सकती और इस उत्तरदायित्व को सरलता से संभाल भी सकती है, क्योकि इसका उसके बालकों के विकास स घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत. शिक्षा-क्षेत्र में कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है जिसमे लोग अपनी-अपनी रुचि और सीमानुसार अपना विकास करें और सत्य की खोज करते हुए समाज के सांस्कृतिक विकास में अपना अपना योग दें। अतः यदि राज्य को अपने कुछ शैक्षिक कर्तव्यो का पालन करना है तो इन कर्तव्यों के निर्धारण में व्यक्ति तथा समाज की सर्वाङ्गीण शिक्षा और विकास की कसोटी को ही सर्वोपरि रखना है।

राज्य के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कर्तव्य

एक राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का सचालन करना—

शिक्षा-सम्बन्धी राज्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह देश में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का सचालन करे जिसमें समाज के सभी वर्ग के व्यक्तियों के हित की रक्षा हो। यह कार्य न तो समाज (अर्थात् व्यक्तिगत शैक्षिक संस्थाएँ)

1. Democratic Principles. 2. Skills. 3. Behaviour.

कर सकता है और न व्यक्ति ही में इसे करने की सामर्थ्य है । केन्द्रीय सरकार ही सब नागरिकों के हित में एक राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था का आयोजन कर सकती है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप क्या है ? राष्ट्रीय शिक्षा की क्या विशेषतायें हैं ? साधारणतः राष्ट्रीय शिक्षा-योजना एक ऐसी योजना होती है जिसमें देश के सभी वर्ग के व्यक्तियों के विकास के लिए सुअवसर देने की चेष्टा की जाती है। इसमें जाति, रूप, रंग, स्त्री, पुरुष तथा धन आदि के भेद-भाव को स्थान नहीं दिया जाता। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक को समान रूप से अवसर प्राप्त करने का अधिकार होता है। राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में शिशु, बालक, वयस्क तथा वृद्ध आदि सभी के सामयिक विकास के लिए अवसर देने का प्रयत्न किया जाता है। अतः इस योजना में प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय आदि सभी स्तर पर शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त इस योजना में देश और समाज की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक परम्पराओं और विशेषताओं का प्रभाव भी आना चाहिए । राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का वास्तविक जीवन के निकट होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे शिक्षा पाने के बाद व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ हो सके। राष्ट्रीय एकता तथा सामूहिक आदर्श ही राष्ट्रीय शिक्षा का आधार होना चाहिए और राष्ट्र और समाज की मान्यतायें[1] उससे (अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षा से) परिलक्षित होनी चाहिए। हमारे देश में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का सचालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह याद रखना है कि राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के हित में नियोजित होनी चाहिए, न कि कुछ राजनीतिज्ञों की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए। अतः राष्ट्रीय शिक्षा के संगठन में सर्वप्रथम राष्ट्र के सदस्यों के सहयोग का अपने आप आना आवश्यक है। जो शिक्षा नागरिकों पर लादी जाती है उसे राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व राज्य पर है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा का प्रधान उद्देश्य सभी नागरिकों का सर्वांगीण विकास होना चाहिये। बालक की शिक्षा के सम्बन्ध

---

1. Social and National Values.

में सर्वप्रथम कुटुम्ब का उत्तरदायित्व आता है, इसके बाद स्कूल को अपने हुये कर्तव्यों का पालन करना है। यदि कुटुम्ब और स्कूल बालक की शिक्षा-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते तो सारा उत्तरदायित्व राज्य को अपने ऊपर ले लेना है, अथवा वह ऐसी परिस्थितियों और नियमों का निर्माण करे कि कुटुम्ब और स्कूल अपने कर्तव्यों के पालन हेतु तत्पर हो जाँय।

आजकल प्राय. यह देखा जाता है कि संसार का प्रत्येक राष्ट्र अपनी आय का अधिकांश देश की सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में लगाता है। प्रायः सभी देश अपनी जल, थल और नभ सेना के निर्माण में गतिशील दिखाई पड़ते हैं। देश की रक्षा के लिये सेना की आवश्यकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु राष्ट्र केवल सेना के बल पर ही सुरक्षित और बलशाली नहीं समझा जा सकता। देश की रक्षा के लिए नागरिकों में नैतिक बल का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह नैतिक बल जनता की समृद्धि, सर्वतोमुखी विकास और सन्तुष्टि पर निर्भर करता है, और यह समृद्धि, विकास और सन्तुष्टि शिक्षा के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि यह सब प्राप्त कर लिया गया तो राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक संकट-काल में अपने देश की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जायगा। अतः शिक्षा की अवहेलना करना घातक होगा। वस्तुतः सेना के बल पर जनतन्त्रात्मक सत्ता की रक्षा का प्रयत्न जनतन्त्र का उपहास करना है। जनतन्त्र की रक्षा के लिए हमें देश से अज्ञान, अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और बल हीनता को दूर करना चाहिए। अज्ञान, अशिक्षा और अन्धविश्वास ही भीतरी शत्रु होते हैं। यदि भीतरी शत्रु को परास्त न किया गया तो बाहरी शत्रु को परास्त करने का कुछ अर्थ न होगा। शिक्षित व्यक्तियों के राष्ट्र को किसी वस्तु का डर न होना चाहिए। हमारे देश में शिक्षा के प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि हमारी अधिकांश जनता अपढ़ है। शिक्षा द्वारा ही राष्ट्र को अच्छी तरह संगठित किया जा सकता है। यदि देश में शिक्षा का समुचित प्रसार हो सका तो हमारी राष्ट्रीय संगठन की समस्या स्वतः सुलझ जायगी।

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण[1]—

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य

[1] Military Training in Higher Educational Institutions.

। बालक प्रशिक्षण की व्यवस्था करके

। इसका प्रारम्भ कालेज तथा विश्ववि

। सैनिक प्रशिक्षण के लिए बहुत प्राव

... ... की उचित व्यवस्था

मन्त आवश्यक है। इसके लिए स्कूलों में व्यायामशाला तथा क्रीड़ा-स्थल तथा

आवश्यक पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध कर बालकों के शारीरिक विकास पर

उचित ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में राज्य को अपने कर्तव्य

का पालन करना चाहिए।

राज्य कुछ सैनिक विद्यालयों[1] का भी संचालन कर सकता है जहाँ पर

जल और नभ युद्ध सम्बन्धी कलाओं का ज्ञान नवयुवकों को प्रदान किया

जाए। युद्ध-कला सम्बन्धी विभिन्न बातों के अनुसन्धान के लिए विशेष

प्रयोगशालाओं का निर्माण करना भी राज्य का ही कर्तव्य है।

नागरिकों के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक प्रशिक्षण[2] की योजना

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि बालकों के शारीरिक विकास पर

ध्यान देना राज्य का कर्तव्य है। बालक ही भावी नागरिक हैं और यदि उनके

शारीरिक विकास पर समुचित ध्यान न दिया गया तो राष्ट्र की नींव ही कमजोर

पड़ जायगी। अतः राज्य को शारीरिक प्रशिक्षण की ऐसी योजना कार्यान्वित

करनी चाहिए कि प्रत्येक नागरिक को पूर्ण शारीरिक विकास का अवसर

मिले। यदि इस सम्बन्ध में कुटुम्ब, स्कूल और समाज उदासीन हों तो राज्य

को स्वयं उन्हें रास्ता दिखलाना होगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक जान

है कि केवल शारीरिक प्रशिक्षण की योजना से ही काम न चलेगा। शा

विकास के लिए राज्य को यह भी देखना है कि देश में सबको शुद्ध ज

हवा, रहने के लिए स्वच्छ स्थान तथा पुष्ट और सन्तुलित भोजन उपल

बिना इसके शारीरिक प्रशिक्षण की अच्छी से अच्छी योजना व्यर्थ जायगी

व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध[3]—

व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना कदाचित् व्यक्तिगत

---

1 Military Schools and Colleges. 2. Physical

3. Arrangement for Vocational Education.

के लिए सरल न होगा, क्योंकि इसमें बड़े धन की आवश्यकता होती है। राज्य को यह देखना है कि देश के प्रत्येक नागरिक को उसकी रुचि और योग्यतानुसार कार्य मिले और कोई व्यक्ति बेकार न रहने पावे। बेकारों का राष्ट्र आगे चलकर जर्जरित हो जाता है, क्योंकि तब देश में सभी उपलब्ध साधनों का सदुपयोग नहीं हो पाता। सभी व्यक्तियों को उनके झुकाव[1] के अनुसार काम देने के लिए झुकाव के अनुसार उनकी शिक्षा का आयोजन आवश्यक है। इस आयोजन के लिए विविध प्रकार के व्यावसायिक विद्यालयों का संगठन करना राज्य का कर्तव्य है। ऐसे विद्यालयों की सहायता से ही राष्ट्र का औद्योगीकरण[2] तथा व्यवसायों का आवश्यक यान्त्रीकरण सम्भव है। अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे देशों पर आश्रित न रहने के लिए हमें अपने देश का कुछ हद तक उचित औद्योगीकरण करना ही होगा। हां, इस औद्योगीकरण में हमें अपने पुराने देशी कलाकारों और कार्यकर्त्ताओं को बेकार नहीं बना देना है।

नागरिकों के मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर ध्यान[3]—

राष्ट्र को प्रत्येक नागरिक के मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक साधनों का आयोजन करना चाहिए। इस क्षेत्र में राज्य का प्रथम कर्तव्य यह है कि देश के सभी बालकों के लिये प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। हमारे देश के संविधान में प्रथम चौदह वर्ष तक सन् १९६० के अन्तर्गत शिक्षा को अनिवार्य कर देने का राज्य-नियम स्वीकार कर लिया गया है यदि माध्यमिक स्तर तक भी शिक्षा अनिवार्य कर दी जाती है तो अन्य आवश्यक साधनों के मिलने पर राष्ट्र के भावी नागरिकों को मानसिक और बौद्धिक विकास में अड़चन न आयेगी। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं जैसे संगीत, कला तथा चित्रकारी आदि को भी प्रोत्साहन देना राज्य का कर्तव्य है, क्योंकि व्यक्ति के मानसिक और बौद्धिक विकास में ये सब बातें भी आती हैं।

विभिन्न कलाओं की सहायता से व्यक्ति की कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियों का पोषण होता है। अतः विभिन्न कलाओं को प्रोत्साहन देना राज्य के शैक्षिक कर्तव्य के अन्तर्गत आता है। कलाकारों और साहित्यिकों का संरक्षण राज्य का कर्तव्य है।

1. Aptitude. 2. Industrialization. 3. Attention on the mental intellectual Development of the citizen.

पूरी रुचि लेना। विशेषज्ञों द्वारा राय तथा धन आदि की सहायता। व्यक्तिगत धार्मिक संस्थाओं को पूरा प्रोत्साहन देना।

शिक्षा से जनता अपने उत्तरदायित्व को सँभालना सीख सकती है।

राज्य के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ कर्तव्य

एक राष्ट्रीय शिक्षा-योजना का संचालन—

सभी वर्ग के व्यक्तियों के हित की रक्षा करना।

जाति, रूप, रंग, स्त्री, पुरुष तथा धन आदि का भेद नहीं। प्रत्येक के विकास के लिए समान अवसर प्राप्त। सभी स्तर पर शिक्षा व्यवस्था। सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराओं तथा विशेषताओं का प्रभाव। वास्तविक जीवन के निकट। नागरिकों के सहयोग का स्वतः आना। शिक्षा के आधार पर ही नागरिकों में नैतिक बल का आना।

उच्च विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण—

राज्य का कर्तव्य। कालेज तथा विश्वविद्यालयों में। सैनिक विद्यालयों का संचालन।

नागरिकों के शारीरिक विकास के लिए शारीरिक प्रशिक्षण की योजना

बालकों के शारीरिक विकास पर ध्यान देना राज्य का कर्तव्य। स्वास्थ्य रक्षा के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ नागरिकों के लिए उपलब्ध करना राज्य का कर्तव्य।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध—

योग्यता तथा रुचि के अनुसार प्रत्येक को कार्य देना राज्य का कर्तव्य।

नागरिकों के मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर ध्यान—

सभी बालकों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य कर देना संगीत, कला तथा चित्रकारी आदि को प्रोत्साहन देना। कलाकारों और साहित्यिकों का संरक्षण राज्य का कर्तव्य। स्वतन्त्र चिन्तन, विचार, निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करना राज्य का कर्तव्य। पत्र [illegible] चित्र तथा रेडियो आदि की सहायता। व्यक्ति का मानसिक [illegible]

शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था—

किसी विशिष्ट धर्म का पोषक नहीं—

सभी धर्मों को समान मान्यता देना। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता

प्रश्न

१—शास्त्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है? शिक्षा पर किसका नियन्त्रण होना चाहिए।

२—राज्य के प्रमुख शैक्षिक कर्तव्यों की विवेचना कीजिए।

सहायक पुस्तकें

१—ब्रॉडी, ए०—द अमेरिकन स्टेट ऐण्ड हायर ऐजूकेशन, वाशिङ्गटन, डी० सी०, अमेरिकन कौन्सिल ऑन एजूकेशन, १६३५।

२—केली० एफ० जे०, ऐण्ड जॉन एच० मैकनीली—द स्टेट ऐण्ड हायर एजूकेशन, न्यूयार्क, कार्नेगी फाउण्डेशन, १६३३।

३—मूर ऐण्ड कोल—सोशियलॉजी इन एजूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ६, हूटन मिफ्लिन क० न्यूयार्क, १६५२।

४—हसेक ऐण्ड 'ऐसोशिएट्स—सोशियलॉजिकल फाउण्डेशन्स ऑव ऐजूकेशन, अध्याय २६, टॉमस क्रोवेल क० न्यूयार्क, १६४२।

१६

जनतन्त्र और शिक्षा[1]

हमारे भारत में जनतन्त्र स्थापित हो जाने के कारण शिक्षा और जनतन्त्रात्मक[2] सिद्धान्तो में एक घनिष्ट सम्बन्ध का स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध के स्थापित होने से हमारे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र बली हो उठेगा, क्योंकि तब प्रत्येक को अपनी रुचि और झुकाव के अनुसार विकसित होने का पूर्ण अवसर मिलेगा। कहने का अर्थ यह है कि शिक्षा के सहारे ही जनतन्त्र राज्य फल-फूल सकता है। तानाशाही[3] अज्ञानता के पाया पर बढ़ सकती है, परन्तु जनतन्त्र के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती क्योंकि जनतन्त्रात्मक सरकार साधारण जनता की बुद्धि और चरित्र से ही अपना बल खींचेगी। अतः यदि जनता बल और चरित्र हीन हुई तो सरकार पर भी इस हीनता का प्रभाव पड़े बिना न रहेगा, क्योंकि सरकार के सदस्य जनता ही के चुने हुए प्रतिनिधि तो होते हैं। अतः जनतन्त्रात्मक सत्ता को अपनी साधारण जनता के सांस्कृतिक विकास और शिक्षा पर विशेष ध्यान देना है, और यह निःशुल्क और सार्वलौकिक तथा अनिवार्य शिक्षा से ही सम्भव हो सकता है।

जनतन्त्रात्मक व्यावहारिकता और आदर्शवाद[4]

जब जनतन्त्र और शिक्षा के परस्पर-सम्बन्ध की ओर हम देखते हैं

1. Democracy and Education. 2 [illegible]
3. Dictatorship. 4. Democratic.

उसमें व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों का समावेश आवश्यक जान पड़ता है। जनतन्त्र में पहला आदर्श यह है कि शिक्षा के सहारे सभी नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना है। इस आदर्श के पालन में व्यावहारिकता का स्वतः समावेश हो जाता है, क्योंकि यह आदर्श विविध योग्यताओं[1] और कौशल[2] की प्राप्ति का आधार बन जाता है। लिखने और पढ़ने की योग्यता, स्वास्थ्य के स्वरूप तथा उनकी रक्षा के लिए विशिष्ट आदतों को समझना, व्यावसायिक कौशल[3] तथा अपनी नागरिकता का रचनात्मक रूप में उपयोग करने की योग्यता आदि व्यक्ति की व्यावहारिकता की ओर संकेत करती है, क्योंकि इनका व्यक्ति के दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त शिक्षा के अन्य ऐसे प्रभाव व्यक्ति पर पड़ते हैं जो उसे उदार[4] और प्रेरणायुक्त[5] बनाते हैं। हमें अपनी शिक्षा-व्यवस्था से ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना है जो सबके लिए प्रेरणादायक हों। शिक्षा के बल पर हमें अच्छे इञ्जीनीयर, चिकित्सक, कृषक, वकील, शिक्षक, अर्थशास्त्र का ज्ञाता, कलाकार राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक तथा जीवन के विविध क्षेत्रों के योग्य प्रतिनिधियों को बनाना है। प्रत्येक को अपने चुने हुए जीवन-उद्योग[6] और धन्धे में कुशलतापूर्वक बर्तना है, परन्तु साथ ही प्रत्येक में नागरिकता, सामाजिकता और जनतन्त्रात्मक गुणों को अपने जीवन में अपनाना है। व्यक्ति को अपना कार्य हवा में नहीं करना है। उसे समाज में तो रहना ही है। अतः समाज के एक योग्य नागरिक के कर्तव्यों का उसे पालन करना ही होगा। जनतन्त्र का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अनाथालय में स्थान देना नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए ऐसा अवसर देना है कि वह अपने उत्तरदायित्वों का पालन करने वाला, व्यावसायिक कौशल वाला तथा दूसरों के प्रति उदारचित्त वाला हो सके। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों निहित हैं।

1. Abilities. 2. Skill. 3. Vocational Skill. 4. Liberal. 5. …ing. 6. Life profession.

जनतन्त्र और शिक्षा-योजना[1]

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में जनतन्त्र प्रत्येक नागरिक के प्रयत्नों का स्वागत ही नहीं करता, वरन् प्रत्येक को प्रोत्साहित करता है जिससे सभी लोग सार्वजनिक हित में अपना योग दे सकें। शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य तथा प्रभाव की चर्चा करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी जाती है। इस चर्चा में सभी लोग अपने अपने विभिन्न मत का प्रकाशन करेंगे और यह स्वाभाविक भी है, परन्तु शिक्षा के कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के प्रति सबका विश्वास प्राप्त कर सकना उसी तरह आवश्यक है जैसे जनतन्त्रात्मक सत्ता के प्रति सबके विश्वास का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। शिक्षा के जिन महान, उद्देश्यों के लिये हम जनता के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना चाहेंगे उनका चार वर्ग[2] किया जा सकता है: १—आत्म-विकास[3], २—मानव सम्बन्ध[4], ३—आर्थिक परिपूर्णता[5], तथा ४—नागरिक उत्तरदायित्व[6]। नीचे हम प्रत्येक वर्ग का अति सक्षेप में विश्लेषण करेंगे :—

क—आत्म-विकास के उद्देश्य[7]—

१—जिज्ञासु मस्तिष्क की प्राप्ति। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

२—वाक्‌शक्ति। मातृभाषा में अपने विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा कर सकना।

३—पढ़ने और लिखने की शक्ति। अपनी मातृभाषा में पढ़-लिख सकना।

४—अङ्कगणित की शक्ति। जोड़ने और घटाने आदि के प्रश्नों को सरलता से हल कर सकना।

५—देखने और सुनने की शक्ति प्राप्त कर सकना।

---

1. Democracy and Educational Planning. 2 On the basis of "*The Purposes of Education in American Democracy*, National Education Association, 1937, Washington D. C. 3. Self-realisation. 4. Human Relationships. 5. Economic Efficiency. 6. Civic Responsibility. 7. Objectives of Self-realisation.

उसमें व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों का समावेश आवश्यक जान पड़ता है। जनतन्त्र में पहला आदर्श यह है कि शिक्षा के सहारे सभी नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना है। इस आदर्श के पालन में व्यावहारिकता का स्वतः समावेश हो जाता है, क्योंकि यह आदर्श विविध योग्यताओं[1] और कौशल[2] की प्राप्ति का आधार बन जाता है। लिखने और पढ़ने की योग्यता, स्वास्थ्य के स्वरूप तथा उनकी रक्षा के लिए विशिष्ट आदतों को समझना, व्यावसायिक कौशल[3] तथा अपनी नागरिकता का रचनात्मक रूप में उपयोग करने की योग्यता आदि व्यक्ति की व्यावहारिकता की ओर संकेत करती है, क्योंकि इनका व्यक्ति के दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त शिक्षा के अन्य ऐसे प्रभाव व्यक्ति पर पड़ते हैं जो उसे उदार[4] और प्रेरणायुक्त[5] बनाते हैं। हमें अपनी शिक्षा-व्यवस्था से ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना है जो सबके लिए प्रेरणादायक हों। शिक्षा के बल पर हमें अच्छे इञ्जीनीयर, चिकित्सक, कृषक, वकील, शिक्षक, अर्थशास्त्र का ज्ञाता, कलाकार राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक तथा जीवन के विविध क्षेत्रों के योग्य प्रतिनिधियों को बनाना है। प्रत्येक को अपने चुने हुए जीवन-उद्योग[6] और धन्धे में कुशलतापूर्वक बर्तना है, परन्तु साथ ही प्रत्येक में नागरिकता, सामाजिकता और जनतन्त्रात्मक गुणों को अपने जीवन में अपनाना है। व्यक्ति को अपना कार्य हवा में नहीं करना है। उसे समाज में तो रहना ही है। अतः समाज के एक योग्य नागरिक के कर्तव्यों का उसे पालन करना ही होगा। जनतन्त्र का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अनापशनाप में स्थान देना नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए ऐसा अवसर देना है कि वह अपने उत्तरदायित्वों का पालन करने वाला, व्यावसायिक कौशल वाला तथा दूसरों के प्रति उदार चित्त वाला हो सके। स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में व्यावहारिकता और आदर्शवाद दोनों निहित हैं।

1. Abilities. 2. Skill. 3. Voca... ral.
5. Inspiring. 6. Life profession.

जनतन्त्र और शिक्षा-योजना[1]

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में जनतन्त्र प्रत्येक नागरिक के प्रयत्नों का स्वागत ही नहीं करता, वरन् प्रत्येक को प्रोत्साहित करता है जिससे सभी लोग सार्वजनिक हित में अपना योग दे सकें। शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य तथा प्रभाव की चर्चा करने की स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी जाती है। इस चर्चा में सभी लोग अपने-अपने विभिन्न मत का प्रकाशन करेंगे और यह स्वाभाविक भी है, परन्तु शिक्षा के कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के प्रति सबका विश्वास प्राप्त कर सकना उसी तरह आवश्यक है जैसे जनतन्त्रात्मक सत्ता के प्रति सबके विश्वास का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। शिक्षा के जिन महान् उद्देश्यों के लिये हम जनता के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना चाहेंगे उनका चार वर्ग[2] किया जा सकता है : १—आत्म-विकास[3], २—मानव सम्बन्ध[4], ३—आर्थिक परिपूर्णता[5], तथा ४—नागरिक उत्तरदायित्व[6]। नीचे हम प्रत्येक वर्ग का अति संक्षेप में विश्लेषण करेंगे :—

क—आत्म-विकास के उद्देश्य[7]—

१—जिज्ञासु मस्तिष्क की प्राप्ति। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

२—वाक्शक्ति। मातृभाषा में अपने विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा कर सकना।

३—पढ़ने और लिखने की शक्ति। अपनी मातृभाषा में पढ़ लिख सकना।

४—अङ्कगणित की शक्ति। जोड़ने और घटाने आदि के प्रश्नों को सरलता से हल कर सकना।

५—देखने और सुनने [illegible] शक्ति प्राप्त कर सकना।

...ping 2. On the basis ...ne Pu... ...n Democracy, National ... D. C. 3. Self-reali-...sati... 5. Economic Efficiency. ... Self-realisation.

६—स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी बातों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकना।

७—स्वास्थ्य-सम्बन्धी अच्छी आदतों का डालना और अपने तथा अपने आश्रितों के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकना।

८—समाज की स्वास्थ्य-रक्षा में आवश्यक योग दे सकना।

९—मनोरञ्जन के स्वास्थ्यकर साधनों को पा सकना।

१०—अवकाश-काल का सुखद और लाभप्रद सदुपयोग कर सकना।

११—सौन्दर्य की अनुभूति कर सकना।

१२—अपने जीवन क्रम को आदर्श रूप में चला सकना।

ख—मानव सम्बन्ध के उद्देश्य[1]—

१—मानवता का आदर कर सकना। शिक्षित व्यक्ति मानव सम्बन्धों को सर्वोपरि समझता है।

२—विभिन्न प्रकार के सुखद और उपयोगी मैत्री स्थापित कर सकना।

३—दूसरों के सहयोग में कार्य कर और खेल सकना।

४—नम्रतापूर्वक दूसरों के साथ व्यवहार कर सकना।

५—एक सामाजिक संस्था के रूप में कुटुम्ब के महत्व को समझ सकना।

६—कुटुम्ब के आदर्शों की रक्षा कर सकना।

७—कौटुम्बिक व्यवस्था में कौशल प्राप्त करना।

८—कुटुम्ब में जनतन्त्रात्मक सम्बन्धों को स्थापित कर सकना।

ग—आर्थिक परिपूर्णता के उद्देश्य[2]—

१—अपने विशिष्ट क्षेत्र में कार्य-कौशल प्राप्त कर सकना।

२—विभिन्न धन्धों के सम्बन्ध में अवसर तथा आवश्यक बातों को जान सकना।

३—अपने जीवन के उद्योग अथवा धन्धे को चुन सकना।

४—अपने चुने हुए धन्धे में आवश्यक निपुणता प्राप्त कर सकना।

1. Objectives of Human Relationship. 2. Objectiv[es of Eco]nomic Efficiency.

५—अपनी व्यावसायिक निपुणता को कायम रखते हुए उसमें सुधार ला सकना।

६—अपने धन्धे के सामाजिक महत्व को समझ सकना।

७—अपने जीवन की आर्थिक व्यवस्था ठीक-ठीक चला सकना।

८—अपने व्यय का ठीक-ठीक मापदण्ड बना सकना।

९—आवश्यक वस्तुओं का कुशलता से क्रय कर सकना।

१०—अपने हितों की रक्षा के लिये आवश्यक उपायों का सहारा ले सकना।

घ—नागरिक उत्तरदायित्व के उद्देश्य[1]—

१—मानव परिस्थितियों की विभिन्नता को समझते हुए एक सामाजिक न्याय में विश्वास करना।

२—असन्तोषजनक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्न कर सकना।

३—विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं को समझ सकना।

४—विभिन्न विज्ञापनों के बीच ठीक निर्णय करने की शक्ति प्राप्त करना।

५—सहिष्णु होना।

६—राष्ट्र की सम्पत्ति को नष्ट न करना।

७—विज्ञान का समाज हित में उपयोग कर सकना।

८—अपने को विश्व-समाज का सदस्य समझ सकना।

९—राज्य नियम का पालन करना।

१०—नागरिक के कर्तव्यों का पालन करना।

११—जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रति भक्ति रखना।

उपर्युक्त उद्देश्यों का महत्व शिक्षकों तथा शिक्षा के कर्णधारों के लिए क्या हो सकता है इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं, क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है।

जनता की शिक्षा[2]

उपर्युक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि जनतन्त्रात्मक सत्ता की सफलता के लिए

1. Objectives of Civic Responsibility. 2. Education of the Public.

जनता की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। हमें जनता में एक जागृति ल... जिससे लोग अपने कर्तव्यों और अधिकारों को पहचानने लगें। हमें केवल बालकों की ही शिक्षा की व्यवस्था नहीं करनी है, वरन् प्रौढ़[1] व्यक्तियों की भी शिक्षा पर समुचित ध्यान देना है। अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, रूस, टर्की, जापान तथा अन्य प्रगतिशील देशों में बालकों की शिक्षा के अतिरिक्त प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि प्रौढ़ व्यक्तियों के स्वभाव तथा रहन-सहन का बालकों के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः बालकों के हित में यह भी आवश्यक है कि प्रौढ़ व्यक्तियों को भी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार उपयुक्त शिक्षा दी जाय। इसके लिए सायंकाल अथवा रात्रि में शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकता है।

जनतन्त्र में शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-अधिकार है। अतः राज्य की ओर से सभी प्रकार के व्यक्तियों (बालक अथवा प्रौढ़) के लिए—गूँगे, बधिर, दृष्टिहीन तथा शारीरिक रोग से पीड़ित आदि—शिक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये।

बालक

उपरोक्त बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए उचित वातावरण का आयोजन करना जनतन्त्रवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। शिक्षा-प्रणाली ऐसी हो कि उससे व्यक्ति की अभिरुचियों[2] और शक्तियों[3] का दमन न हो। इसके लिए हमें रूढ़िगत[4] सामूहिक शिक्षा-प्रणाली का त्याग करना होगा। प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन में बालक की घरेलू[5] परिस्थितियों, उसकी सांस्कृतिक[6] पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक[7] विलक्षणताओं तथा अभिवृत्तियों[8] को समझने की चेष्टा की जायगी, जिससे तदनुसार बालक की शिक्षा का

1. Adults. 2. Interest. 3. Abilities. 4. Traditional Group Teaching Method. 5 Family Circumstances. 6 Cultural ... 7. ...ical ...cs. 8. Attitudes.

आयोजन किया जा सके। बुद्धि-परीक्षा[1] द्वारा प्रत्येक बालक की मानसिक योग्यता का अनुमान करना होगा, प्रत्येक के स्वास्थ्य की परीक्षा की जायगी, जिससे प्रत्येक के सर्वाङ्गीण विकास में योग दिया जा सके।

पाठ्यक्रम[2]

बालक के लिए पाठ्यक्रम के निर्धारण में 'शिक्षा-योजना' के अन्तर्गत कहे हुए चार प्रमुख उद्देश्यों पर विशेष ध्यान देना होगा, जिससे प्रत्येक बालक जनतन्त्रवादी राज्य का सच्चा नागरिक बन सके। पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बालकों के हित में स्कूल के होने वाली सच्ची बातें आ जाती हैं, जैसे—विभिन्न विषयों का अध्यापन, पाठ्यविषयान्तर[3] क्रियायें, खेल तथा परीक्षा आदि। पाठ्यक्रम के संगठन में प्रत्येक विद्यार्थी की वैयक्तिक[4] भिन्नता, बुद्धि, शक्ति, आवश्यकताओं तथा योग्यता पर यथासम्भव ध्यान देना होगा।

पाठ्यक्रम के निर्धारण में सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति पर भी ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए स्कूल में सामाजिक आयोजनों तथा सभाओं को विशेष स्थान दिया जाता है। अध्यापक को बने बनाये हुए निष्कर्षों को विद्यार्थियों के सामने नहीं उपस्थित करना है, वरन् उन्हें उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित करना है कि वे (विद्यार्थीगण) स्वयं ठीक निष्कर्ष पर पहुँच सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि "क्रिया द्वारा शिक्षा[5]" के आदर्श के अनुसार शिक्षकों को अपने कार्य का सम्पादन करना है।

अपने देश के स्कूलों के पाठ्यक्रम के निर्धारण में हमें कृषि, प्रकृति निरीक्षण उद्योग, मातृभाषा, विदेशी और प्रदेशी भाषाओं का अध्ययन, गणित, विज्ञान, भूगोल, नागरिकशास्त्र, इतिहास स्वास्थ्य-विज्ञान तथा विविध कलाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

---

1. Intelligence Testing. 2. Curriculum. 3. Co-curricular Activities. 4. Individual Differences. 5. Learning by Doing.

स्कूल का प्रबन्ध[1]

जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। कक्षा-कार्य की योजनाओं[2], रचनात्मक[3] कार्य के संगठनों तथा आत्म-निर्देशन[4] के क्षेत्र में अध्यापक और विद्यार्थी को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमें प्रबन्धकों अथवा स्कूल के निरीक्षकों का हस्तक्षेप अवांछित ही नहीं वरन् जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों की नींव पर कुठाराघात करना होगा। अतः स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक की उद्योगशीलता को उचित महत्व देना आवश्यक है। अध्यापक के कार्य की आलोचना प्रबन्धक, प्रधानाचार्य अथवा निरीक्षक द्वारा की जा सकती है, परन्तु इस आलोचना का रूप रचनात्मक हो, तथा इसमें सहिष्णुता[5] तथा धैर्य[6] का पुट होना चाहिए। प्रधानाचार्य अथवा निरीक्षक को अपनी आलोचना शब्दों द्वारा न देकर, वरन् ऐसी परिस्थितियों के निर्माण द्वारा देनी चाहिए कि अध्यापक को अपनी गलती का स्वयं पता चल जाय। इसके लिए अधिकारियों में मित्रता और सहकारिता[7] का भाव आना आवश्यक है।

यदि स्कूल के प्रबन्ध में उपर्युक्त आदर्श को कार्यान्वित किया जा सका तो स्कूल के शासन और नीति में अध्यापक महत्वपूर्ण योग देगा, क्योंकि नित्य सम्पर्क में आने के कारण अध्यापक विद्यार्थियों की बातों को अधिक अच्छी तरह समझता है। दूसरे, इस प्रकार योग देने से अध्यापक अपने कार्य में अधिक प्रौढ़ता प्राप्त कर अपने अध्यापन-कार्य का सम्पादन अधिक सफलतापूर्वक करेगा। तीसरे, अध्यापक तथा अधिकारियों में इस प्रकार के व्यवहार से जनतन्त्रात्मक[8] सम्बन्ध की वृद्धि होगी। इससे अध्यापक में उत्साह आयेगा और उसमें नैतिकता का विकास होगा। इन सद्गुणों का विद्यार्थियों पर अवश्य ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

---

1. Management of Schools. 2. Class-activity Plannings. 3. Organization of Constructive Work. 4. Self-Direction. 5. Tolerance. 6. Patience. 7. Cooperative Attitude. 8. Demo-

अध्यापक

जनतन्त्रात्मक शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापक का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। समाज में जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिए अध्यापक बड़ा ही अच्छा और सरल साधन है, क्योंकि समाज के भावी नागरिक उसके सम्पर्क में आकर उसका अनुकरण करने का प्रयास करते हैं। जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाला अध्यापक वंशागत संस्कारों[1] में उतना विश्वास नहीं करता जितना कि वह वातावरण में विश्वास करता है। अपने इस विश्वास के आधार पर ही वह सभी बालकों को समान अवसर देने का प्रयत्न कर सकता है। अध्यापक का यह विश्वास होगा कि एक बालक दूसरे से भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक का अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। इस विश्वास के अनुसार वह प्रत्येक के विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन करेगा।

शिक्षण-पद्धति[2]

जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार चलने वाला अध्यापक शिक्षण-प्रक्रिया में विद्यार्थियों को क्रियाशील रहने के लिए प्रेरणा देता रहता है। विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने, तर्क तथा आलोचना करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। विद्यार्थियों को अपने सम्मुख बैठा कर प्राचीन रीति से अध्यापक नहीं पढ़ाता। वस्तुतः अध्यापक का कर्तव्य विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करना होता है। अध्यापक अन्वेषण करने के लिए विद्यार्थियों को स्वतन्त्र छोड़ देता है। मॉन्टेसरी प्रणाली, डाल्टन प्रणाली, प्रॉजेक्ट मेथड, तथा ह्यूरिस्टिक प्रणाली आदि[3] में शिक्षण-पद्धति के इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है।

विनय की समस्या[4]

जनतन्त्रात्मक सिद्धांतों के अनुसार कार्य करने से स्कूल में विनय की समस्या उपस्थित होती ही नहीं, यदि उपस्थित होती भी है तो इसका स्वतः समाधान हो जाता है, क्योंकि विद्यार्थियों पर कोई कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध

1. Hereditary Traits. 2. Method of Teaching 3. इन पर आगे अलग-अलग सविस्तार विवेचना की गई है—विषय-सूची और अनुक्रमणिका देखिये।
4. The Problem of Discipline.

सारा नहीं जाता। स्कूल समाज का एक छोटा रूप होता है, और इस समाज अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को सँभालने की शिक्षा बालक स्वयं पा जाता क्योंकि उसे प्रत्येक के व्यक्तित्व का आदर करना होता है,—जनतन्त्रात्म सिद्धान्तों से तो उन्हें यही शिक्षा मिलती है। स्कूल-परिषद, कक्षा-समितियाँ व स्कूल संसद द्वारा स्कूल के शासन में कुछ भाग लेने के लिए बालकों को प्रोत्सा हित किया जाता है। इस प्रोत्साहन से बालक समझता है कि स्कूल के समा का वह एक सदस्य है, जिन नियमों का वह पालन करता है वे उसी के हैं औ वे उसी की भलाई के लिये निर्मित किये गये हैं। इस भावनावश वह उन्हें बिन किसी विरोध के स्वीकार करता है। इस प्रकार आत्मानुशासन जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का परिचायक है और इस प्रकार जनतन्त्रात्मक समाज में विनय की समस्या का स्वतः समाधान हुआ करता है।

सारांश

जनतन्त्र और शिक्षा

शिक्षा और जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में सम्बन्ध आवश्यक। शिक्षा के सहारे ही जनतन्त्र का बढ़ना। जनता के सांस्कृतिक विकास और शिक्षा पर ध्यान देना।

जनतन्त्रात्मक व्यावहारिकता और आदर्शवाद

व्यावहारिकता और आदर्शवाद का समावेश। सभी नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना। आदर्शों से व्यावहारिकता की ओर संकेत। प्रेरणायुक्त व्यक्तियों को उत्पन्न करना। जीवन-उद्योग में कुशलतापूर्वक बर्तना, पर साथ ही जनतन्त्रात्मक गुणों को अपने व्यवहार में अपनाना।

जनतन्त्र और शिक्षा-योजना

शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में प्रत्येक नागरिक के प्रयत्नों का स्वागत करना। शिक्षा के उद्देश्यों के चार वर्गीकरण :—

१—आत्म-विकास।

२—मानव सम्बन्ध।

३—आर्थिक परिपूर्णता।

४—नागरिक उत्तरदायित्व।

जनता की शिक्षा

जनता को अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अवगत करना। प्रौढ़ों की भी शिक्षा पर जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार ध्यान देना, क्योंकि उनके रहन-सहन का बालकों के विकास पर प्रभाव पड़ता है। प्रौढ़ों के लिए सायंकाल अथवा रात्रि में शिक्षा का प्रबन्ध।

शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-अधिकार। अतः सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था।

बालक

बालक के विकास के लिए उचित वातावरण का आयोजन करना जनतन्त्रवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य। व्यक्ति की अभिरुचियों और शक्तियों का दमन न हो। रूढ़िगत सामूहिक शिक्षण-प्रणाली का त्याग। प्रत्येक बालक का व्यक्तिगत अध्ययन। बुद्धि परीक्षा द्वारा प्रत्येक की मानसिक योग्यता का अनुमान करना।

पाठ्य क्रम

पाठ्यक्रम के संगठन में प्रत्येक बालक की वैयक्तिक भिन्नता पर यथासम्भव ध्यान देना। सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति पर ध्यान। बने बनाये हुये निष्कर्षों का बालकों के सामने नहीं रखना। 'क्रिया द्वारा शिक्षा' का सिद्धान्त।

स्कूल का प्रबन्ध

स्कूल के प्रबन्ध में अध्यापक को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। प्रबन्धकों और निरीक्षकों द्वारा हस्तक्षेप घातक। अध्यापक की उद्योगशीलता को महत्व देना। आलोचना रचनात्मक हो। अधिकारियों में मित्रता और सहकारिता का भाव लाना।

अध्यापक

न महत्वपूर्ण। जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के लिये
वरण में अधिक विश्वास। वैयक्तिक विभिन्नता
प्रयत्न।

ति

। प्रश्न पूछने तथा

तर्क करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी स्वतन्त्र। अध्यापक केवल पथ-प्रदर्शक। अन्वेषण करने के लिए विद्यार्थी स्वतन्त्र।

विनय की समस्या

विनय की समस्या ही नहीं, क्योंकि विद्यार्थियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं लादा जाता। सामाजिक उत्तरदायित्वों को सँभालने की शिक्षा स्वयं बालक को मिलती है।

प्रश्न

१—शिक्षा में जनतन्त्रात्मक विचार धारा से आप क्या समझते हैं? उदाहरण सहित समझाइए।

२—जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में किस प्रकार की शिक्षा-योजना उपयुक्त कही जा सकती है?

सहायक पुस्तकें

१—बॉल्टन, एफ० ई०, ऐण्ड कॉवरली, जे० ई०—एडूकेशन सोशियालॉजी, अमेरिकन बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९४१।

२—कोनेन्ट जे० बी०—एडूकेशन इन ए डिवाइडेड वर्ल्ड, हारवर्ड यू० प्रे० कैम्ब्रिज, १९४८।

३—डीवी०, जे०—डेमाक्रसी ऐण्ड एडूकेशन, मैकमिलन न्यूयार्क, १९१६।

४—एडूकेशन पॉलसी कमीशन, (एल० ई० ए०) द परपज ऑव एडूकेशन इन अमेरिकन डेमॉक्रसी, वाशिंगटन, डी० सी० १९३८।

५—एडूकेशन पॉलिसी कमीशन, द यूनिक फंक्शन ऑव एडूकेशन इन अमेरिकन डेमॉक्रसी, १९३७।

६—मूर, डब्लू—टीचिङ्ग डेमाक्रेटिक वैलूज, हारवर्ड एडूकेशनल रिव्यू, अंक १९ नं० १ विण्टर, १९४९, पृ० ४८।

७—सरयू प्रसाद चौबे—जनतंत्रात्मक विद्यालय संगठन, अध्याय १, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १९५८।

———

२०

धर्म और शिक्षा[1]

धर्म की आवश्यकता[2]

मानव को अपने जीवन में कभी-२ कुछ ऐसी विषम परिस्थितियों का सामना
ा पड़ता है जिन्हें वह समझने में असमर्थ होता है, परन्तु वह उनके विषय
सरो मे जिज्ञासा प्रगट करता है और साथ ही उसे अपनी असमर्थता पर
र्य भी होता है। धर्म का आदि विकास कैसे हुआ इसे हम नहीं समझ पाते,
तु हमें यह अनुमान अवश्य होता है कि अप्राकृतिक और अमानवीय वस्तुओं
सम्बन्ध में अपने विश्वासों के आधार और तर्क के खोजने से कदाचित् मानव
र्म की कल्पना की है। समय और किसी स्थान की विशिष्ट संस्कृति के
ुसार इन विश्वासों में विभेद पाया जाता है। विज्ञान के विकास के साथ-
थ इन विश्वासों की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी, क्योंकि विज्ञान के प्रभाव
आकर मानव अन्ध विश्वासों से मुक्ति पाने लगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह
ीं कि विज्ञान के प्रभाव में आने के कारण अब उसे धर्म की आवश्यकता ही न
ी। आज का मानव भले ही अपने पूर्वजों की तरह भूत-प्रेत आदि के विचारों
आक्रान्त न हो, परन्तु आज भी उसे धर्म की कम आवश्यकता नहीं है। अन:
सके कुछ व्यवहारों में धर्म का प्रभाव अवश्य आजाता है। आज के परिवर्तनशील
ग की जनता को धर्म एक ऐसी दृढ़ नींव दे सकता है जिसके सहारे संसार विषम
रिस्थितियों रूपी तूफान में भी अडिग स्थिर रह सकता है। भग्नाशा, मानसिक

1. Religion and Education. 2. The Need of Religion.

तनाव, घृणा तथा अविश्वास आदि के बदले धर्म मानव हृदय में दर्शन एवं प्रेम लाकर सब को दूर कर सकता है और मानव-व्यवहार में एक बेहतर सामान्य उद्देश्य ला सकता है। आज के भौतिकवाद में धर्म ही एक ऐसी वस्तु दिखलाई पड़ती थी जो कि मानवीय मान्यताओं[1] को जीवन में प्रधान स्थान देने के लिए व्यक्ति को प्रेरित कर सकती है और सारे मानव-समूह को एक उद्देश्य प्राप्ति की ओर मोड़ सकती है। कदाचित् इसीलिए प्रत्येक मानवीय संस्कृति[2] में किसी न किसी रूप में धर्म को कुछ न कुछ स्थान अवश्य दिया जाता है और इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है जिससे इस संस्कृति के आदर्श और मान्यतायें जीवित रहें। हमारे भारत जनतन्त्र में अनेक प्रकार की धार्मिक पृष्ठभूमियाँ हैं और प्रत्येक को अपनी संस्कृति के संरक्षण की पूरी स्वतन्त्रता है। किसी भी देश का प्रत्येक जनसमुदाय विभिन्न संस्थाओं द्वारा अपने धर्म अथवा उसमें निहित महान आदर्शों की रक्षा का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि मानव को धर्म की बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म और मानव-जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की शृङ्खला सभ्यता के आदि काल से ही चली आ रही है। फलतः व्यक्ति को अच्छे रास्ते पर चलने के लिए धर्म से सदा प्रेरणा मिलती रही है। इसीलिए बहुत प्रारम्भ से ही धार्मिक आदर्शों के आधार पर अपने चरित्र को ढालने का प्रयत्न मानव करता आया है। फलत धर्म कुछ अर्थों में शिक्षा का भी कुछ काम करता रहा है। अतः धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध बड़ा ही पुराना है। प्राचीन काल से ही धर्म ने व्यक्ति की शिक्षा में जो योगदान किया है उस पर नीचे थोड़ा विचार कर लेना असंगत नहीं जान पड़ता।

धर्म द्वारा व्यक्ति की शिक्षा में योग

इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड में हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत में ब्राह्मण तथा बौद्धकालीन शिक्षा का आधार धर्म ही था। उस समय शिक्षा का तात्पर्य धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन, धार्मिक कार्यों के करने तथा धार्मिक जीवन के व्यतीत करने से समझा जाता था। शिक्षा संस्थायें स्वतः धार्मिक संस्थायें होती

1. Human values. 2. Human culture.

थी अथवा धार्मिक संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। मध्यकाल में भारत के पाठशाला तथा मकतब मन्दिरों और मसजिदों से सम्बद्ध होते थे। इन्हीं के पुजारी तथा मुल्ला बालकों को आवश्यक शिक्षा देते थे। पाठ्यक्रम में धार्मिक बातों की प्रधानता रहती थी। धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ना तथा तदनुसार *समाज में बर्तना शिक्षा का प्रायः प्रधान उद्देश्य माना जाता था।*

योरप में भी शिक्षा पर धर्म का प्रभाव सदा से दिखलाई पड़ता है। वहाँ प्राचीन काल में बालकों की शिक्षा मठों[1] और चर्च की संरक्षता में होती थी। मठ के अध्यक्ष तथा चर्च के पादरी बालकों की शिक्षा का आयोजन करते थे। मध्यकाल में धर्म का रूप कुछ संकुचित हो चला, परन्तु तथापि धर्म और शिक्षा *में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। इस समय कैथीड्रल[2] तथा मॉनेस्टिक[3] पाठशालाओं* का प्रसार हो चला। ये पाठशालायें चर्च के नियन्त्रण में थीं। इनके प्रत्येक कार्य पर धर्म की पूरी छाप थी।

वर्तमान युग में भी धार्मिक संस्थाओं की शिक्षा में काफी रुचि दिखलाई पड़ती है। भारत में कई ऐसी धार्मिक संस्थायें हैं जिनके प्रयास से बहुत से स्कूल और कालेज चल रहे हैं। हमारे देश में ईसाई पादरियों और अन्य धर्म प्रचारकों ने बहुत सी शैक्षिक संस्थायें खोली हैं। इनसे हमारे देश में शिक्षा-प्रसार को काफी प्रोत्साहन मिला है। योरप तथा अमेरिका में अनेक शिक्षा-*संस्थायें ईसाई प्रचारकों के प्रयत्न से कार्यशील हैं। अमेरिका में अब भी शिक्षा* के क्षेत्र में चर्च का कहीं-कहीं बड़ा हाथ है।

धर्म के नाम पर अत्याचार

धर्म के नाम पर संसार के प्रायः प्रत्येक देश में बड़े-बड़े अत्याचार किये गये हैं। मध्ययुग में धार्मिक संकीर्णता और धर्मान्धता ने इतना जोर पकड़ा कि मानव पीड़ित हो उठा। फलतः लोगों के हृदय में धर्म के लिए वह आदर भाव नहीं बना रहा जो पहले था। धीरे-धीरे लोगों के मन में यह विश्वास जमने लगा कि धर्म उन्हें मूर्ख बनाकर उनका शोषण करना चाहता है। ऐसी स्थिति

1. Monasteries. 2. Cathedral Schools. 3. Monastic schools.

के विरुद्ध योरप में रूसो तथा लॉक[1] ऐसे दार्शनिकों ने शिक्षा पर धर्म के नियन्त्रण का विरोध किया और मानव के विवेक तथा तर्क-बुद्धि को सर्वोपरि समझने की माँग की। धर्म के नाम पर धार्मिक व्यक्ति जो घृणित जीवन व्यतीत करते थे उसका नग्न चित्र सबके सामने आ गया और धार्मिक संस्थाओं के आन्तरिक दोषों से लोगों में उनके प्रति घृणा पैदा हो गई। फलतः धर्म के नाम पर प्रचारित अन्ध-विश्वास को लोग धीरे-धीरे समझने लगे। आज की वैज्ञानिक प्रगति ने तो व्यक्ति के जीवन में एक नई लहर ला दी है। अब लोग अपनी आर्थिक, राजनीतिक तथा भौतिक जीवन की समस्याओं को नये दृष्टिकोण से देखते हैं और उन पर धर्म की छाप बहुत ही कम दिखलाई पड़ती है।

धर्म का अर्थ[2]

धर्म शब्द की व्याख्या विभिन्न लोगों ने कई प्रकार से की है। इसके वास्तविक अर्थ के समझने में कुछ कठिनाई हो जाती है। कुछ लोगों के अनुसार धर्म का अर्थ केवल कर्मकाण्ड अथवा पूजा-अर्चना, प्रार्थना, नमाज या हवन आदि है। ईसाई मत[3] के अनुसार धर्म वह वस्तु है जो विभिन्न व्यक्तियों को प्रेम, सहानुभूति और पारस्परिक कर्तव्य और अधिकार के बन्धन में बाँधती है। हमारे भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ इससे बहुत व्यापक है। वस्तुतः अंग्रेजी का 'रिलिजन' शब्द धर्म का पर्यायवाची नहीं हो सकता। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जो धारण करे वही धर्म है, अर्थात् धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्य से है : महाभारत में धर्म की व्याख्या इस प्रकार मिलती है:—

"धारणाद् धर्म इति आहु.,
धर्मो धारयति प्रजा.।" (शान्तिपर्व—महाभारत)

---

1. Locke. 2. The Meaning of Religion. 3. The word 'religion' is derived from Latin words (*re* and *legere* or *ligare*) which mean '*to* bind back'. Therefore it means that which binds human beings to each other in the bonds of love and sympathy and mutual rights and duties—from "Essential Unity of All Religions", p. 103, by Bhagavan Das—The Theosophical Publishing House, Adyar, 1955.

इस्लामी दर्शन में "धर्म[1] या मजहब मस्कविया के विचार से लोगों को आचार की शिक्षा देने का तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज और हज पड़ोसी या लोकप्रेम को बड़े पैमाने पर पैदा करने का सुन्दर अवसर है।" कुछ लोग धर्म का तात्पर्य समाज सेवा से समझते हैं और मनुष्य के आगे समाज सेवा ही सबसे बड़ा कर्तव्य अथवा धर्म रखते हैं।

यहाँ पर 'धर्म' और 'मत' के अन्तर की ओर संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है। 'मत' से केवल एक विशिष्ट विचारधारा का बोध होता है। इसके विपरीत धर्म बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की ओर संकेत मिलता है। एक धर्म में कई मत या मतावलम्बी पाये जा सकते हैं जैसे ईसाई धर्म में कैथलिक, प्रॉटेस्टैण्ट, मेथडिस्ट आदि, इस्लाम धर्म में शिया और सुन्नी, हिन्दू धर्म में नानकपन्थी, राधास्वामी, आर्य समाज आदि आदि।

'धर्म' शब्द के अर्थ के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि धर्म की सहायता से व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर जाकर परम सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अतएव अधिकतर लोगों ने मानव-आत्मा से उच्चतर एक परम-आत्मा (अर्थात् ईश्वर) की कल्पना की है। ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी माना जाता है। सब कुछ इसी से आता है और सब कुछ फिर उसी के यहाँ चला जाता है। विश्व का प्रत्येक कण ईश्वर का ही अंश है। 'सत्य शिवं और सुन्दर' ईश्वर का ही रूप है। मानव की उन्नति "सत्य शिवं और सुन्दर" की अनुभूति से ही सम्भव है। धर्म के सहारे मनुष्य की आत्मा ईश्वर के निकट आती है और मनुष्य ईश्वर को पहिचानता है। अतः धर्म को ईश्वर-प्राप्ति अथवा परम सुख और शान्ति के पाने का सर्वोत्तम साधन माना गया है।

'इस्लाम' शब्द का अर्थ बड़ा ही दिव्य और गम्भीर है। 'इस्लाम', 'सालम' शब्द से निकला है और इसका अर्थ 'शांति' अथवा शांतिपूर्वक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना है, अर्थात् शान्तिपूर्वक अपने को ईश्वर के सम्मुख अर्पण कर

1. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० १३०, किताब महल, इलाहाबाद।

देना है। अपने अहंकार को छोड़कर ईश्वर के सार्वलौकिक प्रभाव को स्वीकार करना है। 'धर्म' शब्द का भी महत्त्व यही है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों को कौन सी वस्तु एक साथ बाँध सकती है? उस पारस्परिक अन्योन्याश्रयता के सहारे जिसमें दूसरे के लिए प्रेम और सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हो लोग एक दूसरे से बँध सकते हैं। इस प्रकार प्रेम और सहानुभूति के बन्धन में बंधने से लोग अहंकार को छोड़ ईश्वर में ही विलीन हो जाने की कामना करेंगे। 'क्रिश्चिया-निटी' का भी निचोड़ वही है जो कि 'धर्म' का है। 'क्रिस्टोस'[1] का अर्थ दैवी ज्ञान[2] में सना हुआ[3] होता है। वैदिक धर्म का अर्थ 'ज्ञान का[4] धर्म' होता है। सनातन धर्म का तात्पर्य निरन्तर जीवित रहने वाली आत्मा का धर्म[5] अथवा मानव धर्म[6] होता है। बौद्ध धर्म का अर्थ 'बुद्धि का धर्म' होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धर्म का अर्थ बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। इसके अन्तर्गत सत्य शिवं और सुन्दर, प्रेम, सहानुभूति तथा जीवन की अन्य महानतम मान्यतायें निहित हो जाती हैं। धर्म का यह दृष्टिकोण ही उसे सर्व-कालीन तथा सार्वभौमिक बना सकता है। इस दृष्टिकोण में विश्वास रखने से ही धर्म का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ सकता है।

शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध[7]

शिक्षा और धर्म में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि एक तरह से दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी तक दोनों के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सका है। फलतः दोनों के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग बालक के शिक्षा-क्रम में धर्म को कोई स्थान नहीं देना चाहते और कुछ लोग धर्म को उच्च स्थान देना चाहते हैं। अमेरिका तथा योरोप में शिक्षा विशेषज्ञों का एक वर्ग धर्म को शिक्षा में ऊँचा स्थान देना चाहता है। इसके प्रयास के फलस्वरूप वहाँ पर सन्डे स्कूल मूवमेण्ट[8], रिलिजस एडूकेशन मूवमेण्ट[9] तथा करेक्टर एडूकेशन मूवमेण्ट[10] आदि आन्दोलन शिक्षा में धर्म के

1
4. R
ligio
Educ
gious

बात का समर्थन करते हैं। आज के भौतिकवाद में पगा हुआ मानव कभी-कभी ध्यात्मवाद की बात अवश्य सोच लेता है। अतः आज प्रायः सभी देशों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की चर्चा होती है और यह विचार किया जाता है कि स्कूलों में इसे कैसे स्थान दिया जाय। परन्तु साथ ही एक ऐसा वर्ग है जिसकी भावना धार्मिक और राजनीतिक विचारों के वशीभूत है और वह धर्म को शिक्षा में कोई स्थान नहीं देना चाहता। नीचे पहले हम धार्मिक शिक्षा के आलोचकों के तर्क को समझने का प्रयत्न करेंगे।

धार्मिक शिक्षा की कुछ आलोचनायें—

१—शिक्षा में धर्म को स्थान देना अव्यावहारिक है, क्योंकि स्कूलों में विभिन्न धर्म के मानने वाले होते हैं, तो बालकों को किस धर्म के अनुसार शिक्षा दी जाय? किसी विशिष्ट धर्म या मत का अनुसरण करने में मतभेद और कलह की आशंका है और शिक्षा-क्रम में सभी लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त हो सकेगा।

२—धार्मिक शिक्षा में उपदेश पर अधिक बल दिया जा सकता है और साथ ही उसके अनुसार आचरण की अवहेलना की जा सकती है। धर्म के सभी बाह्य रूपों अर्थात् प्रार्थना, पूजा-अर्चना और नमाज आदि को दिखलाते हुए भी व्यक्ति का व्यवहार बड़ा अधार्मिक हो सकता है। अतः इन सब बातों में शिक्षा पाने से ही कोई सच्चरित्र नहीं बन सकता, जब तक कि वह अच्छे वातावरण में नहीं रहता और उसके सामने अच्छा उदाहरण नहीं है।

३—अन्वेषणों[1] से पता चला है कि कोई आदमी किसी ठीक बात को सीख लेता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका व्यवहार भी तदनुसार ही होगा। धार्मिक शिक्षा में व्यवहार के स्थान पर धार्मिक ज्ञान अथवा उपदेश पर अधिक बल दिया जा सकता है। इसका फल यह होगा कि व्यक्ति ज्ञान तो प्राप्त कर लेगा, परन्तु तदनुसार व्यवहार दिखाने में समर्थ न होगा।

४—पाप पुण्य तथा दैवी दण्ड और पुरस्कार की विवेचना से बालक में मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न हो सकता है और इससे उसके नैतिक विकास में बाधा पड़

1. *Hugh Hartshorne and J. Quinter Miller*: Community Organization in Religious Education, p. XXVII. Yale University Press, New Haven, 1932.

सकती है। किसी विशिष्ट मत के अनुसार धर्म की व्याख्या बालक के सामने उपस्थित करना धर्म के साथ उसके सामाजिक मान्यताओं का गलत अर्थ उसके सामने रखना होगा।

५—स्कूलों में पढ़ने वाले बालकों में ऐसा विवेक नहीं कि वे धर्म जैसे दुरुह विषय के गूढ़ तत्वों और मर्मों को ठीक-ठीक समझ सकें। सामान्य अध्यापक के लिए धार्मिक शिक्षा देना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि निष्पक्ष होकर धार्मिक विचारों का विश्लेषण करना सरल नहीं। धर्म के सम्बन्ध में निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना सकना बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि इससे अपनी निजी आस्था और विश्वास की नींव भी हिल जाती है। अतः धार्मिक शिक्षा के लिए एक सामान्य अध्यापक अयोग्य है। परन्तु धर्म का शिक्षक बालकों के घनिष्ठ परिचय में इस प्रकार नहीं आता कि वह उनके जीवन और व्यवहार की बातें समझ सके और तदनुसार धार्मिक शिक्षा का सम्बन्ध उनमें जोड़ सके। इस सम्बन्ध के अभाव में धर्म-शिक्षक के उपदेश कोरी बातें रह कर बालकों पर विशेष प्रभाव न डालेंगी।

६—धर्म का प्रधान उद्देश्य मानव को प्रेम और सहानुभूति के बन्धन में बांधना है। परन्तु वस्तुतः धर्म ने इसके विरुद्ध ही कार्य किया है। धर्म के नाम पर अनेक युद्ध लड़े गये हैं और अनेक व्यक्तियों का वध किया गया है धर्म के नाम पर प्रेम और सहानुभूति के स्थान पर लोगों में आपसी बैर, सम्प्रदायिकता, संघर्ष और असहिष्णुता देखी जाती है। ऐसी वस्तु-स्थिति के कारण स्कूलों में धर्म को स्थान देने का अर्थ इन अवगुणों को बालकों में फैलाना होगा।

७—धर्म व्यक्तिगत अनुभूति की वस्तु है। व्यक्ति अपनी-अपनी विशिष्ट विधि से ईश्वर की उपासना में लीन होता है। अतः सामूहिक रूप से स्कूल में बालकों को धार्मिक शिक्षा देना ठीक नहीं।

अब नीचे हम उन लोगों की धारणाओं की ओर संकेत करेंगे जो स्कूल में धार्मिक शिक्षा के प्रतिपादक हैं।

धार्मिक शिक्षा का समर्थन—

१—धर्म मानव-जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। पशु और मनुष्य में भेद है, क्योंकि मनुष्य धर्म के आधार पर अध्यात्मवाद का चिन्तन कर सकता है। आज के वैज्ञानिक और भौतिकवाद के युग में व्यक्ति को अध्यात्मकवाद की ओर भी अधिक आवश्यकता है। सांसारिक सुख के साधनों से ही *व्यक्ति शान्ति नहीं पा सकता, क्योंकि सांसारिक सुख का कोई अन्त नहीं।* सुख में पड़ने से व्यक्ति की तृष्णा और माया-मोह बढ़ती ही जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा में धर्म की प्रतिष्ठा बड़ी आवश्यक है, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा विषय है जो कि व्यक्ति को इस सांसारिक सुख की क्षणभंगुरता से अवगत करा सकता है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा गणित आदि विभिन्न विषय जो स्कूल में पढ़ाये जाते हैं वे बालक की केवल भौतिक आवश्यकता की पूर्ति की ओर ही नियोजित होते हैं। उनसे केवल मानसिक विकास एवं ज्ञान वृद्धि होती है, परन्तु जीवन का आध्यात्मिक अङ्ग एकदम अछूता रह जाता है। धर्म की शिक्षा से व्यक्ति में मानवता के गुण बढ़ते हैं और उसका सर्वाङ्गीण विकास सम्भव हो सकता है।

२—धार्मिक भावना के अभाव से ही आजकल समाज में विभिन्न बुराइयाँ दिखलाई पड़ती हैं। बुराइयों का परिणाम वैमनस्य, असहिष्णुता तथा स्वार्थ-परता के रूप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है। धर्म के सहारे ही हम अपने जीवन से इन दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं।

३—धर्म का सङ्कुचित अर्थ नहीं लेना चाहिए। धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य *किसी विशिष्ट धर्म की शिक्षा नहीं है, वरन् इसका अर्थ विभिन्न धर्मों के निचोड़,* एकता तथा समानता के गुणों के आधार पर व्यक्ति के जीवन को उच्च बनाना है। यदि धर्म का व्यापक अर्थ लिया जाय तो लोगों का आपसी वैर दूर हो जायगा और विभिन्न धर्मों के मानने वाले बालकों के बीच धर्म-चर्चा की जा सकती है। यदि धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत कर्मकाण्ड[1] की बात न लाकर विभिन्न धर्मों में निहित समान आदर्शों की चर्चा की जाय और उन आदर्शों की आन्तरिक अनुभूति पर बल दिया जाय तो धार्मिक शिक्षा से लाभ ही लाभ होगा।

---

1. Rituals.

४—आज भारत में धार्मिक दृष्टिकोण का ह्रास दिखाई दे रहा है, [illegible] लोगों का [illegible] धर्म के प्रति [illegible] घटता जा रहा है। शिक्षा में धर्म-निरपेक्षता को इस प्रकार देख रहे हैं। पर धर्म-निरपेक्ष का [illegible] भी [illegible] जा सकता है। [illegible] शिक्षा में धर्म की शिक्षा की [illegible] नहीं की जा सकती।

५—भारतवर्ष आज: [illegible] हो रहा है। धार्मिक आदर्शों के स्थान पर भौतिक जीवन के सुख को यहाँ अधिक महत्व दिया जाता है। अतः इन बातों देश में धर्म-प्रधान शिक्षा को स्थान नहीं दिया जा सकता, किन्तु यह बात स्पष्ट है कि धार्मिक शिक्षा व्यापक और मानव धर्म पर आधारित होनी चाहिए।

६—आज के युग में वैज्ञानिक तर्क, बुद्धि और भौतिकवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। वे देश जो भौतिक सुख के पीछे दौड़ रहे हैं और बहुत हद तक उन्हें प्राप्त भी कर चुके हैं उनमें वास्तविक सुख और शान्ति का अभाव दिखाई पड़ता है। इसीलिए तो उन्हें दो महायुद्धों का सामना करना पड़ा और उनमें आपसी तनातनी सदा बनी रहती है। यह देखकर कभी विचार होता है कि अपने आध्यात्मिक आदर्शों को भूलकर इन देशों के अनुकरण का हमारा प्रयत्न हमें किस किनारे लग देगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आध्यात्मिकता की लपेट में भूखों मरना हमें स्वीकार है। वस्तुतः यदि आध्यात्मिकता को प्राप्त करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें अपना पेट भरना ही होगा। कहा भी है कि "भूखे भजन न होहिं गुपाला।" अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में एक सन्तुलन प्राप्त करें। यह सन्तुलन हमें शिक्षा के सहारे ही प्राप्त हो सकता है और इस शिक्षा में मानव-धर्म के पुट का होना अत्यन्त आवश्यक है।

७—हमारे देश के विभिन्न शिक्षा-विशेषज्ञों ने धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया है। इसमें सर सैयद अहमद खाँ, मदन मोहन मालवीय, राधाकृष्णन् तथा महात्मा गान्धी, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अरविन्द आदि जैसे प्रमुख व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के अनुसार धार्मिक शिक्षा का आधार मानव-धर्म होना चाहिए और इसका रूप मौन प्रार्थना, धार्मिक नेताओं का अध्ययन तथा

धर्म के मूल सिद्धान्तों का परिचय होना चाहिए, जिससे व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में सत्य, अहिंसा तथा प्रेम आदि को अपना सके।

धर्म-शिक्षण की कुछ कठिनाइयाँ

धार्मिक शिक्षा के आलोचकों और समर्थकों के पक्षों को ऊपर देखने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा में धर्म को स्थान देना बड़ा ही आवश्यक है। परन्तु धर्म शिक्षण में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इन कठिनाइयों के निवारण पर ही धार्मिक शिक्षा का कुछ अर्थ होगा, अन्यथा लाभ के स्थान पर उससे हानि होगी। धार्मिक अनुभूति और जागृति अन्दर की वस्तु है। अतः इसे बालकों के ऊपर बाहर से लादा नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि स्कूल के पूरे वातावरण को ही हमें ऐसा बनाना है कि बालक इसमें धार्मिकता की भावना पा सके। केवल प्रत्यक्षतः धार्मिक उपदेश और आदेश के ही आधार पर हमें धार्मिक शिक्षा नहीं देनी है। धार्मिक शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल धर्म-शिक्षक पर ही नहीं छोड़ना चाहिए, अन्यथा धार्मिक शिक्षा का प्रभाव नगण्य होगा। स्कूल में एक धार्मिक वातावरण के निर्माण के लिए स्कूल के सारे अध्यापकों का योग अत्यन्त आवश्यक है। यह योग कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इस योग के लिए *विशेषतया धर्म-शिक्षक तथा स्कूल के सभी अध्यापकों को उपदेश के साथ-*साथ आचरण द्वारा भी बालकों के सामने धार्मिक जीवन का उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिए। यदि धार्मिक उपदेश के साथ साथ बालक अपने अध्यापकों के जीवन में धार्मिक जीवन का सच्चा उदाहरण नहीं पाते तो धार्मिक शिक्षा का एकदम उलटा परिणाम होगा। अतः स्कूल में धार्मिक वातावरण उपस्थित करने की कठिनाई को सुलझाने में प्रत्येक अध्यापक को अपना-अपना योग देना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा द्वारा बालकों में धर्मान्धता, अन्धविश्वास, संकुचित मनोवृत्ति तथा द्वेष की वृद्धि न हो। धार्मिक शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव ~ प्रयत्न करना है कि यह अभाव न आने पावे और बालकगण

धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य यह नहीं कि स्कूल मन्दिर, मसजिद और गिरजा-घर का स्थान ले लें। स्कूल शिक्षा संस्था है, और उसे हमें धर्म-संस्था नहीं बनाना है। यदि स्कूल धर्म संस्था का काम करने लगेगा तो उसमें आतंक के पोषण का भय है। अतः बालकों को किसी विशिष्ट मत की ओर झुकाने के लिए स्कूल में प्रयत्न नहीं करना चाहिए। स्कूल का कर्तव्य बालकों का सर्वांगीण विकास करना है, और इस कर्तव्य के पालन में उसे धर्म के कुछ मूल सिद्धान्तों को केवल साधन के रूप में अपनाना है।

यदि धर्म-संस्था को भी एक शिक्षा-संस्था के रूप में स्वीकार करें और धर्म-संस्थायें स्कूल की तरह व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास पर बल दें तो हमारी उपर्युक्त कठिनाई स्वतः दूर हो जायगी। वस्तुतः व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान उसके सर्वांगीण विकास का ही तो द्योतक है। अतः शिक्षा की दृष्टि से हमें धर्म-संस्थाओं को शिक्षा-संस्थाओं के रूप में ही देखना है। इसके लिए हमें धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्यों को स्वीकार करना होगा। इन कर्तव्यों की ओर ही नीचे अति संक्षेप में संकेत किया जायगा।

धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्य

प्रायः यह देखा जाता है कि धर्म और धार्मिक संस्थाओं द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के महत्व पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। उनकी ऐसी धारणा है कि शारीरिक स्वास्थ्य के चिन्तन में व्यक्ति सांसारिक सुख की ओर झुकता है, और सांसारिक सुख आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। धार्मिक संस्थाओं को उचित है कि वे बालकों के मन में शारीरिक स्वास्थ्य और शक्तिवर्द्धन के प्रति अनुराग उत्पन्न करें, क्योंकि शरीर ही धर्म का साधन है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

जब हम इहलोक की सर्वथा उपेक्षा करके परलोक-चिन्तन की ही भावना से आक्रान्त हो जाते हैं तो हमें दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में भी कठिनाई होने लगती है और केवल हमारा ही नहीं, वरन् सारे राष्ट्र की समृद्धि का ह्रास होता है और हमारा नैतिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। हमारे देश की वर्तमान दशा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः हमारी दृष्टि में यह जान पड़ता है कि धार्मिक-संस्थाओं का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जन्म लेते ही

धर्म का अर्थ

कई प्रकार से व्याख्या । धर्म-कर्मकाण्ड । कर्तव्य और अधिकार के बन्धन में बांधने वाला । जो धारण करे वही धर्म । इस्लामी दर्शन में मजहब लोगों को आचार की शिक्षा देने का तरीका । धर्म समाज सेवा है ।

धर्म और मत में अन्तर । मत से केवल एक विशिष्ट विचारधारा का बोध । धर्म बहुत व्यापक । इससे आध्यात्मिक उन्नति की ओर संकेत । धर्म की सहायता से परम सुख की प्राप्ति ।

इस्लाम का अर्थ शान्ति और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना । क्रिश्चियनिटी के निचोड़ और धर्म में समानता । धर्म में जीवन की महानतम मान्यतायें निहित ।

शिक्षा और धर्म में सम्बन्ध

घनिष्ठ सम्बन्ध । दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक ही । कुछ लोग शिक्षा में धर्म को स्थान देना चाहते हैं और कुछ लोग नहीं । आज प्रायः सभी देशों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की चर्चा ।

धार्मिक शिक्षा की कुछ आलोचनायें—

१—शिक्षा में धर्म को स्थान देना अव्यावहारिक । स्कूल में विभिन्न धर्मावलम्बी ।

२—धार्मिक शिक्षा में उपदेश पर अधिक बल और आचरण की अवहेलना ।

३—ज्ञान और व्यवहार में सहसम्बन्ध नहीं ।

४—पाप-पुण्य तथा दैवीदण्ड और पुरस्कार की विवेचना से बालक में मानसिक द्वन्द्व आने का डर ।

५—सामान्य अध्यापक धार्मिक शिक्षा देने में अयोग्य और धर्म-शिक्षक बालकों के घनिष्ठ परिचय में नहीं आता ।

६—धर्म से आपसी बैर और साम्प्रदायिकता के बढ़ने का डर ।

७—धर्म व्यक्तिगत अनुभूति की वस्तु । इसका सामूहिक रूप ठीक नहीं ।

बालकों में सौन्दर्य और कलात्मक भावनाओं का विकास करना।
बालकों के नैतिक और चारित्रिक विकास में स्कूल को स्थान देना।
बालक के सर्वाङ्गीण विकास में योग देना।

प्रश्न

१—धर्म की क्या आवश्यकता है ? धर्म द्वारा व्यक्ति की शिक्षा में क्या योग मिल सकता है ?
२—धर्म का क्या तात्पर्य है ? धर्म और शिक्षा में क्या सम्बन्ध है ?
३—धर्म-शिक्षण में क्या-क्या कठिनाइयाँ आ सकती हैं ? हमारे देश में धार्मिक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए ?
२—धर्म के शैक्षिक कर्तव्यों की विवेचना कीजिए।

सहायक पुस्तकें

—रसेल, वरट्रेण्ड—एजूकेशन ऐण्ड द सोशल आर्डर, अध्याय ८, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लि० लन्दन, १९३२।
—ब्राउन, मर्लो आमर्स—ए हिस्ट्री ऑव रेलिजिस एजूकेशन इन रीसेण्ट टाइम्स, एबिङ्गटन प्रेस, १९२३।
—हर्ट, ई० ए० : टाइम्स ऑव् रेलिजिस फिलॉसॉफी, हार्पर, न्यूयार्क १९१६।
४—डीवी, जॉन—ए कॉमन फेथ मेल, यु० प्रेस, १९३४।
५—ममफोर्ड एल०—फेथ फ़ॉर लिविङ्ग, हरकोर्ट, १९४०।
६—ट्राउट डी० एम०—रेलिजिस बीहेवियर, मैकमिलन, १९३१।
७—भगवानदास—द एसेनशियल युनिटी आव् ऑल रेलिजिन्स, थियसाफ़िकल सोसाइटी, मद्रास, १९५५।
८—राहुल सांकृत्यायन—दर्शन-दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७।
९—सरयू प्रसाद चौबे—जनतन्त्रात्मक विद्यालय संगठन, अध्याय १२, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १९५८।

* * *

धार्मिक शिक्षा का समर्थन—

१—आज के भौतिक युग में धर्म की आवश्यकता। धर्म से मानवता के गुणों की वृद्धि।

२—धर्म के सहारे जीवन के दुर्गुणों को दूर कर सकना।

३—विभिन्न धर्मों में निहित समान आदर्शों की चर्चा।

४—धार्मिक शिक्षा से चरित्र निर्माण सम्भव।

५—भारत में धार्मिक आदर्शों को सांसारिक सुख के सामने बड़ा समझा गया है। अत. हमारी शिक्षा में धर्म को स्थान आवश्यक।

६—अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में सन्तुलन की आवश्यकता। यह धार्मिक शिक्षा से सम्भव।

७—धार्मिक शिक्षा का आधार मानव-धर्म।

धर्म-शिक्षण की कुछ कठिनाइयाँ

धार्मिक अनुभूति और जागृति अन्दर की वस्तु, इसे बालकों के ऊपर बाहर से लादा नही जा सकता। स्कूल के पूरे वातावरण को धार्मिक बनाना। केवल कोरा उपदेश ही नही। उत्तरदायित्व केवल धर्म-शिक्षकों पर ही नही। सारे अध्यापको का योग आवश्यक। आचरण द्वारा आदर्श उपस्थित करना।

धार्मिक शिक्षा मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव का डर। यह अभाव न आने पावे।

बालको के शोषण का भय। अतः धर्म के मूल सिद्धान्तो को सर्वाङ्गीण विकास के हित में ही केवल साधन के रूप मे लेना।

धर्म-शिक्षा को शिक्षा-सस्था होना चाहिये।

धर्म के कुछ शैक्षिक कर्तव्य

बालको के मन में शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति वर्द्धन के लिए रुचि उत्पन्न करना।

बालको को परलोक चिन्तन में रत न करना। उनके सामने जीवन का पूरा दृष्टिकोण रखना।

मानसिक गुणो के विकास के लिए बालकों को उत्साहित करना। अन्ध-विश्वास से बालकों को बचाना।

बालकों में सौन्दर्य और कलात्मक भावनाओं का विकास करना।
बालकों के नैतिक और चारित्रिक विकास में स्कूल को स्थान देना।
बालक के सर्वाङ्गीण विकास में योग देना।

प्रश्न

१—धर्म की क्या आवश्यकता है ? धर्म द्वारा व्यक्ति की शिक्षा में क्या योग मिल सकता है ?
२—धर्म का क्या तात्पर्य है ? धर्म और शिक्षा में क्या सम्बन्ध है ?
३—धर्म-शिक्षण में क्या-क्या कठिनाइयाँ आ सकती हैं ? हमारे देश में धार्मिक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए ?
४—धर्म के शैक्षिक कर्तव्यों की विवेचना कीजिए।

सहायक पुस्तकें

१—रसेल, बरट्रैण्ड—एजूकेशन ऐण्ड द सोशल आर्डर, अध्याय ८, आर्ज एलेन ऐण्ड अनविन लि० लन्दन, १९३२।
२—ब्राउन, अर्लो आयर्स—ए हिस्ट्री ऑव् रेलिजिस एजूकेशन इन रीसेण्ट टाइम्स, एबिङ्गडन प्रेस, १९२३।
३—बर्ट, ई० ए० : टाइम्स ऑव् रेलिजिस फिलॉसॉफी, हार्पर, न्यूयार्क १९१९।
४—हीवी, जॉन—ए कॉमन फेथ मेल, यु० प्रेस, १९३४।
५—मम्फोर्ड एल०—फेथ फॉर लिविङ्ग, हरकोर्ट, १९४०।
६—ट्राउट डी० एम०—रेलिजिस बीहेवियर, मैकमिलन, १९३१।
७—भगवानदास—द एशेनशियल युनिटी आव् ऑल रेलिजिन्स, थियसाफिकल सोसाइटी, मद्रास, १९५५।
८—राहुल सांकृत्यायन—दर्शन-दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४७।
९—सरयू प्रसाद चौबे—जनतन्त्रात्मक विद्यालय संगठन, अध्याय १२, भारत पब्लिकेशन्स, आगरा, १९५८।

* * *

२१

शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीयता[1]

अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रभाव का बढ़ना

विश्व के विभिन्न देश आज पहले की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक निकट है। यह विज्ञान का फल है। विज्ञान ने एक देश से दूसरे देश की दूरी को बहुत ही कम कर दिया है, क्योंकि आज हम २४ घण्टे में पृथ्वी के किसी भी कोने में पहुँच सकते हैं। दूसरे, विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी परस्पर निर्भरता[2] पहले से अब बहुत बढ़ गई है। अतः एक देश से दूसरे देश में लोगों का आवागमन बढ़ गया है और एक देश से दूसरे देश पर कई बातों के लिए निर्भर करने लगा है। इस प्रकार राजनीति, अर्थनीति तथा संस्कृति के क्षेत्र में पृथकता को छोड़कर अब लोग अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता[3] और सहिष्णुता[4] की ओर बढ़ रहे हैं। वर्तमान युग राष्ट्रीयता की भावना से प्रारम्भ हुआ, परन्तु बीसवीं शताब्दी में हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। फलतः अब लोग समझने लगे हैं कि संसार के सभी देशों को अब एक साथ ही चलना होगा, क्योंकि उनकी उन्नति तथा अवनति का एक दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या[5]

परन्तु यह सब होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि संसार में आज

1. Education and Internationalism. 2. Interdependence. 3. Cooperation. 4 Tolerance. 5. The problem of International Understanding.

शान्ति का राज्य है। हम दो महायुद्धों को देख चुके हैं, और उनके कुपरिणामों से अभी हम मुक्त नहीं हो पाये हैं, परन्तु तीसरे महायुद्ध की बात हम वर्षों से सुन रहे हैं, और बहुत से देशों में आपसी तनातनी बनी हुई है। इस प्रकार विभिन्न देशों में युद्धों को रोककर शान्ति स्थापित करना हमारे लिये एक शाश्वत समस्या हो उठी है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या हमारे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

विश्व-शान्ति की समस्या पहले राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से समझी जाती थी। संसार को प्रतियोगिता का एक बहुत बड़ा अखाड़ा समझा जाता था, और एक राष्ट्र दूसरे को 'दबा कर अपने हितों की रक्षा करना चाहता था। फलतः हमें प्रथम विश्वयुद्ध देखना पड़ा। 'लीग ऑव नेशन्स' की स्थापना से यह आशा की गई कि विश्व की समस्याओं का निराकरण एक दूसरे के सहयोग तथा 'परस्पर मध्यस्थता'[1] और बातचीत से हो जायगा। परन्तु ऐसा सोचना हमारा केवल स्वप्न था, और हमें द्वितीय विश्वयुद्ध भी देखना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'युनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन'[2] (यू० एन० ओ०) अर्थात् 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना हुई है। परन्तु यह संघ भी अपने उद्देश्यों में सफल होता नहीं ... रहा है। फलतः हमें कोरिया, इन्डोचायना तथा

... विविध राष्ट्रों से तनातनी बनी हुई
... राष्ट्रों से सन्धि स्थापित कर रहा
सैनिक शक्ति के वर्द्धन में यत्नशील है।
... होने में ... कहना कठिन है
... । अतः अब हमें
... हमें मानवता के
... देना पड़ेगा, तभी
... अन्त... को फैलाने के लिए
... ।

शक्ति-प्राप्ति[1] की प्रेरणा, प्रतिष्ठा-प्राप्ति[2] की प्रेरणा और लाभ-प्राप्ति[3] की प्रेरणा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में बुरी तरह से फैली हुई है।

शिक्षा का दायित्व

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या का निराकरण हमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोण से करना है। यदि हमारा समाज प्रतियोगिता[4] के आधार पर सगठित न होकर सहकारिता[5] के रग में रग जाय और यदि वह वस्तुतः गणतन्त्रात्मक[6] सिद्धान्तों पर आधारित हो जाय तो हमारी समस्या का समाधान स्वतः हो जायगा। हमारे समाज की विभिन्न सस्थायें, जैसे उत्पादन और वितरण के राजकीय[7] साधन, गोष्ठियाँ, विद्यालय और कुटुम्ब आदि गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित होने चाहिए, तभी हमारे समाज से अन्याय भाग सकती है। हमारे राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में गणतन्त्रात्मक मान्यताओं[8] का राज्य होना चाहिए, तभी मानव का कल्याण सम्भव होगा। भाग्यवश, आज ससार के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र गणतन्त्रात्मक मान्यताओं के अनुसार चलने का वचन देते हैं। परन्तु केवल वचन देने से ही काम न चलेगा। वचन का कार्यान्वित होना आवश्यक है। इस वचन के कार्यान्वित करने में शिक्षा का बड़ा भारी हाथ है। शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति की प्रवृत्ति को वाछित दिशा की ओर झुकाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस क्रम में शिक्षा का बड़ा भारी दायित्व है। नीचे हम देखेंगे कि शिक्षा इस दायित्व का पालन कैसे कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आज हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है कि व्यक्ति समस्त ससार को एक समझे और मानव एक इकाई में बँध जाय। शिक्षा के सहारे हमें व्यक्ति के हृदय में विश्व-नागरिकता[9], अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करना है। अभी तक हम शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना पर विशेष बल नहीं दे सके हैं। इतिहास, भूगोल,

1. Power motive. 2. Prestige motive. 3. Profit-motive.
4. Competition. 5. Cooperation 6. Democratic Principles.
7. The Government Means of Production and Distribution.
8. Democratic Values. 9. World Citizenship

साहित्य और विज्ञान के शिक्षण में हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही रहा है। ऐसी संकुचित राष्ट्रीयता का परिणाम बड़ा घातक सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसके फलस्वरूप 'हमारा देश सब देशों से श्रेष्ठ है'— इस भावना के वशीभूत हो एक राष्ट्र अपने प्रभाव को दूसरे राष्ट्र पर लादने का प्रयत्न करता रहा है। फलतः शोषण और प्रतिद्वन्द्विता से संसार आच्छादित हो चला और हमें दो विश्व-युद्धों का सामना करना पड़ा जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। शिक्षा को इस दुर्भावना को दूर करना है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आज की परिस्थिति की यह माँग है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास किया जाय और इसके विकास में शिक्षा का सहारा लिया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये शिक्षा का सिद्धान्त क्या होना चाहिए ? प्रचलित पाठ्यक्रम द्वारा इस शिक्षा को देने के लिये हमें किस विधि का सहारा लेना चाहिए ? अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास क्रम में अध्यापक किस प्रकार योग दे सकता है ?— ये सब समस्यायें हमारे सामने आती हैं। इन्हीं सब बातों पर अति संक्षेप में विचार किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास के लिए सर्वप्रथम हमें बालकों में स्वतन्त्र विचार तथा स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। सिनेमा, रेडियो, प्रेस, पुस्तक तथा नाटक आदि के सहारे व्यक्ति के विचार को आज किसी ओर भी झुकाया जा सकता है। अतः यह बड़ा आवश्यक है कि व्यक्ति में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति हो। इस शक्ति के सहारे व्यक्ति सभी बातों को तौल सकेगा और सत्य और असत्य का निर्णय करेगा।

इसी सिद्धांत से सम्बन्धित एक और भी सिद्धांत समान रूप से महत्वपूर्ण है। वह यह कि हमारे नवयुवकों को यह समझना चाहिये कि जो सिद्धांत एक राष्ट्र तथा विशिष्ट आयोजन में मानव-सम्बन्ध के लिये उपयुक्त हैं वे ही सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा अन्य आयोजन में मानव सम्बन्धों के लिये किस प्रकार

उपयुक्त होते हैं। इस समझ के विकास से ही अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सहिष्णुता चारों ओर फैल सकेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास के लिये हमें अपने राष्ट्र-प्रेम की भावना को [illegible] अवगुणों को [illegible] समझा जाय। [illegible] अपने राष्ट्र में उन्हें फैलाना ही सच्चे राष्ट्र-प्रेम का द्योतक है।

ऊपर हम इस प्रकार की परस्पर निर्भरता की ओर संकेत कर चुके हैं। प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी वस्तु के लिये दूसरे पर निर्भर रहता है। हमारी अध-भावनाओं ने इस सिद्धान्तों को पनपने नहीं दिया है। अन्तर्राष्ट्रीयता के हित में इस भावना का विकास करना बड़ा ही आवश्यक है। बालकों के शिक्षा क्रम में इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिये हमारे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में भय का दूर होना बड़ा ही आवश्यक है। मनुष्य को मनुष्य का भय बना रहता है और राष्ट्र को राष्ट्र का। इसीलिए वह दूसरे के विरुद्ध अपनी शक्ति वर्द्धन में लगा रहता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के भय से सेना का संगठन करता है अथवा किसी 'राजनीतिक गुट' का सदस्य होकर सैनिक सन्धियाँ करता है। भय की भावना युद्ध-भावना को भी जन्म देती है। अतः शिक्षा क्रम में हमें बालकों को यह भावना देनी है कि मनुष्य को मनुष्य के प्रति विश्वास करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा सामूहिक उत्तरदायित्व[1] के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। संसार में जो कुछ अच्छाइयाँ या बुराइयाँ हैं उनके लिए प्रत्येक बालक को अपने को समान रूप से उत्तरदायी समझना चाहिए। हमें अपने बालकों के हृदय में यह भाव भर देना चाहिए कि यह संसार एक है और सभी व्यक्ति एक ही विश्व के नागरिक हैं। हमें बालकों को यह भाव देना है कि वे संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही कुटुम्ब का एक सदस्य समझें और उनकी कठिनाई को अपनी कठिनाई समझें। यदि इस भावना ने उनके हृदय में घर कर लिया तो अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में देर न लगेगी।

---

1. Collective Responsibility.

क्योंकि भौगोलिक दशा के ज्ञान से अन्य राष्ट्रों की विचारों और नीतियों पर प्रकाश पड़ता है। भूगोल की उचित शिक्षा से विभिन्न राष्ट्रों की परस्पर-निर्भरता को बालकों को अच्छी तरह समझाया जा सकता है। भूगोल-शिक्षण से बालकों के हृदय में अन्य व्यक्तियों के लिए मैत्री भावना का विकास किया जा सकता है। इस भावना के आधार पर ही विश्व शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का भवन खड़ा करना सम्भव होगा।

इतिहास के सहारे भी बालकों के हृदय में शुभ भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। इतिहास को राष्ट्रीय भावना के जागरण का ही साधन नहीं समझना चाहिए। यह दृष्टिकोण बड़ा ही संकीर्ण होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता के हित में हमें इतिहास में राजनीतिक तथा विभिन्न राजाओं के संकीर्ण संघर्षों के स्थान पर इतिहास के सामाजिक और सांस्कृतिक अंगों पर विशेष ध्यान देना होगा। इतिहास में हमें मानवता से सम्बन्धित विषयों का समावेश करना चाहिए। युद्धों तथा राजाओं की वंशावलियों पर ही ध्यान देना विशेष लाभप्रद न होगा। इतिहास के पाठ्यक्रम में हमें विश्व के इतिहास को समुचित स्थान देना चाहिए, जिससे बालक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझें और उनका आदर करें। विद्यार्थियों को विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक तथा नैतिक उत्थान का ज्ञान देना चाहिए। उन्हें विश्व के महान पुरुषों के जीवन के आदर्शों को पढ़ाना चाहिए। इतिहास शिक्षण के अन्तर्गत हमें विद्यार्थियों को बतलाना चाहिए कि वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कार, साहित्य, अनुसन्धान तथा कला आदि सारे मानव जाति की सम्पत्ति है और वह उन महान आत्माओं के परिश्रम का फल है जो अपने को सारे विश्व का समझते हैं, न कि किसी विशिष्ट देश का। इसप्रकार के इतिहास-शिक्षण से बालकों में निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास होगा।

साहित्य भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार का एक अच्छा साधन है। वस्तुतः साहित्य तो मानवता की सम्पत्ति है और उसमें विश्व-बन्धुत्व, सफलता-विफलता, सुख-दुख, जय-पराजय तथा जीवन के विभिन्न संघर्षों की झलक हम देख सकते हैं। अच्छा साहित्य किसी विशिष्ट देश की सीमा में बँधा नहीं रहता। वह तो सारे विश्व की सम्पत्ति होती है, क्योंकि उसमें मानव-विचारों का स्रोत रहता है। मानव-विचारों से अवगत होने पर बालक अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं

के वशीभूत होने और वे सारे विश्व को ही अपना और अपने को
का समझें।

साहित्य की तरह कला को भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार का
माना जा सकता है, क्योंकि कला में भी मानव-भावनाओं का स्रोत
अर्थशास्त्र तथा विज्ञान आदि को भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना
का साधन बनाया जा सकता है। एक देश में युद्ध, अकाल तथा
की स्थिति का प्रभाव दूसरे देश पर किस प्रकार पड़ता है यह
समझाया जा सकता है। किस प्रकार खाद्य-समस्या का समाधान
स्तर पर ही सम्भव होता है यह अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य
चाहिए। विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों ने विभिन्न देश के निवासियों
को परस्पर-निर्भरता के बन्धन में बाँध दिया है यह विज्ञान की
को समझाया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार
विषयों का उपयोग किया जा सकता है।

अध्यापक का योग

अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार में अध्यापक के योग की ओर
किया जा चुका है। वस्तुतः अध्यापक का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है
हुए उसी पर निर्भर करता है। किसी विषय को वह विद्यार्थियों
कैसे उपस्थित करता है इसका बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। सर्वप्रथम अध्या
अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं में विश्वास होना चाहिए; दूसरे, इन भावनाओं को
को देने की उसकी उत्कट इच्छा होनी चाहिए। अध्यापक को बालकों
चाहिए कि यह विश्व एक ही है और सब लोग एक ही विश्व के नागरि
अतः संसार के किसी भाग में जन्म लेने का कोई महत्व नहीं होता।
ो बालकों को समझाना चाहिए कि जाति, वर्ण तथा धर्म आदि व्यक्ति
न से अन्तर नहीं करते; अन्तर करने वाली बात तो अपने-अपने नैतिक
सहानुभूति की कमी, अनाचार, अत्याचार तथा
करता है। यदि हम सब के अधीन हो व्यक्ति
यही अपने देश को दीनावस्था और यह सारे

को ही अपना समझने लगेगा। यदि अध्यापक बालकों को इस भावना में रंग सका तो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना ही चारों ओर दिखलाई पड़ेगी।

स्कूल का वातावरण

बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना के फैलाने के लिए स्कूल के पूरे वातावरण पर हमें ध्यान देना होगा। स्कूल के दैनिक कार्य में हमें कुछ ऐसे आयोजन करने [illegible] में यू० एन० ओ० [illegible] करना चाहिए। [illegible] प्रकाशन किया जा सकता है। त्योहारों, जयंतियों तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर वर्तमान युग के दूषणों पर प्रकाश डालते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता का गुण वर्णित किया जा सकता है। यू० एन० ओ० के बाल-विभाग में सदस्य बन जाने के लिए विद्यार्थियों को उत्साहित करना चाहिये।

यूनाइटेड नेशन्स

यूनाइटेड नेशन्स के प्रपत्र[1] के कुछ अंग जो कि २६ जून, १९४५ को सैन फ्रैंसिस्को में स्वीकृत किये गये शैक्षिक महत्वों से परिपूर्ण हैं। ये महत्व यूनाइटेड नेशन्स के उद्देश्यों में निहित हैं, जैसे :—

१—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की रक्षा करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी राष्ट्रों के योग से आवश्यक साधनों का अपनाना। न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करना, जिससे विश्व-शांति भंग न हो।

२—विभिन्न राष्ट्रों के समान अधिकार तथा अपनी नीतियों के निर्धारण की पूरी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के आधार पर परस्पर-मैत्री का सम्बन्ध जोड़ना तथा सर्वव्यापक शान्ति की स्थापना के लिए अन्य साधनों का अपनाना।

[illegible] जाति, भाषा, धर्म और लिङ्ग पर ध्यान न देते हुए आर्थिक, सामाजिक [illegible] समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाव खोजना, जिससे [illegible] और मानव-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त सर्वमान्य हो जाँय।

---

[1] Chapter 1 of the Charter.

नियन्त्रण। परन्तु मानव-मस्तिष्क पर नियन्त्रण नहीं। शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ-प्राप्ति की प्रेरणा।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या का निराकरण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोण से। सहकारिता का और गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का आधार।

शिक्षा का दायित्व

मानव को एक इकाई में बाँधना। विश्व-नागरिकता तथा मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न करना। संकुचित राष्ट्रीयता का परिणाम घातक।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का सिद्धान्त

स्वतन्त्रता विचार और निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करना।

मानव-सम्बन्धों के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों को समझना।

राष्ट्र-प्रेम की भावना को बदलना आवश्यक।

परस्पर-निर्भरता की भावना पर बल देना।

भय को दूर करना। भय की भावना से युद्ध-भावना का जन्म। मनुष्य को मनुष्य के प्रति विश्वास करना।

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा आधारित हो। समाज की अच्छाई तथा बुराई के लिए प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी। सभी व्यक्ति एक ही विश्व के नागरिक। दूसरों की कठिनाई को अपनी कठिनाई समझना।

मित्रता की सीमा अपने ही राष्ट्र की सीमा तक न बँधी हो।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधि

विभिन्न देशों के निवासियों, उनकी रहन-सहन, संस्कृति, इतिहास आदि को पाठ्यक्रम में स्थान। इनका ठीक-ठीक ज्ञान बालकों को देना। इतिहास, भूगोल, विज्ञान और साहित्य का सहारा।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास अध्यापकों पर निर्भर। बालकों के सामने सत्य को रखना।

९—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में वार्तालापात्मक तर्क-पद्धति के विकास
विशेष बल देना चाहिए।

१०—सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में नागरिकता की शिक्षा के लिए कक्षा,
र तथा समाज को प्रयोगशाला' के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

यूनेस्को के कार्य-विधि से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा के लिए हमें
प्रकार प्रयास करना चाहिए। अतः यदि इसकी कार्य-विधि को प्रत्येक
ा-केन्द्र अपनाए तो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार शीघ्र होगा।

सारांश

अंतर्राष्ट्रीयता के प्रभाव का बढ़ना

वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप हम एक दूसरे के निकट। हमारी
र-निर्भरता। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और सहकारिता की ओर। चारों
अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव।

अंतर्राष्ट्रीय अवबोध की समस्या

परन्तु आज शान्ति का राज्य नहीं। देशों में आपसी-तनातनी। अन्तर्राष्ट्री-
को अवबोध की समस्या महत्वपूर्ण।

यू० एन० ओ० अपने उद्देश्यों में सफल नहीं। विविध राष्ट्रों में तनातनी।
ाष्ट्रीय अवबोध के लिए मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक साधनों का सहारा।

भग्नाशा और शोषण की प्रवृत्ति

भग्नाशा युद्ध की जड़। दूषित सामाजिक संगठन से भग्नाशा की उत्पत्ति।
आवश्यकताओं और साधनों में खाई। वैज्ञानिक आविष्कारों से हमारी
म्बन्धी अपेक्षाओं का बढ़ना। भग्नाशा-ग्रस्त व्यक्तियों की बाढ़। शोषण
वृत्ति।

शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ-प्राप्ति की प्रेरणा

f कारों से उत्पादन में हमारी दक्षता, प्रकृति पर हमारा

सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिए दस सिद्धान्तों का निर्माण।

यूनेस्को की कार्य-विधि से अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा-प्रणाली का हमें ज्ञान होता है।

प्रश्न

१—आजकल अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव क्यों बढ़ रहा है? अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए हमें क्या करना चाहिए?

२—अन्तर्राष्ट्रीयता के फैलाने के लिए हमें किस शिक्षा-सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए?

सहायक पुस्तकें

१—कैन्ट्रिल, एच०—टेन्शन्स दैट कॉज़ वार, यूनिव० ऑव् इलीन्वाय, १९५०।

२—एजूकेशन पॉलिसीज़ कमीशन—(एन ई ए) प्वाइन्ट फ़ोर ऐण्ड एजूकेशन, वाशिङ्गटन, डी० सी, १९५०।

३—क्लिनबर्ग, प्रो०—टेन्शन्स अफेक्टिङ्ग इन्टरनेशनल अण्डरस्टैंडिङ्ग, बुलटिन नं० २, द सोशलसाइन्स रीसर्च कौन्सिल, १९५०।

४—यूनेस्को—फण्डामेण्टल एजूकेशन, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९४७।

५—यूनेस्को—वर्ल्ड कम्यूनिकेशन, कोलम्बिया यूनिव० न्यूयार्क, १९५२।

६—मूर० सी० बी० ऐण्ड कोल, डब्लू० ई०—सोशियॉलॉजी इन एजूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय १३, हूफ़्टन मिफ्लिन कम्पनी, न्यूयार्क १९५२।

७—सईदैन, के० जी०—एजूकेशन फॉर इन्टरनेशनल अण्डरस्टैंडिंग, हिन्द किताब लि० बम्बई, १९४८।

कहानियो द्वारा प्राथमिक कक्षाओं में बालकों को अन्तर्राष्ट्रीय बातों का ज्ञान देना। मानवीय भूगोल पर विशेष ध्यान। भूगोल की उचित शिक्षा से परस्पर निर्भरता का ज्ञान देना।

इतिहास में मानवता से सम्बन्धित विषयों का समावेश करना। विश्व के इतिहास को स्थान। विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक तथा नैतिक उत्थान का ज्ञान देना। महान् पुरुषों के जीवन चरित्र को पढ़ाना।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए साहित्य अच्छा साधन। साहित्य मानवता की सम्पत्ति। साहित्य में मानव विचारों का स्रोत।

कला भी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार का साधन।

अर्थशास्त्र और विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीयता-भावना के प्रचार का साधन।

अध्यापक का योग

अध्यापक पर ही बहुत कुछ निर्भर। उसका अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं में विश्वास होना आवश्यक।

स्कूल का वातावरण

स्कूल के पूरे वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का सचार होना। यू० एन० ओ० परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्लब। वर्तमान युग के दूषणों पर प्रकाश डालना।

यूनाइटेड नेशन्स

इसका प्रथम शैक्षिक महत्वों से परिपूर्ण।

अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिये

ससार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक और शिक्षा का प्रसार। ज्ञान की रक्षा करना तथा वैज्ञानिक समस्याओं का निराकरण विद सारभूत शिक्षा प्रसार।

क—शिक्षा और चल-चित्र[1] या 'मोशन पिक्चर'

चल-चित्र विकास बीसवीं शताब्दी की एक अद्भुत देन है। इसके आविष्कार से सारे संसार के मनोरंजन के साधनों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया है, और अब शिक्षा-क्षेत्र में भी इसके उपयोग की महत्ता को लोग स्वीकार करने लगे हैं। चल-चित्र के शैक्षिक उपयोगिता से इसके आविष्कारक बहुत पहले से ही परिचित थे, परन्तु अब तक इसका द्रुततम विकास मनोरंजन के ही क्षेत्र में हुआ है, तथापि शिक्षा के क्षेत्र में भी चल-चित्र का अब प्रयोग किया जाने लगा है। इस क्षेत्र में अमेरिका अग्रगण्य है। हमारे देश में तो केवल राजकीय संस्थाओं द्वारा ही कदाचित् कुछ स्कूलों को प्रयोग के लिए कुछ चल-चित्र मिल जाते हैं, परन्तु अभी तक विशेष चल-चित्र के उपलब्ध न होने से हमारे देश के स्कूलों में इसका प्रयोग नहीं के बराबर है।

शैक्षिक क्षेत्र में चल-चित्र के लाभ[2] और सीमायें[3] दोनों उसी प्रकार के हैं जैसे किसी भी दूसरे विधि अथवा प्रणाली के होते हैं। नीचे हम इसके लाभ और सीमाओं पर ही दृष्टिपात करेंगे।

चल-चित्र से शैक्षिक लाभ

१—चल-चित्र की सहायता से 'ध्वनि'[4] और 'रंग'[5] दोनों कक्षा में आ जाता है और इससे एक ऐसी वास्तविकता[6] का बोध होता है जो और किसी विधि से सम्भव नहीं है।

२—जो प्रक्रियायें बहुत काल तक चलती रहती हैं और जो देश के विभिन्न स्थलों पर घटित होती हैं उन्हें कक्षा में लाने के लिए चल-चित्र के अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है। किसी भी फैक्टरी, मिल, खान अथवा कार्य-क्षेत्र की प्रक्रिया को चल-चित्र की सहायता से कक्षा में लाकर विद्यार्थियों को तत्सम्बन्धी बातें बड़ी अच्छी तरह समझाई जा सकती हैं।

३—प्रकृति तथा कुछ उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में कुछ प्रक्रियायें इतनी शीघ्रता

---

1. Education and Motion Picture. 2. Advantages. 3. Limitations. 4. Sound. 5. Colour. 6. Realism.

२२

शिक्षा : चल-चित्र और नभवाणी[1]

अन्वेषणों से पता चला है कि चलचित्र देखने वाले नवयुवकों में अधिकांश लोग चलचित्र इसलिए जाते हैं, क्योंकि वह मनोरंजन का एक सरल और सस्ता साधन है। समाज की विषमता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है और व्यक्ति का कार्य ज्यों ज्यों अधिक विशिष्टित[2] रूप धारण करने लगता है, व्यक्ति को मनोरंजन की आवश्यकता का अत्यधिक अनुभव होने लगता है। यह मनोरंजन किसी प्रकार के खेल, इधर-उधर मनोरंजन के स्थान पर जाना अथवा चल-चित्र के द्वारा प्राप्त करने का व्यक्ति प्रयत्न कर सकता है। मनोरंजन द्वारा अवसाद, थकान तथा जीवन की अन्य कठिनाइयों से थोड़ी देर के लिए व्यक्ति अवकाश पा जाता है और उसे बड़े सन्तोष का अनुभव होता है। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि चल-चित्र मानसिक स्वास्थ्य के हित में कुछ लाभप्रद है। परन्तु इस लाभ के अतिरिक्त कुछ हानियाँ भी हैं जिन पर हमारा ध्यान अवश्य जाना चाहिए। चल-चित्र से व्यक्ति कुछ ऐसे विचारों को ग्रहण कर सकता है जिनसे उसके चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। चलचित्र से दूसरी हानि यह है कि अपने मनोरंजन के लिए व्यक्ति उस पर इस प्रकार निर्भर हो सकता है कि अन्य साधनों की प्राप्ति अथवा चिन्तन के लिए वह एकदम असमर्थ हो सकता है। इस अध्याय में हम चल चित्र के विविध लाभ और हानियों पर दृष्टिपात नहीं कर सकेंगे। हमारा प्रयत्न यहाँ केवल स्कूल में उसके प्रयोग से लाभ और हानियों के संक्षिप्त विवेचन से ही रहेगा।

1. Education : Motion Picture and Radio. 2. Specialized.

६—चल-चित्र से कक्षा में छात्रों को सौन्दर्यबोधक और सुखद अनुभव दिये जा सकते हैं।

१०—चल-चित्र की सहायता से विद्यार्थियों को वस्तु, विचार और घटना के परस्पर-सम्बन्ध को समझाया जा सकता है। जैसे, चल-चित्र की सहायता से कपास की उपज, रुई का निकालना, कपड़ों का बुनना, उन्हें बाजार में बेचना तथा दर्जी के यहाँ उनका सीना दिखलाया जा सकता है।

अब नीचे चल चित्र की सीमाओं पर विचार किया जायगा।

चल-चित्र की सीमाएँ[1]

१—शिक्षण में जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनमें चल-चित्र में सबसे अधिक दाम लगता है। अतः प्रत्येक स्कूल के लिए यह उपलब्ध नहीं हो सकता। ऊपर भी इस ओर सकेत किया जा चुका है।

२—चल-चित्र मनोरंजन का साधन है। अतः बहुत सम्भव है कि कुछ शिक्षक इसके शैक्षिक महत्व पर समुचित ध्यान न देकर इसे मनोरंजन का ही एक साधन मान लें।

३—चल-चित्रों से विद्यार्थियों को समय का गलत अनुमान हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि एक शताब्दी की कुछ घटनायें आधे घन्टे में उपस्थित की गई तो विद्यार्थी यह अनुमान कर सकता है कि वास्तविक जीवन में भी उनके घटने में आधा ही घण्टा लगा है। दूसरे चल-चित्र घटना के बाद दूसरी घटना को देख कर विद्यार्थी गलत समझ सकता है कि उनके कारण में परस्पर सम्बन्ध है।

४—चल-चित्र में छोटी-छोटी वस्तुओं को बड़े आकार में दिखलाया जाता है। इससे विद्यार्थियों को आकार का गलत ज्ञान हो सकता है—वे सोच सकते हैं कि वे वस्तुएँ उतनी ही बड़ी होती हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टैनली हॉल को यह ज्ञात हुआ कि एक स्कूल के प्रारम्भिक कक्षाओं के विद्यार्थी गाय को चूहे के बराबर बड़ा समझते थे, क्योंकि उनकी पाठ्य पुस्तक में गाय का चित्र चूहे के आकार के बराबर दिया गया था।

५—चल चित्र के उपलब्ध रहने पर प्रत्यक्ष अनुभव के लिये सुयोग रहने

1. Limitations.

अथवा मन्द गति से चलती हैं कि हमारी आँखें उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं सकती, परन्तु चल-चित्र की सहायता से इसे सम्भव किया जा सकता है।

४—सामान्य शिक्षण-क्रम में चल चित्र की सहायता से छात्रों की रुचि बढ़ जाती है, क्योंकि चल चित्र के विविध दृश्य तथा उसकी गतियाँ उनके ध्यान को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इस प्रकार सीखना उनके लिए मनोरंजन हो जाता है।

५—भूतकाल की घटनाओं को नाटक के रूप में चल-चित्र की सहायता से विद्यार्थियों को समझाया जा सकता है। जैसे पन्द्रहवी शताब्दी में किसी विशिष्ट स्थल के निवासियों की रहन-सहन कैसा था इसे नाटक के रूप में चल-चित्र द्वारा कक्षा में उपस्थित किया जा सकता है।

६—चल-चित्र की सहायता से आवश्यकतानुसार किसी वस्तु के आकार को बढ़ा अथवा घटाकर कक्षा में रखा जा सकता है। जैसे, चल-चित्र में हम केवल रक्त-सचार की प्रक्रिया को ही नहीं, वरन् रक्त में स्थित सफेद और लाल कीटाणुओं[1] को भी देख सकते हैं। इसी प्रकार दूरबीन से भी जो वस्तुएँ हम नही देख पाते उन्हे हम चल-चित्र की सहायता से कक्षा में दिखला सकते हैं।

७—प्रति व्यक्ति के हिसाब से कम ही दाम में चल-चित्र एक बड़ी सख्या के दर्शकों के यहाँ पहुँच जाता है। मान लीजिए, यदि किसी चल-चित्र के बनाने में एक लाख रुपया खर्च हुआ और उसे एक लाख बालको को
है तो प्रति व्यक्ति खर्च एक ही रुपया पड़ा और यदि यह
तक चले तो प्रति व्यक्ति खर्च ½ रु० आया।

चल-चित्र मन्द और तीव्र दोनों प्रकार के विद्यार्थियों के लिये समान रूप से रुचिकर होता है। अतः इसकी सहायता से दोनों को पढ़ाया जा सकता है।

नेत्र-दोष, भाषा की कठिनाई, पढ़ने की गलत विधि, मन्द बुद्धि तथा संवेगात्मक धक्के आदि के कारण कोई विद्यार्थी किसी बात के समझने में असमर्थ हो सकता है। चल-चित्र की सहायता से इन कठिनाइयों को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि एक मन्द बुद्धि बालक चल-चित्र से उतना ही लाभ उठा सकता है जितना कि एक तीव्र बुद्धि बालक। तीव्र बुद्धि बालक स्वभावतः चल-चित्र से अधिक लाभ उठायेगा, क्योंकि अपेक्षाकृत उसकी पृष्ठ-भूमि तथा समझने की शक्ति मन्द बुद्धि वाले से अच्छी है।

परन्तु हाँ, यह सत्य है कि पुस्तक पढ़ने की अपेक्षा मन्द बुद्धि बालक चल-चित्र से अधिक लाभ उठा सकता है।

कुछ शैक्षिक चल-चित्रों के प्रकार

शैक्षिक चल-चित्र प्रायः उन चल-चित्रों को कहा जाता है जिन्हें प्रायः विद्यार्थियों को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही तैयार किया जाता है। अमेरिका में तैयार किये जाने वाले शैक्षिक चल-चित्र प्रायः छः प्रकार के होते हैं :— १—कक्षा चल-चित्र[1], २—औद्योगिक चल-चित्र[2], ३—स्कूल में बनाया[3] हुआ चल-चित्र, ४—वास्तविक जीवन का चल-चित्र[4], ५—समाचार वाला[5] चल-चित्र और ६—चल-चित्र नाटक[6]। नीचे प्रत्येक के क्षेत्र की ओर संकेत किया जा रहा है। कक्षा चल-चित्र का सम्बन्ध कक्षा में किसी विषय के शिक्षण से रहता है। जो व्यक्ति स्कूल की आवश्यकताओं से अवगत रहते हैं वे ही इसे बना सकते हैं। औद्योगिक चल-चित्र का प्रधान उद्देश्य विज्ञापन होता है और इसमें फैक्टरी और मिल के मालिकों की रुचि काम करती है। औद्योगिक चल-चित्रों में विज्ञापन के क्रम में बालकों की दृष्टि में कुछ अवांछित बातें भी आ जाती हैं। अतः स्कूल में उनके उपयोग में सावधानी की आवश्यकता होती है। विद्यार्थियों के कार्य-सम्बन्धी (जैसे, खेल तथा बाहरी यात्रा) चल-चित्र कुछ स्कूलों द्वारा बनाये

1. Classroom films. 2. Industrial films. 3. School made films. 4. Documentary films. 5. News reel. 6. Photoplays.

पर भी शिक्षक उसी के उपयोग की ओर झुक सकता है। किसी फैक्टरी की प्रक्रिया-सम्बन्धी चल चित्र दिखलाना व्यर्थ होगा जब पास की किसी फैक्टरी में वहाँ की प्रक्रियाओं को देखने के लिए विद्यार्थियों को भेजा जा सकता है। जीवन की वास्तविक परिस्थिति अथवा अनुभव की बराबरी पुस्तक अथवा चल-चित्र नहीं कर सकते।

६—चल-चित्र सामूहिक अध्ययन का ही एक साधन है, परन्तु कभी-कभी किसी बात को समझने के लिए व्यक्तिगत अध्ययन भी आवश्यक हो सकता है। सम्भव है कि जब चल-चित्रों का आधिक्य हो जाय तो उनका व्यक्तिगत अध्ययन भी सम्भव हो जाय, परन्तु अभी तक तो यह इस प्रकार व्यावहारिक नहीं हो सका है।

स्कूल-कार्य में चल-चित्र से सहायता

अब तक पाश्चात् देशों (विशेषकर अमेरिका) के स्कूलों में चल-चित्र का उपयोग बालकों को विभिन्न बातों सम्बन्धी ज्ञान देने के लिये किया गया है। बहुत से लोगों की धारणा है कि चल-चित्र की सहायता से स्वास्थ्य, सामयिक देशी और विदेशी घटनायें, राजनैतिक सिद्धान्त, सामाजिक और आर्थिक, समस्यायें, तथा मानव-सम्बन्ध आदि विषयक बातें विद्यार्थियों को सरलता से समझायी जा सकती हैं। इस प्रकार चल-चित्र बालकों को नये-नये अनुभव तथा सामाजिकता और नैतिकता की चेतनता दे सकता है।

अन्वेषणों से पता चला है कि घण्टों के पढ़ने से बालक जो बातें नहीं सीख पाते उन्हें वे आधे ही घंटे में चल चित्र की सहायता से समझ सकते हैं। संसार ज्ञान से इतना भरा हुआ है कि ज्ञान प्राप्त करने में समय की जो कुछ भी बचत हो तो वह बहुत ही मूल्यवान है।

चल-चित्र की सहायता से विभिन्न विचारों में एक सम्बन्ध सरलता से जोड़ा जा सकता है।

शिक्षा-विशेषज्ञ स्कूल में वास्तविकता के लाने पर बल देते हैं। चल-चित्र से कक्षा में कुछ वास्तविकता लाई जा सकती है।

चल-चित्र सहायता से विद्यार्थी कला की रसानुभूति कर सकते हैं।

सकती है। चल-चित्र में बहुत से ऐसे विचार और समस्यायें मिलते हैं जिन पर विचार-विमर्श किया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा के लिए उपयुक्त अनेक चल-चित्र आजकल अमेरिका में उपलब्ध हैं, जैसे, स्वास्थ्य तथा नागरिकता आदि सम्बन्धी।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के लिये चल-चित्र की सहायता बहुत ही लाभप्रद है। युद्ध के लिये भिन्न-भिन्न नये अस्त्रों का आविष्कार किया गया है उन्हें समझना एक व्यक्ति के लिये आवश्यक समझा जा सकता है। स्कूल को यह उत्तरदायित्व लेना चाहिये कि वह भावी नागरिकों को युद्ध की निरर्थकता तथा उसमें नष्ट होने वाले अतुल धन को समझावें। इस सम्बन्ध में अमेरिका में कई रोचक चल-चित्र तैयार किये गये हैं।

चल-चित्र की सहायता से पढ़ाना

कक्षा में चल-चित्रों की सहायता से पढ़ाने के लिये कुछ सावधानी की आवश्यकता है। चल-चित्रों के सम्बन्ध में यह न सोचना चाहिये कि उन्हें विद्यार्थियों को केवल दिखला देने से ही काम चल जायगा। शिक्षक को यह देखना है कि विद्यार्थी चल-चित्र को कक्षा में मनोरंजन का एक साधन ही न समझ लें। अतः उसे सिखलाना होगा कि चल-चित्र को वह शिक्षा की एक विधि समझें। चल-चित्र के उपयोग में दो प्रधान उद्देश्यों को रखना चाहिये—(१) साधारण निष्कर्ष और (२) कुछ विशिष्ट बातों का ज्ञान। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत सम्बन्धी कोई चल-चित्र दिखलाते समय निम्नलिखित साधारण निष्कर्षों को निकालने के लिये विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है—

१—दक्षिण भारत के राज्यों की स्थिति को विद्यार्थियों को ठीक-ठीक समझाना।

२—इस भाग की पैदावार से उन्हें परिचित करना।

३—इस भाग की कुछ सामाजिक समस्याओं की ओर विद्यार्थियों का ध्यान करना।

४—इस भाग के कुछ प्रसिद्ध नेताओं से विद्यार्थियों को परिचित करना।

प्रेरणा में किसी प्रकार का परीक्षण करना, यात्रा करना, कोई वस्तु बनाना, कुछ लिखना या पढ़ना हो सकता है। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है।

विद्यार्थियों के आदर्श, ज्ञान और अच्छी आदतों के निर्माण में जो चल-चित्र जितना ही योग देता है उसे उतना ही उपयुक्त समझना चाहिए। अतः विद्यार्थियों की परीक्षा के आधार पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इस दृष्टिकोण से कोई विशिष्ट चल-चित्र उपयुक्त है अथवा नहीं।

(ख) शिक्षा और नभवाणी या रेडियो[1]

नभवाणी अथवा रेडियो कहने में जितना समय लगता है उसमे कम ही समय में रेडियो सारे पृथ्वी की यात्रा कर लेता है, अर्थात् एक सेकेण्ड से भी कम समय में रेडियो की सहायता से हम संसार के किसी भी कोने में से समाचार भेज और पा सकते हैं। अमेरिका में तो प्रायः घर-घर में रेडियो है। हमारे देश के शहरों में अब तो रेडियो की संख्या बढ़ती जा रही है। देहातों में भी कुछ लोग बैटरी-रेडियो का उपयोग करने लगे हैं। ग्राम्य सभा के द्वारा सरकार गाँवों में भी रेडियो का प्रचार कर रही है। हमारे देश के गाँव और शहर के हाई स्कूलों में भी रेडियो रखने की प्रथा चल पड़ी है। देश के विभिन्न रेडियो स्टेशनों से स्कूलों के लिए विशेष कार्यक्रम का आयोजन किया जाता है। यहाँ हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि स्कूल के कार्यक्रम अर्थात् शिक्षण-प्रणाली के क्रम में रेडियो का क्या स्थान है। सर्वप्रथम हम रेडियो के लाभ पर दृष्टिपात करेंगे।

रेडियो से शैक्षिक लाभ[2]

१ रेडियो की सहायता से किसी स्थल पर होने वाली घटना का वर्णन

अथवा संगीत आदि हम नित्य अपने रेडियो पर सुनते हैं।

1. Education and Radio. 2. Educational Advantages of Radio.

विशिष्ट बातों के सम्बन्ध में निम्नलिखित पर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित
किया जा सकता है—

१—इस भाग की वह उपज जो अन्य स्थानों को भेजी जाती है, तथा

२—वे वस्तुएँ जो यहाँ दूसरे भाग से मगाई जाती हैं आदि, आदि।

इस प्रकार बालकों के सामने कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को स्पष्टतः रखकर
शिक्षक को चल-चित्र का प्रयोग करना चाहिये।

चलचित्र को कक्षा के सामने उपस्थित करने के पूर्व शिक्षक को उसका स्वयं
से अच्छी तरह अध्ययन कर लेना चाहिए। उसे पहले ही यह समझ लेना चाहिये
कि चल-चित्र में आये हुए किन दृश्यों, शब्दों तथा बातों की पुनर्व्याख्या बालकों
के लिये करनी होगी। इस प्रकार की तैयारी से विद्यार्थियों का बड़ा ही लाभ
होगा।

शिक्षक को यह समझना चाहिए कि शिक्षण के किस स्थान पर अर्थात्
प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में—चल-चित्र का उपयोग करना चाहिये। उदा-
हरणार्थ 'अणुशक्ति'[1] पर वाला चल-चित्र पाठ के अन्त में ही दिखलाना उचित
होगा, क्योंकि 'अणु शक्ति' के बारे में अच्छी तरह पढ़ लेने के बाद चल-चित्र
से उसकी और पुष्टि की जा सकती है। बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ में दिखलाने
से विद्यार्थियों के समझ में ही अणुशक्ति-सम्बन्धी चल चित्र न आवे।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कुछ विद्यार्थी चल चित्र को अपने
मनोरंजन का एक साधन मान सकते हैं। अतः चल चित्र को शिक्षण विधि का
एक अंग मानने के लिए विद्यार्थियों को तैयार करना चाहिए। चल-चित्र के
उद्देश्य और विषय के अनुसार विद्यार्थियों को कुछ लिखने, पढ़ने या करने को
देना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थियों के मन से यह धारणा जाती रहेगी कि
कक्षा में प्रयुक्त चल-चित्र उनके मनोरंजन का साधन है।

शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि जिस चल-चित्र के देखने से और आगे
सीखने की प्रेरणा नहीं मिलती वह शिक्षण-विधि के रूप में निम्न कोटि का है।
अतः विद्यार्थियों को आगे सीखने की उसे अवश्य प्रेरणा देनी चाहिए। इस

1. Atomic Energy.

प्रेरणा में किसी प्रकार का परीक्षण करना, यात्रा करना, कोई वस्तु बनाना, कुछ लिखना या पढ़ना हो सकता है। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है।

विद्यार्थियों के आदर्शों, ज्ञान और अच्छी आदतों के निर्माण में जो चल-चित्र जितना ही योग देता है उसे उतना ही उपयुक्त समझना चाहिए। अतः विद्यार्थियों की परीक्षा के आधार पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इस दृष्टिकोण से कोई विशिष्ट चल-चित्र उपयुक्त है अथवा नहीं।

(ख) शिक्षा और नभवाणी या रेडियो[1]

नभवाणी अथवा रेडियो कहने में जितना समय लगता है उससे कम ही समय में रेडियो सारे पृथ्वी की यात्रा कर लेता है, अर्थात् एक सेकेण्ड से भी कम समय में रेडियो की सहायता से हम संसार के किसी भी कोने में से समाचार भेज और पा सकते हैं। अमेरिका में तो प्रायः घर-घर में रेडियो है। हमारे देश के शहरों में अब तो रेडियो की संख्या बढ़ती जा रही है। देहातों में भी कुछ लोग बैटरी-रेडियो का उपयोग करने लगे हैं। ग्राम्य सभा के द्वारा सरकार गाँवों में भी रेडियो का प्रचार कर रही है। हमारे देश के गाँव और शहर के हाई ... रखने की प्रथा चल पड़ी है। देश के विभिन्न रेडियो स्टेशनों ... जाता है। यहाँ हम यह ... अर्थात् शिक्षण-प्रणाली के क्रम में ... के लाभ पर दृष्टिपात करेंगे।

शैक्षिक लाभ[2]

... स्थल पर होने वाली घटना का वर्णन ... से भी सुनी जा सकती है। हमारे रेडियो ... के विभिन्न स्थलों से समाचार, भाषण ...डियो पर सुनते हैं।

2. E...

२— रेडियो से श्रोता में यह भाव पैदा होता है मानो घटना-क्रम में वह भी सम्मिलित है।

३—रेडियो से हममें संवेगात्मक जागृति होती है। रेडियो द्वारा श्रोताओं में वांछित भाव उत्पन्न किया जा सकता है। रेडियो की सहायता से बच्चों में हम किसी वांछित आदर्श अथवा आदत की नींव डाल सकते हैं।

४—रेडियो की सहायता से देश-विदेश के विद्वानों, वैज्ञानिकों, शिक्षकों तथा स्वास्थ्य-विशेषज्ञों की वाणी को कक्षा में लाया जा सकता है।

५—रेडियो के आने से 'विचार विनिमय' में 'स्थान की दूरी' कोई विशेष अड़चन नहीं डालती। अणुबॉम के जो विस्फोट किये जाते हैं उन्हें रेडियो की सहायता से संसार के करोड़ों व्यक्ति सुनते हैं।

६—रेडियो से कक्षा-शिक्षण-विधि में एक मनोरंजक परिवर्तन आ जाता है।

७—रेडियो का उपयोग बड़े-बड़े विद्यार्थी-समूह के लिए किया जा सकता है।

रेडियो की सीमायें

रेडियो की कुछ सीमायें भी हैं जिनके कारण इसका अत्यधिक प्रयोग अवरोधित हो जाता है। इन सीमाओं की ओर नीचे अति संक्षेप में संकेत किया जा रहा है :—

१—हमारे गरीब देश के लिए रेडियो इतना मँहगा है कि अभी तक प्रत्येक स्कूल के लिए इसका रखना संभव नहीं हो सका है।

२—रेडियो के सारे कार्य-क्रम स्कूल के लिए सुलभ नहीं होते, क्योंकि जब रेडियो के प्रधान कार्य-क्रम चलते हैं उस समय स्कूल प्रायः बन्द ही रहता है, इसलिए तो कुछ स्टेशनों से स्कूल के लिए विशेष कार्य-क्रम का आयोजन किया जाता है। हाँ, यह ठीक है कि टेपरेकर्डर[1] से रेडियो के किसी भी कार्य-क्रम को रेकर्ड करके स्कूल में सुनाया जा सकता है। परन्तु टेपरेकर्डर इतना मँहगा है कि बहुत कम ही स्कूल उसे खरीद सकते हैं।

३—रेडियो केवल 'एक ओर से वार्ता'[2] का साधन है। अतः श्रोतागण

---

[1] ... [2] One-way communication

कि रेडियो-कार्यक्रम के समय विद्यार्थियों का ध्यान एकदम उसी ओर चला जाता है। परन्तु किसी बात को समझाने का पूरा उत्तरदायित्व शिक्षक को अपने ही ऊपर लेना चाहिए।

२—यथासम्भव रेडियो-कार्यक्रम को कक्षा के अन्दर ही सुनना चाहिए। स्कूल के हाल में अथवा बाहर मैदान में उसे नहीं सुनना चाहिए। कक्षा में सुनने से कक्षा शिक्षण का साधारण वातावरण बना रहता है। स्कूल के विभिन्न कक्षाओं के विद्यार्थियों के बड़े समूह में कक्षा की महत्ता जाती रहती है।

३—रेडियो के उचित कार्यक्रम को सुनना चाहिए जिससे विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन में सहायता मिल सके। किसी कार्यक्रम के चुनने में शिक्षक को निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) क्या यह कार्यक्रम शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार सहायक होगा ?

(२) क्या इसमें आई हुई बातें सत्य हैं ?

(३) क्या इसमें एक तारतम्य है ?

(४) क्या इस कक्षा के लिये यह उपयुक्त है ?

(५) क्या इससे और आगे बढ़ने के लिए विद्यार्थी अभिप्रेरित होगा ?

(६) क्या वह अन्त में सभी बातों का सारांश निकालकर उस ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करता है ?

(७) क्या वह रोचक है ?

(८) क्या इसमें भावात्मक और बौद्धिक दोनों जागृतियाँ विद्यार्थियों में आयेंगी।

(९) क्या इसकी अवधि उपयुक्त है ?

रेडियो के कार्यक्रम के चुनाव में विद्यार्थियों की उम्र और कक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि उम्र और कक्षा के अनुसार उनके समझने की शक्ति में विभेद पाया जाता है। रेडियो स्टेशन द्वारा जो सूचना-पुस्तिकायें प्रकाशित हुआ करती हैं उनकी सहायता से शिक्षक इसका निर्णय कर सकता है और तदनुसार कार्यक्रम को सुनने और समझने के लिये वह विद्यार्थियों को पहले से ही तैयार कर सकता है।

इस प्रकार रेडियो की सहायता से *कक्षा-कार्य* को और परिपूर्ण बनाया जा सकता है ।

अवकाश-काल के सदुपयोग के लिए शिक्षित करना—

वर्तमान युग में व्यक्ति का अवकाश-काल बढ़ता जा रहा है । इस अवकाश-काल के सदुपयोग के लिये विविध उपाय दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं । इन उपायों में कुछ वांछित और कुछ अवांछित हैं । इन उपायों में से रेडियो भी एक है । अतः स्कूल का यह कर्तव्य है कि रेडियो को वह ऐसा बनाये कि वह *अवकाश-काल के उपयोग का अवांछित साधन न हो सके ।* इसमें उसे विद्यार्थियों के सहयोग की आवश्यकता होगी । इस सहयोग का उनकी रुचियों से घनिष्ट सम्बन्ध होगा । प्रत्येक विद्यार्थी की कुछ न कुछ रुचि होती है । रेडियो के कार्य-क्रम में भाग लेने के लिये उत्साहित करके इस रुचि को और परिष्कृत किया जा सकता है । यदि धीरे-धीरे सभी व्यक्तियों की रुचियाँ परिष्कृत हो जाँय तो रेडियो से अवांछित कार्यक्रम आयेंगे ही नहीं । इस प्रकार रेडियो की सहायता से व्यक्ति अवकाशकाल के सदुपयोग के लिए शिक्षित हो जायगा ।

निर्णय-शक्ति का विकास करना—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि रेडियो के कार्यक्रम में वांछित और अवांछित बातें दोनों रहती हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि वांछित कार्यक्रमों को चुन लेने के लिये श्रोता में निर्णय-शक्ति चाहिये । विद्यार्थियों को यह निर्णय-शक्ति देना स्कूल का कर्तव्य है । रेडियो के कार्यक्रमों में से सत्य और असत्य, तर्क और परिहास तथा उपयोगी और हानिकर आदि के पहचान की शक्ति विद्यार्थी में आनी चाहिये । यह शक्ति उसमें नहीं आ सकती यदि शिक्षक स्वयं उसके लिये निर्णय दे देता है । अतः शिक्षक को विद्यार्थियों को स्वयं निर्णय करने के लिये उत्साहित करना चाहिये ।

स्कूल में रेडियो के सदुपयोग के लिए कुछ संकेत[1]

१—रेडियो-कार्यक्रम को शिक्षण क्रम में एक सहायता मात्र समझना चाहिए, क्योंकि वह कक्षा शिक्षण का स्थान कभी नहीं ले सकता । यह ठीक है

1. Some Suggestions for utilization of Radio in the school.

३—अति द्रुत अथवा अति मन्द प्रक्रियाओं को कक्षा में ला सकना।
४—छात्रों की रुचि। मौलिक मनोरंजन।
५—भूतकाल की घटनाओं को नाटक के रूप में उपस्थित कर सकना।
६—आवश्यकतानुसार चलचित्र की सहायता से किसी वस्तु के आकार को घटा या बढ़ा कर कक्षा में उपस्थित किया जा सकता है।
७—प्रति व्यक्ति कम ही खर्च।
८—प्रपढ़ के लिए उपयोगी। मन्द और तीव्र विद्यार्थी में कुछ समता ला सकना।
९—सौन्दर्यबोधक और सुखद अनुभव।
१०—वस्तु, विचार और घटना के परस्पर-सम्बन्ध को समझा सकता।

चलचित्र की सीमायें

१—दाम अधिक। प्रत्येक स्कूल के लिए उपलब्ध नहीं।
२—मनोरंजन का ही साधन मान बैठना।
३—समय का गलत अनुमान।
४—आकार का गलत अनुमान।
५—प्रत्यक्ष अनुभव के लिए सुयोग रहने पर भी चलचित्र की ही ओर झुक जाना।
६—व्यक्तिगत अध्ययन सम्भव नहीं।

स्कूल-कार्य में चल-चित्र से सहायता

बालकों को नये-नये अनुभव। सामाजिक और नैतिकता की चेतनता।
ज्ञान प्राप्त करने में समय की बचत।
विभिन्न विचारों में सम्बन्ध जोड़ सकना।
कक्षा में वास्तविकता।
कला की रसानुभूति।
मन्द बुद्धि बालक को विशेष लाभ।

४—यथासम्भव कक्षा-शिक्षण के क्रम में ही रेडियो का उपयोग कर[illegible] चाहिए। यदि पाठ्य पुस्तक से सम्बन्धित किसी रेडियो के कार्यक्रम को पाया [illegible] सका तो बड़ा अच्छा होगा। भाग्यवश, कुछ रेडियो स्टेशन इस दृष्टिकोण से [illegible] स्कूलों के कार्यक्रम का आयोजन करते हैं।

५—रेडियो कार्य-क्रम के समय शिक्षक को यह देखना चाहिये कि विद्या[illegible] शान्ति रखें। यदि विद्यार्थियों को यह अच्छी तरह समझा दिया जाय कि रेडिय[illegible] कार्यक्रम छोटी अवधि का होता है और एक बार कही हुई बात को दुबार[illegible] दोहराया नहीं जाता तो सम्भवतः वे स्वय अपना ध्यान कार्यक्रम की ओर केन्द्रि[illegible] कर लेंगे। कार्यक्रम के समय नोट लेने को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब तक विद्यार्थी एक बात को लिखेगा तब तक सम्भव है कि वह किसी बात को ठीक से सुन न सके। अतः उसे अपना ध्यान एकाग्रीकरण के लिए उत्साहित करना चाहिए, और यदि कुछ लिखना हो तो कार्यक्रम समाप्त होने के बाद उसे लिखने को उससे कहना चाहिये।

६—रेडियो-कार्यक्रम को आगे और सीखने के लिए प्रेरक समझना चाहिये।

७—रेडियो-कार्यक्रम का स्कूल में अत्यधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। अपनी आवश्यकता के आधार पर शिक्षक इस अत्यधिकता का निर्णय कर सकता है।

८—रेडियो स्टेशन के सचालक को अपनी शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकता अवगत करने में शिक्षक को सकोच न करना चाहिये।

सारांश

क—शिक्षा और चल-चित्र

चलचित्र बीसवीं शताब्दी की अद्भुत देन। मनोरजन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन। शिक्षा-क्षेत्र में इसका उपयोग। अमेरिका अग्रगण्य। हमारे देश के स्कूलों में इसका उपयोग नहीं के बराबर।

चल-चित्र से शैक्षिक लाभ

१—'ध्वनि', [illegible] 'रग', [illegible] का कक्षा में आना।

२ [illegible]

६—शिक्षण-विधि में मनोरंजक परिवर्तन।

७—बड़े समूह में उपयोग।

रेडियो की सीमायें

१—महँगा।

२—सारे कार्यक्रम स्कूल के लिए सुलभ नहीं।

३—केवल एक ओर से वार्ता का साधन।

रेडियो शिक्षण के उद्देश्य

कक्षा-कार्य को और परिपूर्ण बना सकना—

शिक्षक के कार्य को और सरस और सारगर्भित बनाना। पाठ्य-पुस्तक की बातों का विश्लेषण और परस्पर-सम्बन्धीकरण। विभिन्न विशेषज्ञों की वाणी ला सकना।

लेखन-प्रणाली का ढंग समझना। कक्षा-शिक्षण में वास्तविकता लाना।

अवकाश-काल के सदुपयोग के लिए शिक्षित करना—

अवकाश-काल का बढ़ना।

रेडियो को अवकाश-काल के सदुपयोग का साधन बनाना।

निर्णय-शक्ति का विकास करना—

शिक्षक वाछित और अवांछित बातों के पहचान में निर्णय न दें।

स्कूल में रेडियो के सदुपयोग के लिए कुछ संकेत

१—शिक्षण-क्रम में एक सहायता मात्र समझना।

२—रेडियो को कक्षा के अन्दर ही सुनना।

३—उचित कार्यक्रम को चुनना।

४—यथासम्भव कक्षा-शिक्षण के क्रम में।

५—कार्यक्रम के समय शान्ति रखना और ध्यान देने के लिये विद्यार्थियों से कहना।

६—आगे सीखने के लिए प्रेरक समझना।

७—अत्यधिक प्रयोग नहीं।

८—रेडियो स्टेशन संचालक से अपनी आवश्यकता कहना।

कुछ शैक्षिक चल-चित्रों के प्रकार

ः प्रकार के शैक्षिक चलचित्र ।

चल-चित्र के कुछ विशेष उपयोग

ावसायिक निर्देशन के क्षेत्र में ।

ठ्य विषयान्तर क्रियाओं में ।

नये कार्यों के विज्ञापन मे ।

ढ शिक्षा के क्षेत्र में ।

तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के लिए ।

ार्थी चल-चित्र को मनोरंजन का साधन न समझ लें । चल-चित्र क

की एक विधि समझना । साधारण निष्कर्ष निकाल सकना और कु

ातों का ज्ञान होना ।

-चित्र कक्षा में दिखलाने के पूर्व अध्यापक को उसका अध्ययन कर लेना

क को यह समझना कि चल-चित्र प्रारम्भ, मध्य या अन्त में दिखलाना

-चित्र के उद्देश्य और विषय के अनुसार विद्यार्थियों को काम देना ।

ने के लिए प्रेरणा देना ।

र्थियों के आदर्श, ज्ञान और अच्छी आदतों के निर्माण में योग ।

ख—शिक्षा और नभवाणी

ो का उपयोग बढ़ता जा रहा है ।

रेडियो से शैक्षिक लाभ

कहीं की भी वाणी सुन सकना ।

श्रोता मानो घटनाक्रम में सम्मिलित ।

दृश्यात्मक आवृत्ति, बालक में वांछित भाव उत्पन्न कर सकना ।

विभिन्न क्षेत्र के विशेषज्ञों की वाणी कक्षा में लाई जा सकती है ।

विचार-विनिमय' में 'स्थान की दूरी' द्वारा अड़चन नहीं ।

प्रश्न

१—चल-चित्र से क्या शैक्षिक लाभ हैं ? उनकी सीमाओं को स्पष्ट कीजिये।

२—स्कूल कार्य में चल-चित्र से कैसे सहायता ली जा सकती है ?

३—रेडियो से क्या शैक्षिक लाभ हैं ?

४—शिक्षालय में रेडियो के प्रयोग में हमें किन-किन बातों पर ध्यान दे चाहिए ?

सहायक पुस्तकें

१—डेल, ई०—मोशन पिक्चर ऐण्ड रेडियो, मैग्राहिल, १९३८।

२—ब्राउन, एफ० जे०—सोशियलॉजी ऑव चाइल्डहुड, अध्याय १८, प्रेन्टिस हॉल, १९३९।

३—ब्लेक, जे० एम०—सोशियलॉजिकल फाउंडेशन्स ऑव एडुकेशन, अध्याय २५ और २७, टॉमस वाई क्रोवेल कम्पनी, १९४२।

४—मैकीन एण्ड राबर्ट्स—ऑडियो-विजुवल एड्स टु इन्सट्रक्शन, द्वि० सं०, अध्याय ६ और १३, मैग्राहिल, १९५९।

५—डेल, ई०—ऑडियो-विजुवल मेथड्स इन टीचिंग, अध्याय ७ और १०, ड्राइडेन, न्यूयार्क, १९४६।

६—हैरिसन, एम०—रेडियो इन क्लासरूम, प्रेन्टिस हाल, १९३७।

७—डेण्ट, ई० सी०—द ऑडियो-विजुवल हैण्डबुक, पृष्ठ ९७–१११, १२७, १३२, सोसाइटी फॉर विजुवल एडुकेशन, इंक, शिकागो, १९०९।

८—वैक, एल०—रेडियो ऐण्ड चिल्ड्रेन, एडुकेशन भाग ६०, पृष्ठ ६४६–६४८, जून १९४०।

९—फर्न, जी० एच०—टीचिंग विद फिल्म्स, द ब्रूस पब्लिशिंग कम्पनी, मिलवाकी, १९४६।

• • •

व्यक्ति सस्कृत कैसे होता है ? —

व्यक्ति जो कुछ सीखता है उस पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु वातावरण का प्रभाव पड़ते ही वह अपने एक ऐसे व्यक्तित्व अथवा आत्म[1]

[illegible]

[illegible]

...त्मक तत्वों की कसौटी पर की जाती है।

जार्ज एच० मीड[2] के अनुसार संस्कृति को अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन तीन अवस्थाओं को सीखने अथवा शिक्षा का क्रम कहा जा सकता है।

पहली अवस्था वह है जब व्यक्ति अपने चारों ओर के व्यक्तियों का अनजान में अनुकरण करने लगता है। वह दूसरों की क्रियाओं को देख अनुकरण में मुस्कराता है, हँसता है, कुछ बातें कहता है, अथवा अन्य कार्य करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चा अपने को दूसरों की तरह बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

दूसरी अवस्था 'खेल' की कही जा सकती है जब व्यक्ति खेल में विभिन्न लोगों, जैसे, पुलिस, डाक्टर, शिक्षक तथा इन्जीनियर आदि के कार्य का स्वांग रचता है। इस स्वांग की सहायता से तथा अपने साथियों के सम्पर्क में आने से संस्कृति के विभिन्न तत्वों को वह अपने व्यक्तित्व में अपनाता है। अपने मस्तिष्क में अभी वह विभिन्न तत्वों के परस्पर सम्बन्ध को नहीं देख पाता।

तीसरी अवस्था सुसंगठित खेल की है जिसमें व्यक्ति अपने व्यवहार में सफलता और अनुरूपता लाने में समर्थ होता है। इस अवस्था में उसे अपने साथियों की मनोवृत्तियों और अपेक्षाओं का ध्यान रखना होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सामाजिक मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति व्यवहार दिखलाना सीखता है। अब वह उन आदर्शों, सिद्धान्तों, विश्वासों को अपनाने लगता है जो संस्कृति द्वारा ठीक ठहराये गये हैं। फलतः अब व्यक्ति का व्यवहार लोगों की अपेक्षाओं के

---

1. Self. 2. *George H. Mead—Mind, Self and Society* pp. 144-64. The Univ. of Chicago, Chicago, 1934.

तथा वर्तमान काल में उसने जो कुछ प्राप्त किया है वह संस्कृति के अन्तर्गत आ जाता है।

उप-संस्कृति[1]—

व्यक्ति अकेले अथवा समूह में विभिन्न कार्यों के करने की नई विधियों का आविष्कार किया करता है, अर्थात् वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के लिए वह विविध उपायों की रचना किया करता है। वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने तथा सुख से जीवन व्यतीत करने के लिए संसार के विभिन्न देशों में मानव ने विभिन्न प्रकार के उपायों की कल्पना की है। अतः इससे संस्कृति का एक दूसरा अर्थ भी निकलता है। इस अर्थ के अनुसार किसी एक स्थान विशेष के किसी एक काल के मानव की पूरी रहन-सहन से संस्कृति का तात्पर्य समझा जाता है। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज के विश्वास[2], मान्यतायें[3], परम्परायें[4], विविध क्रियायें[5] तथा भौतिक[6] वस्तुयें आ जाती हैं। संस्कृति का यह एक संकुचित अर्थ है और यह अर्थ किसी विशिष्ट देश की संस्कृति के लिए समझा जाता है। ऐसी ही संस्कृति को उप-संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। कहना न होगा कि विभिन्न देशों अथवा स्थानों के अनुसार विभिन्न प्रकार की उप-संस्कृतियाँ पाई जा सकती हैं।

संस्कृति का सार्वभौमिक रूप[7]

संस्कृति के कुछ तत्व सार्वभौमिक माने जा सकते हैं, क्योंकि सामान्यतः वे सभी समाज में पाये जाते हैं, यद्यपि उनके विषय, अर्थ, कार्य और रूप में कुछ भेद अवश्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ, भाषा मानव साहचर्य[8] का आधार है और किसी भी संस्कृति के अस्तित्व के लिए इसका होना आवश्यक है। प्रायः प्रत्येक देश के लोगों का किसी न किसी प्रकार का 'कौटुम्बिक जीवन'[9] होता है, सभी जीवन का अपना-अपना एक दृष्टिकोण रखते हैं, सभी किसी न किसी प्रकार की कुछ 'अमानवीय सत्ता की पूजा'[10] या आराधना करते हैं, सभी समाज में

---

1. Sub-culture. 2. Beliefs. 3. Values. 4. Traditions. 5. Activities. 6. Material things. 7. Universal nature of Culture. 8. Human assocation. 9. Family life. 10. Worship of the supernatural.

व्यक्ति संस्कृत कैसे होता है ?—

व्यक्ति जो कुछ सीखता है उस पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु वातावरण का प्रभाव पड़ते ही वह अपने एक ऐसे व्यक्तित्व अथवा आत्म[1] का विकास कर पाता है जो सामाजिक मान्यताओं के प्रायः अनुकूल होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यवहार की परीक्षा संस्कृति के विभिन्न तत्वों की कसौटी पर की जाती है।

जार्ज एच० मीड[2] के अनुसार संस्कृति को अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुज़रना होता है। इन तीन अवस्थाओं को सीखने अथवा शिक्षा का क्रम कहा जा सकता है।

पहली अवस्था वह है जब व्यक्ति अपने चारों ओर के व्यक्तियों का अनजान में अनुकरण करने लगता है। वह दूसरों की क्रियाओं को देख अनुकरण में मुस्कराता है, हँसता है, कुछ बातें कहता है, अथवा अन्य कार्य करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चा अपने को दूसरों की तरह बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

दूसरी अवस्था 'खेल' की कही जा सकती है जब व्यक्ति खेल में विभिन्न लोगों, जैसे, पुलिस, डाक्टर, शिक्षक तथा इञ्जीनियर आदि के कार्य का स्वांग रचता है। इस स्वांग की सहायता से तथा अपने साथियों के सम्पर्क में आने से संस्कृति के विभिन्न तत्वों को वह अपने व्यक्तित्व में अपनाता है। अपने मस्तिष्क में अभी वह विभिन्न तत्वों के परस्पर-सम्बन्ध को नहीं देख पाता।

तीसरी अवस्था सुसंगठित खेल की है जिसमें व्यक्ति अपने व्यवहार में सयतता और अनुरूपता लाने में समर्थ होता है। इस अवस्था में उसे अपने साथियों की मनोवृत्तियों और अपेक्षाओं का ध्यान रखना होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सामाजिक मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति व्यवहार दिखलाना सीखता है। अब वह उन आदर्शों, सिद्धान्तों, विश्वासों को अपनाने लगता है जो संस्कृति द्वारा ठीक ठहराये गये हैं। फलतः अब व्यक्ति का व्यवहार लोगों की अपेक्षाओं के

1. Self. 2. *George H. Mead—Mind, Self and Society* pp. 144-64. The Univ. of Chicago, Chicago, 1934.

नियन्त्रण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध को सुव्यवस्थित करने के लिए उसे विविध उपायों की कल्पना करनी होती है। रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा अन्य सामाजिक नियम व्यक्ति के व्यवहार पर आवश्यक नियन्त्रण हेतु ही विकसित होते हैं। युद्ध, जीत, सन्धि तथा व्यापार आदि से अन्य लोगों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और साथ ही व्यवहार पर नियन्त्रण की विधियों का निश्चय किया जाता है। स्पष्ट है कि संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण का एक उत्तम साधन है।

३—संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास में सहायक होती है। संस्कृति का यह कार्य संस्कृति के उपर्युक्त सामाजिक कार्य से सम्बन्धित है। जैसे-जैसे व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आता है वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक वंशानुक्रम का व्यक्ति के समाज अथवा संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि जैसे-जैसे व्यक्ति संस्कृति के विभिन्न अंगों के सम्पर्क में आता है वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व का विकास निखरता जायगा।

साधारण से साधारण संस्कृति इतनी जटिल हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति उसके सभी अंगों में भाग नहीं ले सकता। लिन्टन[1] के अनुसार व्यक्ति तीन प्रकार से संस्कृति के अंगों में भाग ले सकता है :—१—सार्वलौकिक रूप में—अर्थात् उन आदतों, विचारों और संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को जिन्हें समाज के प्रायः सभी प्रौढ़ व्यक्ति अपनाते हैं; २—विशेष रूप [illegible] उन तत्वों को अपनाना जिन्हें समाज का एक विशिष्ट अंग अथवा [illegible] वाले अथवा एक विशेष लिंग[2] वाले अपनाते हैं; ३—वैकल्पिक[3] संस्कृति के वे तत्व जिन्हें समाज के कुछ ही व्यक्ति भाग्यवश अप[illegible] व्यक्ति जितना ही अधिक संस्कृति के ऐसे वैकल्पिक अंगों को [illegible] उतना ही अधिक संस्कृत कहते हैं, अर्थात् उसका [illegible] सुविकसित समझा जाता है। इन वैकल्पिक अंगों को अपना[illegible] हैं उनमें शिक्षा का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

---

1. *Linton, Ralph—The Study of Man*, p. 272, D[illegible]ury, New York, 1936. 2. *Particular sex group.*

साधारण प्रतिक्रियायें आती हैं। ऐसे समाज में सविधिक[1] शिक्षा का प्रायः अभाव देखा जाता है, क्योंकि तब 'सीखने' अर्थात् 'शिक्षा' का तात्पर्य सामुदायिक जीवन के प्रति साधारण रूपों के अनुसार व्यवहार को व्यवस्थित करना होता है, अर्थात् तब जीवन का प्रधान उद्देश्य प्रायः अपनी जाति की रक्षा करना, जीविकोपार्जन करना, पड़ोसियों तथा अन्य शत्रुओं से अपनी रक्षा करना, तथा मान्य देवी और देवताओं की पूजा करना आदि होता है। इन सब बातों को सीखने के लिए सविधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। ये सब बातें तो निजी अनुभव से ही सीख ली जाती हैं। परन्तु जब संस्कृति जटिल[2] हो जाती है तो विभिन्न तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए 'शिक्षा की विशेषित संस्था'[3] का विकास करना आवश्यक हो जाता है। इस 'विशेषित शिक्षा-संस्था' को 'स्कूल' कहते हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व के विकास पर संस्कृति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्तित्व के विकास से है, अतः शिक्षा का स्वरूप समाज की संस्कृति के स्वरूप पर निर्भर करता है। हमें यह ध्यान देना है कि 'स्कूल' शिक्षा देने का एक स्रोत है। स्कूल के अतिरिक्त समाज में अन्य भी कई शिक्षा के स्रोत होते हैं जो कि विकसित होते हुए बच्चे पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। शिक्षा के इन स्रोतों में संस्कृति के वे अंग ही प्रभावशाली होते हैं जिन्हें हम सभी लोगों ने मान्यता दे रखी है। हमें यह न भूलना चाहिये कि अपनी शिक्षा के क्रम में व्यक्ति स्वयं अपने विविध अनुभवों में से चुनाव करता है। अपने अनुभवों के बल पर कभी-कभी वह वातावरण के अनुसार अपने को ढाल भी लेता है। दूसरे शब्दों में, समाज व्यक्ति को बनाता है और व्यक्ति समाज को बनाता है। एक ही समाज में विभिन्न बालक विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव उसके घर[4] तथा विशिष्ट वातावरण[5] की संस्कृति पर भी निर्भर करते हैं। अतः किसी बालक के सम्बन्ध में हमें तुरन्त ही किसी निर्णय पर नहीं पहुँच जाना चाहिये। कोई निर्णय करने के पूर्व हमें यह समझना चाहिये कि संस्कृति की किस श्रेणी से वह आ रहा है। विभिन्न सामाजिक समूह के बालक

1. Formal Education. 2. Complex. 3. Specialized Educational Institution. 4. Home. 5 Environment.

किसी समाज के पुरुषार्थ में विभिन्न प्रकार की मनःवृत्तियों का प्रदर्शन करेंगे। स्पष्ट है कि व्यक्ति उसी प्रकार से चिन्तन करना सीखता है और उसका व्यवहार 'चिन्तन' की परिभाषा करता है।

घर और वातावरण के अनुसार एक ही समाज के सदस्यों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विभेद पाया जा सकता है। इसीलिये तो एक वृहद संस्कृति के अन्तर्गत कई उप संस्कृतियों[1] की चर्चा की जाती है। अतः बालक के सम्यक् प्रकार विकास के लिये शिक्षक को उसकी उप संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों अर्थात् उसके घर और वातावरण को समझना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक को बालक के माता पिता की सांस्कृतिक[2] प्रेरणाओं को भी समझना चाहिये। उनकी सांस्कृतिक प्रेरणाओं का सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी उनकी अपेक्षाओं से है। साधारणतः यह माना जा सकता है कि किसी समाज के सभी व्यक्ति शिक्षा के उद्देश्यों से सहमत होते हैं। यदि शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एकमत न रहे तो समाज के विकास की गति अविरल न हो सकेगी । किन्तु आज हमारे देश में शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में कई मत दिखलाई पड़ते हैं। शिक्षा के उद्देश्य की यह भिन्नता नागरिकों के विभिन्न जीवन दृष्टिकोण की ओर संकेत करती है। लोगों में जीवन का विभिन्न दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। परन्तु कुछ सर्वस्वीकृत सामाजिक मान्यताओं के अनुसार हमें अपने जीवन को चलाना ही होगा और शिक्षा इन मान्यताओं के अनुसार ही संचालित होनी चाहिये।

दूसरी संस्कृति को हेय समझने की भावना और शिक्षा[3]

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि संसार की विभिन्न संस्कृतियों में विभेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी के लिये किसी पक्षी का मांस खाना बहुत बुरा समझा जाता है और कोई उसी को बहुत ही अच्छा मानता है। कुछ लोग अपना भोजन पका कर खाते हैं, और दूसरे उसे कच्चा ही खाते हैं। संस्कृति की विभिन्नता के कारण कुछ लोग अपने विचारों को दूसरों पर लादना चाहते हैं, और इसमें असफल होने पर आपस में युद्ध करते हैं। स्पष्ट है कि संस्कृति की

---

1. Sub-Cultures. 2. Cultural Motives. 3. Ethnocentrism and Education.

विभिन्नता हमारे आपसी मनमुटाव, तनाव और वैमनस्य का कारण हो सकती है, क्योंकि एक संस्कृति के मानने वाले दूसरी संस्कृति को हेय समझते हैं और अपनी को सर्वश्रेष्ठ । जब कि लोग सहिष्णुतावश दूसरी संस्कृति को ठीक समझते हैं, तब भी अपनी संस्कृति के मापदण्ड से ही दूसरी संस्कृति की बातों पर अपना निर्णय देते हैं। इसका कदाचित मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि वे लोग अपने व्यवहार को स्वाभाविक मानने लगते हैं और उसी व्यवहार को दूसरे में देखते हैं तो उसे निम्नकोटि का समझते हैं। दूसरे, प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो कि उस संस्कृति की श्रेष्ठता पर बल देती हैं। उदाहरणार्थ, देश-भक्ति की भावना अपनी संस्कृति को पूर्ण और निर्दोष समझने लगती है। चर्च मिशनरी आंदोलन में भाग लेने वाले व्यक्ति केवल अपने ही धर्म को ठीक मानते हैं और दूसरों को गलत। अतः वे दूसरों को अपने धर्म की ओर खींचना चाहते हैं।

शिक्षा के सामने यह एक कठिन समस्या है कि लोगों के मन से अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में उपर्युक्त गलत भावना को कैसे दूर किया जाय। यह भावना पहले केवल किसी विशिष्ट जनसमुदाय, क्षेत्र अथवा राष्ट्र तक ही सीमित थी, परन्तु अब यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या हो गई है। इस भावनावश स्कूल में विभिन्न विद्यार्थियों में पर्याप्त सहयोग नहीं दिखलाई पड़ता और इससे शिक्षा-क्रम में बड़ी कठिनाई आ जाती है। जब अपने समाज के लिये कुछ त्याग करना सिखाना होता है तो यह भावना लाभप्रद भी हो सकती है। परन्तु अच्छा तो यही होगा कि व्यक्ति के मन से अपनी संस्कृति को श्रेष्ठतर मानने की भावना को निकाल दिया जाय।

जो अपनी संस्कृति को श्रेष्ठतर मानने की भावना से ग्रस्त रहते हैं उन्हें कदाचित प्रारम्भ से ही संस्कृति के विषय में गलत धारणायें दी जाती हैं; और फलतः उनका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है, इसलिये शिक्षा व्यक्ति के इस दोष को दूर करने में अवश्य सहायता कर सकती है। वस्तुतः इस दोष को दूर करना शिक्षा का एक कर्तव्य हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को अन्य संस्कृतियों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें बतलाई जाँय और उन्हें अन्य संस्कृतियों के अध्ययन के लिये उत्साहित भी किया जाय। हमें

तीन प्रकार से संस्कृति के अंगों में भाग। सार्वलौकिक, विशेष रूप में, और वैकल्पिक रूप में।

व्यक्ति सस्कृत कैसे होता है ?—

व्यक्ति के व्यवहार की परीक्षा संस्कृति के विभिन्न तत्वों की कसौटी पर।

संस्कृति के अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है।

अनुकरण, खेल तथा सुसगठित खेल की तीन अवस्थायें।

संस्कृति और शिक्षा

संस्कृति का शिक्षा पर प्रभाव। शिक्षा से हम जो कुछ सीखते हैं उस पर संस्कृति का प्रभाव। संस्कृति के विभिन्न तत्व हमें सीखने की प्रेरणा देते हैं।

संस्कृति के अविकसित होने से—शिक्षा व्यवस्था साधारण। सविधिक शिक्षा का अभाव। संस्कृति के जटिल होने पर सविधिक शिक्षा के लिए शिक्षा की विशेषित संस्थाओं का विकास।

शिक्षा का स्वरूप समाज की संस्कृति के रूप पर निर्भर। स्कूल शिक्षा देने का केवल एक स्रोत। शिक्षा के अन्य स्रोत भी।

एक ही समाज के बालक अपने घर तथा विशिष्ट वातावरण के अनुसार विभिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं, अतः बालक को समझने के लिए उसकी संस्कृति को समझना।

कुछ सर्व स्वीकृत सामाजिक मान्यताओं के अनुसार शिक्षा का संचालन।

दूसरी संस्कृति को हेय समझने की भावना और शिक्षा

संस्कृति की विभिन्नता आपसी तनाव का कारण। लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरी को हेय। इस भावना को निकालना शिक्षा के लिए एक समस्या।

... को अन्य संस्कृतियों के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान देना।

विद्यार्थियों को समझाना चाहिये कि अन्य संस्कृतियों के प्रति सहिष्णुता दिखलाने का तात्पर्य अपनी सस्कृति के प्रति अभक्ति नही दिखलाना है। हमें विद्यार्थियों के सामने इस बात पर बल देना है कि गणतन्त्र राज्य का स्थायित्व विभिन्न संस्कृति वाले जनसमुदाय के सहयोग पर ही निर्भर करता है, अतः इस सहयोग का रास्ता सदैव खुला रहना चाहिए—अर्थात् अन्य सस्कृतियो के प्रति सहिष्णुता दिखलानी चाहिए। अल्पसख्यक वर्ग और अन्तर्वर्ग शिक्षा के अध्याय में इस पर कुछ और प्रकाश डाला जायगा।

सारांश

संस्कृति का स्वरूप और अर्थ

सस्कृति क्या है ?—

सस्कृति का अर्थ विभिन्न रूप में। अर्थ के बारे में मतभेद। 'सस्कृति' के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा बनाई हुई सभी वस्तुएँ और विचार। सस्कृति शब्द वर्तमान और भूत दोनो काल के इतिहास की ओर सकेत करता है।

उप-सस्कृति—

सस्कृति के अन्तर्गत किसी समाज के विश्वास, मान्यताएँ, परम्परायें, विविध क्रियायें तथा भौतिक वस्तुएँ आदि।

सस्कृति का सार्वभौमिक रूप—

सार्वभौमिक तत्व :—भाषा, कौटुम्बिक जीवन, अमानवीय सत्ता की पूजा, आर्थिक व्यवस्था।

संस्कृति का कार्य

१—प्राकृतिक वातावरण में व्यवस्थापन का साधन, मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव और प्रकृति पर मनुष्य का प्रभाव।

२—सामाजिक वातावरण में व्यवस्थापन का साधन।

३—व्यक्तित्व विकास का साधन।

तीन प्रकार से संस्कृति के अंगों में भाग। सार्वलौकिक, विशेष रूप में, और विकल्पिक रूप में।

व्यक्ति संस्कृत कैसे होता है ?—

व्यक्ति के व्यवहार की परीक्षा संस्कृति के विभिन्न तत्वों की कसौटी पर।

संस्कृति के अपनाने के क्रम में 'आत्म' को तीन अवस्थाओं से गुजरना होता है।

अनुकरण, खेल तथा सुसंगठित खेल की तीन अवस्थायें।

संस्कृति और शिक्षा

संस्कृति का शिक्षा पर प्रभाव। शिक्षा से हम जो कुछ सीखते हैं उस पर संस्कृति का प्रभाव। संस्कृति के विभिन्न तत्व हमें सीखने की प्रेरणा देते हैं।

संस्कृति के अविकसित होने से—शिक्षा व्यवस्था साधारण। सविधिक शिक्षा का अभाव। संस्कृति के जटिल होने पर सविधिक शिक्षा के लिए शिक्षा की विशेषित संस्थाओं का विकास।

शिक्षा का स्वरूप समाज की संस्कृति के रूप पर निर्भर। स्कूल शिक्षा देने का केवल एक स्रोत। शिक्षा के अन्य स्रोत भी।

एक ही समाज के बालक अपने घर तथा विशिष्ट वातावरण के अनुसार विभिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं, अत. बालक को समझने के लिए उसकी संस्कृति को समझना।

कुछ सर्व स्वीकृत सामाजिक मान्यताओं के अनुसार शिक्षा का संचालन।

दूसरी संस्कृति को हेय समझने की भावना और शिक्षा

संस्कृति की विभिन्नता आपसी तनाव का कारण। लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरी को हेय। इस भावना को निकालना शिक्षा के लिए एक समस्या।

विद्यार्थियों को ज्ञान देना।

प्रश्न

१—संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? संस्कृति के कार्यों की ओर संकेत कीजिए।

२—'संस्कृति और शिक्षा' पर एक लेख लिखिए।

३—अन्य संस्कृतियों के प्रति बालकों में सहिष्णुता उत्पन्न करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

सहायक पुस्तकें

—लिन्टन, आर०—द स्टडी ऑव् मैन, पृष्ठ ३२६-७. डी-अपिल्टन, न्यूयार्क, १९३६।

—बेनडिक्ट, रुथ—पैटर्न्स ऑव् कल्चर, हफ्टन मिफ्लिन, १९३४।

—मीड, जी० एच०—माइण्ड, सेल्फ ऐण्ड सोसाइटी, शिकागो युनिवर्सिटी, शिकागो, १९३८।

—मर्फी, जी० ऐण्ड अदर्स—एक्सपेरिमेण्टल सोशल साइकॉलॉजी, हार्पर, १९३४।

—विस्टन, एस०—कल्चर ऐण्ड ह्यूमन बिहेवियर, द रोनाल्ड प्रेस, १९३१।

—ब्रूबेक, जे०—सोशियलॉजीकल फाउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय २ और ६, टॉमस वाई, क्रोवेल, १९४२।

—मूर ऐण्ड कोन—सोशियलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय २, हफ्टन मिफ्लिन

प्रश्न

१—संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? संस्कृति के कार्य की ओर संकेत कीजिए।

२—'संस्कृति और शिक्षा' पर एक लेख लिखिए।

३—अन्य संस्कृतियों के प्रति बालकों में सहिष्णुता उत्पन्न करने के लिए हम क्या करना चाहिए ?

सहायक पुस्तकें

१—लिन्टन, आर०—द स्टडी ऑव् मैन, पृष्ठ ३२६-७, डी-अपिल्टन, न्यूयार्क, १९३६।

२—बेनडिक्ट, रुथ—पैटर्न्स ऑव कल्चर, हफ्टन मिफ्लिन, १९३४।

३—मीड, जी० एच०—माइण्ड, सेल्फ़ ऐण्ड सोसाइटी, शिकागो युनिवर्सिटी, शिकागो, १९३८।

४—मर्फी, जी० ऐण्ड मर्फी—एक्सपेरिमेण्टल सोशल साइकॉलॉजी, हार्पर, १९३४।

५—विन्स्टन, एस०—कल्चर ऐण्ड ह्यूमन बिहेवियर, द रोनाल्ड प्रेस, १९३३।

६—ब्रुबेक, जे०—सोशियलॉजीकल फाउण्डेशन्स आव एडूकेशन, अध्याय २ और ६, टॉमस वाई, क्रो

७—मूर ऐण्ड कोल—सो , अध्याय २, हफ्टन

२४

स्यक वर्ग और अन्तर्वर्ग शिक्षा

ल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा का विषय

न में अल्पसंख्यक लोगों की समस्या बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती है,
उनके व्यवहार के कारण बहुमत के लोगों को और बहुमत के लोगों
कारण अल्पसंख्यक लोगों को कष्ट हो सकता है। अतः अल्पसंख्यक
लोगों के परस्पर सम्बन्ध की समस्या किसी देश की सरकार के लिए
ती है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में मुसलमानों, सिक्खों तथा हरि-
अल्पसंख्यक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों
अपनी रुचि विशेष के कारण कुछ लोग अल्पसंख्यक या बहुमत वाले

बई में महाराष्ट्रियों का बहुमत है और गुजरातियों का अल्पमत।
गू-भाषा-भाषियों का अल्पमत था, इसलिए उन्होंने अपना आन्ध्रप्रदेश
द्रास से अलग कर दिया। कहना न होगा कि अल्पसंख्यक लोग अपनी
ढ़ करने के चक्कर में सदैव पड़े रहते हैं। कुछ अर्थों में वे बहुमत
ने को छोटा समझते हैं और बहुमत वाले अपने को उनसे कुछ बातों
और इतर समझते हैं। अल्पसंख्यक लोग अपनी स्थिति को बदलना
र बहुमत के लोग इनका विरोध करते हैं। इस विरोध के कारण
में अन्तर्द्वन्द्व, परस्पर घृणा, द्वेष, झगड़ा तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों
की असमानता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति के कारण अल्प

inority Groups and Inter-group Education.

प्रश्न

१—संस्कृति से ग्राप क्या समझते हैं ? संस्कृति के कार्य की ग्रोर संकेत कीजिए।

२—'संस्कृति ग्रौर शिक्षा' पर एक लेख लिखिए।

३—ग्रन्य संस्कृतियों के प्रति बालकों में सहिष्णुता उत्पन्न करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ?

सहायक पुस्तकें

१—लिन्टन, ग्रार०—द स्टडी ग्रॉव् मैन, पृष्ठ ३२६-७, डी-ग्रपिल्टन, न्यूयार्क, १९३६।

२—बेनडिक्ट, रुथ—पैटर्न्स ग्रॉव् कल्चर, हूफ्टन मिफ्लिन, १९३४।

३—मीड, जी० एच०—माइण्ड, सेल्फ ऐण्ड सोसाइटी, शिकागो युनिवर्सिटी, शिकागो, १९३८।

४—मर्फी, जी० ऐण्ड ग्रदर्स—एक्सपेरिमेण्टल सोशल साइकॉलॉजी, हार्पर, १९३४।

५—विस्टन, एस०—कल्चर ऐण्ड ह्यूमन बिहेवियर, द रोनाल्ड प्रेस, १९३१।

६—रूसेक, जे०—सोशियलॉजीकल फाउण्डेशन्स ग्राव एजुकेशन, ग्रध्याय २ ग्रौर ६, टॉमस वाई, क्रोवेल, १९४२।

७—मूर ऐण्ड कोल—सोशियलॉजी इन एजुकेशनल प्रैक्टिस, ग्रध्याय २, हूफ्टन मिफ्लिन, १९५२।

* * *

२४
अल्पसंख्यक वर्ग और अन्तर्वर्ग[1] शिक्षा

अल्पसंख्यक की समस्या शिक्षा का विषय

किसी भी देश मे अल्पसख्यक लोगो की समस्या बडी ही महत्वपूर्ण होती है, क्योकि उनके व्यवहार के कारण बहुमत के लोगो को और बहुमत के लोगो के व्यवहार के कारण अल्पसख्यक लोगों को कष्ट हो सकता है। अतः अल्पसख्यक और बहुमत लोगो के परस्पर-सम्बन्ध की समस्या किसी देश की सरकार के लिए कठिन हो जाती है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में मुसलमानो, सिक्खों तथा हरिजनो आदि को अल्पसख्यक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यो में भी अपनी-अपनी रुचि विशेष के कारण कुछ लोग अल्पसख्यक या बहुमत वाले बन जाते हैं।

जैसे बम्बई में महाराष्ट्रियो का बहुमत है और गुजरातियो का अल्पमत। मद्रास में तेलगू-भाषा-भाषियो का अल्पमत था, इसलिए उन्होंने अपना आन्ध्रप्रदेश का राज्य मद्रास से अलग कर दिया। कहना न होगा कि अल्पसख्यक लोग अपनी अवस्था को दृढ करने के चक्कर में सदैव पड़े रहते हैं। कुछ अर्थों में वे बहुमत वालो से अपने को छोटा समझते हैं और बहुमत वाले अपने को उनसे कुछ बातों मे श्रेष्ठतर और दृढ़तर समझते हैं। अल्पसंख्यक लोग अपनी स्थिति को बदलना चाहते हैं और बहुमत के लोग इसका विरोध करते हैं। इस विरोध के कारण दोनो वर्गों में अन्तर्द्वन्द्व, परस्पर घृणा, द्वेष, झगड़ा तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में अवसर की असमानता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति के कारण अल्प-

1. Minority Groups and Inter-group Education.

नीचे हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि अल्पसंख्यक लोगों तथा अन्य वर्गों में मनमुटाव तथा तनाव पैदा होने के क्या कारण होते हैं।

अन्तर्वर्गों में अहेतुक धारणा के कुछ कारण[1]

यदि बहुमत वर्ग के लोग अल्पसंख्यक लोगों के हितों पर कुठाराघात करने यत्न न करें तो अल्पसंख्यक की समस्या ही न उठेगी, परन्तु कुछ अहेतुक धारणाओं के कारण इन दो वर्गों में वैमनस्य आ जाता है और बिना तर्क किये हुए एक दूसरे के सम्बन्ध में एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं। दोनों वर्गों में समझौते के उपायों की ओर सकेत करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक जान पड़ता है कि उनके परस्पर-द्वेष तथा एक दूसरे के सम्बन्ध में अहेतुक धारणा कर पहुँच जाने के प्रधान स्रोत क्या होते हैं।

अहेतुक धारणा यकायक उत्पन्न नहीं हो जाती। अनुभव के आधार पर इसकी जड़ व्यक्ति में धीरे-धीरे जमती है। कुछ अहेतुक धारणायें तो लोग अपनी घरेलू परिस्थितियों- अथवा माता-पिता की मनोवृत्तियों[3] से सीखते हैं। जब बच्चे बड़े हो जाते है तो उनके व्यवहार उनके शिक्षक, माता-पिता तथा पूरे समाज के दर्पण हो जाते हैं। बच्चों की अहेतुक धारणायें उनके माता-पिता और शिक्षकों की धारणाओं की ओर भी सकेत करती है। अहेतुक धारणायें सीखी जाती हैं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि वे भुलाई भी जा सकती हैं।

फ्रैंकलिन ब्रन्सविक[4] ने अपने अन्वेषण में देखा कि निजी संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ[5] मानने की भावना वाले बच्चों के माता-पिता अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को कायम रखने मे बडे यत्नशील रहते है और उदार बच्चों के माता-पिता की अपेक्षा वे अधिक कठोर नियन्त्रण रखने की चेष्टा करते हैं, ऐसे माता पिता तथा बच्चों में स्नेह की भावना अपेक्षाकृत कम होती है, बच्चों को अपने आत्म-प्रकाश का कम अवसर मिलता है। फलत: उनका व्यक्तित्व संकुचित और कठोर हो

के निवासियों में विभिन्न उपसंस्कृतियों वाले लोग होते हैं। हिन्दुओं में विभिन्न जातियों का विकट जाल व्यक्ति को दूसरी जाति के विरुद्ध बनाता है और एक ही व्यक्ति के साथ किसी अनुभव के आधार पर लोग सारी जाति के बारे में अपनी अहेतुक धारणा बना लेते हैं। फलतः हमारे देश के निवासियों में परस्पर-सद्भावना की कुछ कमी अवश्य दिखलाई पड़ती है। इस सद्भावना की कमी के कारण ही तो हमारा देश वर्षों तक विदेशियों के नियन्त्रण में रहा; और यह कमी अब भी हमारी सामाजिक उन्नति में कभी-कभी बाधक बन जाती है।

कुछ लोग अपने को इतना अरक्षित और निर्बल समझते हैं कि अपनी भग्नाशा को मिटाने के लिए दूसरों को दबाने की चेष्टा किया करते हैं। निर्बल अर्थात् अल्पसंख्यक वर्ग इस भग्नाशा का बहुधा अभियुक्त हुआ करता है।

जब जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग भग्नाशा का अभियुक्त हो जाता है तो एक बड़े विद्रोह के रूप में फल भयानक हो सकता है। व्यक्ति अथवा वर्ग की अपने को अरक्षित समझने की भावना ही प्रायः अहेतुक धारणा का आधारभूत कारण होती है और यह भावना अपर्याप्त योग्यता, अपर्याप्त अवसर, बचपन में अनुकूल असुविधायें, तथा सामाजिक कारणवश अन्य व्यक्तियों द्वारा व्यक्त होने आदि के कारण आ सकती है। हमारे देश के हरिजनों को इन सब कठिनाइयों का अनुभव हो सकता है। अत. उनमें किसी वर्ग के विरुद्ध अहेतुक धारणा का आ जाना स्वाभाविक है।

अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रा[1]

जहोदा[2] के अनुसार अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रानुसार उसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

---

1. Degrees of Intensity of Prejudice. 2. *Marie Jahoda and others : Research Methods in Social Relations*, Part 1, Basic Processes, Society of the Psychological Study of Social Issues, p 366, Dryden Press 1951. Quoted in "Sociology in Educational Practice" by Cole and More, Houghton Mufflin Co. New York 1952, p. 254.

अन्तर्वर्ग अवबोध की 'समस्या' का कोई तात्कालिक हल हमें नहीं दे
ो। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा के सहारे ही लोगों की मनोवृत्तियों में
श्यक और स्थायी वाञ्छित सुधार लाया जा सकता है; परन्तु जैसे ऊपर कहा
है इन परिवर्तित मनोवृत्तियों का फल हमें तभी दिखलाई पड़ेगा जब कि
; में शिक्षा पाया हुआ विद्यार्थी प्रौढ़ हो उपर्युक्त समितियों का सदस्य होकर
' करने लगेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षक
समितियों के कार्य में सहायता देकर अन्तर्वर्ग अवबोध के हित में काम न
। वस्तुतः इस प्रकार की सहायता देने के लिए सभी कक्षा के विद्यार्थियों
: शिक्षकों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

नीचे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि अन्तर्वर्ग अवबोध लाने के लिए
तर्वर्ग शिक्षा में कौन-कौन सी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अन्तर्वर्ग शिक्षा के कुछ सिद्धान्त[1]

१—अन्तसंस्कृति[2] अथवा अन्तर्मूलजातीय[3] शिक्षा के स्थान पर अब
न्तर्वर्ग शिक्षा' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अन्तर्वर्ग अवबोध लाने
लिए शिक्षा का कर्तव्य जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अवरोधों
ो दूर करना है।

२—प्रधानतः प्राइमरी कक्षाओं के लिए कुछ विषयों में अन्तर्वर्ग सम्बन्धी
तें सम्मिलित करनी चाहिए। अन्तर्वर्ग सम्बन्ध[4] अथवा अन्तर्वर्ग समस्यायें[5]
ाम के विषय पाठ्यक्रम में नहीं रखने चाहिए।

३—अन्तर्वर्ग अध्ययन में केवल उन्हीं शिक्षकों से सहायता लेनी चाहिए जो
सके लिए इच्छा प्रगट करें। अनिच्छुक शिक्षकों को पाठ्यक्रम में भाग लेने के
लिए बाध्य नहीं करना चाहिए।

४—अन्तर्वर्ग तनाव से सम्बन्धित विभिन्न बातों का अध्ययन करना चाहिए
और इस अध्ययन में निकटवर्ती वर्गों सम्बन्धी बातों पर विशेष ध्यान देना
चाहिए।

1. Some Principles of Intergroup Education. 2. Intercultural. 3. Inter-racial. 4. Intergroup Relation. 5. Intergroup Problems.

१—वह अहेतुक धारणा जिसमें व्यक्ति वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहता, परन्तु स्पष्टतः कुछ कहता नहीं।

२—वह अहेतुक धारणा जिसमें व्यक्ति अपने अन्दर एक अनुदार रुख और जिसका प्रदर्शन अपने कुछ व्यवहारों से करता है, जैसे वर्ग के उस अधीनता को भाव से दिखलाना, परन्तु इसमें कोई ख़तरा नहीं पैदा होता।

३—वह अहेतुक धारणा जिसमें वर्ग का कानूनी अधिकार तो नहीं छिना जाता परन्तु उसमें एक वर्ग वाले दूसरे वर्ग के व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार करते हैं।

४—वह अहेतुक धारणा जिसमें एक वर्ग के लोग अपने कानूनी अधिकार भी खो बैठे हैं और एक वर्ग दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखता है।

५—वह अहेतुक धारणा जिसमें केवल सामाजिक बहिष्कार ही नहीं किया जाता, वर्ग के विरुद्ध कटु प्रचार भी किया जाता है।

६—वह अहेतुक धारणा जिसमें लोग एक वर्ग के लिए दूसरे पर हिंसात्मक प्रहार करते हैं, और अधिकारी इस दुर्व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं देते।

विभिन्न वर्गों में व्याप्त पारस्परिक द्वेष और अहेतुक धारणा कैसे दूर होगी अर्थात् समाज में अन्तर्वर्ग अवबोध कैसे आयेगा, यह हमारे सामने एक समस्या है। अन्तर्वर्ग अवबोध को लाने में शिक्षा हमारी कहाँ तक सहायता कर सकती है, इसी पर हम नीचे विचार करेंगे।

अन्तर्वर्ग अवबोध और शिक्षा[1]

अन्तर्वर्ग अवबोध के लाने में शिक्षा हमारी सहायता अवश्य कर सकती है, परन्तु इसमें कुछ देर लगेगी, क्योंकि स्कूल में शिक्षा पाये हुए बच्चे जब प्रौढ़ नागरिक होंगे तभी तो अन्तर्वर्ग अवबोध के हित में शिक्षा कहाँ तक सफल हुई इसका ठीक-ठीक अनुमान किया जा सकता है। स्कूल की सहायता के अतिरिक्त कुछ ऐसी तात्कालिक समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं जो प्रचार तथा उपयुक्त भाषणों के आयोजन से अन्तर्वर्ग अवबोध लाने का प्रयास कर सकती और इस प्रयास में उन्हें सम्भवतः शीघ्रतर सफलता भी मिलेगी। इस प्रकार

1. Intergroup understanding and Education.

सस्थाओ, मजदूर और कृषकों के संघों तथा प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के नाम लिये जा सकते है।"

स्कूल के अन्तर्वर्ग शिक्षा देने के फलस्वरूप जो परिवर्तन विद्यार्थियों की मनोवृत्ति में आयेंगे उसे स्वीकार करने के लिए समाज को तैयार होना चाहिए, अर्थात् यदि स्कूल में शिक्षा पाने के कारण बालकगण अपने व्यवहार में अन्त-संस्कृति द्वेष और अलगाव न दिखावें तो माता पिता को इसका विरोध नहीं करना चाहिए।

बालकों को अन्तर्वर्ग शिक्षा देने के साथ-साथ स्कूल को भी अपने प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों पर दृष्टिपात करते हुए ये प्रश्न पूछने चाहिए : क्या स्कूल के विभिन्न प्रबन्ध-कार्य गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर पहले से अधिक आधारित हैं? क्या शिक्षा-सगठन सम्बन्धित समितियो में अन्तर्वर्ग अथवा अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्तियो को रखा गया है? क्या अध्यापक के वेतन और उनकी पदोन्नति में जाति, वर्ग, लिङ्ग तथा धर्म आदि पर ध्यान नहीं दिया जाता? यदि इन सब प्रश्नों का उचित उत्तर स्कूल दे सकेगा तो इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्वर्ग द्वेष को मिटाने के लिए स्कूल वास्तव में प्रयत्न कर रहा है। कहना न होगा कि स्कूल के इस प्रयत्न का विद्यार्थियो के चरित्र बड़ा वाछित प्रभाव पड़ेगा।

अन्तर्वर्ग परस्पर द्वेष को मिटाकर उनमें सद्भावना पैदा करने की समस्या शिक्षा के अन्तर्गत अभी थोड़े ही दिनों मे ली गई है। अतः अन्तर्वर्ग शिक्षा की विधियाँ अभी अपने विकास के क्रम मे ही है। अतः हमे परीक्षण के आधार पर कुछ नई विधियो की कल्पना करनी है। आशा है उपर्युक्त सुझाव के आधार पर कुछ नई विधियो का निर्माण किया जा सकेगा।

अन्तर्वर्ग अवबोध के लिए पाठ्यवस्तु[1]

अन्तर्वर्ग अवबोध के लिए सर्वप्रथम विद्यार्थी को विश्व के विभिन्न जाति, वर्ग, धर्म तथा निवासियो का अच्छी तरह ज्ञान देना चाहिए। इसके बाद अपने देश में रहने वाले विभिन्न वर्ग, धर्मावलम्बी तथा निवासियो का ज्ञान देना आवश्यक होगा। साथ ही, विभिन्न वर्ग के उद्योग-धन्धे तथा आर्थिक अवस्था से भी विद्यार्थियो को अवगत करना चाहिए।

1. Curriculum content for intergroup under

अन्तर्वर्गों में अहेतुक धारणा के कुछ कारण

ायक नहीं। अनुभव का आधार। घरेलू परिस्थितियाँ और माता-पिता
वृत्तियाँ भी कारण।
न्तरिक और बाह्य वर्ग मनोवृत्ति के धारण आपसी तनाव। गलत ज्ञान
अहेतुक धारणा। मूल जाति अथवा वंश-सम्बन्धी अनुदार भावना।
र्ग के किसी व्यक्ति विशेष के साथ कटु अनुभव के आधार पर पूरे वर्ग के
अहेतुक धारणा बना लेना। हमारे देश के निवासियों में परस्पर-सद्भावना
मी।
अरक्षित समझने की भावना से उत्पन्न भग्नाशा अहेतुक धारणा का कारण।

अहेतुक धारणा की गहनता की मात्रा

१—वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्ध न रखना, परन्तु स्पष्टतः कुछ कहना नहीं
२—मन के मतमुटाव का प्रदर्शन कुछ व्यवहारों द्वारा करना।
३—एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा सामाजिक बहिष्कार।
४—एक वर्ग का कानूनी अधिकार चला जाना।
५—वर्ग के विरुद्ध कटु प्रचार।
६—एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर हिंसात्मक प्रहार करना।

अन्तर्वर्ग अवबोध और शिक्षा

द्वारा ...
सुधार सम्भव।

अन्तर्वर्ग शिक्षा के कुछ सिद्धांत

१—'अन्तर्वर्ग शिक्षा' शब्द का प्रयोग।
२—पाठ्यक्रम में अन्तर्वर्ग सम्बन्धी बातें सम्मिलित हों।
३—उपयुक्त शिक्षकों से ही सहायता।
४—अन्तर्वर्ग तनाव-सम्बन्धी बातों का अध्ययन।
५—अन्तर्वर्ग विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों का अध्ययन।

३—कोन्टिल, एच० (सम्पादक)—टेंशन्स दैट कॉज वार्स, यूनिव० इलिनॉय, अरबाना, १६५० ।

४—कनिङ्घम ऐण्ड अदर्स—सम गुड प्रैक्टिसेज इन इण्टरकल्चरल एडूकेशन, नेशनल कॉन्फेरेन्स ऑव् क्रिश्चियन्स ऐण्ड ज्यूज, न्यूयार्क १६४४ ।

५—ल्यूविन, के०—रिसोलविंग सोशलकॉनफ्लिक्ट्स, हार्पर, न्यूयार्क, १६४८ ।

६—रोज, अरनॉल्ड—रेस प्रेजिड्यूस ऐण्ड डिसक्रिमीनेशन, अलफ्रेड ए० नॉफ, न्यूयार्क, १६५१ ।

७—मूर ऐण्ड कोल—सोशियोलॉजी इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ११, हूफ्टन, मिफ्लिन, न्यूयार्क, १६५२ ।

* * *

२५

सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा[1]

परिवर्तन की निरन्तरता[2]

यह एक सत्य है कि यह जगत् परिवर्तनशील है। 'अतः परिवर्तनशीलता सनातन और सार्वलौकिक है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के क्रम में है। कदाचित 'तत्व'[3] और शक्ति[4] ही जिससे सभी वस्तुएँ निकलती हैं वे ही परिवर्तन के परे हैं। इनको छोड़कर आज-जो वस्तु हमारे सामने है वह कल या पहले जैसी थी उससे अब भिन्न है'[5]। परन्तु हमारा यहाँ प्रधान तात्पर्य सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों और शिक्षा में उनके सम्बन्ध से है। शताब्दियों से मानव अपनी रहन सहन, अपने हथियार, अस्त्र तथा युग के विभिन्न साधनों में परिवर्तन लाते रहने की सतत चेष्टा में रहता है। भाषा जो मानव की अद्वितीय शक्ति है वह सदैव परिवर्तन और विकास के क्रम में रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में नये-नये विचारों का विकास होता है त्यों-त्यों भाषा में उन नए विचारों को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों का भी आविष्कार किया जाता है। विभिन्न सामाजिक संस्थायें भी मानव-विकास के साथ अपने संगठन, रूप और कार्य के सम्बन्ध में बदलती रहती है। इस प्रकार मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक बनावट और कार्यों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन [illegible] हैं भी [illegible] होते है। इनके अन्तर्गत कला[6], विज्ञान[7] तथा यन्त्रविद्या[8] में [illegible] जाते हैं।

2. Continuity of Change.
R. M. : Social Causation, p.
7. Science. 8. Technology.

परिवर्तन के अन्तर्गत तीन बातें देखी जा सकती हैं—१. वह जो परिवर्तित होती है, २. जो स्थिर रहती है, और ३. समय का वह विस्तार जिसमें परिवर्तन घटित होता है।

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है[1]

कहना न होगा कि "मनुष्य ही इन सब परिवर्तनों को लाता है। मनुष्य ही वैज्ञानिक आविष्कारों के सृजन में अपने व्यवस्थापन-क्रम में प्रकृति में नाना प्रकार का परिवर्तन लाता है। मनुष्य अपनी सामाजिक संस्थाओं का सगठन करता है, और फिर उनमें परिवर्तन करता है।"[2] वह एक संस्कृति का विकास करता है, और फिर वह उन साधनों का विकास करता है जिनसे संस्कृति के विभिन्न तत्व इधर-उधर फैलाये जा सकें। मनुष्य विविध बीमारियों का शिकार होता है और फिर उनसे मुक्ति पाने के लिए चिकित्सा-विद्या का विकास करता है। वह प्रकृति में परिवर्तन लाता है और फिर इस परिवर्तन का कुफल भी उसे भोगना पड़ता है।

आज का मानव विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक तत्वों में इस प्रकार घिरा हुआ है कि उनमें आते रहने वाले परिवर्तनों को समझना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो रहा है। इन तत्वों में से कुछ तो बहुत ही धीरे-धीरे विकसित होते हैं और कुछ एक दिन या रात में परिवर्तित हो जाते हैं। वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के लिए व्यक्ति नई मनोवृत्तियों, आदतों और उद्देश्यों को बड़े शीघ्र विकसित कर लेता है। साथ ही प्राकृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से अपने वातावरण में कुछ हद तक वह परिवर्तन ला सकता है। प्राकृतिक क्षेत्र में वह विज्ञान का सहारा लेता है, जैसे बजर भूमि को उपजाऊ बनाने, पौधों और पशुओं को अधिक अच्छा बनाने, जगल के परिवर्तन तथा नदियों के उपयोग करने में।

अपने को परिवर्तित करने तथा सामाजिक सगठनों का विकास करने के लिए मनुष्य को शिक्षा का सहारा लेना होगा। इस शिक्षा का रूप सविधिक[3]

1. Man Brings Changes. 2. *Abbot, P. Herman An Approach to Social Problems*, p. 56, Ginn, Boston, 1942. 3. Formal.

२५
सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा[1]

परिवर्तन की निरन्तरता[2]

यह एक सत्य है कि यह जगत् परिवर्तनशील है। 'ग्रतः परिवर्तनशीलता सनातन और सार्वलौकिक है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के क्रम में है। कदाचित 'तत्व[3] और शक्ति[4] ही जिससे सभी वस्तुएं निकलती हैं वे ही परिवर्तन के परे हैं। इनको छोड़कर आज-जो वस्तु हमारे सामने है वह कल या पहले जैसी थी उससे अब भिन्न है[5]' । परन्तु हमारा यहाँ प्रधान तात्पर्य सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों और शिक्षा में उनके सम्बन्ध से है। शताब्दियों से मानव अपनी रहन सहन, अपने हथियार, अस्त्र तथा सुख के विभिन्न साधनों में परिवर्तन लाते रहने की सतत चेष्टा में रहता है। भाषा जो मानव की अद्वितीय शक्ति है वह सदैव परिवर्तन और विकास के क्रम में रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में नये-नये विचारों का विकास होता है त्यों-त्यों भाषा में उन नए विचारों को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों का भी ग्राविष्कार किया जाता है। विभिन्न सामाजिक संस्थायें भी मानव-विकास के साथ अपने सगठन, रूप और कार्य के सम्बन्ध में बदलती रहती हैं। इस प्रकार मानव की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक बनावट और कार्यों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन के तात्पर्य और भी वृहद होते हैं। इनके अन्तर्गत कला[6], विज्ञान[7] तथा यन्त्रविद्या[8] में आने वाले परिवर्तन आ जाते हैं।

1. Social Change and Education. 2. Continuity of Change. 3. Matter. 4. Energy. 5. *MacIver, R. M.* . *Social Causation*, p. 10, Ginn, New York, 1942. 6. Art. 7. Science. 8 Technology.

परिवर्तन के अन्तर्गत तीन बातें देखी जा सकती हैं—१. वह जो परिवर्तित होती है, २. जो स्थिर रहती है, और ३. समय का वह विस्तार जिसमें परिवर्तन घटित होता है ।

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है[1]

कहना न होगा कि 'मनुष्य ही इन सब परिवर्तनों को लाता है । मनुष्य ही वैज्ञानिक आविष्कारों के सृजन से अपने व्यवस्थापन-क्रम में प्रकृति में नाना प्रकार का परिवर्तन लाता है । मनुष्य अपनी सामाजिक संस्थाओं का संगठन करता है, और फिर उनमें परिवर्तन करता है ।'[2] वह एक संस्कृति का विकास करता है, और फिर वह उन साधनों का विकास करता है जिनसे संस्कृति के विभिन्न तत्व इधर-उधर फैलाये जा सकें । मनुष्य विविध बीमारियों का शिकार होता है और फिर उनसे मुक्ति पाने के लिए चिकित्सा-विद्या का विकास करता है । वह प्रकृति में परिवर्तन लाता है और फिर इस परिवर्तन का कुफल भी उसे भोगना पड़ता है ।

आज का मानव विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक तत्वों में इस प्रकार घिरा हुआ है कि उनमें आते रहने वाले परिवर्तनों को समझना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो रहा है । इन तत्वों में से कुछ तो बहुत ही धीरे-धीरे विकसित होते हैं और कुछ एक दिन या रात में परिवर्तित हो जाते हैं । वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के लिए व्यक्ति नई मनोवृत्तियों, आदतों और उद्देश्यों को बड़े शीघ्र विकसित कर लेता है । साथ ही प्राकृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से अपने वातावरण में कुछ हद तक वह परिवर्तन ला सकता है । प्राकृतिक क्षेत्र में वह विज्ञान का सहारा लेता है, जैसे बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने, पौधों और पशुओं को अधिक अच्छा बनाने, जंगल के परिवर्तन तथा नदियों के उपयोग करने में ।

अपने को परिवर्तित करने तथा सामाजिक संगठनों का विकास करने के लिए मनुष्य को शिक्षा का सहारा लेना होगा । इस शिक्षा का रूप सविधिक[3]

1. Man Brings Changes. 2. Abbot, P. Herman. An Approach to Social Problems, p. 56, Ginn, Boston, 1942. 3. Formal.

और अविधिक दोनों होगा। सविधिक शिक्षा में स्कूल और कालेजों का नाम लिया जा सकता है और अविधिक शिक्षा में प्रचार, विज्ञापन, रेडियो, समाचार पत्र, सभा, नाटक तथा विचार-विनिमय के लिए गोष्ठियों के नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु बहुत से सामाजिक परिवर्तन बिना किसी पूर्व योजना अथवा विचार के स्वतः चले आते है। इन परिवर्तनों के कारण को समझना बड़ा कठिन है। परन्तु उन्हें व्यक्ति स्वीकार करता है, क्योंकि उनमें उसे सन्तोषजनक और सुखद सामाजिक अनुभव मिलते हैं।

आविष्कार से सामाजिक परिवर्तन[2]

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा-क्रम में मनुष्य ने अनेक ऐसे आविष्कारों का निर्माण किया है जिनसे उसके रहन-सहन में भारी परिवर्तन आया है। एक समय वह था जब मनुष्य आग का उपयोग नहीं जानता था और तब उसने आग का और लकड़ी और पत्थर के अस्त्र का प्रयोग करना सीखा। तब के मानव से आज के मानव की तुलना करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि वह अब इतनी लम्बी यात्रा तय कर चुका है कि उसके लिए २४ घण्टों में सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेना सरल होगया है। कदाचित् मनुष्य अपने आविष्कार की गति रोक न सकेगा, क्योंकि एक आविष्कार के आने पर दूसरे आविष्कार का खोज निकालना उसके लिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दूसरे आविष्कार बिना पहला आविष्कार उसे अपूर्ण सा लगता है। फलतः आविष्कारों की संख्या इतनी बढ़ती जा रही है कि उन्हें याद करना अथवा उनसे अवगत होना किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव सा हो रहा है। इस प्रकार हमारे समाज में आविष्कारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है, और साथ ही समाज भी प्रगतिशील हो उन परिवर्तनों को अपनाता जा रहा है।

सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा

समाज की प्रगतिशीलता के लिये एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो .यों को उदार दृष्टिकोण का बनावे। परन्तु इस उदार दृष्टिकोण का तात्पर्य नहीं कि किसी वस्तु को बिना किसी परीक्षा और पहचान किये व्यक्ति करले। वस्तुतः प्रगतिशील समाज में अन्वेषण, अनुसंधान और परीक्षण

Informal. 2. Social Change by Invention.

को प्रोत्साहित करना चाहिये, जिससे नए-नए सत्यो को पहचान कर व्यक्ति अपने विकास को और आगे बढ़ावे। अनुसन्धान, अन्वेषण और परीक्षण की सुविधा रहने पर सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से चलता है। तब शिक्षा की भी व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि उससे आवश्यक सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन मिले। शिक्षा का स्वरूप प्रयोजनात्मक हो जाता है। संयोग पर निर्भर रहना बुरा माना जाता है, अतः परिवर्तन की गति पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है जिससे परिवर्तन के प्रभावस्वरूप अवांछित चरित्र के व्यक्ति न पैदा हो जायें। शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग एक नये समाज की स्थापना के लिए अथवा पुराने की रक्षा के लिये किया जाता है। बड़ी बड़ी राजकीय, धार्मिक, व्यापारिक तथा वैज्ञानिक संस्थायें अपने-अपने विश्वास के आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा की ही ओर झुकती है।

परिश्रम और कल्पना के आधार पर जो सांस्कृतिक विकास होता है केवल उसी के आधार पर मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। यदि वह इस विकास का सदुपयोग करता है तो उसे कुछ सन्तोष और सुख का आभास हो सकता है। परन्तु बिना उचित निर्देशन अर्थात् शिक्षा के वह अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त कर सकता। शिक्षा व्यक्ति को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर नियोजित करती है जिससे वह विभिन्न योग्यताओं को प्राप्त कर अपना पूर्णतम विकास कर सके। समाज के प्रतिनिधिगण कुछ ऐसे उद्देश्यों को सामने रखते हैं जिनके प्राप्त करने से व्यक्ति का पूर्णतम विकास होता है और साथ ही उत्तम सामाजिक सम्बन्ध भी विकसित होता है। ये उद्देश्य व्यक्ति की उम्र, योग्यता तथा वातावरण के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु सभी सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप पर प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ; एक प्राइमरी स्कूल के बालक के सामने जो उद्देश्य रखे जाते हैं वे एक विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के सामने रखे जाने वाले उद्देश्य से भिन्न होंगे।

भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी जो विभिन्न वस्तुएँ हैं वे शिक्षा के ही फल हैं। परन्तु भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त जो अन्य वस्तुएँ हैं वे

शिक्षा पर अधिक निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, भाषा का जो एक अभौतिक¹ वस्तु मानी जा सकती है और जिसका सामाजिक मूल्य बहुत ही अधिक है किन्तु बिना शिक्षा के अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि बिना शिक्षा के व्यक्ति की भाषा-शक्ति का विकास ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार शिक्षा का प्रभाव और क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

वर्तमान ज्ञान और नये अन्वेषण अथवा अनुसन्धान के परस्पर सम्बन्ध को शिक्षा द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। प्रत्येक नए अन्वेषण का मानव के जीवन तथा अन्य वर्ग के व्यक्तियों के साथ उसके सम्बन्ध पर सीधा प्रभाव पड़ता है। नये नये अन्वेषणों तथा विचारों के आगमन में अर्थात् सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा दो प्रकार का कार्य करती है :—१. संस्कृति की भौतिक और अभौतिक वस्तुओं की रक्षा करना, तथा २. भौतिक संस्कृति-सम्बन्धी नए अन्वेषणों को आगे बढ़ाना और मानव के सामाजिक जीवन में नये-नये विचारों को विकसित करना। फलतः सामाजिक संगठनों के विकास में शिक्षा का कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। सामाजिक जीवन में कुशलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति शिक्षा की सहायता के लिए ही झुकता है। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है, परन्तु इस विकास के साथ शिक्षा यह भी ध्यान रखती है कि व्यक्ति को ऐसा बनाया जाय कि वह विभिन्न सामाजिक संगठनों के सुकार्यों में अपना योग दे सकें। वस्तुतः इस प्रकार का योग दे सकना उसके व्यक्तित्व-विकास के अन्तर्गत ही आता है।

गत पृष्ठों में किये गये विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन का होना आवश्यक है। इस सामाजिक परिवर्तन का रूप उन लोगों द्वारा निर्धारित किया जाता है जो कि इसकी आवश्यकता को समझते हैं। गणतन्त्रात्मक राज्य में अपने प्रतिनिधियों और नेताओं द्वारा जनता इस परिवर्तन पर अपना प्रभाव डालती रहती है। ऊपर हम कह चुके हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर पड़ता है, और यह [illegible]जिक परिवर्तन स्वतः बिना किसी लक्षित योजना और उद्देश्य के आ

1. Non-Material.

जाता है। इस सामाजिक परिवर्तन में एक वांछित योजना और उद्देश्य रखने के लिए यह आवश्यक है कि लोग उसका अध्ययन करें और एक निश्चित योजनानुसार कार्य करें। अतः किसी सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में जनता की उदासीनता की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस उदासीनता को दूर करने का हमारा प्रयत्न होना चाहिए। तभी हम जनता का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में शिक्षा-संस्थाओं का दो उत्तरदायित्व बन जाता है—१. वांछित सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता की चेतना जनता में उत्पन्न करना, तथा २. ऐसे योग्य नेताओं को तैयार करना जो कि यह समझ सकें कि कौन से परिवर्तन वांछित हैं और उन्हें कैसे लाया जा सकता है।

जनता में 'आवश्यकता' की चेतना उत्पन्न करने के लिए एक सुव्यवस्थित शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। बहुत से लोग अच्छी सरकार, क्रय और विक्रय की अच्छी व्यवस्था, स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अच्छे अवसर तथा मनोरंजन के अच्छे साधन आदि का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। इन सबके सम्बन्ध में हमारी आवश्यकता की पूर्ति अपने-आप नहीं हो जायगी। उसके लिए हमें आयोजित प्रयास करते रहने पड़ेंगे और इस प्रयास में सभी लोगों का सहयोग मिलना चाहिए। सुव्यवस्थित शिक्षा ही हमें यह सिखा सकेगी कि यह प्रयास हम कैसे करें और इसमें जनता का हार्दिक सहयोग कैसे प्राप्त करें। शिक्षा ही हमें यह समझा सकेगी कि इसके लिए हमें वर्षों तक ही नहीं, वरन् सतत प्रयास करते रहना चाहिए।

यह सत्य है कि पहले किसी भी सामाजिक परिवर्तन का साधारण जनता विरोध करती है। हम सब लोगों का यह अनुभव है कि हम लोग अपना पुराना जूता भी फेंकने में एक बार झिझकते हैं। इसी प्रकार यह जानते हुए भी कि परिवर्तन हमारे लाभ के लिए ही है हम उसका पहले विरोध करते हैं। जब हमें परिवर्तन की आवश्यकता का ज्ञान नहीं रहता तो हम उसके विषय में कुछ भी नहीं करते। हमें अपनी आवश्यकता का ज्ञान देना और उसकी पूर्ति के साधनों से अवगत करना तथा उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ८ सिखाना शिक्षा का उत्तरदायित्व है।

का अध्ययन हमारी बड़ी सहायता कर सकता है। वर्तमान [illegible]
सहिष्णुता के दृष्टिकोण से हम तब तक नहीं देख सकते जब [illegible]
का ज्ञान नहीं है। इतिहास द्वारा ही हम उसके मूल का ज्ञान [illegible]
इसी प्रकार सामाजिक बुराइयों और अपर्याप्तता के ज्ञान के [illegible]
सामाजिक सुधार के लिये कार्य कर सकते हैं। इनका ज्ञान [illegible]
यन से हो सकता है। इस ज्ञान के प्राप्त कर लेने के बाद [illegible]
के अध्ययन से हमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं का ज्ञान [illegible]
इसके लिए हमें राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नागरिक[illegible]
का अध्ययन करना चाहिए।

ऊपर संकेत किया गया है कि यह बतलाना शिक्षा का [illegible]
समाज में शान्तिपूर्वक आवश्यक सुधार लाने के लिए किस प्रकार [illegible]
जाय। शिक्षा की सहायता से ही हम अपने समाज और संस्कृ[illegible]
सुधार ला सकते हैं और हाइड्रोजन बॉम से उसकी रक्षा कर [illegible]
शिक्षा हमारे समाज और संस्कृति की रक्षा नहीं करती तो शिक्षा [illegible]
जायगी।

सारांश

परिवर्तन की निरन्तरता

जगत परिवर्तनशील। मानव परिवर्तन लाने की सतत चेष्टा में [illegible]
संस्थायें भी बदलती रहती हैं। मानव की आवश्यकताओं और इच्छा[illegible]
सार सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन।

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है

मनुष्य ही परिवर्तन लाता है। परन्तु आते हुए कुछ परिवर्तनों को [illegible]
समझना उसके लिए कठिन।

परिवर्तन में शिक्षा का सहारा। बहुत से परिवर्तन बिना [illegible]
के।

आविष्कारों से सामाजिक परिवर्तन

आविष्कारों के साथ समाज की प्रगतिशीलता।

व्यक्ति को उदार बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता। अन्वेषण, अनुसंधान और परीक्षण को प्रोत्साहन देना। सामाजिक परिवर्तन के लिये शिक्षा का सहारा।

सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा

शिक्षा से व्यक्ति एक निदिष्ट दिशा की ओर नियोजित। शिक्षा से व्यक्तित्व विकास। शिक्षा का प्रभाव और क्षेत्र बहुत ही व्यापक।

वर्तमान ज्ञान और अन्वेषण का परस्पर-सम्बन्ध शिक्षा द्वारा प्रभावित। सामाजिक सगठनों के विकास में शिक्षा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण।

सामाजिक परिवर्तन आवश्यक। एक वांछित योजना और उद्देश्य का होना आवश्यक। इसमें शिक्षा संस्थाओं का उत्तरदायित्व।

जनता में आवश्यकता की चेतना उत्पन्न करने के लिए एक सुसगठित शिक्षा-व्यवस्था।

परिवर्तन का जनता पहिले विरोध करती है। परिवर्तन की आवश्यकता का ज्ञान जनता को देना।

सामाजिक परिवर्तन लाने की दो विधियाँ। क्रमिक रूप से जनता के सहयोग से परिवतन के लिए शिक्षा से तीन प्रकार की सहायता आवश्यक।

सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों की विश्लेषणात्मक परीक्षा करना। अज्ञान तथा अन्धविश्वास को छोड़ना। इतिहास का अध्ययन सहायक। अन्य सामाजिक विज्ञानों का भी अध्ययन आवश्यक।

प्रश्न

१—परिवर्तन क्यों सनातन है ? मनुष्य का इसमें कहाँ तक हाथ रहता है? इस सम्बन्ध में शिक्षा क्या कर सकती है ?

२ परिवर्तन का शिक्षा के लिए क्या तात्पर्य है ?

सहायक पुस्तकें

१—बोयर, आर०एम०—द सोशल फंक्शन्स ऑव् एडुकेशन, अध्याय ११, मैक-मिलन, न्यूयार्क, १६३७।

२—काउण्टस, जी० एस०—द सोशल फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् एडुकेशन, चार्ल्स स्क्रिबनर्स ऐण्ड सन्स, न्यूयार्क, १६३४।

३—मैकआइवर, आर० एम०—सोशल काजेशन, गिन, बोस्टन, १६४२।

४—मीड, एम० ऐण्ड कीप—थोर पाउडर ड्राई, विलियम मारो ऐण्ड कम्पनी, १६४२।

५—रूमेल, जे० एम०—सोशियलॉजिकल फाउण्डेशन्स ऑव् एडुकेशन, अध्याय ११, टॉमस वाई० क्रोवेल क०, न्यूयार्क, १६४२।

६—ओटवे, ए० के० सी०—एडुकेशन ऐण्ड सोसाइटी, अध्याय ३, रूटलेज ऐण्ड केगनपॉल, लण्डन, १६५३।

* * *

चतुर्थ खण्ड

शिक्षण सिद्धान्त

चतुर्थ खण्ड

शिक्षण सिद्धान्त

२६

शिक्षक[1]

शिक्षा की सफलता सदा शिक्षक पर निर्भर होती है। पाठ्यक्रम का सगठन कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर यदि शिक्षक योग्य न हुआ तो सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति विधि और सगठन की अपेक्षा अपने शिक्षक को अधिक याद करता है। अतः शिक्षक का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा रूपी नाव का माझी शिक्षक ही है। वह बालक को चाहे जिस ओर झुका सकता है। उसे अच्छा अथवा बुरा बनाने में उसका बड़ा हाथ है। शिक्षक ही बालक के भव्य जीवन और मस्तिष्क का निर्माता है। यदि शिक्षक का व्यक्तित्व[2] आदर्श हुआ तो वैज्ञानिक विधि का ज्ञान न रखते हुए भी वह बालक के उचित पथ-प्रदर्शन में सफल होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे वैज्ञानिक विधि सीखने की आवश्यकता ही नहीं। यदि चरित्र, बुद्धि, नेतृत्व की शक्ति तथा स्वास्थ्य के साथ-साथ उसे शिक्षण की वैज्ञानिक विधियों का भी ज्ञान है तो मानो सोने में सुगन्ध भी आ गई। जैसे कविता और संगीत एक कला है उसी प्रकार शिक्षण भी एक कला है। जैसे कवि या संगीतज्ञ विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं, वैसे ही शिक्षक भी कई कोटि के होते हैं। कहा जाता है कि कविता और संगीत की शक्ति दैवी होती है। अपनी प्राप्त शक्ति के अनुसार ही कोई कविता या संगीत-क्षेत्र में बढ़ सकता है। यदि दैवी शक्ति न हुई तो शब्दों के जोड़ने से न तो कोई कवि हो सकता है और न गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने से संगीतज्ञ। यही बात शिक्षक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ लोग

1. The Teacher. 2. Personality

शिक्षण-कार्य के लिए इतने अयोग्य होते हैं कि उन्हें शिक्षक बना देना उनके ही प्रति नहीं वरन् सारे बालक-समाज अर्थात् राष्ट्र के प्रति अन्याय करना है।

आजकल शिक्षा-प्रसार के कारण हमारे देश मे लाखों शिक्षकों की आवश्यकता है। हमारे देश में शिक्षको का स्तर दिन पर दिन गिरता ही जा रहा है। उनमें से बहुत से तो कक्षा में भली-भाँति अपने विचार व्यक्त भी नहीं कर सकते और न उनका आचार-व्यवहार ही ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उनके निरीक्षण में भावी सन्तान के शिक्षा-कार्य को सौंपा जाय। वे अपने कर्तव्य की गुरुता को समझते ही नहीं। इसे देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाय ? देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति ऐसी है कि जिसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता, वह शिक्षक बनने की सोच लेता है और सौ प्रयत्न कर शिक्षक बन जाता है, मानो शिक्षण-कार्य सबसे निकृष्ट और सरल है। इस पतन के लिए हमारी सामाजिक व्यवस्था भी कुछ हद तक उत्तरदायी है। शिक्षक को वेतन इतना कम मिलता है कि योग्य व्यक्तियों की रुचि [illegible] होती है।

[illegible]

[illegible] कुछ गुणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि शिक्षा की सफलता का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उसी पर है।

शिक्षक बालक के लिए सभी गुणों का प्रतीक है। इस भावना से जो शिक्षक अभिभूत रहते हैं वास्तव में उन्हीं का शिक्षक होना सार्थक है और उन्हीं से बालक सबसे अधिक सीखता है। ऐसे ही शिक्षकों को बालक स्कूल छोड़ देने के बाद भी स्मरण करता है। ऐसे ही शिक्षक अपनी गम्भीर वाणी से बालकों को कुछ ऐसे विचार देते हैं जो उनके कानों में आजीवन गूंजा करते हैं। शिक्षक को बालक के व्यवहार में विनय[1] लाने का प्रयत्न करना चाहिए। बालक मूल-प्रवृत्यात्मक[2] [illegible] होता है। यदि उसमें विनय लाने की चेष्टा न की गई तो उसका जीवन [illegible] हो जायगा। यदि उस पर आवश्यक नियन्त्रण न रखा जाय तो शिक्षण [illegible] का कार्य विफल हो जायगा। कक्षा में विनय स्थापित करने का यह तात्पर्य

1. Discipline. 2. Instinctive Creature.

नहीं कि बालक अपना व्यक्तित्व ही खो दे और अपनी जिज्ञासाओं को भीतर ही मसोस बैठे। ऐसा अर्थ लगाना तो उसके विकास को एकदम कुण्ठित करना होगा। कक्षा में पाठ्य-वस्तु-सम्बन्धी अपनी बाधाओं के समाधान के लिए बालक को पूरी स्वतन्त्रता देनी होगी, अन्यथा उनका व्यक्तित्व पनप न सकेगा। अब प्रश्न यह है कि कक्षा में विनय स्थापित करने के लिए शिक्षक क्या करे।

बहुधा यह देखा जाता है कि जो बालक पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाता विशेषकर वही कक्षा में अविनय का कारण होता है, अथवा बेकार रहने पर कक्षा के सभी बालक अविनय लाने में सहयोग देते हैं। अतः सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि शिक्षक बालक को सदा किसी न किसी काम में लीन रखे। बेकारी ही अविनय की जड़ है। यदि बालक किसी न किसी काम में लगा रहा तो अविनय का विचार ही उसमें न आयेगा। चञ्चल रहना बालक का स्वभाव है। उसे कुछ न कुछ सदा करते रहना चाहिए। शिक्षक को अपने पाठ की तैयारी इतनी चतुरता से करनी चाहिए कि वह सदा यह जानता रहे कि दूसरे क्षण उसे क्या करना है। शिक्षक की इस प्रकार की तैयारी बालकों को सदा एक न एक कार्य में लगाये रखेगी। उचित तो यह है कि अवकाश के समय भी बालकों को अपना समय एक निश्चित योजना के अनुसार ही बिताना हो। पर यह योजना ऐसी हो कि उनकी स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न हो जाय। उदाहरणार्थ, अवकाश के समय विभिन्न कक्षा के बालकों के लिए, भाँति-भाँति के खेल के आयोजन किए जायें तो प्रत्येक कक्षा अपनी ही सीमा के अन्तर्गत रहेगी और बालकों में हर समय कुछ न कुछ करते रहने की प्रवृत्ति आ जायगी। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि क्रियाशील व्यक्ति की ही सफलता सदैव दासी बनी रहती है। पर यह ध्यान रखना है कि सभी बालकों को एक ही प्रकार की क्रियाशीलता प्रिय नहीं होती, अर्थात् उनकी वैयक्तिक भिन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक है और उसी के अनुरूप उन्हें कार्य देना है।

कक्षा-शिक्षण में भी वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। पर यह बालक की मनोवृत्ति के ज्ञान बिना सम्भव नहीं। इसके लिए शिक्षक को मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान के सहारे, शिक्षा की विभिन्न

शिक्षण-कार्य के लिए इतने अयोग्य होते हैं कि उन्हें शिक्षक बना देना उनके ही प्रति नहीं वरन् सारे बालक-समाज अर्थात् राष्ट्र के प्रति अन्याय करना है।

आजकल शिक्षा-प्रसार के कारण हमारे देश में लाखों शिक्षकों की आवश्यकता है। हमारे देश में शिक्षकों का स्तर दिन पर दिन गिरता ही जा रहा है। उनमें से बहुत से तो कक्षा में भली-भाँति अपने विचार व्यक्त भी नहीं कर सकते और न उनका आचार-व्यवहार ही ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उनके निरीक्षण में भावी सन्तान के शिक्षा-कार्य को सौंपा जाय। वे अपने कर्तव्य की गुरुता को समझते ही नहीं। इसे देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाय? देश की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति ऐसी है कि जिसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता, वह शिक्षक बनने की सोच लेता है और सो प्रयत्न कर शिक्षक बन जाता है, मानो शिक्षण-कार्य सबसे निकृष्ट और सरल है। इस पतन के लिए हमारी सामाजिक व्यवस्था भी कुछ हद तक उत्तरदायी है। शिक्षक को वेतन इतना कम मिलता है कि योग्य व्यक्तियों की रुचि शिक्षण-कार्य की ओर कम होती है। फलतः हम यह नहीं कह सकते कि आजकल हमारे स्कूलों में वास्तविक योग्य शिक्षकों का प्रवेश हो रहा है। यहाँ शिक्षण-शास्त्र पर विचार करने के पहले शिक्षक के कुछ गुणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि शिक्षा की सफलता का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उसी पर है।

शिक्षक बालक के लिए सभी गुणों का प्रतीक है। इस भावना से जो शिक्षक अभिभूत रहते हैं वास्तव में उन्हीं का शिक्षक होना सार्थक है और उन्हीं से बालक सबसे अधिक सीखता है। ऐसे ही शिक्षकों को बालक स्कूल छोड़ देने के बाद भी स्मरण करता है। ऐसे ही शिक्षक अपनी गम्भीर वाणी से बालकों को कुछ ऐसे विचार देते हैं जो उनके कानों में आजीवन गूंजा करते हैं। शिक्षक को बालक के व६ ८ में विनय[1] लाने का प्रयत्न करना चाहिए। बालक मूल-प्रवृत्यात्मक[2] प्राणी होता है। यदि उसमें विनय लाने की चेष्टा न की गई तो उसका जीवन पशुवत् हो जायगा। यदि उस पर आवश्यक नियन्त्रण न रखा जाय तो शिक्षण का सारा कार्य विफल हो जायगा। कक्षा में विनय स्थापित करने का यह तात्पर्य

1. Discipline. 2. Instinctive Creature.

विधियो को समझकर वह यह जान सकेगा कि कब किस विधि का प्रयोग ा
श्यक है । इसके लिए शिक्षा की प्रगति से उसका पूरा परिचय होना चा
जिससे वह किसी शिक्षाप्रणाली का अन्वेषण कर उसकी उपादेयता को स
सके और अपने बालको की शिक्षा के लिए उचित विधि चुन सके । शिक्षक
कर्तव्य बालकों की मानसिक उन्नति में योग देने तक ही सीमित नहीं है ।
बालको के शारीरिक परीक्षण और शारीरिक अंगो के विकास से
पूरा परिचय रखना चाहिए, जिससे वह उनके कक्षा में बैठने, उ
तथा खड़े होने आदि विधियो पर उचित ध्यान दे सके । मानसिक वि
का शारीरिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । आधुनिक मनोविज्ञान के अनु
व्यक्ति मन: शारीरिक प्राणी है, अर्थात् व्यक्ति का विकास उसकी शारीरिक ं
मानसिक दोनो उन्नति पर निर्भर होता है । जब तक बालक स्कूल में है, शि
को यह ध्यान रखना है कि गलतढग पर बैठने, खड़े होने अथवा खेलने के का
बालक अपने किसी अंग को विकृत न बना ले ।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके है कि शिक्षक बालको के लिए सभी दृष्टि
से आदर्श रूप होता है । बालक के आचार और व्यवहार पर शिक्षक का प्रभा
बड़ा गहरा पड़ता है । बालक अपनी बहुत सी आदतें शिक्षकों तथा अन्य बडो
ही सीखता है । अतः शिक्षको और अभिभावको को ध्यान रखना है कि वे बाल
के सामने कहीं गलत उदाहरण न रख दें । जो शिक्षक बालको की उन्नति
सच्ची रुचि रखते है उनके प्रति बालको की बडी श्रद्धा होती है । ऐसे ही शिक्ष
बालकों के जीवन में स्थायी परिवर्तन ला सकते हैं । केवल शिक्षा-सिद्धान्तों में
रुचि रखने वाला अध्यापक आदर्श शिक्षक नहीं । ऐसा अध्यापक तो स्टेशन
उस कुली के समान है जो पार्सल का बण्डल लाकर धड़ाधड़ गाडी में पटक देत
है और यह ध्यान नहीं रखता कि पार्सल का सामान टूटेगा या बचेगा । ऐसे
अध्यापकों की जितनी निन्दा की जाय थोडी है । शिक्षक को यह न भूलन
ए कि विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न शिक्षण-विधियाँ केवल कुछ सामान्य
को बातें करती हैं । स्थल पर तो केवल शिक्षक ही है । किस अवसर
करना चाहिए इसे शिक्षक ही सरलता के साथ समझ सकता है । अतः
रिस्थिति के अनुसार विविध विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में पूरी क्षमता

होनी चाहिए। शिक्षक को बालक की तात्कालिक आवश्यकता, जिज्ञासा और विकसित प्रवृत्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान से ही वह बालकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचा सकता है।

में बालक के विकास की ओर ध्यान देने वाले शिक्षकों का कर्तव्य बालक केवल शारीरिक और मानसिक उन्नति तक ही सीमित नहीं है, वरन् उन्हें बालक को ऐसी शिक्षा देनी है कि वे समाज-हित में भी समुचित योग दे सकें। इस लिए शिक्षकों को विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

बालक अपने पूर्वजों के ज्ञान और अनुभव का उत्तराधिकारी होता है। पूर्वजगण अपनी थाती वंशजों के रूप में छोड़ जाते हैं। इस थाती की रक्षा का उत्तरदायित्व शिक्षकों पर आता है। यदि शिक्षक ने उनका ठीक पथ प्रदर्शन किया तो यह थाती केवल सुरक्षित ही नहीं रहेगी, वरन् इसका आगे विकास होगा। इसलिए तो सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। पूर्वज जिन वस्तुओं से एकदम अपरिचित थे वे हमारे लिए आज सुलभ हुई हैं। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में शिक्षक का योग बड़ा ही महत्वपूर्ण है। बालक ही भावी नवयुवक है। यदि उसका विकास उचित न हो सका तो वह सभ्यता के विकास में क्या योग देगा? बालकों का उचित ... किया जा सकता है? यदि शिक्षक पढ़ाने में ही मस्त रहा तो वह ... सफलता से नहीं निभा सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि ... साथ-साथ 'सीखने' का भी तात्पर्य निहित रहता है। शिक्षक ... बालक सीखता है। यदि पढ़ाने की धुन में बालक को 'सीखने' को ... उचित ध्यान न दिया गया तो वह पढ़ाना किसी काम का नहीं, ... बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इस प्रकार ... 'सीखने' में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि

की क्रिया' के नियन्त्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शिक्षा का तात्पर्य जो कुछ शिक्षक करता है उसी से नहीं है, वरन् विद्यार्थी के भीतर शिक्षा के फलस्वरूप क्या होता है, उससे भी है। शिक्षक की सफलता की सच्ची कसौटी विद्यार्थियों के अन्दर उत्पन्न होने वाली भावनायें हैं। यदि शिक्षक अच्छा है तो वह अपना अधिक समय और परिश्रम यह जानने में देगा कि विद्यार्थी क्या अनुभव कर रहे हैं और उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं।

बालकों की आवश्यकता का पता लगाना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि उनमें समानता से अधिक भिन्नता होती है। योग्यता, स्वभाव और अनुभव में वे एक एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उनकी रुचियाँ समान नहीं होती। कोई किसी विषय में तेज होता है और कोई मन्द। इन वैयक्तिक भिन्नताओं के साथ उचित रूप से बर्तना सरल नहीं। वस्तुतः शिक्षक की यही परीक्षा होती है। शिक्षक को बालक की केवल वर्तमान अवस्था को ही नहीं देखना है, वरन् उसके भविष्य पर भी उसे ध्यान देना है। उसे स्कूल के सारे काम को उनके जीवन का एक कार्य समझना है। ऐसा करने से ही उनकी स्वाभाविक रुचि और भिन्नता के अनुसार कुछ काम किया जा सकता, अर्थात् उनके व्यक्तित्व की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार स्कूल का एक-एक क्षण किसी न किसी उपयोगी कार्य में ही लगाना चाहिए। यह सच है कि शिक्षक अपना कार्य इस प्रकार का नहीं बना सकता कि उससे सभी बालकों को समान रूप से लाभ पहुँचे। पर यह भी मानना पड़ेगा कि चतुर शिक्षक जिसे अपने विद्यार्थियों के हित की चिन्ता रहती है अपने सम्पर्क से प्रत्येक को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचाता है। हाँ, किसी को कम लाभ होगा और किसी को अधिक। स्पष्ट है कि शिक्षक का कार्य बड़ा ही महान् है। इसे सभी लोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। जिसमें इसके लिए प्राकृतिक झुकाव है, और जिसने इस कार्य के सम्पादन की शिक्षा पाई है वही इसे सफलता से कर सकता है। इसलिए अध्यापकों के लिए शिक्षण[1] की व्यवस्था की गई है।

अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए शिक्षकों को कुछ बातें जानना आवश्यक है। शिक्षक बालक को जीवन के लिये तैयार करता है। अतः जीवन की सभी समस्याओं से उसका कुछ न कुछ परिचय होना चाहिये। साधारणतः यह देखा

जाता है कि शिक्षकों का जीवन केवल स्कूल तक ही सीमित रहता है। बाह्य-जगत में क्या हो रहा है इससे उनका अधिक परिचय नहीं। किसी शिक्षक की ऐसी स्थिति वास्तव में दयनीय है। ऐसा शिक्षक बालकों के पथ-प्रदर्शन के योग्य नहीं। शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना आवश्यक है। जीवन की सरसता में उसका पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिए। उसके अनुभव का क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि बालक को सभी विषयों में वह उपयुक्त राय दे सके। उसमें सभी प्रकार के भाव और विचार के समझने की क्षमता होनी चाहिये। इस क्षमता के सहारे वह बालकों की भावनाओं को कुछ समझ सकेगा। यदि शिक्षक स्वयं कुछ नहीं जानता तो वह दूसरों के विषय में क्या जानेगा? उसे मानव-स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। बालकों के दृष्टिकोण से संसार की ओर देखने की उसमें योग्यता होनी चाहिये। उसे यह जानना चाहिये कि किसी विषय को बालकों के लिये रुचिकर बनाकर उनका सहयोग शिक्षाक्रम में कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से बहुत बढ़ गया है। उसे केवल कक्षा के कार्य कर लेने पर ही सन्तोष की साँस नहीं ले लेनी है। उसे अब बालक के बारे में पूरी जानकारी रखनी है। बालक की बुद्धि, विशिष्ट योग्यता, व्यावसायिक, सामाजिक और व्यक्तिगत रुचि, उसके घर का वातावरण तथा उसके सभी प्रकार के अनुभव से शिक्षक को परिचित होना है। इस जानकारी के बिना वह ठीक पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता। यही कारण है कि स्कूलों में अब बालक की विभिन्न योग्यताओं[1] के मापने की व्यवस्था की जा रही है। बालक के बारे में पूरी जानकारी के बाद ही वह उसकी ओर उचित वैयक्तिक ध्यान[2] देने में समर्थ होगा। यह सत्य है कि शिक्षकगण अभी तक अपने उत्तरदायित्व की गुरुता को इस सीमा को नहीं समझ सके हैं। पर यदि राष्ट्र अन्य अग्रगण्य राष्ट्रों का समकक्षीय होना चाहता है तो शिक्षकों को अपने कर्त्तव्य की व्याख्या उपरोक्त विधि से करनी होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षक केवल किसी विषय का अध्यापक ही नहीं है, वरन् वह जीवन

1. Measurement of various abilities, 2. Ind' '

का शिक्षक है। यदि शिक्षक इस दृष्टिकोण से अपने कर्त्तव्य को समझे तो कर्तव्य पालन हेतु सारा ज्ञान उसे सुलभ हो जायगा और वह अपने जीवन को एक तपस्या समझेगा, जिससे राष्ट्र के भावी कर्णधार उत्पन्न होते रहेंगे।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि शिक्षक केवल पाठ्यवस्तु के ज्ञान से ही अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता। अब यहाँ पर हम यह देखेंगे कि विषय-ज्ञान के अतिरिक्त शिक्षक के अन्य आवश्यक गुण क्या-क्या हैं। शिक्षा एक बढ़ता हुआ विज्ञान है। इसमें परीक्षणों के आधार पर सदा कुछ न कुछ नई बातें निर्धारित होती रहती हैं। प्रगतिशील होने के लिये शिक्षक को इन सभी नवीन बातों से परिचित होना चाहिये। उसमें एक ऐसी मानसिक योग्यता की आवश्यकता है जिससे वह प्रस्तुत विषय का सूक्ष्म विश्लेषण कर सके और यह समझ सके कि उसके नियन्त्रण में रहने वाले बालकों के लिये क्या अधिक उपयोगी होगा। यदि उसमें स्वयं विश्लेषण की शक्ति नहीं है तो बालकों में वह उसकी वृद्धि नहीं कर सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि उसके ज्ञान का उपयोग क्या है। उसके उपयोग को समझने के लिये अपने विषय के अतिरिक्त उसे कुछ अन्य विषयों का भी ज्ञान आवश्यक है। तभी वह विभिन्न विषयों में समन्वय[1] दिखला सकता है। यदि शिक्षक इस सम्बन्ध को स्थापित करने में सफल हो सका तो बालकों के सभी ज्ञान एक ही अनुभव के विभिन्न अंग होंगे। इस प्रकार विभिन्न विषयों के अध्ययन में उन्हें एक सामञ्जस्य दिखलाई पड़ेगा।

विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिये आलोचनात्मक शक्ति की आवश्यकता है। वह शक्ति बालकों में पर्याप्त होती है। बालक जो कुछ भी करता है उसे पहले अपनी आलोचना की कसौटी पर कस लेता है। इसीलिये तो छोटा बालक भी 'यह' न करके 'वह' करते देखा जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि जो ही सबसे पहले सामने आ जाता है उसी ओर बालक आकर्षित हो जाते हैं। पर ऐसी बात नहीं। किसी कार्य के करने के पहले बालक उसकी उपयोगिता पर अवश्य विचार कर लेता है। यदि ऐसी बात न होती तो वह कुछ सोच ही न पाता। शिक्षकों को उचित है कि वे बालकों में स्थित आलो-

[1] relation.

धनात्मक शक्ति की ओर आगे बढ़ावें। इसके लिये बालकों को सदा प्रश्न पूछने के लिये उत्साहित करते रहना चाहिये। कुछ शिक्षक बालकों के प्रश्न पूछने पर घबड़ा जाते हैं और इसे उनकी अविनय का चिन्ह समझते हैं। इस प्रवृत्ति के शिक्षक अयोग्य होते हैं। उन्हें अपने ज्ञान पर भरोसा नहीं रहता और एक ही प्रश्न पर घटपटा से जाते हैं।

अपने विचार से असहमत होने पर योग्य शिक्षक विद्यार्थी से अप्रसन्न नहीं होता, वरन् उसे इस बात की प्रसन्नता होती है कि बालक की आलोचनात्मक शक्ति बढ़ रही है। शिक्षक का दृष्टिकोण उदार होना चाहिये। उसका अपने ही विचार पर हठ करना वाञ्छित नहीं। बालक के व्यक्तित्व का आदर कर जीवन में सफलता प्राप्त करने के कई रास्तों के अस्तित्व को उसको स्वीकार करना चाहिये। बौद्धिक स्वतन्त्रता व्यक्ति का सबसे बड़ा गुण है। यदि शिक्षक इस गुण की प्राप्ति की ओर बालक का झुकाव कर सका तो उसका शिक्षक होना सफल है। कुछ शिक्षक अपनी ही विचारधारा बालकों पर लादना चाहते हैं। वे अन्य सिद्धान्तों और विचारों की घोर निन्दा करते हैं। बहुत से ऐसे शिक्षक हैं जो संगीत, चित्रकला, साहित्य, खेल अथवा व्यायाम आदि के विपक्ष में अपना मत देते हैं और अपने विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं थकते। अपनी विचारधारा में वे भूल जाते हैं कि शिक्षा क्षेत्र में बालक का अपना निजी अनुभव और विवेक दूसरों की बात चुपचाप मान लेने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

शिक्षक में धैर्य का होना उतना ही आवश्यक है जितनी कि बौद्धिक योग्यता का। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ शिक्षकों में धैर्य की बड़ी कमी होती है। वे बालकों के किसी अबोध प्रश्न पर ऐसा झिड़क देते हैं कि बालक आत्मविश्वास खो बैठता है और वह फिर कभी प्रश्न करने का साहस नहीं करता। बुद्धि न रहने पर उसे प्राप्त करना सन्देहात्मक हो सकता है, पर धैर्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। अभ्यास से 'धैर्य' का गुण प्राप्त किया जा सकता है। जिनमें विद्यार्थियों के अबोध प्रश्नों के साथ धैर्य दिखलाने की क्षमता न हो उन्हें अध्यापन-कार्य कभी न देना चाहिए। तीव्र बालकों को ही भली भांति पढ़ा देना अच्छे अध्यापन का लक्षण नहीं। अच्छे अध्यापन में तो सभी बालकों

बालकों के सामने गलत उदाहरण न रखना, बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखना, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में क्षमता, बालक की आवश्यकता का पूरा ज्ञान।

सामाजिक आवश्यकताओं से शिक्षक का परिचय आवश्यक, शिक्षक की सफलता की कसौटी बालक में उत्पन्न भावनायें।

बालक के केवल वर्त्तमान पर ही नहीं वरन् भविष्य पर भी ध्यान, शिक्षक में अध्यापन के लिए प्राकृतिक झुकाव आवश्यक।

जीवन की सभी समस्याओं से शिक्षक का परिचय, शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, बालकों के दृष्टिकोण से संसार को देखने की क्षमता।

बालक के बारे में पूरी जानकारी, शिक्षक जीवन का अध्ययक।

शिक्षा की नवीन प्रगतियों से परिचित होना, विश्लेषण की शक्ति, विभिन्न विषयों में समन्वय दिखलाने की क्षमता, दृष्टिकोण उदार।

शिक्षक में धैर्य, सभी छात्रों को भाव-प्रकाशन के लिए अवसर देना।

मानव स्वभाव का ज्ञान, व्यक्तिगत भिन्नता समझने की क्षमता।

* * *

प्रश्न

१—'आदर्श शिक्षक' पर एक निबन्ध लिखिए।

२—*शिक्षा की सफलता शिक्षक पर क्यों निर्भर करती है? उदाहरण देकर समझाइए।*

* * *

सहायक पुस्तकें

१—वाई ऐण्ड रॉसकू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय २।
२—सिडनी हुक—एडूकेशन फॉर मॉडर्न मैन अध्याय ६।
३—ई० आर० हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड, अध्याय १ और २।
४—टी रेमाण्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव ऐडूकेशन, अध्याय १७ और १८।
५—जे० एच० बॅण्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक, अध्याय १३।
६—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय २०।
७—फिण्डले—फाउण्डेशन्स ऑव ऐडूकेशन—भाग १, अध्याय ८।

* * *

को कुछ न कुछ कहने अथवा करने का अवसर दिया जाता है और इस प्रकार नए अनुभव प्राप्त करने में सबका कुछ न कुछ योग रहता है। ऐसा करने पर सभी बालक यह अनुभव करते है कि जो कुछ उन्होंने सीखा है अपनी आलोचनात्मक शक्ति और परिश्रम से, न कि शिक्षक के भाषण से। इस प्रकार का अनुभव ही उनका स्थायी संस्कार होता है।

शिक्षक को मानव-स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह विभिन्न प्रकार के बालकों के सम्पर्क में आता है। अतः मानव-स्वभाव का उसका ज्ञान किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पाये जाने वाले ज्ञान से अधिक जीवित होगा। बालकों का जितना ही वह अध्ययन करेगा उनमें वह उतनी ही भिन्नता पायेगा। भिन्नता समझने की क्षमता न होने पर वह शिक्षक होने योग्य नहीं। बालक को बिना अच्छी तरह समझे वह उसे कैसे प्रेरणा दे सकता है? शिक्षक में बहुत दूर तक सोचने की शक्ति चाहिए। उसमें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि हो जो उसे असफलता और निराशा में भी उत्साहित करती रहे। इस अन्तर्दृष्टि के बिना तो वह फैक्ट्री के उस साधारण कार्यकर्त्ता के समान है जिसका सम्बन्ध केवल अपने निर्धारित समय से ही रहता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सभी लोग शिक्षक नहीं बन सकते। शिक्षक के लिए कुछ ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है जो स्वाभाविक और अर्जित दोनों प्रकार के होते हैं। जिनमें ये गुण नहीं है उन्हें शिक्षक बनकर राष्ट्र का अहित न करना चाहिए।

सारांश

१ शिक्षक

बालक के विकास का पूरा उत्तरदायित्व शिक्षक पर, कवि और चित्रकार की भाँति शिक्षक, हमारे स्कूलों में अयोग्य शिक्षकों का प्रवेश।

बालक के लिए शिक्षक सभी गुणों का प्रतीक, शिक्षक का दायित्व, बालक पर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण, विनय-स्थापन बालक के विकास के लिए आवश्यक।

बालक को हर समय क्रियाशील रखना, शिक्षक की तैयारी, बालक की वैयक्तिक भिन्नता पर शिक्षक का ध्यान देना।

शिक्षक को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक, शिक्षा की प्रगति से उसका परिचय, बालक के शारीरिक विकास पर भी दृष्टि रखना आवश्यक।

बालकों के सामने गलत उदाहरण न रखना, बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखना, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में क्षमता, बालक की आवश्यकता का पूरा ज्ञान।

सामाजिक आवश्यकताओं से शिक्षक का परिचय आवश्यक, शिक्षक की सफलता की कसौटी बालक में उत्पन्न भावनायें।

बालक के केवल वर्तमान पर ही नहीं वरन् भविष्य पर भी ध्यान, शिक्षक में अध्यापन के लिए प्राकृतिक झुकाव आवश्यक।

जीवन की सभी समस्याओं से शिक्षक का परिचय, शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, बालकों के दृष्टिकोण से संसार को देखने की क्षमता।

बालक के बारे में पूरी जानकारी, शिक्षक जीवन का अध्यापक।

शिक्षा की नवीन प्रगतियों से परिचित होना, विश्लेषण की शक्ति, विभिन्न विषयों में समन्वय दिखलाने की क्षमता, दृष्टिकोण उदार।

शिक्षक में धैर्य, सभी छात्रों को भाव-प्रकाशन के लिए अवसर देना।

मानव स्वभाव का ज्ञान, व्यक्तिगत भिन्नता समझने की क्षमता।

* * *

प्रश्न

१—'आदर्श शिक्षक' पर एक निबन्ध लिखिए।

२—शिक्षा की सफलता शिक्षक पर क्यों निर्भर करती है? उदाहरण देकर समझाइए।

* * *

सहायक पुस्तकें

१—वार्ड ऐण्ड रॉसकू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय २।

२—सिडनी हुक—एडूकेशन फॉर मॉडर्न मैन अध्याय ६।

३—ई० आर० हैमिल्टन—द टीचर ऑन द यूथहोल्ड, अध्याय १ और २।

४—टी रेमाण्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव ऐडूकेशन, अध्याय १७ और १८।

५—जे० एच० वेण्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक, अध्याय ११।

६—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय २०।

७—फिण्डले—फाउण्डेशन्स ऑव् ऐडूकेशन—भाग १, अध्याय ८।

* * *

✓२७

पाठ्यक्रम का संगठन[1]

१—कुछ साधारण बातें

शिक्षा-क्षेत्र में पाठ्यक्रम के संगठन से अधिक महत्वपूर्ण कोई और समस्या नहीं। देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति के कारण भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः राष्ट्र की नीति के अनुसार ही किसी देश की शिक्षा का पाठ्यक्रम सगठित किया जाता है। स्पार्टनों का प्रधान उद्देश्य अपनी जाति के सौन्दर्य और राष्ट्र की रक्षा था। अतः उनके पाठ्यक्रम में कुश्ती, कृत्रिम युद्ध, निश्चित विधि से सबको व्यायाम कराना और सैनिक शिक्षा की प्रधानता थी। उनके शिक्षा-क्रम में नैतिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था। प्राचीन वीरों का उदाहरण, स्पर्धा तथा सगीत आदि को सहायता से उनमें देश-भक्ति और वीरता के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती थी। एथेन्सवासियों का आदर्श स्पार्टनों से भिन्न था। अतः उनकी शिक्षा में पाठ्यक्रम का सगठन दूसरे प्रकार का था। वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के पक्षपाती थे। उनके शिक्षा-क्रम में विभिन्न कलाओं को स्थान दिया गया। सुधार-युग में धार्मिक प्रवृत्ति के प्राबल्य होने के कारण पाठ्य-क्रम में धार्मिक विषयों को प्रधानता दी गई। इसी प्रकार किसी भी देश और काल की प्रगति उसकी शिक्षा के पाठ्यक्रम को देख कर समझी जा सकती है, क्योंकि समाज की माँग के अनुसार ही बालकों में शिक्षा द्वारा कुछ भावना भरने का प्रयास किया जाता है।

एक दिन था जब कि भारत में गुरुकुलों का बड़ा सम्मान था और बालक की शिक्षा का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर सौंपा जाता था। वर्ण-व्यवस्था के

1. The organization of curriculum.

प्रचार के फलस्वरूप विभिन्न वर्णों वाले अपने अपने बालकों को अपने व्यवसाय में तैयार करते थे और पिता अपने पुत्र का पाठ्यक्रम स्वयं बना लेता था। राज्य अथवा राष्ट्र उसमें हस्तक्षेप न करता था। ब्राह्मण-काल के बाद बौद्ध-काल में राजकीय पदों के लिए बौद्ध होना आवश्यक था। अतः पाठ्यक्रम में बौद्ध धर्म की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। मुसलमान कालीन भारत में धार्मिक भाव को उत्पन्न करना ही शिक्षा का विशेष उद्देश्य रहा। इसलिए मक्तब और पाठशालाओं में विशेषकर धर्म की चर्चा प्रधान रहती थी। अंग्रेजी काल में साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करनी थी। अत: शिक्षा के कर्णधारों ने पाठ्यक्रम का संगठन इस प्रकार किया कि साम्राज्य की नींव दृढ़ करने में योग मिल सके। पहिले भी हम इस ओर संकेत कर चुके हैं।

आज हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र है और हम अपनी गणना अन्य बड़े राष्ट्रों में करना चाहते हैं। फलतः हमारे सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की क्रान्ति सी दिखलाई पड़ती है। धार्मिक क्षेत्र में भी हमें अब पहले से कम कट्टरता जान पड़ती है। विज्ञान की आशातीत गति को देख यह भय सा लगता है कि व्यक्ति कहीं भौतिकवाद[1] में ही न फँस जाय और जीवन की सरसता न खो बैठे। फलत. अब शिक्षा विशेषज्ञों में यह भी चर्चा चल पड़ी है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा के लिये भी कोई ऐसा उपाय ढूंढना चाहिए जो कि सर्वमान्य हो। इन सब बातों को देखने से यह स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम के संगठन का प्रथम सिद्धान्त देश की तात्कालिक आवश्यकता तथा जाति के आदर्शों का अध्ययन करना है। केवल वही व्यक्ति पाठ्यक्रम के संगठन में योग दे सकता है जिसे देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों का ठीक-ठीक बोध हो। अतः पाठ्य-क्रम का संगठन बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और राष्ट्र के कर्णधारों को इसकी अवहेलना न करनी चाहिए। रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका में पाठ्यक्रम के संगठन को भारी राष्ट्रीय महत्व दिया जाता है और अतुल धन व्यय कर योग्यतम व्यक्तियों को ही इसका उत्तरदायित्व दिया जाता है।

केवल देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों के ज्ञान से ही पाठ्यक्र

1. Materialism.

✓२७

पाठ्यक्रम का संगठन[1]

१—कुछ साधारण बातें

क्षा-क्षेत्र में पाठ्यक्रम के संगठन से अधिक महत्वपूर्ण कोई और समस्या
नहीं। देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति के कारण भी
रिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः राष्ट्र की नीति के अनुसार ही किसी देश
ा का पाठ्यक्रम सगठित किया जाता है। स्पार्टनो का प्रधान उद्देश्य
ाति के सौन्दर्य और राष्ट्र की रक्षा था। अतः उनके पाठ्यक्रम में कुश्ती,
ुड, निश्चित विधि से सबको व्यायाम कराना और सैनिक शिक्षा की
थी। उनके शिक्षा-क्रम में नैतिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था।
वीरों का उदाहरण, स्पर्धा तथा संगीत आदि की सहायता से उनमें देश-
ार वीरता के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती थी। एथेन्सवासियों
र्टनो से भिन्न था। अतः उनकी शिक्षा में पाठ्यक्रम का सगठन
ार का था। वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के पक्षपाती थे। उनके शिक्षा-
विभिन्न कलाओं को स्थान दिया गया। सुधार-युग में धार्मिक प्रवृत्ति के
होने के कारण पाठ्य-क्रम में धार्मिक विषयों को प्रधानता दी गई। इसी
मी भी देश और काल की प्रगति उसकी शिक्षा के पाठ्यक्रम को देख
ी जा सकती है, क्योंकि समाज की मांग के अनुसार ही बालकों में शिक्षा
भावना भरने का प्रयास किया जाता है।

दिन था जब कि भारत में गुरुकुलों का बड़ा सम्मान था और बालक
का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर सौंपा जाता था। वर्ण-व्यवस्था के

---

[1] The organization of curriculum.

उपयोग कर सकता है ? वस्तुत: निरीक्षण-शक्ति का सम्बन्ध रुचि[1] से है। जिस विषय में व्यक्ति की रुचि होती है उसी में उसकी निरीक्षण-शक्ति भी तीव्र होती है। अरुचिकर विषय में व्यक्ति की उदासीनता ही दिखलाई पड़ती है। हाँ, यह बात मानी जा सकती है कि जो एक विषय में अच्छी निरीक्षण-शक्ति रखता है वह उस विषय से सम्बन्धित किसी अन्य क्षेत्र में भी किसी अनभिज्ञ व्यक्ति से अधिक निरीक्षण शक्ति का प्रदर्शन करेगा। सभी वस्तुओं को समान रूप से निरीक्षण करने की कोई शक्ति नहीं होती। अपनी-अपनी रुचि के विषय में सभी लोग अच्छे निरीक्षक होते हैं। अतः रुचि के विकास का प्रयत्न करना चाहिए, न कि निरीक्षण-शक्ति का। रुचि के विकास से निरीक्षण-शक्ति का विकास स्वतः हो जाता है।

३—तर्कशक्ति के विकास के लिए गणित ?—

कुछ लोगों का कहना है कि तर्क-शक्ति[2] के विकास के लिए गणित का पढ़ाना आवश्यक है। पर गणित के लिए किसी विशेष तर्क-शक्ति की आवश्यकता नहीं। तर्क-शक्ति सदा एक ही प्रकार की होती है चाहे वह साहित्य, इतिहास अथवा अन्य किसी भी विषय की हो। कुछ लोग कह सकते हैं कि गणित में अंकों और निष्कर्षों का सदा एक मान होता है। अत: उसमें तर्क-शक्ति की प्रखरता अधिक होती है। पर ऐसा किसी भी विषय के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अतः तर्क-शक्ति की वृद्धि के लिए गणित का पढ़ाना युक्तिसंगत नहीं, इसके लिए तो तर्क शास्त्र[3] का पढ़ाना अधिक उपयुक्त होगा। पर जीवन में गणित की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के लिये उसका कुछ न कुछ ज्ञान तो आवश्यक ही है।

४—स्मृति-शक्ति के विकास के लिए इतिहास तथा भाषा ?—

कुछ लोगों के अनुसार स्मृति-शक्ति[4] की वृद्धि के लिए इतिहास तथा भाषा का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ भी निरीक्षण की तरह रुचि की ही बात आ जाती है। अपनी रुचि के विषय में सब की स्मृति शक्ति तेज होती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि धारण शक्ति[5] स्वाभाविक होती है और उसमें विशेष

1. Interest. 2. Power of Reasoning. 3. Logic. 4. Memory. 5. Power of Retention.

के संगठन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। संगठन में विभिन्न विषयों के चुनने की कसौटी का भी पाठ्यक्रम-कर्त्ता को ज्ञान होना चाहिये। इस कसौटी के आधार पर ही किसी विषय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना ठीक होगा। यों तो किसी भी विषय को स्वीकार करने के पक्ष में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। किसी हस्तकला के पढ़ाने का समर्थन उतने ही गम्भीर शब्दों में किया जा सकता है जितना कि गणित के। पर समस्या यह है कि बचपन के छोटे काल का किस प्रकार पथ-प्रदर्शन किया जाय कि परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिले और भावी कर्तव्य-पालन के लिए व्यक्ति तैयार हो जाय। स्पष्ट है कि हमारे पास विभिन्न विषयों के मूल्यांकन की एक ऐसी कसौटी होनी चाहिए जिसमें उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक विषय चुने जा सकें। नीचे हम यही विचार करेंगे कि यह कसौटी क्या हो।

पाठ्यक्रम-संगठन के कुछ सिद्धान्त

१—मानसिक विनय[1] ?—

कुछ विद्वानों ने मानसिक विनय को विभिन्न विषयों के मूल्यांकन की एक कसौटी माना है। उनका कहना है कि मानसिक विनय से व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियों का विकास हो जाता है और इस विकास से वह किसी भी कार्य को करने में समर्थ हो सकता है। विद्वानों के अनुसार 'मानसिक विनय' के विकास के लिए विभिन्न मानसिक शक्तियों की सूची बनाकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किसी शक्ति के विकास के लिये किस विषय के अध्ययन की आवश्यकता होगी।

२—निरीक्षण शक्ति के विकास के लिए विज्ञान—

कुछ लोगों का कहना है कि निरीक्षण शक्ति[2] के विकास के लिये विज्ञान का पढ़ना आवश्यक है। विज्ञान के अध्ययन से आँख तथा हाथ के प्रयोग से निरीक्षण-शक्ति की वृद्धि होती है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता। क्या रसायनशास्त्र का वेत्ता जीव विज्ञान के क्षेत्र में अपनी निरीक्षण-शक्ति का

---

1. Mental Discipline. 2. Observation Power.

करता है। यदि विधि मनोवैज्ञानिक न हुई तो विज्ञान और साहित्य के अध्ययन में व्यक्ति दूसरों की कही बात को शीघ्र मान लेगा और अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग न करेगा। जहाँ अपनी कल्पना-शक्ति का अभ्यास नहीं होता वहाँ अन्य मानसिक शक्तियों का विकास भी रुक जाता है। स्वयं सोची हुई बात पर अच्छा तर्क किया जा सकता है और वह शीघ्र स्मृति-पटल पर जम जाती है।

७—मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर[1]—

इन सबसे यह न समझना चाहिए कि शिक्षा में 'मानसिक विनय' अथवा विकास का महत्व नहीं। वस्तुतः मानसिक विनय प्राप्त करना तो शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों में से है। परन्तु इसी उद्देश्य से किसी विषय का पाठ्यक्रम में लेना भ्रातिमूलक होगा, क्योंकि किसी विषय के चुनाव में जीवन में उसकी उपयोगिता पर ध्यान दिया जाना न कि उसमें सम्बन्धित किसी विशेष मानसिक शक्ति का। मानसिक शक्ति का विकास पठन-पाठन की विधि पर अधिक निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति के विकास में सभी विषयों का समान महत्व है, अर्थात् विज्ञान पढ़ने से वही बात सीखी जा सकती है जो इतिहास के अध्ययन से, अतः किसी एक का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय का मनोवैज्ञानिक मूल्य अलग-अलग उसी प्रकार होता है जैसे जीवन में प्रत्येक की विभिन्न उपयोगिता।

८—पाठ्यक्रम का रूप बहुत विस्तृत हो[2]—

कुछ लोग जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से पाठ्यक्रम का संगठन करना चाहते हैं। परन्तु अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होगी। अतः इस विषय में किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। क्या बिना किसी की रुचि का ध्यान दिये ही सामान्य रूप से पाठ्यक्रम का संगठन कर दिया जाय ? कुछ लोग कहते हैं कि प्राथमिक शिक्षा का रूप नींव सदृश होना चाहिए। इसमें बालक को लिखने, पढ़ने और ... [illegible] चाहिए। परन्तु माध्यमिक शिक्षा में

1. ... the method ... [illegible]
2. curriculum should ... [illegible]

परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क वही वस्तुएँ याद करता है जि
व्यक्ति को आवश्यकता होती है। आवश्यकता बीत जाने पर याद की हुई
भूल भी जाती है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि पहले से व्यक्ति की स्मृति
खराब हो गई। उदाहरणार्थ, जिन गणित के प्रश्नो को व्यक्ति बचपन में
कर लेता था उसे युवावस्था मे कण्ठ करने में उसे बडी कठिनाई होती है। गणि
में विशेष रुचि न रखने वाले प्रायः सभी व्यक्तियो का ऐसा अनुभव होगा।
बचपन से युवावस्था में उसकी स्मृति कम हो जाती है ? नही, बात यह है
युवावस्था में उसे उन बातो की आवश्यकता नही, उसकी अब उधर बहुत
रुचि रह गई है। अत. उसे वह भूल जाता है।

५—कल्पना-शक्ति के विकास के लिए साहित्य ?—

कल्पना-शक्ति के विकास के ध्येय से साहित्य का पढाना ठीक नही। साहि

म न होकर अच्छी बातो के लिए हो। अतः हमारा उद्देश्य अच्छी रुचि उत्पन्न
करना है। व्यक्तित्व का विकास अच्छी रुचि पर ही निर्भर करता है। साहित्य
तथा इतिहास आदि के अध्ययन से अच्छी रुचियो के विकास की आशा की जा
सकती है। उनमे मानव हित के विभिन्न अगो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और
व्याख्या रहती है। अतः साहित्य और इतिहास का अध्ययन कल्पना-शक्ति के
विकास के लिए नही, वरन् पहले ही से प्राप्त कल्पना-शक्ति को अच्छी दिशा की
ओर लगाने के उद्देश्य से किया जाता है।

६—किसी विषय मे किसी मानसिक शक्ति विशेष का विकास नहीं—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी विषय के सीखने में किसी मान-
सिक शक्ति विशेष की वृद्धि नहीं होती। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ अलग-
अलग काम नहीं करतीं। किसी कार्य में सारी शक्तियाँ एक साथ मिलकर काम
करती हैं। यदि विधि अच्छी हुई तो अधिक से अधिक शक्तियों का विकास होगा।
अतः मानसिक शक्तियों का विकास सीखने अथवा पढ़ाने की विधि पर निर्भर

करता है। यदि विधि मनोवैज्ञानिक न हुई तो विज्ञान और साहित्य के अध्ययन में व्यक्ति दूसरो की कही बात को शीघ्र मान लेगा और अपनी कल्पना-शक्ति क उपयोग न करेगा। जहाँ अपनी कल्पना-शक्ति का अभ्यास नही होता वहाँ अन्य मानसिक शक्तियो का विकास भी रुक जाता है। स्वय सोची हुई बात पर अच्छा तर्क किया जा सकता है और वह शीघ्र स्मृति-पटल पर जम जाती है।

७—मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर[1]—

इन सबसे यह न समझना चाहिए कि शिक्षा मे 'मानसिक विनय' अथवा विकास का महत्व नही। वस्तुतः मानसिक विनय प्राप्त करना तो शिक्षा के प्रधान उद्देश्यो में से है। परन्तु इसी उद्देश्य से किसी विषय का पाठ्यक्रम में लेना भ्रान्तिसूचक होगा, क्योकि किसी विषय के चुनाव में जीवन में उसकी उपयोगिता पर ध्यान दिया जाता न कि उससे सम्बन्धित किसी विशेष मानसिक शक्ति का। मानसिक शक्ति का विकास पठन-पाठन की विधि पर अधिक निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह नही कि व्यक्ति के विकास में सभी विषयो का समान महत्व है, अर्थात् विज्ञान पढने से वही बात सीखी जा सकती है जो इतिहास के अध्ययन से, अतः किसी एक का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय का मनोवैज्ञानिक मूल्य अलग-अलग उसी प्रकार होता है जैसे जीवन में प्रत्येक की विभिन्न उपयोगिता।

८—पाठ्यक्रम का रूप बहुत विस्तृत हो[2]—

कुछ लोग जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से पाठ्यक्रम का सगठन करना चाहते हैं। परन्तु अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होगी। अतः इस विषय में किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना बडा कठिन मालूम पड़ता है। क्या बिना किसी की रुचि का ध्यान दिये ही सामान्य रूप से पाठ्यक्रम का सगठन कर दिया जाय ? कुछ लोग कहते हैं कि प्रायमिक शिक्षा का रूप नीव सदृश् होना चाहिए। इसमें बालक को लिखने, पढ़ने और साधारण अकगणित का ज्ञान दे देना चाहिए। परन्तु माध्यमिक शिक्षा में

1. Mental development dependen on the method. 2. The curriculum should be very wide in scope.

व्यक्ति की जीवन की आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। पाठ्यक्रम का रूप इतना विस्तृत हो कि बालक अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनकर व्यवसाय के लिए तैयार हो जाय। कुछ लोगों का यह कहना है कि बच्चों के किसी व्यवसाय के साथ बचपन से ही उसकी शिक्षा देना उचित नहीं; परन्तु शारीरिक और मानसिक दोनों विकासकाल के अन्तर्गत एक या दो ऐसे कुछ रुचि के ऐसे अवसर मिलने चाहिए, जिससे बालक के भावी व्यवसाय में कुछ सहायता हो।

९—पाठ्यक्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय[1]—

मानव जीवन-यापन के लिये सभी को कुछ न कुछ करना पड़ता है—इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर यह भी न भूलना चाहिए कि शिक्षा का तात्पर्य केवल भाषा, इतिहास अथवा विज्ञान आदि पढ़ाना ही नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध तो सम्पूर्ण जीवन से है। आजकल हम इस बात को भूल गये हैं, इसीलिए हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता जान पड़ती है। पाठ्यक्रम के गठन में हमें 'बालक' और 'समाज' को प्रधान अंग मानना चाहिए। इन पृष्ठों में हम इस बार कई बार संकेत कर चुके हैं। हमें पहले बालक के स्वभाव और रुचि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके बाद बालक के प्रधान वातावरण अर्थात् उसके समाज पर ध्यान देना होगा। जन्मते ही बालक समाज का सदस्य हो जाता है। समाज से लाभ उठाने के कारण उसके प्रति उसका कुछ उत्तरदायित्व हो जाता है। अतः पाठ्यक्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय होना चाहिए। उसका रूप ऐसा हो कि बालक के व्यक्तित्व-विकास के साथ समाज हित का भी उद्देश्य जीवित रहे। एक की भी अवहेलना दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होगी।

१०—अपने तथा दूसरे सामाजिक आदर्शों का ज्ञान देना—

बालक का वातावरण बड़ा विस्तृत होता है। इसमें से जो अधिक महत्वपूर्ण होता है उसी का उपयोग उसकी अवस्था और आवश्यकतानुसार करना ठीक

---

1. The correlation between the needs of the child and those of the society in the curriculum.

। प्रत्येक समाज का अपना अलग-अलग आदर्श होता है। उस आदर्श प्रतिकूल जाने पर व्यक्ति अयोग्य कहा जाता है। इस आदर्श का ससार के समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योकि मानव-स्वभाव में बहुत सी सामान्य है। इसलिए बालक को अपने साथ ससार के अन्य देशो के इतिहास को पढना आवश्यक है। बालक अपने पूर्वजो का उत्तराधिकारी है। उनकी कृतियो से उसका परिचय होना चाहिए। उनके विचार और नायें क्या रही हैं इन्हे जानने से बालक के विकास में बडा योग मिलता है। मनुष्य का जीवन इतना बडा नही कि सब कुछ वह अपने परीक्षण के आधार समझे। अतः जो कुछ सिद्ध किया जा चुका है उसे जानने का पूरा अधिकारी है। इस दृष्टिकोण से उसे साहित्य तथा विज्ञान का अध्ययन करना चाहिये। इसके लिए उसे पढ़ना-लिखना और गणित का ज्ञान आवश्यक होगा। अतः उसे भाषा और गणित भी पढ़ाना चाहिए। अपने वातावरण का ज्ञान भी बालक के लिए आवश्यक है। अतः उसे प्राकृतिक विज्ञानों का भी ज्ञान देना चाहिए।

२—बहुरुचि का विकास—

बालक को बहुत से विषयों को पढ़ाने का ध्येय 'बहु रुचि'[1] का विकास करना है। ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य रुचि का विकास करना है। रुचि के विकास से ही व्यक्ति में अच्छे-अच्छे आदर्श उत्पन्न हो सकते । बहु रुचि के विकास से उदारता आती है। इससे व्यक्ति सभी बातों के विषय निष्पक्ष निर्णय करने में समर्थ होता है। बचपन में अधिक से अधिक विषयों को पढ़ाने का तात्पर्य यह नहीं कि उनमें बालक को प्रवीण कर देना है और न उसका यही अर्थ है कि विभिन्न विषयो में उसे पल्लवग्राही कोटि का ज्ञान देना । बचपन में बालक की जिज्ञासा बड़ी प्रबल होती है। इस मूलप्रवृत्ति के सहारे उसे कई बातें सिखलाई जा सकती हैं। यदि बचपन में ही विभिन्न विषयों में उसकी जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकी तो वह अपना मार्ग अवश्य ढूँढ़ लेगा। अपनी रुचि का केन्द्रीकरण उसके लिये कठिन न होगा। अव्यवस्थित चित्त के

1. Many-sided Interests.

वातावरण तथा उसका मानव जीवन पर प्रभाव का वर्णन रहता है। अतः भूगोल एक ऐसा पुल है जिस पर खड़े होकर विज्ञान और साहित्य दोनों ओर देखा जा सकता है।

कुछ लोग "ज्ञानाय ज्ञानम्" के सिद्धान्त पर पाठ्यक्रम का संगठन करना चाहते हैं। इनके अनुसार साहित्य, व्याकरण, गणित और विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन उनके ज्ञान के लिये करना चाहिए। जीवन में उनके उपयोग पर कुछ भी चर्चा नहीं की जाती। यह दशा ठीक नहीं। इस प्रकार की शिक्षा से व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि उसके ज्ञान का प्रयोजन क्या है। परीक्षा पास कर लेने के बाद बेकारों की सूची में वह अपना नाम लिखा लेता है, या कहीं ऐसे स्थान में नौकरी कर लेता है जिससे उसकी शिक्षा से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे उदाहरणों की हमारे देश में कमी नहीं। अनेक बी० एस-सी० तथा एम० एस-सी० पास किये हुए युवक दफ्तर में क्लर्की करते देखे जाते हैं। साहित्य, इतिहास और गणित के एम० ए० पास करने के बाद अपने क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में लोग नौकरी करने चले जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि उन्हें अपने विषय से प्रेम नहीं, और केवल डिग्री प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने कुछ साल तक कालेज में समय व्यतीत किया है।

हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली की एक यह भी विशेषता है कि साहित्य अथवा गणित आदि का कहा जाने वाला विद्वान् बहुधा जीवन के बहुत से अंगों में शून्य रहता है। कुछ लोग केवल किसी एक कौशल की प्राप्ति पर ही ध्यान रखते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षित व्यक्ति सभी दृष्टि में पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसकी स्थिति कूप मण्डूक की तरह होती है। ज्ञानाय ज्ञानम् का यही परिणाम होता है। पाठ्यक्रम के संगठन में सबसे अधिक ध्यान देने बात यह है कि विषयों का चुनाव ऐसा हो कि बालक जो कुछ सीखे उपयोग वह कर सके। किसी विषय की उपयोगिता कितनी है इसका करना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसमें विद्वानों का मत एक नहीं। ऐसा पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता जो सभी स्कूलों के लिए लिए उपयुक्त हो। इतना ही नहीं, वरन् हम यह भी कह सकते हैं के लिए बनाया हुआ पाठ्यक्रम दूसरे साल के लिए ठीक नहीं हो,

हर साल विभिन्न श्रेणी के बालक आते हैं और उनकी वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने में हर साल पाठ्यक्रम में कुछ न कुछ परिवर्तन आवश्यक है

१३—पाठ्यक्रम के संगठन का दायित्व स्कूल पर छोड़ना¹—

अतः उचित तो यह है कि शिक्षा के उच्च अधिकारीगण पाठ्यक्रम बनाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लें। यह कार्य स्कूल के योग्य शिक्षकों पर ही वे छोड़ दें। शिक्षक बालक के सम्पर्क में आता है, अतः यह आशा करना भ्रम न होगा कि स्कूल पाठ्यक्रम के संगठन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है। स्कूल के पथ प्रदर्शन के लिए केवल कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों का निर्धारण किया जा सकता है, जिससे सभी स्कूल एक अपेक्षित स्तर तक पहुँचने की चेष्टा करें और वे अपनी मनमानी में न लग जाँय। ऐसी व्यवस्था में वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था अधिक से अधिक की जा सकती है।

हमारे उपर्युक्त संकेत का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम होना चाहिये, यद्यपि आदर्श यही होता, पर यह सम्भव नहीं। हमारा अर्थ केवल इतना ही है कि स्कूल को अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पर इसके साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठावे। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के स्कूलों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। वहाँ पाठ्यक्रम के निर्धारण में स्कूलों का बड़ा भारी हाथ रहता है। वे एक ऐसे बोर्ड के नियन्त्रण में होते हैं जो केवल कुछ पाठ्यक्रम के सिद्धान्त और साधारण नीति-निर्धारित कर देता है। अन्य बातें स्कूल अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं ठीक कर लेते हैं। इस स्वतन्त्रता का फल बड़ा ही अच्छा हुआ है। इसमें शिक्षक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी पाठन-विधि में कुछ मौलिक परिवर्तन करने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार वहाँ पाठ्यक्रम का स्वरूप ऐसा होता है कि उसमें अधिक सरलता से परिवर्त्तन किया जा सकता है।

Ie ... sponsibility of the curriculum organization to be ... hool.

हमारे देश में पाठ्यक्रम के परिवर्तन अथवा संशोधन में वर्षों लग जाते हैं। इसी बीच शिक्षक की मौलिकता पर काफी ठेस लगती है और वह निरुत्साह होकर बैठ जाता है। अतः सिद्धान्ततः प्रत्येक सरकार को पाठ्यक्रम की केवल रूप-रेखा ही निर्धारित करनी चाहिए। पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों का नाम दे देना ही पर्याप्त है। विभिन्न विषयों का चुनाव किस प्रकार करना चाहिए इसी का विवेचन हम नीचे करेंगे। गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उसमें स्पष्ट है कि उन सिद्धान्तों पर ही पाठ्यक्रम का निर्धारण ठीक न होगा।

१४—कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व[1]—

कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व होता है। उनमें मनुष्य की सभी रुचियों का प्रतिनिधित्व आ जाता है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो भाषा, साहित्य, गणित, प्राकृतिक विज्ञान और भूगोल का कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना न चाहता हो? संगीत और कला में प्रेम न होने से व्यक्ति का जीवन नीरस कहा जाता है। अत. इन विषयों के किसी न किसी अंग से परिचित होना भी आवश्यक ही कहा जा सकता है। कुछ विषयों का पढ़ाना तो अच्छी प्रकार जीवन बिताने के लिए आवश्यक होता है और दूसरों की आवश्यकता सभ्यता के विकास में योग देने या समाज का नेतृत्व करने के लिए होती है।

१५—स्कूल-काल की अवधि के अनुसार—

इन विभिन्न क्षेत्रों में से किसी विषय के अध्ययन की सीमा कहाँ तक रखी जाय यह बालक के स्कूल-काल की अवधि पर निर्भर करेगा। दस ग्यारह वर्ष की अवस्था तक तो बालक को मातृभाषा, अङ्कगणित, अपने देश का इतिहास, प्रारम्भिक बीजगणित, रेखागणित तथा प्रकृति-अध्ययन[2] का ही पढ़ाना उपयुक्त होगा। इससे आगे भौतिक और रसायन-विज्ञान का भी ज्ञान दिया जा सकता है। इसके साथ एक विदेशी भाषा का भी पढ़ाना ठीक होगा। हमारे देश में यह विदेशी भाषा अंग्रेजी होगी। बालक के विकास की अवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों को अधिक विस्तृत बनाना होगा।

---

1. Universal importance of some subjects. 2. Nature study.

हर बात विशिष्ट क्षेत्र के बालक पाते हैं और उनको वैयक्तिक विभि-न्नता शिक्षा की व्यवस्था करने में हर बात पाठ्यक्रम में [illegible]
आवश्यक है

११ पाठ्यक्रम के संगठन का दायित्व स्कूल पर छोड़ना[1]—

अतः उचित तो यह है कि शिक्षा के [illegible] पाठ्यक्रम [illegible] का उत्तरदायित्व स्कूलों पर छोड़ दें। यह कोई स्कूल के [illegible] के ठीक है। शिक्षक बालक के सम्पर्क में रहता है, अतः यह उचित ही न होगा कि स्कूल पाठ्यक्रम के संगठन का कोई उचित [illegible] है। स्कूल के पथ प्रदर्शन के लिए केवल कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों का दिया जा सकता है, जिनके भीतर स्कूल एक सीमा तक स्वतन्त्रता [illegible] करें और वे अपनी मान्यताओं में न [illegible]। ऐसी व्यवस्था में वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था अधिक से अधिक की जा सकती है।

हमारे उपर्युक्त संकेत का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम होना चाहिये; यद्यपि आदर्श यही होगा, पर यह सम्भव नहीं। हमारा अर्थ केवल इतना ही है कि स्कूल को अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पर इसके साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठावे। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के स्कूलों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। वहाँ पाठ्यक्रम के निर्धारण में स्कूलों का बड़ा भारी हाथ रहता है। वे एक ऐसे बोर्ड के नियन्त्रण में होते हैं जो केवल कुछ पाठ्यक्रम के सिद्धान्त और साधारण नीति-निर्धारित कर देता है। अन्य बातें स्कूल अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं ठीक कर लेते हैं। इस स्वतन्त्रता का फल बड़ा ही अच्छा हुआ है। इससे शिक्षक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी पाठन-विधि में कुछ मौलिक परिवर्तन करने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार वहाँ पाठ्यक्रम का स्वरूप ऐसा होता है कि उसमें अधिक सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है।

---

1. The responsibility of the curriculum organization to be left on the school.

हमारे देश में पाठ्यक्रम के परिवर्त्तन अथवा संशोधन में वर्षों लग जाते हैं। इसी बीच शिक्षक की मौलिकता पर काफी ठेस लगती है और वह निरुत्साह होकर बैठ जाता है। अतः सिद्धान्ततः प्रत्येक सरकार को पाठ्यक्रम की केवल रूप-रेखा ही निर्धारित करनी चाहिए। पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों का नाम दे देना ही पर्याप्त है। विभिन्न विषयों का चुनाव किस प्रकार करना चाहिए इसी का विवेचन हम नीचे करेंगे। अत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि उन सिद्धान्तों पर ही पाठ्यक्रम का निर्धारण ठीक न होगा।

१४—कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व[1]—

कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व होता है। उनमें मनुष्य की सभी रुचियों का प्रतिनिधित्व आ जाता है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो भाषा, साहित्य, गणित, प्राकृतिक विज्ञान और भूगोल का कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना न चाहता हो? संगीत और कला में प्रेम न होने से व्यक्ति का जीवन नीरस कहा जाता है। अतः इन विषयों के किसी न किसी अंग से परिचित होना भी आवश्यक ही कहा जा सकता है। कुछ विषयों का पढ़ाना तो अच्छी प्रकार जीवन बिताने के लिए आवश्यक होता है और दूसरों की आवश्यकता सभ्यता के विकास में योग देने या समाज का नेतृत्व करने के लिए होती है।

१५—स्कूल-काल की अवधि के अनुसार—

इन विभिन्न क्षेत्रों में से किसी विषय के अध्ययन की सीमा कहाँ तक रखी जाय यह बालक के स्कूल-काल की अवधि पर निर्भर करेगा। दस ग्यारह वर्ष की अवस्था तक तो बालक को मातृभाषा, अङ्कगणित, अपने देश का इतिहास, प्रारम्भिक बीजगणित, रेखागणित तथा प्रकृति अध्ययन[2] का ही पढ़ाना उपयुक्त होगा। इसके आगे भौतिक और रसायन-विज्ञान का भी ज्ञान दिया जा सकता है। इसके साथ एक विदेशी भाषा का भी पढ़ाना ठीक होगा। हमारे देश में यह विदेशी भाषा अंग्रेजी होगी। बालक के विकास की अवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों को अधिक विस्तृत बनाना होगा।

---

1. Universal importance of some subjects. 2. Nature study.

१६—जीवन-यापन में सहायता[1]—

ऊपर हम कई बार कह चुके है कि बालक को शिक्षा इस प्रकार दी जा कि उसे अपने जीवन-यापन में कठिनाई न हो। इसके लिए स्कूल के अन्तिम वर्ष में उसकी रुचि के अनुसार शिक्षा-क्रम में कुछ व्यावसायिक रग भी लाया जा सकता है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि आवश्यक विषयों की उपेक्षा की जाय। इन सब बातो पर ध्यान रखकर नीचे हम कुछ ऐसी बातो का उल्लेख करेंगे जिन पर पाठ्यक्रम के सगठन में विशेष ध्यान देना होगा।

१७—स्कूल को स्वतन्त्रता—

ऊपर हम शिक्षक को अध्यापन-कार्य में पहले से अधिक स्वतन्त्रता देने की

हम यह भी सकेत कर चुके है कि विभिन्न स्कूलो के आदर्शों में समानता होते हुए भी उन्हे अपने कार्य-क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

'सब धान बाइस पसेरी' का हिसाब स्कूलो में नहीं लाया जा सकता। भिन्न-भिन्न स्कूलो में तरह तरह के बालक आते है। उनकी शक्तियो और आवश्यकताओं में बडा भेद होता है। अतः पाठ्यक्रम की सूक्ष्म बातो के निर्धारण में प्रत्येक स्कूल अथवा शिक्षक को अपने क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्कूल अथवा शिक्षको के लिए इतनी स्वतन्त्रता की माँग का अर्थ उनके उत्तरदायित्व को बहुत आगे बढा देना होगा। स्पष्ट है कि आज का शिक्षक इस उत्तरदायित्व को सँभालने में सफल न हो सकेगा। अतः उसके लिए नये शिक्षण प्राप्त अध्यापको की ही आवश्यकता न होगी, अपितु सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी समुचित परिवर्तन करना अपेक्षित होगा। यहाँ पर हम देखेंगे कि अभूत-पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त स्कूलो को अथवा नए शिक्षाधिकारियो को पाठ्यक्रम के सगठन में किन-किन बातो पर ध्यान देना चाहिए।

शिक्षक को पीछे वर्णित सुविधा देने में कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि वह अपने कर्तव्य की उपेक्षा करेगा और प्राप्त पुस्तको के सहारे ही वह किसी

1. Help in earning a living.

कार काम चलाने की सोचेगा। संयुक्त-राज्य-अमेरिका में शिक्षक को जब ऐसी सुविधा दी गई तो पहले पहल शिक्षा व्यवस्था में कुछ ऐसी गड़बड़ी अवश्य हुई और शिक्षा-क्रम बालकों के लिए विशेष रुचिकर और लाभदायक सिद्ध न हुआ। इसके कारण दो थे :—१. योग्य शिक्षकों का अभाव और २. आवश्यक सुविधाओं का न मिलना। इन सब कठिनाइयों के दूर कर देने पर वहाँ की शिक्षा-प्रणाली बड़ी सफल सिद्ध हो रही है। यों तो दोषमुक्त संसार में कोई नहीं; परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त-राज्य अमेरिका के वर्तमान ऐश्वर्य का कारण उसकी आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था भी है।

१८—बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि[3]—

बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि की उपेक्षा कर पाठ्यक्रम के उद्देश्य को पहले ही निर्धारित कर देने का अर्थ कुछ सीमित बालकों की ही सुविधा पर ध्यान देना होगा। इससे बहुत से बालकों का वाछित विकास न हो सकेगा और ... ध्यान देना ... यह कि ... । इन सब बातों पर ध्यान देने के लिए बुद्धि-माप[4], प्रवणता-माप[5] तथा अन्य उचित उपायों से बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि का पता लगा लेना आवश्यक होगा।

१९—अन्य पाठ्य-विषयों से सम्बन्ध[5]—

पाठ्यक्रम के किसी अंग को निर्धारित करने के पूर्व उसका अन्य विषयों से सम्बन्ध समझ लेना ठीक होगा, जिससे बालक जो कुछ सीखे वह एक ही अनुभव का अंग हो। ऐसा करने से उसका विकास क्रम ठीक चलता रहेगा। इस सिद्धांत के अनुसार चलने से एक कक्षा की पढ़ाई का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रहेगा। इस सिद्धांत के आगे पुस्तकों का अथवा पाठ्यक्रम का जल्दी-जल्दी बदलना बड़ा हानिकारक होगा। शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना है कि पाठ्यक्रम एक साधन है, ... केवल सांकेतिक ही है। ... ों का परस्पर-सम्बन्ध

2 Education of ... the child should begin from where he is. 3. Int... ... 4. Aptitude Testing. 5. Correlation with

-समझाना चाहिए, अर्थात् यथासम्भव शिक्षक विषयों में समन्वय स्थापित
का एक अवसर भी न खोवे। इसकी चर्चा आगे अधिक विस्तृत रूप में की जा

२०— शिक्षा की अवधि—

शिक्षा की अवधि के अनुसार भी पाठ्य-क्रम का संगठन करना चाहि
कभी कभी ऐसा होता है कि बालक को आगे की कक्षा में तरक्की दे दी
है, पर यह नहीं सोचा जाता कि पढ़ाये हुए विषय से वह भली-भांति लाभ
सका, अथवा नहीं। यदि वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देने की व्यवस्था हो, अ
मन्द बालकों पर कुछ विशेष ध्यान दिया जाय तो परिस्थिति में काफी परिव
लाया जा सकता है। ऐसा करना असम्भव नहीं। यदि कक्षा के शिक्षक की
के अनुसार मन्द बालकों की कमी को पूरी करने का स्कूल में अलग कुछ प्र
हो तो समस्या का समाधान कठिन नहीं।

२१— पाठ्य-पुस्तकें तथा सहायक सामग्री[1] —

पाठ्यक्रम निर्धारित करने के पहले यह देख लेना चाहिए कि उससे सम्बन्धि
'पाठ्य पुस्तकें तथा सामग्री मिल सकती है या नहीं, अन्यथा पाठ्यक्रम का कु
अर्थ न होगा। शिक्षा से हम बालकों को अनुभव देना चाहते हैं। इसके लि
कुछ साधन अपेक्षित हैं। विज्ञान, भूगोल और इतिहास आदि के अध्ययन
लिये आवश्यक यन्त्र व चित्र तथा मानचित्र की व्यवस्था किये बिना ही उनक
पढ़ाया जाना मानो बिना आग जलाये ही भोजन पकाने का उपक्रम करना है
इन सब साधनों के अभाव में परिश्रम का वाछित फल न मिलेगा। अतः इनके
आयोजन की उचित व्यवस्था आवश्यक है। कहने का अभिप्राय यह कि प्राप्
-साधनों के अनुसार ही पाठ्यक्रम की व्यवस्था करनी चाहिए। पर इसका अर्
-यह नहीं कि साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न न कर उपस्थित उपकरणों से ही काम
चलाना चाहिए।

२२—पाठ्यक्रम साध्य नहीं साधन[2]—

बालक के ज्ञान विकास के लिए पाठ्यक्रम को एक साधन मानना चाहिए।
अब 'ज्ञानाय ज्ञानम्' का सिद्धान्त मान्य नहीं। पाठ्यक्रम का प्रधान उद्देश्य

1 Text-books and material aids. 2. The curriculum is a means, and not an end.

बालकों में कुछ वांछित शक्तियाँ ला देना है, जिससे वे स्वकालीन सभ्यता के विभिन्न अंगों को समझ सकें और अपना उत्तरोत्तर विकास करते रहें। अतः हमारा किसी विशेष विषय को पढ़ाने का उद्देश्य नहीं। पाठ्यक्रम से हम बालकों को ऐसा अनुभव देना चाहते हैं जिससे वे सभ्यता के विकास में योग दे सकें। इस प्रयत्न में हमें बालकों की रुचि पर विशेष ध्यान देना होगा। सभी विषयों को पढ़ाने की विधि ऐसी हो कि बालक उनमें उतनी ही रुचि ले जितनी वह खेल में लेता है।

२३—शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के विकास पर ध्यान[1]—

हम ऊपर कई बार संकेत कर चुके हैं कि पाठ्यक्रम में इतने अधिक विषय न हों कि शिक्षक उन्हें किसी प्रकार समाप्त करने को सोचता न लगा रहे। ऐसी स्थिति से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि शिक्षक बहुधा नोट लिखाने की चिन्ता में रहते हैं और विद्यार्थी भी परीक्षा में पास होने की इच्छा से प्रत्याशित प्रश्नों का अनुमान लगाने लगता है। शिक्षा से हम बालक के भावी जीवन की नींव दृढ़ कर देना चाहते हैं अर्थात् प्राथमिक शिक्षा स्तर में जो कुछ किया जाय उसका माध्यमिक से और माध्यमिक का उच्चतर-माध्यमिक अर्थात् कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा से सम्बन्ध हो। पर इसका अर्थ यह न लगा लेना

यदि इस जीवन को पूर्ण रूप से बिताने में स्कूल उसकी सहायता कर सका तो उसके भावी जीवन की नींव अपने आप दृढ़ हो जायगी। स्कूल में बालकों के लिए एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर देना है कि वे अपनी रुचि और विकास की अवस्थानुसार बढ़ सकें। स्कूल यदि इतना कर सका तो बालक का व्यक्तिगत और सामाजिक विकास अविरल गति से चलता रहेगा। स्पष्ट है कि स्कूल का उद्देश्य बालक को अपनी शक्ति के अनुसार रहना सिखलाना है। डीवी के सिद्धान्त का सार यही है। रहना सिखलाने का अर्थ उसकी विभिन्न शक्तियों का अथवा व्यक्तित्व के विकास करने से है, अर्थात् स्कूल का उद्देश्य

1 Attention on the development of body, mind and

मस्तिष्क और आत्मा तीनों का विकास करता है। अतः पाठ्यक्रम बना[illegible] में हम शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास का ध्या[illegible] देना है।

यहाँ यह आपत्ति भी हो सकती है कि व्यक्तित्व का इस प्रकार तीन भा[illegible] जा सकता है। वस्तुतः पाठ्यक्रम के विभिन्न अंगों को समझने की सुविधा [illegible] दृष्टि से ही हम ऐसा विभाजन करते हैं। क्योंकि कुछ ऐसे विषय होते हैं [illegible] शारीरिक विकास में अधिक सहायता होती और दूसरों का विभिन्न मा[illegible] शक्तियों, चरित्र, रुचि और आध्यात्मिक शक्ति आदि में। यहाँ पाठ्यक्रम [illegible] उद्देश्य की ओर संकेत कर देना ठीक जान पड़ता है। बालक की विभि[illegible] शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करके उसे समाज [illegible] हित की रक्षा के योग्य बना देना ही संक्षेप में पाठ्यक्रम का उद्देश्य माना जा सकता है।

२८—पाठ्यक्रम मनुष्य की तीन प्रधान वृत्तियों का प्रतिनिधि हो[1]—

गत पृष्ठों में कही हुई बातों का यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। इसके समर्थन में ऊपर कही हुई बातों को ही यहाँ सक्षेप में दोहरा दिया जाता है। मनुष्य को क्रियाओं के तीन भाग किये जा सकते हैं :—जानना[2], अनुभव करना[3] और चेष्टा करना[4]। पाठ्यक्रम को मनुष्य की इन तीनों वृत्तियों का प्रतिनिधि होना चाहिए। अर्थात् पाठ्यक्रम में मनुष्य जो कुछ जानना चाहता है उसका समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से, जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं, भाषा, साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की गणना की जा सकती है। मनुष्य की भावना के सम्बन्ध में कला, कविता और संगीत की चर्चा आ जाती है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रधान साधनों द्वारा मानव सभ्यता के आदि काल से आज तक अपनी भावनाओं का प्रदर्शन करता रहा है। महामति प्लेटो ने भी कहा है कि जो शिक्षा घृणित वस्तु से घृणा और प्यार करने योग्य वस्तु से प्यार करना सिखलाती है वही वास्तविक

---

1. The Curriculum should be a representative of the three principal tendencies of man. 2. Knowing. 3. Feeling. 4. Willing.

शिक्षा है। मनुष्य अपने सामान्य जीवन में जो कुछ करता है उसका भी प्रतिनिधित्व पाठ्यक्रम को करना है। अपने जीवन-यापन के लिए व्यक्ति जो कुछ करता है उसकी भी शिक्षा पाठ्यक्रम के सहारे कुछ अवश्य हो जानी चाहिए। भोजन, वस्त्र तथा आश्रय आदि के लिए उसे जो कुछ कार्य करने पड़ते हैं उसका थोड़ा सा आभास पाठ्यक्रम के आधार पर होने वाली स्कूल की क्रियाओं में आ जाना आवश्यक है। पीछे स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण किया जा चुका है। उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि पाठ्यक्रम का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि स्कूल में बालक पूरे सामाजिक जीवन का अनुभव करे। रहने की पूरी कला बालक को स्कूल में ही सीख लेनी चाहिए। पाठ्यक्रम के संगठन में इन सब बातों का पूरा ध्यान रखना होगा।

२५—योग्य नागरिक बनाना[1]—

स्कूल में बालक अपनी रुचि के अनुसार भावी जीवन की तैयारी करता है। इस जीवन की तैयारी में उसे युवक के कर्त्तव्यों में शिक्षा नहीं देनी है। भावी जीवन की तैयारी का अभिप्राय यह नहीं कि स्कूलों को व्यावसायिक क्षेत्र बना दिया जाय। भावी जीवन की तैयारी में पहले हमें बालक की रुचि पर ही ध्यान देना है। वस्तुतः विकास की अवस्था के अनुसार उससे काम कराना ही उसे भावी जीवन के लिये तैयार करना है। आज का बालक कल का नागरिक है। अतः शिक्षा का आयोजन अर्थात् पाठ्यक्रम का संगठन इस प्रकार हो कि बालक गणतन्त्र राज्य के संचालन के लिए योग्य नागरिक होकर सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में योग दे सके।

२६—अवकाश का सदुपयोग सिखलाना[2]—

आधुनिक वैज्ञानिक युग में व्यक्ति का अवकाश-समय बढ़ता जा रहा है। पहले जिस काम को कई आदमी मिलकर बहुत देर में करते थे उसे मशीन की सहायता से एक ही आदमी पहले से जल्दी कर लेता है। फलतः व्यक्ति का अवकाश-काल बढ़ता जा रहा है। बेकारी बहुत से रोगों की जड़ होती है। अतः व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह अपना समय किसी न किसी

1. To make a worthy citizen. 2. Utilization of Leisure.

अच्छे कार्य में ही लगावें । अपने अवकाश-समय का व्यक्ति किस प्रकार उपयोग करता है इससे उसके विकास का अनुमान लगाया जा सकता है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना ही शिक्षा का उद्देश्य है ।" अतः पाठ्यक्रम में रचनात्मक कार्य, हस्तकला, संगीत तथा साहित्य आदि को उपयुक्त स्थान देना चाहिए, जिससे व्यक्ति अवकाश का सदुपयोग करना सीख सके ।

२७— रचनात्मक शक्ति का विकास करना[1] —

पाठ्यक्रम में बालक की रचनात्मक शक्ति के बढ़ाने का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए, अन्यथा उसका विकास ठीक न हो सकेगा । अतः कुछ ऐसे विषयों को पढ़ाना आवश्यक है जिनसे उनकी रचनात्मक शक्ति बढ़ सके । इससे उसकी रुचि का भी विकास होता रहेगा । ऐसी व्यवस्था के होने से बालक अवकाश का सदुपयोग करना सीखेगा और स्कूल छोड़ देने के बाद भी कुछ विषयों में उसकी सच्ची रुचि होगी । उचित वातावरण के पाने पर वह अपनी रुचि को और भी आगे बढ़ाने की चेष्टा करेगा । रचनात्मक शक्ति के विकास के लिए पाठ्यक्रम में किसी विशिष्ट विषय का समावेश आवश्यक होगा । कुछ लोग कह सकते हैं कि किसी भी विषय में रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास किया जा सकता है । पर यह तर्क यहाँ ठीक नहीं । प्रथम दस या बारह वर्ष तक बालकों में क्रिया-शीलता अधिक होती है । इस क्रियाशीलता के लिए उचित अवसर न मिलने पर बालक का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और भविष्य भी अन्धकारमय हो जाता है । अतः किसी हस्तकला में दस-बारह वर्ष के बालकों को शिक्षा देना बड़ा मनोवैज्ञानिक होगा । इससे उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति जागृत रहेगी और स्कूल उन्हें हउआ न मालूम होगा ।

२८—ज्ञान और अनुभव को सचित करना[2]—

पाठ्यक्रम के संगठन में यह भी देखा जाता है कि भूतकाल में किन-किन बातों से मनुष्य को लाभ पहुँचा है । अपने पूर्व अनुभव के अनुसार यह निर्धारित

---

1. To develop creative ability 2. To acquire knowledge and experience.

किया जाता है कि किन-किन विषयो मे बालको का अधिक लाभ हो सकता है। पर यह सिद्धांत सर्वथा ठीक नही, क्योकि यह आवश्यक नही कि जो पहले ठीक था वह अब भी ठीक हो है। अतः विभिन्न विषयो का ठीक चुनाव आवश्यक है। आँख मूँदकर पूर्ववत् सब कुछ मान लेना हानिकर हो सकता है। उपर्युक्त सिद्धांत बालक की ओर न देखकर केवल विषय की ही ओर देखता है। आधुनिक शिक्षा-सिद्धांत बाल-केन्द्रित[1] है। इसमें बालक की रुचि और आवश्यकता
मान
व यही
बतलाता है। उदाहरणार्थ; पढ़ना, लिखना और गिनना—ज्ञान प्राप्त करने के प्रधान साधन हैं। अतः बालक को नए साधन देने ही होगे।

२६—क्रियाशीलता के लिए अवसर देना[2]—
करना ही चाहता
अतएव पाठ्यक्रम
अवसर मिले।

बालक 'क्या सीखता है' उतना महत्वपूर्ण नही जितना कि "कैसे सीखता है।" 'सोचने'[4] और 'रहने'[5] की जो 'शिक्षा' स्कूल में दी जाती है उसी पर विशेष ध्यान देना है। गणित के इतने प्रश्न हुए कि नहीं अथवा भाषा, भूगोल और इतिहास की पुस्तक यथोपांत समाप्त हुई कि नहीं आदि बातें गौण हैं। बालक के विकास में उनका अधिक सम्बन्ध नहीं। पाठ्यक्रम के संगठन में हमें केवल उतने ही विषय रखने हैं जिनसे बालक की उत्सुकता जाग्रत हो जाय और भावी बौद्धिक विकास निश्चित सा हो जाय। टी० पी० नन भी कहते हैं कि 'स्कूल को ज्ञान सीखने का केन्द्र न समझना चाहिए। स्कूल तो एक ऐसा स्थान है जहाँ बालक कुछ ऐसी क्रियाओं में अभ्यस्त किये जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से घनिष्ठ

---

1. Child-centered. 2. To give opportunity for activity. 3. The method is more important than the subject. 4 To think. 5. To live.

होगा जिसमे बालको के स्वास्थ्य पर उचित ध्यान दिया जाता है। अब हमें यह नीति बदलनी होगी। जिस प्रकार अन्य विषयों के लिए विशेषज्ञ की नियुक्ति की जाती है उसी प्रकार स्वास्थ्य के विशेषज्ञ की भी नियुक्ति करनी होगी और साथ ही साथ प्रत्येक स्कूल में व्यायामशाला का आयोजन करना होगा जहाँ बालक आकर आवश्यक कसरतें सीखें और करें।

कुछ लोग कहेंगे कि व्यायाम के पहले स्वस्थकर भोजन का प्रबन्ध करना होगा। बात बिल्कुल ठीक है। पर क्या जो कुछ भोजन मिलता है उसमें शरीर अधिकतम लाभ उठा पाता है? शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान के ज्ञाता इसका उत्तर 'नहीं' में देंगे। वस्तुतः ऐसी बातें वे लोग किया करते हैं जो आलस्यवश कसरत से अपनी जान छुड़ाते हैं। यह देखा गया है कि दरिद्र व्यायाम करते रहने से व्यक्ति जो कुछ भी खाता है उसका शरीर अधिक से अधिक लाभ पाता है। यदि आवश्यक व्यायाम करके व्यक्ति अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक कर ले तो वह वाछित वस्तु को अवश्य ही पा जायगा, चाहे वह गरीब के घर पैदा हुआ हो या धनी के। स्पष्ट है कि जीवन में सफलता की कुञ्जी अच्छा स्वास्थ्य ही है। अतः स्कूल को इस सम्बन्ध में कुछ उठा न रखना चाहिए।

३१—धार्मिक शिक्षा पर ध्यान[1]—

आज के भौतिकवादी ससार को धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत आवश्यकता हो गई है। इसीलिए प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री धर्म और नीति-शास्त्र के नाम पर स्कूल में कुछ करने के पक्षपाती दिखलाई पड़ते हैं। भौतिकवाद में पड़कर व्यक्ति कहीं 'अपने' को अर्थात् अपनी 'आत्मा' को न भूल जाय इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का ध्यान 'परमशक्ति' और उसकी 'आत्मा' के सम्बन्ध की ओर आकर्षित किया जाय। बिना ऐसा किये कदाचित् ही व्यक्ति समझ सकेगा कि उसका अपना एक 'सदेश' है जिसे लोकहितार्थ उसे दूसरों को बिना धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि जगत में सार्वभौमिक सत्य की वस्तुएँ हैं जिनके प्रति उसका पूरा सम्मान

1. Attention on religious education.

सम्बन्ध होता है। इन क्रियाओं के दो भाग किये जा सकते हैं:—१. एक तो वे जिनसे व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उनमें एक सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। उदाहरणार्थ; स्वास्थ्य, शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक आचार, नीति और धर्म आदि, और २. दूसरी वे जिनमें सभ्यता के सभी अंशों का समावेश हो जाता है।"

३०—स्वास्थ्य पर ध्यान[1]—

शिक्षा में शारीरिक स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना होगा। यदि बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहा तो वह कुछ भी न कर सकेगा। अतः प्रत्येक कक्षा के बालकों को शारीरिक शिक्षा दनी होगी। बालक के शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में माता-पिता या अभिभावक का उत्तरदायित्व कम नहीं। पर स्कूलों में कुछ ऐसी बातें बताई जा सकती है जिन्हें बालक घर पर सरलता से नहीं सीख सकता। शारीरिक स्वास्थ्य अच्छी आदतों पर निर्भर होता है। उठने, बैठने, चलने, खाने-पीने और सोने आदि की अच्छी आदत होनी आवश्यक है। इन सबकी बालक में अच्छी आदत डालने के सम्बन्ध में स्कूल का उत्तरदायित्व विशेष है। स्कूल में कोई ऐसा निश्चित समय अवश्य होना चाहिये जिसमें बालक को ये सब बा समझाई जा सकें। इस आदतों के अतिरिक्त उसे व्यायाम में भी कुछ शिक्षा आवश्यक होगी। इसके लिए प्रत्येक के स्वास्थ्य का सूक्ष्म अध्ययन कर व्यायाम में उसे शिक्षा देनी चाहिए। इस अध्ययन में यह देखा जायगा कि से बालक एक ही श्रेणी में आ जायेंगे और इस प्रकार उन्हें शिक्षा देने में नाई न होगी।

बहुत छोटे बालकों की शारीरिक शिक्षा का प्रधान अंग खेल है खेल का आयोजन ऐसा सुसंगठित हो कि प्रत्येक बालक कुछ न कु सके। बड़े बालकों से कुछ कसरतें करानी आवश्यक होंगी और विशेषज्ञ द्वारा ठीक-ठीक शिक्षा मिलनी चाहिए। इस प्रकार स्कू शिक्षा की अवश्य कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। अब तक स्कूलों के लिए जो कुछ किया जाता है वह अपर्याप्त है। कदाचित् ही को

1 Attention on health.

विशेष पूजा-विधि में बालक को शिक्षा देना नहीं है, क्योंकि पूजा-विधि और दैनिक आचार से विशेष सम्बन्ध नहीं।

३२—शारीरिक परिश्रम के लिए आदर उत्पन्न करना[1]—

क्रियाशीलता बालक की प्रवृत्ति है। अतः उसको प्राथमिक शिक्षा में क्रियाशीलता का अंश रहना आवश्यक है। किसी रचनात्मक कार्य में उसकी रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। यह हस्तकला-सम्बन्धी कार्यों से सम्भव हो सकता है। अन्य विषयों में भी रचनात्मक कार्य के लिए स्थान अवश्य रहता है, पर वह छोटे बालकों की शक्ति के परे हो सकता है, क्योंकि उसमें अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। इस रचनात्मक कार्य का तात्पर्य बालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने से नहीं है, क्योंकि स्कूलों से निकलने के बाद अपनी छोटी अवस्था में वे किसी व्यवसाय के योग्य नहीं माने जा सकते। वस्तुतः रचनात्मक कार्य में शिक्षा का महत्व उनके मस्तिष्क और शरीर की सह-शिक्षा में है। रचनात्मक कार्य में हाथ और आँख की जो शिक्षा होती है उसका बालक के विकास में भारी महत्व है। हमारे देश में परिश्रम को उचित सम्मान नहीं प्राप्त है। कुछ पढ़े-लिखे लोग अपने हाथ से कुछ काम करना अपने सम्मान के प्रतिकूल समझते हैं। देश को समृद्धिशाली बनाने के लिये 'परिश्रम' का सम्मान करना ही होगा। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के धन धान्य का प्रधान कारण यही है कि वहाँ के लोग 'परिश्रम' का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ के विश्वविद्यालय और कालेजों के विद्यार्थी अवकाश के समय होटलों और दफ्तरों में किसी प्रकार का भी परिश्रम करने में अपने को अपमानित अनुभव नहीं करते। ऐसी ही प्रवृत्ति अपने देश में भी लाने के लिए यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालकों को कुछ न कुछ कार्य कराया जाय। इसकी नींव प्रारम्भिक स्कूलों में ही 'हस्तकला' के द्वारा डाली जा सकती है। यदि प्रारम्भ में ही यह आदत न डाली गयी तो बाद में कठिनाई होगी।

३३—मातृभाषा के ज्ञान पर विशेष बल[2]—

[1] ...
[2] मातृभाषा की पढ़ाई पर विशेष ध्यान देना

की भी पढाई कुछ हद तक मातृ-भाषा के ही ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि सभी विषय मातृभाषा मे ही पढने होते है। इस दृष्टि से हम कह सकते है कि सभी शिक्षक मातृभाषा के शिक्षक है और बालक प्रत्येक विषय के साथ मातृभाषा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। मातृ-भाषा का ज्ञान जितना अच्छा होगा बालक में उतने ही अधिक विचारो का केन्द्रीकरण होगा। प्रायः यह देखा जाता है कि भाषा-ज्ञान मे मन्द बालक पढने-लिखने मे अच्छा नही होता और वह कभी कभी सामान्य कोटि से भी नीचे गिर जाता है। इसके विपरीत श्रेष्ठ बालक का भाषा ज्ञान अच्छा पाया जाता है। उसे अपने विचारो के स्पष्टीकरण में अपेक्षाकृत कम कठिनाई मालूम होती है। अतः प्रारम्भ मे बालक का भाषा-ज्ञान बढ़ाने पर ही जोर देना चाहिए। प्राथमिक स्कूल के पाठ्यक्रम मे उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त अङ्कगणित, साधारण-विज्ञान, भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र और सगीत को स्थान देना चाहिए। माध्यमिक स्कूल में भी प्राथमिक स्कूलो के ही विषय पढ़ाये जायेंगे पर उनका विस्तार बढ़ाना होगा। मातृ-भाषा के अतिरिक्त इस श्रेणी में एक और भारतीय भाषा तथा कोई विदेशी भाषा पढ़ानी होगी। यह विदेशी भाषा हमारे देश मे अग्रेजी हो सकती है। हस्तकला का भी पाठ्यक्रम में पहले ही जैसा स्थान रहेगा। रचनात्मक प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जायगा।

✓३८—पाठ्यक्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध[1]—

पाठ्यक्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने का हर समय प्रयत्न होना चाहिए, अन्यथा स्कूल समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति की ओर ध्यान न दे सकेगा। माध्यमिक स्कूल के पाठ्यक्रम का उद्देश्य विश्वविद्यालय के लिए तैयारी का नही होना चाहिए। इस बात को शिक्षा प्रणाली में पूर्ण होनी चाहिए, क्योंकि इसके बाद बहुत से बालको की शिक्षा छूट जाती है। इस स्तर पर गणित, विज्ञान तथा भाषा की शिक्षा पहले से इस प्रकार कठिन कर देनी चाहिए कि विश्वविद्यालय में जाने वाले विद्यार्थियो को कठिनाई न मालूम हो।

---

[1] The curriculum should be related with actual life.

और शहर के पाठ्यक्रम में भेद—

क्या गाँव व शहरों के पाठ्यक्रम में भेद होना चाहिए ? सिद्धान्ततः तो
नों में भेद होना ठीक नहीं। पर स्थानीय आवश्यकतानुसार इस में कुछ भेद
किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शहर और गाँव के स्कूल के वातावरण
भेद के कारण हस्तकला के प्रकार में भिन्नता हो सकती है। शहर के बालकों
परिस्थिति गाँव वालों से भिन्न होती है। अत. नागरिक-शास्त्र में शहर के
कों को सड़क और गलियों आदि की सफाई की बातें बतलाई जा सकती
र गाँव के बालकों का पशु, आस-पास के गढ्ढों, रास्ते और नालियों आदि
स्वच्छ रखने की शिक्षा दी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि बालक
शिक्षा में उसकी आवश्यकता पर भी ध्यान देते रहना है। वस्तुतः हमें
के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए
व के बालक को अपना जीवन गाँव में बिताना होगा और शहरी बालक
र में। इस प्रकार गाँव और शहर के स्कूल का उद्देश्य भिन्न भिन्न न
वातावरण के अनुसार समान उद्देश्यों की पूर्ति के साधन में भेद या
है।

प्रश्न

१—पाठ्यक्रम के सगठन में हमें किन प्रमुख बातो पर ध्यान देना चाहिए ?

२—पाठ्यक्रम के सगठन के लिए प्रमुखतः किसको उत्तरदायी बनाना चाहिए और क्यो ?

३—'पाठ्यक्रम के संगठन में बालक ही प्रारम्भ-बिन्दु है'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यो ?

४—पाठ्यक्रम के सगठन में राज्य के क्या उत्तरदायित्व हैं ?

५—पाठ्यक्रम के सगठन में स्कूल को किस हद तक स्वतन्त्रता देनी चाहिए और क्यो ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमॉन्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।

२—हार्पर—ऐडवेन्चर इन अमेरिकन एडूकेशन, भाग २—"एक्सप्लोरिङ्ग द करीकुलम"।

३—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज ऑव टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय १३।

४—राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय ७।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन, अध्याय २।

६—रेन—द इण्डियन टीचर्स गाइड—द थियरी ऑव एडूकेशन।

७—वेलटन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय २।

* * *

२३ – शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के विकास पर ध्यान—

पाठ्यक्रम में अत्यधिक विषय नहीं, प्रत्येक श्रेणी का एक दूसरे से सम्बन्ध, प्रत्येक श्रेणी अपने में पूर्ण, शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास पर ध्यान।

२४—पाठ्यक्रम मनुष्य की तीन प्रधान वृत्तियों का प्रतिनिधि हो—

पाठ्यक्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान हो ?

२५—योग्य नागरिक बनाना—

अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना।

२६ – अवकाश का सदुपयोग सिखलाना—

२७—रचनात्मक शक्ति का विकास करना—

विशिष्ट विषय का समावेश, हस्तकला।

२८—ज्ञान और अनुभव को संचित करना—

आँख मूँद कर सब कुछ पूर्ववत् मान लेना ठीक नहीं।

२९ – क्रियाशीलता के लिए अवसर देना—

'क्या सीखता है' से 'कैसे सीखता है' अधिक महत्वपूर्ण।

३०—स्वास्थ्य पर ध्यान—

शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान।

३१—धार्मिक शिक्षा पर ध्यान—

धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता और उसकी रूप-रेखा।

३२—शारीरिक परिश्रम के लिए आदर उत्पन्न करना—

३३—मातृभाषा के ज्ञान पर विशेष बल—

३४—पाठ्यक्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध—

३५ –गाँव और शहर के पाठ्यक्रम में भेद ?—

नागरिक शास्त्र, ग्रामीण और शहरी बालकों की शिक्षा-उद्देश्य में नहीं।

३६– बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में भेद ?—

बालक और बालिका की शिक्षा में सिद्धान्ततः भेद नहीं, किशोरावस्था [illegible]लिकाओं के पाठ्यक्रम में गृह-विज्ञान।

प्रश्न

१—पाठ्यक्रम के सगठन में हमें किन प्रमुख बातो पर ध्यान देना चाहिए ?

२—पाठ्यक्रम के सगठन के लिए प्रमुखतः किसको उत्तरदायी बनाना चाहिए और क्यो ?

३—'पाठ्यक्रम के सगठन में बालक ही प्रारम्भ-बिन्दु है'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यो ?

४—पाठ्यक्रम के सगठन में राज्य के क्या उत्तरदायित्व है ?

५—पाठ्यक्रम के सगठन में स्कूल को किस हद तक स्वतन्त्रता देनी चाहिए और क्यो ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमॉन्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव एजूकेशन, अध्याय ६ ।

२—हार्पर—ऐडवेन्चर इन अमेरिकन एजूकेशन, भाग २—"एक्सप्लोरिङ्ग द करीकुलम" ।

३—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज ऑव टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय १३ ।

४—राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव टीचिङ्ग, अध्याय ७ ।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एजूकेशन, अध्याय २ ।

६—रैन—द इण्डियन टीचर्स गाइड—द थियरी ऑव एजूकेशन ।

७—वेलटन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड ऑव टीचिङ्ग, अध्याय २ ।

* * *

२८

विनय की समस्या[1]

स[illegible] शिक्षक को यह [illegible] कि यह [illegible] जा रहा है। [illegible] यह आशा है कि विनय को बालक के मानस [illegible] प्रकार [illegible] कि यह [illegible] उसके [illegible] बनता रहे। इसी के साथ विनय-व्यवस्था की भी बात भी आती है। यदि कक्षा में शिक्षक विनय स्थापित न कर सका तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस दृष्टिकोण से [illegible] विनय-ज्ञान, [illegible] और विनय-व्यवस्था का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। यहाँ हम विनय-व्यवस्था पर विचार करेंगे।

शिक्षक के कार्य की सफलता कक्षा में विनय से आँकी जा सकती है। यदि उसका कार्य मनोवैज्ञानिक हुआ तो उसमें बालक स्वभावतः रुचि लेंगे और विनय व्यवस्था की समस्या ही न आवेगी। कक्षा में विनय के अभाव से ट्रेनिंग कॉलेज के विद्यार्थी हतोत्साह हो जाते हैं और उन्हें सन्देह होने लगता है कि कदाचित् उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य गलत चुना है। प्रायः यह सुनने में आता है कि छोटे लड़कों को कक्षा में विनय स्थापित करना असम्भव है, क्योंकि वे हर समय कुछ न कुछ किया करते हैं। वस्तुतः विनय-व्यवस्था की समस्या बड़ी टेढ़ी है। शिक्षक अपने सारे ज्ञान और विधि को लेकर कुछ भी नहीं कर सकता, यदि वह कक्षा में विनय न स्थापित कर सका। लड़कों का कक्षा में शोर मचाना और शिक्षक का गला फाड़-फाड़कर चुप करने के लिए चिल्लाना अथवा आत्महीनता-

1. The Problem of Discipline.

भावना में दबे रहने के कारण चुप करने के लिए बिल्ली की तरह बोलना, बड़ा दयनीय है।

प्राचीन काल में हमारे देश के गुरुकुलों अथवा पाठशालाओं में विनय की समस्या ही न थी, क्योंकि उस समय शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध व्यापार का सा न था। गुरु और शिष्य में पिता और पुत्र का सा व्यवहार होता था। शिष्य गुरु का पक्का भक्त होता था और उसकी कृपा-दृष्टि के लिए तरसता रहता था। एकलव्य और उपमन्यु की कथायें इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शिष्यगण मन, धन और धन से गुरु को प्रसन्न करने की चेष्टा किया करते थे। अतः वे सदैव विनम्र रहते थे और उनका आचरण भी शुद्ध रहता था। घर से नया आया हुआ बालक भी गुरुकुल के वातावरण से शीघ्र ही प्रभावित हो जाता था और पवित्रता, शान्ति और सदाचार में पग जाता था।

अब स्थिति ऐसी न रही। अब तो अध्यापकगण छात्रों को अपना देवता मानते हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी उनको इच्छानुसार कार्य करने लगते हैं। अध्यापक के कठोर बर्ताव पर छात्रगण कभी-कभी हड़ताल कर देते हैं और अध्यापक अपनी नौकरी के लिए चिन्तित हो जाता है। कुछ प्रधानाध्यापकों को तो साल भर छात्रों की चापलूसी ही करते बीतता है, जिससे परीक्षा के समय तथा अन्य किसी बात पर वे हड़ताल न बोल दें। जिस स्कूल में चापलूसी के कारण हड़ताल नहीं होती वहाँ के प्रधानाध्यापक डींग हाँकते सुने जाते हैं। "मेरी कक्षा में लड़के चूँ तक नहीं बोलते" ऐसी बातें तो किसी न किसी अध्यापक से रोज ही सुनी जाती हैं।

आजकल छात्रों की मनोवृत्ति में भी बड़ा परिवर्तन आ गया है। छात्र सोचते हैं कि हम फीस देते हैं इसलिए अवश्य पढ़ेंगे। अध्यापक भी सोचता है कि "मुझे केवल १२० रु० मिलते हैं, अतः मैंने १२० रु० का काम कर दिया, इससे अधिक क्यों करूँ ?" इस दृष्टि से स्कूल या कॉलेज के पुराने अध्यापक की मनोवृत्ति कुछ और भी आगे बढ़ी हुई है। पुराना अध्यापक समझता है कि "मैंने २५ साल तक काम किया। अपने जीवन का सबसे अच्छा काल यहीं बिता दिया। अधिक परिश्रम क्यों करूँ ? अब परिश्रम करना नये लोगों का" मनोवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा है कि नये अध्यापक प्रायः [illegible]

कहते हैं कि "हमसे अधिक काम लिया जाता है। अतः कक्षा में हम दम मारेंगे।" छात्रों और अध्यापकों में उपर्युक्त भावनायें स्कूलों में प्रचलित अविनय को और भी प्रोत्साहन देती हैं।

शिक्षा में विनय-समस्या से अधिक महत्वपूर्ण और दूसरी समस्या नहीं। अभिभावक अपने बालक को स्कूल में केवल परीक्षा ही पास करने के लिए नहीं भेजता, वरन् उसे आदमी बनाने के लिए भी भेजता है, और वह आदमी ऐसा हो जिसका समाज में आदर हो। इसके लिये बालक को विनय सिखाना बड़ा ही आवश्यक है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस स्कूल के बालक सदा एक कतार में होकर चलते हैं और कक्षा में चुपचाप बैठे रहते हैं वहाँ की विनय अच्छी होती है। पर विनय का तात्पर्य यह नहीं, क्योंकि इस विनय के स्थापन में प्रधानाध्यापक और अध्यापक डण्डे का प्रयोग करते देखे जाते हैं। मनोविज्ञान का इतना प्रचार हो जाने पर भी प्रधानाध्यापकगण बेंत के प्रयोग में अपना अभिमान समझते हैं। डण्डे के बल से रखी हुई विनय झूठी और दिखावटी होती है। इससे बालक के हृदय को नहीं जीता जा सकता। अतः हमें कोई ऐसा साधन ढूँढ निकालना है जिससे वास्तविक विनय स्थापित हो सके। वास्तविक विनय से ही बालकों में संयम, सदाचार, त्याग, सेवा आदि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। वस्तुतः उसे शिक्षा देने का यही उद्देश्य भी है। विनय का इतना वृहद् रूप लेने से यह स्पष्ट है कि 'विनय' सीखने की वस्तु है। जैसे शिक्षा से बालक को किसी विषय का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार उसे 'विनय' में भी शिक्षा दी जा सकती है।

आज विनय का तात्पर्य पहले से कुछ भिन्न समझा जाता है। पहले विनय का अर्थ बालक को आज्ञाकारी बनाने का था। जैसे अन्य सैनिक सेना के कप्तान का अक्षरशः बिना सोचे आज्ञा पालन करते हैं वैसे ही बालक को अपने माता-पिता, अभिभावक अथवा शिक्षक का आज्ञापालन करना 'विनय' उत्पन्न करने का [illegible] मात्र उद्देश्य समझा जाता था। बालक तनिक भी चूँ नहीं कर सकता [illegible] कर क [illegible] ना उसे 'विनयी' बनाने का अच्छा साधन माना जाता [illegible] से ही पढ़ाना-लिखाना और सिखाना आरम्भ किया [illegible] या गणित के नियम उसे कण्ठाग्र करने पड़ते थे

रहता है कि कक्षा में अविनय का डर उनके मन में आता ही नहीं। अतः उनकी कोई मुद्रा ऐसी नहीं होती जिससे बालक कक्षा में मनमानी करने की सोचे।

शिक्षक को अपने भावों पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। कुछ शिक्षक किसी बात के कहने में इतनी बार मुँह सिकोड़ते हैं, हाथ इधर-उधर नचाते हैं और कक्षा में इस प्रकार इधर-उधर हिला करते हैं कि बालक उन्हें बड़ा बुरा समझते हैं और मुँह दबा-दबा कर उन पर छिपे-छिपे हँसते हैं। अतः शिक्षक जो कुछ कहता है उसका समुचित असर उन पर नहीं पड़ता। फलतः वे शिक्षक की मुद्रा पर हँसते, बातचीत करते या कक्षा कार्य से उदासीन हो ऊँघते हुए पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, वे शिक्षक का व्यंगात्मक उपहास भी उड़ाते हुए देखे जाते हैं। शिक्षक के व्यवहार और भाव-भंगिमा के अनुरूप वे उनका कोई नामकरण भी कर देते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि पुरस्कार[1] और दण्ड[2] से विनय-स्थापन में बड़ी सहायता मिलती है। विनय स्थापन में पुरस्कार अथवा दण्ड का कोई सैद्धान्तिक स्थान नहीं। बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है कि ठीक काम करना ही उसका स्वभाव हो जाय और बुरे से वह स्वभावतः घृणा करे। ऐसा होने से उसमें वांछित स्थायीभाव[3] उत्पन्न हो जायेंगे और उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही न होगी। बालक हर समय अपने अनुभव के आधार पर सीखने की चेष्टा में रहता है। अतः समय-समय पर उसे अच्छा रास्ता दिखलाना है, और

अध्यापन संबन्धी सहायक वस्तुओं के प्रबंध में बालकों को कुछ उत्तरदायित्व दे दिया जाय तो विनय-स्थापना में काफी सहायता मिल सकती है। किसी उत्तरदायित्व को निभाने में बालक विनय-स्थापन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लेता है और विनय-स्थापन हेतु बड़ों के नियन्त्रण-विधि की आवश्यकता मान लेता है। अपनी अधिकार-भावना के प्रदर्शन के लिए शिक्षक का बालकों को डाँटना या रोब जमाना विनय-स्थापन के विरुद्ध जाता है।

1. Reward. 2. Punishment 3. Sentiments.

रण से यही मालूम हो कि विनय-स्थापन बालकों की भलाई के लिए ही आ
श्यक है। इस बात की उपेक्षा से यह देखा गया है कि कक्षा में लड़के शिक्षक
विरोध कर बैठते हैं।

शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि उपदेश से उदाहरण कहीं अच्छा है
यदि शिक्षक लम्बी-लम्बी बातें कह जाता है और उन्हें कार्यान्वित करने में अप
असफलता दिखलाता है तो उसका शिक्षक होना सार्थक नहीं, क्योंकि बालक उस
कुछ सीख न सकेंगे। ऐसे शिक्षकों से बालकों की हानि होने की अधिक सम्भावन
रहती है, क्योंकि उनकी अधिक बातों का विरुद्ध-संकेत[1] सदृश बालकों पर प्रभा
पड़ता है। ऐसे शिक्षक जो कुछ कहते हैं उसका उलटा ही करने की प्रवृत्ति
बालकों में आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि धूम्रपान करने अथवा खूब ठाट-बाट
से रहने वाला शिक्षक बालकों को सिगरेट-बीड़ी न पीने के लिए अथवा उन्हें सादगी
से रहने के लिए शिक्षा देता है तो उसका बालकों पर उलटा प्रभाव पड़ेगा।

शिक्षक का व्यवहार, चरित्र तथा उसके सम्बन्ध में सारी बातें ऐसी हों कि
उनका बालकों पर सदा अच्छा ही प्रभाव पड़े। यदि इस आदर्श तक पहुँचने की
चेष्टा कोई शिक्षक करता है तो उसकी कक्षा में विनय-समस्या कभी आयेगी ही
नहीं। ऐसे ही शिक्षक को बालक स्कूल छोड़ देने के बाद भी याद करते हैं। ऐसे
ही शिक्षक बालकों को कुछ ऐसे विचार देने में समर्थ होते हैं जो उनके कानों में
सदा गूँजा करते हैं। शिक्षक को नित्य यह सोचना चाहिए कि अगले दिन वह
बालकों को कौन-सा नया विचार देगा। इसकी मनन चिन्ता करने से ही वह
सफल हो सकता है। जो जितना ही इस चिन्ता में सच्चे हृदय से मग्न रहता है
वह अपने कार्य में उतना ही सफल बढ़ा जा सकता है। वास्तव में शिक्षक की
सफलता की सार इसी में है। खेद है कि आज का शिक्षक वर्ग इस आदर्श से
बहुत दूर है।

कुछ शिक्षक अध्यापन-कार्य को बड़ा ही सरल समझते हैं। कुछ तो इसे
हेय भी मानते हैं। पर पर वे सोचते ही नहीं कि कल वे क्या पढ़ायेंगे। हर
समय बैठ कर गप मारा करते हैं या किसी अन्य कार्य में लगे रहते हैं। स्कूल
का समय आने पर किसी प्रकार जल्दीबाजी में तैयार होकर इस प्रकार रवाना

1. Contra-suggestion.

होते है मानों फैक्टरी में कार्य करने कोई मजदूर जा रहा हो। अर्थात् ऐसा शिक्षक बालको के प्रति अपने महान् उत्तरदायित्व को नही सोचता। वह स्कूल में बालकों के जीवन को सुधारने नही जाता परन्तु अपनी रोटी कमाने जाता है। ऐसे शिक्षकों को शिक्षा-क्षेत्र से निकाल बाहर किये बिना देश का कल्याण सम्भव नही। ऐसे शिक्षक या तो डण्डो के बल कक्षा में विनय-स्थापित करते है या लड़के उनका कान चूमने तक तैयार रहते है। अर्थात् इस दृष्टि से दो प्रकार के शिक्षक दिखलाई पड़ते है :—१. एक तो वे जो कि बाहर अपने सहयोगियो के सामने दम्भ भरते हैं कि उनकी कक्षा मे किसी को चूँ करने का भी साहस नही होता। कक्षा में ऐसे शिक्षक की भौंहे सदा तनी रहती है। ऐसे शिक्षक में बालक कभी विश्वास नही करता। वह अपनी कठिनाई उनके सामने कभी नही रखता। २. दूसरे प्रकार का शिक्षक सदा मुँह लटकाये रहता है। कक्षा में लड़कों की दया का वह पात्र होता है। उसके व्यवहार और हाव-भाव ऐसे होते है कि लड़के कक्षा में ऊधम मचाया करते है। ऐसे शिक्षकों का अपना कोई आदर्श नही होता। जैसे तिनका जल की धार के साथ बह जाता है उसी प्रकार वे भी संसार की गति के साथ बह जाते हैं। वे परिस्थिति के जीव होते हैं। वे बालकों को भीरुता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिखला सकते। इनकी कक्षा में विनय-स्थापन की समस्या का कोई हल नही।

ऊपर हम कई बार सकेत कर चुके है कि कक्षा में बालकों द्वारा स्वतः स्थापित विनय व्यवस्था[1] सर्वोत्तम है। अध्यापकों को उनका इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना है कि वे विनय-स्थापन की आवश्यकता का अनुभव कर स्वयं उसमें योग दें। बालकों द्वारा स्थापित विनय-व्यवस्था स्थायी और पठन-पाठन में सहायक होती है। पर बालक बिना शिक्षक के पथ-प्रदर्शन के स्वयं विनय स्थापन में सफल नहीं हो सकते। यदि 'विनय' का सारा उत्तरदायित्व बालकों पर ही छोड़ दिया जाय तो कदाचित् वे उसके स्थापन में सफल न हो सकें। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि विनय-स्थापन साध्य नहीं, बल्कि है। विनय किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन है ? सबसे

1. Self-established discipline.

चाहते हैं कि स्कूल के वातावरण अथवा स्वर[1] का समुचित प्रभाव बालक पड़े। बालकों में सामूहिकता[2] की मूल-प्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत रहती यदि स्कूल अच्छा हुआ तो उसके प्रभाव की ओर बालक स्वतः आकर्षित जाते हैं। स्कूल के स्वर की व्याख्या करना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक स्कूल अपना अलग-अलग स्वर होता है। भिन्नता रहते हुए भी हम उन्हें "अच्छे स वाला" कह सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस स्कूल का स अच्छा है जिसमें बालक यह अनुभव करें कि वे एक ऐसे समाज में रह रहे जहाँ "सत्यं शिवं और सुन्दरम्"[3] का साम्राज्य है। अर्थात् जहाँ शारीरि मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टिकोणों से बालकों विकास में योग देने का प्रयास किया जाता है।

यद्यपि स्कूल के "स्वर" के अन्तर्गत अध्यापकों के व्यक्तित्व का प्रभा आ जाता है, पर कुछ शिक्षक व्यक्तिगत रूप से भी बालकों के हृदय में स्थाय स्थान प्राप्त कर लेते हैं। बालकों के चरित्र-निर्माण[4] में योग देने के लिए य आवश्यक है कि शिक्षक में इस हेतु उत्कट कामना हो और उसकी पूर्ति के लिए वह सतत् चिन्तन में लगा रहे। अतः उसमें बालकों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का होना आवश्यक है। उसका मस्तिष्क इतना तीव्र हो कि समस्या के हल पर वह शीघ्र पहुँच जाय और बालक के पथ-प्रदर्शन में वह किसी भी हिचकिचाहट में न पड़े। इन गुणों से सम्पन्न शिक्षक का प्रभाव बालकों के चरित्र पर बिना पड़े नहीं रहता और उसका व्यक्तित्व स्कूल के 'साधारण वातावरण' से एक अलग ही अस्तित्व रखता है। बालक में 'विनय' लाने का अभिप्राय यह भी है कि वह ऐसे आदर्श-शिक्षकों के व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने चरित्र को सुदृढ़ बनाये। पर कुछ बालकों का पथ-प्रदर्शन इतने अमनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है कि उन पर शिक्षकों के व्यक्तित्व का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता।

विनय आ जाने पर बालक स्कूल में पढ़ाये हुए विषयों पर पूरा ध्यान देता है। वह उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाता है। धीरे-धीरे उसमें दूसरों को

1. Tone. 2. Gregariousness. 3. Truth, Good, and Beauty. [4. C]haracter formation.

अवस्था का समझने की योग्यता और प्रवृत्ति आ जाती है। ऐसा हो जाने से उसके पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशंका कम होती है। उसमें आत्म संयम आ जाता है। इन सब गुणों के फलस्वरूप स्कूल में उसका सारा व्यवहार बड़ा संयत होता है। वह दूसरे लड़कों के लिए वह आदर्श हो जाता है।

कक्षा में 'विनय' स्थापित करने का काम इतना सरल नहीं कि वहाँ पहुँचते ही शिक्षक इसमें सफल हो जाय। जिस प्रकार व्यक्ति में किसी गुण का विकास धीरे-धीरे होता है उसी तरह कक्षा में विनय का स्थापन क्रमशः होता है। विनय-स्थापन में सबसे पहले शिक्षक को यह याद रखना है कि लड़कों को यह न विदित हो सके कि वह 'विनय' स्थापित करने के लिए चिन्तित है। आत्म-विश्वास के साथ कक्षा में जाने से विनय-स्थापन की समस्या आती ही नहीं। ट्रेनिंग-कालेज के छात्राध्यापक[1] कक्षा में अविनय की शिकायत करते नहीं थकते। इसका कारण यह है कि वे पहले ही मान लेते हैं कि लड़के उन्हें छात्राध्यापक समझकर कक्षा में ऊधम मचायेंगे। अवसर पर डाँटने या उचित दण्ड देने में उन्हें सदा हिचकिचाहट बनी रहती है। यही कारण है कि कक्षा की 'अविनय' से वे सदा परेशान रहते हैं। अतः शिक्षक अथवा छात्राध्यापक में आत्म-विश्वास का अनुभव करना बड़ा आवश्यक है। आत्म-विश्वास रखने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि छात्राध्यापक कक्षा में अपना अधिकार किसी से कम न समझे और आवश्यकता पड़ने पर बालकों को उचित दण्ड देने में उसी प्रकार न हिचके जैसे कभी-कभी पिता पुत्र को दण्ड देने में अपने एक उत्तरदायित्व का ही पालन करता है।

आत्म-विश्वास के अनुभव के लिए शिक्षक को अपने पाठ को भली-भाँति तैयारी करनी चाहिए। पाठ ठीक तैयार रहने से वह बालकों की सभी शंकाओं का समाधान करने में सफल होता है और इस प्रकार वह उनके विश्वास का पात्र हो जाता है। यदि बालकों के किसी प्रश्न का उत्तर नहीं आता तो शिक्षक को स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिए। ऐसा करना गलत बतलाने से कहीं अधिक नैतिक और सुरक्षित है। जो शिक्षक ऐंठ में आकर

1. Pupil-teachers.

२—किसी बालक को कक्षा के बाहर भेज देना।
३—कुछ सुविधायें छीन लेना।
४—कक्षा के अन्य बालकों से अलग कर देना।
५—कक्षा ही में कुछ दूसरा काम करने के लिए कहना।
६—बैठने का स्थान बदल देना।
७—अध्यापक और बालक में अलग-अलग बात करना।
८—बालक को अलग बुलाकर व्यक्तिगत रूप से समझाना।
९—विनय के महत्व को समझाना।

कुछ कम प्रयोग में लाए जाने वाले साधन—

१—सारी कक्षा के सामने लज्जित करना।
२—शारीरिक दण्ड देना।
३—बालक को प्रधानाध्यापक के पास भेज देना।
४—कक्षा से कुछ दिन के लिए निकाल देना।
५—करने के लिए कुछ कठिन कार्य देना।
६—स्कूल-काल के बाद रोक रखना।

कुछ अवांछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है)—

१—कुछ के अपराध के लिए सारी कक्षा को दण्ड देना।
२—हठात् क्षमा-याचना के लिए बालक को बाध्य करना।
३—धमकी देना।
४—कार्य करने से रोकना।
५—विपरीत व्यंग करना।

हानिकर साधन (जिनका उल्टा प्रभाव पड़ता है)—

१—बालक का मजाक उड़ाना या उसे बहुत झिड़कना।
२—अपशब्द कहना अथवा व्यक्तिगत दोषों की ओर बार-बार संकेत करना।
३—कोसना अथवा लज्जित करने के लिए अनुचित बातें कहना।

शिक्षक के व्यवहार और स्वभाव पर भी विनय-स्थापन बहुत कुछ निर्भर रहता है। प्रायः यह देखा गया है कि एक ही प्रकार के साधन के अवलम्बन में

एक शिक्षक विनय-स्थापन में सफल होता है और दूसरा असफल। सबसे अच्छा तो यही होगा कि शिक्षक अपने अनुभव से अच्छे अथवा बुरे साधनका निराकरण कर ले। पर सदा ऐसा सम्भव नहीं। अतः यहाँ कुछ ऐसे उपायों की ओर संकेत किया जाता है जिनका सहारा लेने से शिक्षक को विनय-स्थापन में सरलता हो सकती है—

विनय-स्थापन के कुछ सरल उपाय

१—अवसर पर बालक की प्रशंसा करना। यदि सम्भव हो तो स्कूल तथ उसके प्रतिनिधियों की भी प्रशंसा करना।

२—यदा-कदा बालकों से उनकी रुचियों पर बात करना, पर उनसे घनि सम्बन्ध न स्थापित करना।

३—आवश्यकता पर बालक को उचित संकेत द्वारा सहायता देना। य संकेत ऐसा हो कि बालक अपने उत्तरदायित्व को समझे।

४—बालक के स्कूल-कार्य में रुचि दिखलाना। दूसरी कक्षा में किये ह उसके कार्य पर भी समय-समय पर आवश्यक बात कर लेना।

५—कहीं भी भेंट होने पर बालक से प्रसन्न चित्त होकर बोलना। उस प्रणाम-संकेत का मुस्कराते हुए उत्तर देना।

६—बालकों से गप न मारना। उनसे बातचीत में मर्यादा का उल्लङ्घन करना।

७—अपने व्यवहार और बातचीत में ईमानदारी का परिचय देना।

८—अपनी शक्ति के बाहर वचन देकर झूठा न बनना, और बालकों विश्वास देना कि शिक्षक के शब्द सदा विश्वसनीय होते हैं।

९—पहनावा ऐसा हो कि बालक उसमें अरुचि न दिखलावे।

१०—दूसरे शिक्षकों की बालकों के सामने निन्दा न करना।

११—यथासम्भव स्कूल के कार्य में योग देना जिससे बालकों में शिक्षक प्रति विश्वास आ जाय।

१२—बालकों के साथ ऐसा कोई व्यवहार न करना जिससे उन्हें लज्जित अथवा उनके साथ अन्याय किया जा रहा है।

१३—अपने सभी व्यवहार में ईमानदारी दिखलाना और गलती हो जाने पर उसे स्वीकार कर लेना।

१४—बालको की सारी बात सुन लेना और पूर्ण अन्वेषण के बाद चतुरता से न्यायपूर्वक अपनी राय देना।

१५—बालको से वाद-विवाद न करना। उनकी बात सुन लेना और तब अपनी सीधे-सीधे कह देना।

१६—कक्षा-कार्य इस प्रकार आयोजित करना कि कही भी समय गँवाने का अवसर न हो।

१७—कक्षा-कमरे का प्रबन्ध ऐसा हो कि हवा, प्रकाश, गर्मी अथवा सर्दी के कारण बालक का मन न उचटे।

१८—बात-बात पर तुनक उठना ठीक नही। यदि किसी बात से कक्षा-कार्य मे विशेष विघ्न न पडे तो उसकी अवहेलना करना, पर ऊधम के संकेत को प्रारम्भ मे ही दबा देना।

१९—मनोवैज्ञानिक विधियो से विषय में बालको की रुचि उत्पन्न करना।

२०—कक्षा में ऐसे स्थान पर खडा होना कि सारे बालको को सरलता से देखा जा सके। शिक्षक के खडे होने से श्यामपट अथवा मानचित्र बालको की दृष्टि से छिप न जाय।

२१—यह याद रहे कि जिस बालक की क्रिया से अविनय का संकेत मिलता है, वही सदा प्रधान दोषी नही होता।

२२—कक्षा में बालको की वैयक्तिक आवश्यकतानुसार व्यवहार करना।

२३—जिस बालक में अविनय का चिन्ह दिखलाई पडे उसे योग्यतानुसार कुछ निश्चित कार्य देना।

२४—कक्षा में अविनय का अन्य शिक्षको में विज्ञापन न करना। अवसर पर नीतिपूर्वक बर्तना। बाद में कुछ बालको से आवश्यक बात पर कठिनाई को दूर करना।

२५—शिक्षक की तत्कालीन नीति कुशलता। समय और परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को शीघ्र और स्वयं अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारित कर लेनी है।

२६—अवसर विशेष पर आत्म-संयम के आधार पर उचित रूप से बर्तना
को सच्ची परीक्षा है।

२७—विनय-स्थापन के लिए निश्चित किये हुए नियम स्पष्ट हों और
र पर उनके प्रयोग में तनिक भी हिचकिचाहट न दिखलाना। यदि नियम
छ गलती मालूम हो तो उसे शीघ्र बदल देना।

२८—अपराध के अन्वेषण में व्यक्तिगत भावों से प्रभावित न होना। सत्य
आदर करना। नियम के सामने सभी बालकों को बराबर समझना।

२९—यदि अपराध का अन्वेषण और उचित दण्ड का निर्णय अवसर पर
सके तो रुक जाना। पर निर्णय हो जाने पर दण्ड शीघ्र दे देना।

३०—बड़े बालकों को सबके सामने दण्ड न देना। दण्ड व्यक्तिगत और
स्त हो।

३१—निश्चित नियम के पालन में सभी शिक्षकों का एकमत होना। उसके
में सबको सहयोग देना।

३२—दण्ड के निर्धारण में सम्भावित क्षति, बालक की अवस्था तथा भावी
व पर ठीक से ध्यान देना।

३३—विनय-स्थापन में प्रत्येक शिक्षक को अपना-अपना उत्तरदायित्व
झना आवश्यक है। केवल एक के उद्योग से विनय-स्थापन सम्भव नहीं।

३४—बालकों को उपदेश से उदाहरण अधिक अच्छा लगता है।

३५—स्वतः प्रेरणा से उत्पन्न विनय सर्वश्रेष्ठ होती है।

३६—किसी स्कूल की विनय-सम्बन्धी नीति का निर्माण छोटी कक्षाओं से
धीरे-धीरे होता है। अतः प्रारम्भ से ही उस पर ध्यान देना आवश्यक है।
प्रकार एक विशिष्ट परम्परा को जन्म देना चाहिए।

३७—बालकों में उत्तरदायित्व ढोने की शक्ति उत्पन्न करना विनय-स्थापन
सरलतम साधन है।

सारांश

विनय की समस्या

बिना विनय-स्थापन के शिक्षक का परिश्रम व्यर्थ।

कुछ अवाछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है)—
हानिकर साधन (जिनका उल्टा प्रभाव पड़ता है)—
अपने अनुभव पर अच्छे और बुरे साधन का निराकरण।

विनय-स्थापन के कुछ सरल उपाय

* * *

प्रश्न

१—'आदर्श विनय' के स्वरूप की ओर संकेत कीजिए।

२—कक्षा में विनय-स्थापन के लिए अध्यापक को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ?

३—कक्षा में कुछ विद्यार्थी प्रायः कैसी शरारतें किया करते हैं ? इन शरारतों का क्या निराकरण है ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव टीचिङ्ग, अध्याय १, २, ३।

२—जेम्स, वेल्टन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड्स ऑव टीचिङ्ग (१९२६), पृष्ठ २६-६८, २६-३०।

३—ह्यू गुस—लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग, पृष्ठ १९२-५, ३८८, ४३९-४१।

४—जे० एच० पैन्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेक्निक, पृष्ठ ७८, २६०, २६८।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एजूकेशन, पृष्ठ २४६-२८१।

६—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव टीचिङ्ग इन सेकेण्डरी स्कूल, पृष्ठ ७०२-७१८।

७—टी० रेमॉन्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव एजूकेशन पृष्ठ ९३, १७६, ३४६।

८—वार्ड ऐण्ड रॉसकयू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय ५।

९—कैपिन एम० रोच—व्हाइ वान्ट टु टीच, पृष्ठ ३९-४४।

१०—जे० इड्म—आँर टीचर्स ऑव टुडे, अध्याय ७।

११—मॉलसेन ऐण्ड प्रदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी, पृष्ठ ३६।

विनय की समस्या कठिन, प्राचीन आदर्श और वर्तमान शिक्षकों और छात्रों की मनोवृत्ति।

दण्ड के बल पर आश्रित विनय झूठी, विनय सीखने की वस्तु।

विनय का पुराना रूप।

बालक को डराना अनुचित, विनय का सम्बन्ध जीवन में भी, चंचलता का नाम अविनय नहीं, विनय-स्थापन विषयक कम से कम आदेश, बालकों की रुचि पर ध्यान, आत्म-विश्वास और शान्ति से काम लेना।

शिक्षक की रहन-सहन और मुद्रा का प्रभाव।

पुरस्कार और दण्ड का स्थान।

बालक को उत्तरदायित्व देना, शिक्षक का अधिकार-भावना-प्रदर्शन ठीक नहीं, उपदेश से उदाहरण अच्छा।

शिक्षक का चरित्र और आचरण आदर्श हो, विनय-स्थापन की दृष्टि से ३ प्रकार के शिक्षक।

विनय-स्थापन साधन, स्कूल के शुद्ध वातावरण का प्रभाव।

आदर्श शिक्षक के व्यक्तित्व का स्थायी प्रभाव।

विनय के आत्म-संयम।

शिक्षक का आत्म-विश्वास बड़ा सहायक।

पाठ की पूरी तैयारी।

स्पष्ट आदेश देना, बालकों की मुद्रा का अध्ययन करना।

सभी बालकों को क्रियाशील रखना, पढ़ाने में रुचि लेना।

कुछ साधारण शरारतें—

जान-बूझ कर शरारत करना—

व्यक्तिगत समस्याओं को कक्षा की सामूहिक समस्या से न मिलाना।

रुचि और उद्देश्य का अभाव, कक्षा-कमरे की कुछ वस्तुएँ बालक।

समस्या का समाधान शीघ्रातिशीघ्र, व्यक्तिगत समस्याओं पर कक्षा के बाहर विचार।

विनय स्थापन के कुछ अच्छे साधन—

: कम प्रयोग में लाये जाने वाले साधन—

कुछ प्रवाछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पडता है)—
हानिकर साधन (जिनका उल्टा प्रभाव पडता है)—
अपने अनुभव पर अच्छे और बुरे साधन का निराकरण।

विनय-स्थापन के कुछ सरल उपाय

* * *

प्रश्न

१—'आदर्श विनय' के स्वरूप की ओर संकेत कीजिए।

२—कक्षा में विनय-स्थापन के लिए अध्यापक को किन-किन बातो पर ध्यान देना चाहिए ?

३—कक्षा में कुछ विद्यार्थी प्रायः कैसी शरारतें किया करते हैं ? इन शरारतो का क्या निराकरण है ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग, अध्याय १, २, ३।

२—जेम्स, वेल्टन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड्स ऑव टीचिङ्ग (१९२९), पृष्ठ २६-६८, २९-३०।

३—ह्यूगुस—लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग, पृष्ठ १६२-५, ३८८, ४३६-४१।

४—जे० एच० पेन्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेक्निक, पृष्ठ ७८, २६०, २६८।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड् इन एड्रकेशन, पृष्ठ २४६-२८१।

६—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव टीचिङ्ग इन सेकेण्डरी स्कूल, पृष्ठ ७०२-७१८।

७—टी० रेमॉन्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन पृष्ठ ६३, १७६, ३४६।

८—वार्ड ऐण्ड रॉसवू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग, अध्याय ५।

९—नेथिन एम० रोच—आइ वान्ट टु टीच, पृष्ठ ३९-४४।

१०—जे० हड्स—फ़ॉर टीचर्स ऑव् टुडे, अध्याय ७।

११—ऑलसेन ऐण्ड मरर्स—स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी, पृष्ठ ३६।

पाठ के कुछ प्रकार[1]

१—कुछ साधारण बातें

शिक्षा के आचार्यों ने शिक्षा की विभिन्न विधियों का उल्लेख किया है पर हमें यह न भूलना चाहिए कि ये विधियाँ ... विभिन्न साधन हैं। सफल शिक्षक होने के लिए इन साधनों का ज्ञान ... आवश्यक समझा जाता है। परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को इन ... का अवलम्बन लेना पड़ता है। विज्ञान, इतिहास, गणित, भाषा ... आदि विषयों के अध्यापन में समयानुसार हमें विभिन्न विधियों की ... होती है। शिक्षण-कला के पूर्ण ज्ञान वाला अध्यापक यह शीघ्र ... कि अब किस विधि का सहारा लिया जाय। हमें बालकों को इस प्रकार ... देनी है कि उनका मन न ऊबे—विषय चाहे कितना ही कठिन क्यों ... इस अध्याय में हम यही देखेंगे कि वे विधियाँ कौन-सी हैं जिनसे ... बालक के लिए रोचक बनायी जा सकती है।

हम पीछे कई बार संकेत कर चुके हैं कि शिक्षा में बालक का ... अधिक महत्वपूर्ण है। जो कुछ ज्ञान उसे देना है वह गौण है, ... बालक ही है। अतः विषय को रोचक बनाने के लिए सबसे पहले ... के स्वभाव पर ध्यान देना है। बालक का स्वभाव हर समय कुछ न ... रहना है। स्वस्थ अवस्था में वह कभी सुस्त नहीं बैठा रहता। ...

---

1. Some Types of Lessons.

किसी बात के सुनने में उसकी कम रुचि होती है। अतः पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि हम बालकों को क्रियाशील रखें। अब कुछ स्वयं करके या करने द्वारा वर्तमान मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधियों का सार घोषक है। पहले ये शिक्षक ऐसे होते थे जो ग्रामोफोन के रेकार्ड की तरह बोलना प्रारम्भ कर देते थे। उन्हें अपने पाण्डित्य प्रदर्शन का अधिक मोह रहता था और बालकों को कुछ सिखाने का कम। शिक्षा देने का प्रधान ध्येय बालक के चरित्र का विकास करना है, अर्थात् उसे रहना सिखाना है। बालक 'करने' से ही सीखता है,[1] क्योंकि उसका स्वभाव ही क्रियाशीलता का द्योतक है। इसलिये ज्ञान उसे इस प्रकार देना है कि वह उसके अनुभव का अंग हो जाय, अर्थात् उसका वह दैनिक कार्य में उपयोग कर सके। पुस्तकीय ज्ञान का मूल्य बहुत कम होता है। वह बहुत दिन तक स्थिर नहीं रहता, क्योंकि उसका दैनिक जीवन से सम्बन्ध नहीं होता।

हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही नया ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि नये ज्ञान का सम्बन्ध पुराने अनुभव से कुछ न हुआ तो वह समझ में न आयेगा। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि बालक की रुचि "शुद्ध नवीनता" में नहीं होती,[2] अर्थात् उसे यदि कोई एकदम नवीन बात सिखलाई जाय तो वह उसको समझ में न आवेगी। यदि नये ज्ञान को उसके पुराने अनुभव का एक अंग बना दिया जाय तो उसके लिए वह रुचिकर हो जायगा। बालक का सीखना स्कूल आने से बहुत पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक कोरी पटिया नहीं कि उस पर चाहे जो बातें लिख दी जायें। बालक अपने विचार, बुद्धि और तर्क-शक्ति द्वारा स्वयं निर्णय करता है। इसलिए तो इस काम को न कर वह उस काम को करता है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बालक अनुकरणशील होता है और बिना समझे-बूझे दूसरों का अनुकरण किया करता है। पर ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि बालक में एक प्रौढ़ व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियाँ वर्तमान रहती हैं। अन्तर केवल 'मात्रा' का रहता है, 'प्रकार' का नहीं। नए ज्ञान को यदि

---

1. The child learns by doing. 2. The child is not interested anything wholly new.

बालक के पुराने ज्ञान से सम्बन्धित न किया गया तो उसे नया ज्ञान देना व्यर्थ होगा।

बालक अपनी मूलप्रवृत्तियों[1] के आधार पर कुछ अनुभव प्राप्त करता है। मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति जिन बातों से होती है उसमें उसकी रुचि हो जाती है। अतः नए विषय को किसी न किसी प्रकार बालक की मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा का अंग बनाना आवश्यक है। शिक्षक बालक की युयुत्सा[2], जिज्ञासा[3], आत्म-प्रदर्शन[4] अथवा विधायकता[5] मूलप्रवृत्तियों का सरलता से सहारा ले सकता है। बालक के विकास में मूलप्रवृत्तियों का बड़ा भारी हाथ रहता है। प्रारम्भ में वह मूलप्रवृत्यात्मक जीव होता है। अतः शिक्षक उसकी मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की अवहेलना नहीं कर सकता।

प्रायः यह देखा जाता है कि शिक्षक बिना कुछ निश्चित उद्देश्य लिए ही पढ़ाने चले जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अध्यापन कार्य में उनकी रुचि कम हो गई है और इसलिए पढ़ाने के पहले वे विषय की तैयारी नहीं करते। यदि प्रस्तुत विषय के पढ़ाने का उद्देश्य पहले से ही निश्चित कर लिया जाय तो अध्यापन बालकों के लिए निश्चय ही रुचिकर हो जायगा, क्योंकि तब उन्हें भी अपने परिश्रम का उद्देश्य ज्ञात रहेगा और वे स्वभावतः उसकी प्राप्ति की ओर अग्रसर होंगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक समझते ही नहीं कि वे क्या पढ़ रहे हैं और प्रस्तुत विषय का ज्ञान उन्हें किस ओर ले जायगा। ऐसी स्थिति में वे कक्षा की पढ़ाई में रुचि नहीं लेते। इसलिये पाठ का उद्देश्य बता देना बड़ा आवश्यक है। कुछ शिक्षक कहेंगे कि कभी-कभी विषय ऐसा होता है कि उसका उद्देश्य बतलाना कठिन है। कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। प्रस्तुत विषय का मुख्य उद्देश्य बतलाने के प्रयत्न में पढ़ाने के लिए शिक्षक की पूरी तैयारी हो जाती है। यदि हम जानते हैं कि हम क्या करने जा रहे हैं तो हमारी उसमें अधिक रुचि हो जाती है। बालक भी अपने सामने एक निश्चित उद्देश्य चाहता है। उद्देश्य का ज्ञान होने से वह अपनी शक्ति उसके लिए केन्द्रित कर देता है।

1. Instincts. 2. Combat. 3 Curiosity. 4. Self-display. 5. Constructiveness.

शिक्षक को सबसे पहले पाठ्यक्रम को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यह सच है कि निर्धारित पाठ्यक्रम में वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता, पर निश्चित सीमा के अन्दर उसे उपयुक्त पाठ्य-वस्तु चुनने की कुछ स्वतन्त्रता अवश्य होती है। बालकों के विकास के अनुसार वह किसी विषय का उद्देश्य अच्छी तरह निर्धारित कर सकता है और यह भी समझ सकता है किसी विषय को कितना पढ़ाया जाय। पर इन बातों को समझने के लिए उसे निम्नलिखित बातें जाननी आवश्यक हैं :—

१—बालकों की उम्र और उनकी शक्तियाँ।

२—उनकी रुचियाँ और आवश्यकताएँ।

३—कक्षा की कठिनाइयाँ और समस्याएँ।

४—अध्यापन के लिए प्राप्त सहायक सामग्री।

५—पहले कितना काम हो चुका है?

६—आगे क्या काम करना है?

बालकों ने जितना काम कर लिया है उससे यह न समझना चाहिए कि वह उन्हें अच्छी तरह आ गया है। इसलिए नया काम प्रारम्भ करने के पहले बालकों के पूर्व ज्ञान[1] की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जैसे बिना दृढ़ नींव का भवन बाद में धराशायी हो जाता है उसी प्रकार पीछे का पाठ बिना अच्छी तरह सीखे आगे का पाठ पढ़ने में वांछित सफलता नहीं मिलती।

ऊपर हमने शिक्षण के कुछ साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अब हमें यह देखना है कि किसी पाठ का संचालन शिक्षक को किस प्रकार करना चाहिए। पाठ-संचालन में लगने के पहले उसे ऊपर कही हुई बातों पर ध्यान दे देना होगा।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाठ तीन प्रकार के होते हैं :— (१) ज्ञान[2], (२) कौशल[3] और (३) रसानुभूति[4] सम्बन्धी। उदाहरणार्थ, इतिहास का पाठ ज्ञान सम्बन्धी, चित्रकला अथवा किसी विदेशी भाषा का सीखना कला सम्बन्धी और कविता का पाठ रसानुभूति सम्बन्धी कहा जा सकता है। इन

1. Previous knowledge. 2. Knowledge. 3. Skill. 4. Appre-

तीनों प्रकार के पाठों के लिए विभिन्न प्रकार की विधि और दक्षता की आवश्यकता होती है। नीचे हम यही विचार करेंगे कि इन तीन प्रकार के पाठों को किस प्रकार पढ़ाना चाहिए।

१—ज्ञान का विकास[1]

कुछ समय पहले बालक को ज्ञान देने की धुन में शिक्षक यह न देखता था कि बालक के लिए उस ज्ञान की उपयोगिता क्या है। वह यह भी न देखता था कि बालक की विकास-स्थिति उस ज्ञान को समझने योग्य है या नहीं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करती है। अब यह समझा जाता है कि 'सीखना' केवल चुपचाप सुनकर 'स्वीकार' कर लेना नहीं है। जैसे घड़े में पानी डाल दिया जाता है, उसी प्रकार बालक के मस्तिष्क में ज्ञान नहीं डाला जा सकता, क्योंकि बालक क्रियाशील होता है। घड़े के समान वह जड़ पदार्थ नहीं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में एक ऐसी लहर चल पड़ी है कि अब 'सीखने' में "बाल क्रिया"[2] प्रधान मानी जाती है। अब जो कुछ पढ़ाया जाता है उसमें यह ध्यान रखा जाता है कि बालक के वर्तमान और भावी जीवन से उसका सम्बन्ध क्या हो सकता है। स्कूल के क्षेत्र के विवेचन में हम इस पर १६वें अध्याय में अच्छी तरह प्रकाश डाल चुके हैं। स्कूल के नये दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि ज्ञान का तात्पर्य वास्तविक अनुभव से है। गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर ज्ञान के विकास के कुछ साधारण नियमों का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा—

१—'ज्ञान सीखने की क्रिया' सीखने वाले की योग्यतानुसार होनी चाहिए।

२—सीखने की क्रिया का प्रकार शिक्षा के प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों पर समान होना है। परन्तु मस्तिष्क के विकास के अनुसार उसकी गहनता तथा मात्रा में कुछ भेद आ जाता है।

३—सीखने में 'सरल या स्थूल' से 'गहन अथवा सूक्ष्म' की ओर जाना चाहिए।

1. The Development of Knowledge. 2. Pupil-

समक्ष उपस्थित करना है कि उनमें ज्ञान का विकास मनोवैज्ञानिक क्रम से हो। उसे बालकों की विभिन्न रुचियों, आवश्यकताओं और शक्तियों का ज्ञान रखना है, जिससे वह उसके विकास को उसी प्रकार सुचारु रूप से संचालित कर सके जैसे माली बाग के विभिन्न पौधों की उनकी आवश्यकतानुसार देख-रेख करता है। इस दृष्टि से शिक्षक का काम पहले से बहुत ही अधिक हो गया है।

प्रो० ह्यूज्स का कहना है कि बालकों के सामने नया ज्ञान उपस्थित करने की दो विधियाँ हैं :—"१. व्याख्या के आधार पर उनसे स्पष्ट कह देना, अथवा २. सारी बातें कह कर निष्कर्ष निकालने के लिए उन्हें उत्साहित करना। बालकों के दृष्टिकोण से ज्ञान या तो दूसरों से सीधे प्राप्त किया जा सकता है या अपने परिश्रम से उसे खोजना है[1]।" शिक्षा में इन दोनों प्रकार के अनुभवों का बहुत महत्व होता है और ज्ञान के विकास में परिस्थिति के अनुसार दोनों की आवश्यकता होती है। व्यक्ति का जीवन इतना छोटा होता है कि सब कुछ अन्वेषण द्वारा ही वह नहीं सीख सकता। दूसरों द्वारा सिद्ध की हुई अथवा कही हुई बातें उसे मान लेनी होंगी। हाँ, यह बात ठीक है कि जिसका स्वयं पता लगाया जाता है उसका प्रभाव स्थायी हो जाता है।

हरबार्ट के नियमित पद[2]

ज्ञान सम्बन्धी पाठ में हम प्रधानतः प्रस्तावना,[3] विषय-प्रवेश,[4] आत्मीकरण,[5] सिद्धान्त-निरूपण[6] और प्रयोग[7] नामक विधियों का सहारा लेते हैं हरबार्ट के अनुसार यही 'पाँच नियमित पद'[8] हैं। साहित्य अथवा भाषा पाठ में सिद्धान्त-निरूपण के स्थान पर हम 'विचार-विश्लेषण'[9] रख लेते हैं इतिहास अथवा भूगोल के पाठ में विचार-विश्लेषण न रख कर 'पुनरावृत्ति और श्यामपट-सारांश'[10] रख लेते हैं। पढ़ाई हुई बात लड़कों की समझ में आ कि नहीं इसकी परीक्षा करने के लिए प्रायः सभी प्रकार के पाठ में 'प्रयो

---

1. Huges, A. G. and Hugles, E.H : Learning and T.
p 332. 2. The Formal steps of Herbart 3. T
4 Presentation. 5 Association. 6. Generalization.
cation. 8. The Five Formal steps. 9. Thought
10. Recapitulation and Black-board Summary.

के पहले पुनरावृत्ति विधि काम में लाई जाती है। नीचे हम उपर्युक्त प्रत्येक विधि पर अलग अलग विचार करते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन किस प्रकार करना चाहिए।

ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन

प्रस्तावना—

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि अध्यापन-कार्य प्रारम्भ करने के शिक्षक को यह जान लेना आवश्यक है कि बालकों की पहुँच कितनी है, अ उनका पूर्वज्ञान[1] क्या है। बिना इस ज्ञान के शिक्षक पाठ में बालकों की जाग्रत करने में समर्थ न होगा। जब तक उनकी रुचि जाग्रत न होगी वे सीख न सकेंगे। स्पष्ट है कि किसी पाठ की सफलता शिक्षक और शिक्ष दोनों के सहयोग पर निर्भर है। "वह क्रिया जिससे शिक्षक को यह लगता है कि शिक्षार्थी क्या जानता है और क्या नहीं जानता और जिसके प स्वरूप शिक्षार्थी में आगे सीखने की इच्छा जाग्रत हो जाती है 'प्रस्ताव कहते हैं[2]।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पाठ्य-विषय का जीवन से दैनिक सम्बन्ध स्थापि करना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में शिक्षक को बालकों के पूर्व अनुभव भली-भाँति परिचित होना चाहिए। यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक बालक पूर्व अनुभव दूसरे से भिन्न होगा। पर शिक्षक को औसत रूप में कुछ ऐसा अनु अनुमान लगा लेना है जिसे लगभग प्रत्येक बालक जानता हो। जब तक शिक्ष यह न समझ लेगा वस्तु-स्थिति को पकड़ने में वह समर्थ न होगा। वह जो कु कहेगा बालकों की समझ में न आयेगा। हम यह जानते हैं कि कुछ सीखने पहले बालक अपने पूर्व अनुभव से उसका सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। यदि शिक्षा उसके पूर्व ज्ञान से परिचित न हुआ तो बालक यह सम्बन्ध न जोड़ सकेगा और उसकी समझ में कुछ भी न आयेगा।

बालकों के पूर्व ज्ञान से परिचय प्राप्त करने में बहुत अधिक समय लगाना ...गा, यदि प्रस्तुत पाठ पुराने विषय का ही एक अङ्ग है तो दो-

Knowledge. 2. Ryburn : *The Principles of*
2.

तीन प्रश्न हों बालकों में नए पाठ के लिए उत्सुकता पैदा कर सकते हैं, किन्तु होंगे। अधिक प्रश्न से उनका मन ऊब सकता है। आवश्यकता है कि इस क्रम में बालकों के पूर्व अनुभव का सम्बन्ध जोड़ना [illegible]। शिक्षक को बहुत ही संक्षेप में बालकों के पूर्व ज्ञान को जागृत करना चाहिए, जिससे वे प्रस्तुत पाठ के लिए शीघ्र तैयार हो जाँय। यदि शिक्षक अपने कक्षा को [illegible] है तो वह इसे बड़ी सरलता और शीघ्रता से कर सकता है। यदि कक्षा नई हो तो अपने दूसरे सहयोगियों से उसकी पूरी जानकारी [illegible] चाहिए। बालकों की स्थिति में अपने को डालकर शीघ्रता से पाठ का आरम्भ देना कुशल शिक्षक का चिन्ह है। यह जानना कि विद्यार्थी कहाँ हैं और कहाँ पहुँ[illegible] के लिए उन्हें प्रयत्न करना चाहिए अच्छे अध्यापक के दो आवश्यक लक्षण हैं।

प्रस्तुत पाठ की तैयारी कभी-कभी बहुत लम्बी हो सकती है। [illegible] बाहर घूमने जाने अथवा कई दिन तक पढ़ाते रहना आवश्यक हो सकता है। जब तैयारी के लिए बाहर जाना हो तो शिक्षक को विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए। किसी ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक स्थान या फैक्टरी आदि का काम देखना निश्चय हो तो शिक्षक को पहले से ही यह जानना चाहिए कि वह किन-किन बातों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करेगा। शिक्षक का यह सोच लेना कि वह सब कुछ जानता है और अवसर पर वह सब कर देगा, कदाचित् बुद्धिमानी से खाली होगा।

प्रस्तावना में हम बालकों को यह बतलाना चाहते हैं कि उनके पूर्व अनुभव के किस भाग की प्रस्तुत पाठ में अधिक आवश्यकता होगी। आधी नयी बातें प्रस्तावना में याद करा दी जाती हैं। कभी कभी उनका परस्पर सम्बन्ध भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि शिक्षक उन्हें मनोवैज्ञानिक ढंग से [illegible] कर सका तो नये पाठ के सीखने की आवश्यकता या महत्व भी उनकी समझ में आ जायगा। इसको समझ लेने से नये पाठ को सीखने के लिए वे उत्सुक हो जायेंगे। इस प्रकार शिक्षक को यह निश्चय हो जायगा कि परिश्रम से अधिक फल मिलेगा।

1. Welton, J.: *Principles and Methods of Teac*[illegible] 3, pp. 56-57.

उद्देश्य कथन[1]—

प्रस्तावना समाप्त होने के बाद उद्देश्य का कहना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि पाठ का मुख्य उद्देश्य क्या है। कौन सी नई बात वह बालकों को बतलाने जा रहा है। इसमें उसका पूरा परिचय होना चाहिए। कुछ शिक्षकों को इसका ज्ञान नहीं रहता। वे केवल यही जानते हैं कि आधा, एक या दो पृष्ठ बालकों को पढ़ा देना है। अतः दो एक पृष्ठ पढ़ा देना ही उनका उद्देश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि वे पाठ की तैयारी नहीं करते और अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि नहीं। शिक्षक के सदृश विद्यार्थी को भी पाठ का उद्देश्य जानना आवश्यक है। इसके ज्ञान से वे अपने परिश्रम को एक निश्चित उद्देश्य की ओर केन्द्रित करते हैं। उद्देश्य-कथन में कोई कठिनाई न होनी चाहिए। उद्देश्य तो प्रस्तावना के फलस्वरूप निकल आता है। अतः उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रस्तावना। कुछ ऐसे पाठ होते हैं जिनमें उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में कहना कठिन हो सकता है, क्योंकि उनमें बालकों को स्वयं कुछ बातों का पता लगाना होता है। पर यहाँ पर भी उन्हें यह जानना चाहिए कि वे किस बात का पता लगाने जा रहे हैं। रसानुभूति के पाठ में उनसे यह कहना मनोवैज्ञानिक नहीं कि वे किसी कविता अथवा चित्र के अध्ययन में क्या पायेंगे। ऐसा कह देने से उनकी रसानुभूति स्वतन्त्र न हो सकेगी। तब शिक्षक की भावनाओं के अनुसार ही बालकगण सोचने लगेंगे। पर उनसे इतना कह देना चाहिए कि उन्हें पता लगाना है कि कविता अथवा चित्र के बारे में उनके विचार क्या हैं। इसी प्रकार किसी विज्ञान के पाठ में बालकों को यह न जानना चाहिए कि किसी परीक्षण का उद्देश्य क्या होगा। फल तो उन्हें स्वयं परीक्षण करके ही देखना होगा।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण—

एक प्रकार से 'विषय-प्रवेश' और 'आत्मीकरण' में विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि विषय-प्रवेश का विस्तृत-रूप ही आत्मीकरण होता है। भाषा अथवा साहित्य के पाठ में दोनों में कुछ भेद आ जाता है। पर यह भेद केवल नाममात्र

1. Statement of the Aim.

का है। शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ कर देने का [illegible]
जाता है, और उसके बाद जो विस्तृत व्याख्या की जाती है [illegible]
जाता है। शिक्षक को यह पहले से ही निश्चित कर लेना चाहिए [illegible]
वह कितने शब्द, या वाक्य पर लेगा। यदि इस निश्चय के अनुसार [illegible]
से न चल सके तो परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन करे [illegible]
उसमें चतुरता होनी चाहिए।

है और [illegible]

करके अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन में ही लग जायगा। ऐसा करना [illegible]
शिक्षक का स्थान केवल पथ-प्रदर्शक[1] का है। छात्रों के असफल होने पर [illegible]
सहायता देनी है। यदि कोई विचार बालकों को सीधे देना आवश्यक हुआ [illegible]
'निर्देश'[2] और 'सहानुभूति'[3] का आश्रय लेना होगा। "इसे प्यार करो और [illegible]
छूगा"—ऐसा कहना मनोवैज्ञानिक नहीं। ऐसा कहने से बालकों का मानसिक
विकास कुण्ठित हो जायगा। वे कही हुई बात को ही स्वीकार कर लेंगे और स्वयं
कुछ न सोचेंगे।

यदि शिक्षक किसी भावना की छाप छात्रों को देना चाहता है तो उसे
व्याख्यान में उस भावना का स्वयं पूरे हृदय से अनुभव करना चाहिए। [illegible]
शिक्षक किसी भावना का अनुभव करता है तो उसका प्रभाव बालकों पर [illegible]
ही पड़ेगा। निर्देश मात्र से ही वांछित विचार बालकों के मस्तिष्क में [illegible]
लेंगे और बालक भी समझेंगे कि वे विचार उन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं।
यदि ऐसी कल्पना देने में शिक्षक सफल हुआ तो बालकों में वे विचार स्थायी हो
जायेंगे।

आत्मीकरण के स्थल पर शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना चाहिए [illegible]
उसकी बात को कहाँ तक समझ रहे हैं। यदि इस बात का पता इसी स्थल पर
चतुरता से लगा लिया जाय तो बाद में सिद्धान्त-निरूपण अथवा [illegible]
अवसर पर विशेष कठिनाई न होगी। ऐसा न करने से कभी-कभी [illegible]

1. Director 2. Suggestion. 3. Sympathy

उद्देश्य कथन[1]—

प्रस्तावना समाप्त होने के बाद उद्देश्य का कहना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि पाठ का मुख्य उद्देश्य क्या है। कौन सी नई बात वह बालकों को बतलाने जा रहा है। इससे उसका पूरा परिचय होना चाहिए। कुछ शिक्षकों को इसका ज्ञान नहीं रहता। वे केवल यही जानते हैं कि आधा, एक या दो पृष्ठ बालकों को पढ़ा देना है। अतः दो एक पृष्ठ पढ़ा देना ही उनका उद्देश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि वे पाठ की तैयारी नहीं करते और अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि नहीं। शिक्षक के सदृश विद्यार्थी को भी पाठ का उद्देश्य जानना आवश्यक है। इसके ज्ञान से वे अपने परिश्रम को एक निश्चित उद्देश्य की ओर केन्द्रित करते हैं। उद्देश्य-कथन में कोई कठिनाई न होनी चाहिए। उद्देश्य तो प्रस्तावना के फलस्वरूप निकल आता है। अतः उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रस्तावना। कुछ ऐसे पाठ होते हैं जिनमें उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में कहना कठिन हो सकता है, क्योंकि उनमें बालकों को स्वयं कुछ बातों का पता लगाना होता है। पर यहाँ पर भी उन्हें यह जानना चाहिए कि वे किस बात का पता लगाने जा रहे हैं। रसानुभूति के पाठ में उनसे यह कहना मनोवैज्ञानिक नहीं कि वे किसी कविता अथवा चित्र के अध्ययन में क्या पायेंगे। ऐसा कह देने से उनकी रसानुभूति स्वतन्त्र न हो सकेगी। तब शिक्षक की भावनाओं के अनुसार ही बालकगण सोचने लगेंगे। पर उनसे इतना कह देना चाहिए कि उन्हें पता लगाना है कि कविता अथवा चित्र के बारे में उनके विचार क्या हैं। इसी प्रकार किसी विज्ञान के पाठ में बालकों को यह न जानना चाहिए कि किसी परीक्षण का उद्देश्य क्या होगा। फल तो उन्हें स्वयं परीक्षण करके ही देखना होगा।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण—

एक प्रकार से 'विषय-प्रवेश' और 'आत्मीकरण' में विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि विषय-प्रवेश का विस्तृत-रूप ही आत्मीकरण होता है। भाषा अथवा साहित्य के पाठ में दोनों में कुछ भेद आ जाता है। पर यह भेद केवल नाममात्र

[1] Statement of the Aim.

२—कौशल का विकास[1]

ज्ञान के पाठ में बालक को किसी विषय के बारे में कुछ 'सीखना' पड़ता है। कौशल के पाठ में उसे सीखने के साथ ही साथ कुछ करना भी होता है। उदाहरणार्थ, हस्तकला-सम्बन्धी सारे कार्य कौशल के हैं। लिखना, पढ़ना या नई भाषा का सीखना कौशल के अन्तर्गत आता है। कौशल के पाठ में बालक का एक निश्चित स्तर तक आना अपेक्षित होता है। इसमें उसे अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता होती है। उदाहरणार्थ, उसे किसी शब्द को एक निश्चित ढंग से ही पढ़ना होगा। वह १, २, ३, ४, के स्थान में १, ३, ५, ७, आदि कह कर नहीं गिन सकता। इस दृष्टिकोण से बालक इस प्रकार के पाठों में अपनी मौलिकता नहीं दिखला सकता। परन्तु चित्रकला तथा लेख आदि जैसे पाठों में वह अपनी मौलिकता अवश्य दिखला सकता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक कितनी मौलिकता दिखला सकता है। इसमें वैयक्तिक भिन्नता और किसी विशिष्ट कौशल की बात आ जाती है।

प्रस्तावना -

प्रस्तावना के महत्व पर पीछे हम प्रकाश डाल चुके हैं। कौशल के पाठ में भी इसका स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है। कोई भी पाठ पढ़ाने के पहले शिक्षक को यह देख लेना चाहिए कि बालक नए अनुभव को सीखने के लिए तैयार है। अतः पाठ आरम्भ करने के पहले बालकों को अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में कर लेना आवश्यक है, जिससे जो कुछ सिखाया जाय उसका अपेक्षित फल मिल सके। जब कोई नई बात सिखानी हो तो छात्रों को उसे सीखने की आवश्यकता भली-भाँति समझा देनी चाहिए। पूर्व ज्ञान से पाठ को इस प्रकार सम्बन्धित करना है कि छात्र नई बात के सीखने की आवश्यकता को समझ सकें, या उनके काम में कोई ऐसी कठिन समस्या उपस्थित कर देनी है जिसकी पूर्ति में वे नए कौशल को सीख लें। इन सब विधियों के प्रयोग में यह ध्यान रहे कि बालकों की रुचि के बाहर कोई बात न जाय।

उद्देश्य-कथन—

प्रस्तावना के बाद शिक्षक को पाठ का उद्देश्य कह देना चाहिए जिस

1. The Development of Skill

२—कौशल का विकास[1]

ज्ञान के पाठ में बालक को किसी विषय के बारे में कुछ 'सीखना' पड़ता है। कौशल के पाठ में उसे सीखने के साथ ही साथ कुछ करना भी होता है। उदाहरणार्थ, हस्तकला-सम्बन्धी सारे कार्य कौशल के हैं। लिखना, पढ़ना या नई भाषा का सीखना कौशल के अन्तर्गत आता है। कौशल के पाठ में बालक का एक निश्चित स्तर तक आना अपेक्षित होता है। इसमें उसे अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता होती है। उदाहरणार्थ, उसे किसी शब्द को एक निश्चित ढंग से ही पढ़ना होगा। वह १, २, ३, ४, के स्थान में १, ३, ५, ७, आदि कह कर नहीं गिन सकता। इस दृष्टिकोण से बालक इस प्रकार के पाठों में अपनी मौलिकता नहीं दिखला सकता। परन्तु चित्रकला तथा लेख आदि जैसे पाठों में वह अपनी मौलिकता अवश्य दिखला सकता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक कितनी मौलिकता दिखला सकता है। इसमें वैयक्तिक भिन्नता और किसी विशिष्ट कौशल की बात आ जाती है।

प्रस्तावना -

प्रस्तावना के महत्व पर पीछे हम प्रकाश डाल चुके हैं। कौशल के पाठ में भी इसका स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है। कोई भी पाठ पढ़ाने के पहले शिक्षक को यह देख लेना चाहिए कि बालक नए अनुभव को सीखने के लिए तैयार है। अतः पाठ प्रारम्भ करने के पहले बालकों को अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में कर लेना आवश्यक है, जिससे जो कुछ सिखाया जाय उसका अपेक्षित फल मिल सके। जब कोई नई बात सिखानी हो तो छात्रों को उसे सीखने की आवश्यकता भली-भांति समझा देनी चाहिए। पूर्व ज्ञान से पाठ को इस प्रकार सम्बन्धित करना है कि छात्र नई बात के सीखने की आवश्यकता को समझ सकें, या उनके काम में कोई ऐसी कठिन समस्या उपस्थित कर देनी है जिसकी पूर्ति में वे नए कौशल को सीख लें। इन सब विधियों के प्रयोग में यह ध्यान रहे कि बालकों की रुचि के बाहर कोई बात न जाय।

उद्देश्य-कथन—

प्रस्तावना के बाद शिक्षक को पाठ का उद्देश्य कह देना चाहिए जिससे छात्र

1 The Development of Skill

जानते रहें कि उन्हें किस ओर परिश्रम करना है। इस बात के मनोवैज्ञानिक ढंग से कहने पर पाठ में छात्रों की रुचि अन्त तक बनी रहेगी।

विषय-प्रवेश—

विषय-प्रवेश का रूप पाठ-पाठ के साथ भिन्न-भिन्न होगा। विज्ञान, अंक-गणित, लेख, संगीत, तथा हस्तकला आदि प्रकार के पाठों के विकास में भिन्नता होगी। सर्वप्रथम बालकों को आवश्यक क्रिया दिखलाई जाती है। इस समय उन्हें उसे खूब ध्यानपूर्वक देखना अथवा सुनना होता है। इसके बाद देखे अथवा सुने हुए आदेश के अनुसार उन्हें स्वयं करना होता है। इस प्रकार शिक्षक का काम केवल आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देना है और थोड़ा सा रास्ता भर दिखला देना है। इसके बाद सारी क्रिया छात्रों को ही करनी है। कक्षा में सभी बालक समान योग्यता के नहीं होते। ऐसी स्थिति में शिक्षक का कार्य कुछ कठिन हो जाता है। उसे अपनी कक्षा का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि कमजोर छात्रों की ओर आवश्यकतानुसार वह कुछ विशेष ध्यान दे सके। जिन छात्रों को सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं होती उन्हें उसी विषय-सम्बन्धी किसी दूसरे कार्य में लगा देना चाहिए। इस प्रकार कुछ बालकों को अलग करके कमजोर बालक पर बहुत अच्छी प्रकार ध्यान दिया जा सकता है।

अभ्यास[1]—

जब कार्य करने की विधि छात्र की समझ में आ जाय तो उसमें उसे अभ्यास देना आवश्यक होगा। इस समय शिक्षक को यह देखना चाहिए कि छात्र ठीक अभ्यास कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि लिखने का अभ्यास हो रहा है तो यह जानना चाहिए कि छात्र ने कलम ठीक से पकड़ी है तथा पुस्तक और आँख में पर्याप्त दूरी रखी गई है। सस्वर वाचन के अभ्यास में देखना होगा कि छात्रों का उच्चारण और विराम आदि पर छात्र उचित ध्यान दे रहा है। अभ्यास में सारा समय लगा देना ठीक नहीं। उचित समय विभाजन पर भी शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। मामूली सी बात पर बहुत अधिक अभ्यास देना व्यर्थ होगा। अभ्यास के समय शिक्षक का प्रधान कार्य निरीक्षण करना और आवश्यकतानुसार यहाँ-वहाँ छात्रों को सहायता देनी है।

---

1 Drill or Exercise.

कौशल के पाठ में छात्रों का यह जानना आवश्यक है कि उनकी कितनी उन्नति हो रही है। इस ज्ञान से उन्हें आगे बढ़ने में बड़ी प्रेरणा मिलेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि उनकी शक्ति के अन्दर ही उनसे काम लिया जाय, जिससे उन्हें अपने परिश्रम से कुछ न कुछ सन्तोष मिलता रहे। यदि ऐसा न हुआ तो पाठ से उन्हें आनन्द न आवेगा। बिना समझे हुए अभ्यास कराना व्यर्थ होगा। कई बार दोहराते रहना अच्छा अभ्यास नहीं है। अभ्यास से समय विद्यार्थी की मानसिक अवस्था यदि अनुकूल नहीं है तो सब कुछ व्यर्थ जायगा। मानसिक अवस्था को अनुकूल रखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी जो कुछ करें उसके करने की आवश्यकता वे अनुभव करें। परिश्रम का उद्देश्य उनके सामने निश्चित रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

त्रुटि संशोधन[1]—

अभ्यास के बाद त्रुटि संशोधन की समस्या आती है। बहुत से शिक्षकों का अपने स्कूल-समय का काफी भाग विद्यार्थियों के लिखित कार्य को संशोधित करने में चला जाता है। कुछ अध्यापक तो इसे बड़ी ही ईमानदारी से करते हैं। पर इतना ध्यान देने पर भी कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही गलती लड़के बार बार करते हैं। फलतः यह सन्देह होने लगता है कि कदाचित् त्रुटि-संशोधन करना व्यर्थ है। पर ऐसा सोचना ठीक नहीं, क्योंकि त्रुटि-संशोधन से तत्काल सुधार अपेक्षित करना अपने को निराश करना है। सुधार न होने पर त्रुटि-संशोधन को छोड़ना ठीक नहीं। यदि मनोवैज्ञानिक क्षण[2] पर त्रुटि-संशोधित की गई तो उसका सुधार अवश्य होगा। मनोवैज्ञानिक क्षण में ठीक अवसर और बालक की रुचि आदि सभी बातें आ जाती हैं। मॉन्तेसरी इसी मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा करने के लिए शिक्षक से कहती है। उसका कहना है कि यदि बालक की समझ में कुछ न आये तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने मनोवैज्ञानिक क्षण समझने में गलती की है; अर्थात् उसने बालक की रुचि, तात्कालिक मानसिक तैयारी और शक्ति की उपेक्षा की है। अतः उसके परिश्रम का अपेक्षित फल नहीं मिला। स्पष्ट है कि अपने परिश्रम का अधिक से अधिक फल पाने के लिए शिक्षक को मनोवैज्ञानिक क्षण का सदा ध्यान रखना चाहिए।

1. Correction of mistakes. 2. Psychological moment.

त्रुटि पकड़ लेने पर जल्दी से जल्दी उसके संशोधन के लिए छात्रों से कहना चाहिए। लेख और अनुवाद की गलतियाँ छात्रों को यदि दो-तीन सप्ताह बाद सुधारने का अवसर दिया गया तो उससे कुछ लाभ होना सन्देहात्मक है। यदि त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव का ही एक अङ्ग बना दिया जाय तो संशोधित बात बालक के मस्तिष्क में बड़ी जल्दी बैठ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभ्यास के समय शिक्षक की उपस्थिति आवश्यक है, जिससे सभी गलतियों को संशोधित कर दिया जाय। यथासम्भव गलतियों का संशोधन बालकों से ही करवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक की सहायता आवश्यक है।

पर-पर की आलोचना को भी त्रुटि-संशोधन का अब एक अच्छा साधन माना जाता है। इस साधन का उपयोग लेख, सस्वर-वाचन, उच्चारण तथा संगीत आदि के पाठ में किया जा सकता है। इससे आलोचित और आलोचक दोनों को लाभ होता है। आलोचक को यह समझना पड़ता है कि किसी कौशल के प्रदर्शन में किन किन बातों पर ध्यान दिया जाता है। आलोचित यह जान जाता है कि उसने कहाँ गलती की है। इस प्रकार दोनों को ठीक वस्तु का ज्ञान हो जाता है, पर इस विधि का अधिक प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि इससे कुछ बालकों में आत्म-हीनता की भावना आ सकती है और कुछ डर के मारे अपनी अच्छी बातों को भी बतलाने में संकोच करेंगे। वस्तुतः शिक्षक ही सर्वश्रेष्ठ आलोचक कहा जा सकता है।

कौशल के पाठ में शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि छात्र अभ्यास करने में बहुत थक न जाएँ। 'सीखना क्रिया' केवल अभ्यास काल तक ही सीमित नहीं रहती। कुछ लोगों की धारणा है कि सीखने की क्रिया के समाप्त हो जाने पर भी मनुष्य अवचेतन में सीखी हुई बात को अपने मस्तिष्क में बैठाता रहता है। कुछ लोग इस धारणा के विरुद्ध हैं। इन दो धारणाओं के मतभेद से अध्यापन और अध्ययन-क्रिया का विशेष सम्बन्ध नहीं। पर दोनों पक्षों का यह मत है कि अभ्यास क्रिया के बाद विश्राम-काल सीखने में बड़ा ही सहायक होता है। विश्राम के बाद फिर भी करने पर [illegible] स्फूर्ति आ जाती है।

[illegible] कोई एक सामान्य नियम

* D[illegible]

नहीं निर्धारित किया जा सकता। इस दृष्टि से शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए गत शताब्दियों में जितने प्रयत्न किये गये विफल रहे। इसलिए ऊपर जो कुछ कहा गया है उस पर 'लकीर के फकीर' के समान चलना हानिकारक है। बालकों के वैयक्तिक भेद के अनुसार निर्धारित नियमों में परिवर्तन और सुधार करने की स्वतन्त्रता और क्षमता का शिक्षक में होना आवश्यक है। वैयक्तिक योग्यता के अनुसार ही बालकों को काम देना चाहिए। यह बात इतनी महत्वपूर्ण है कि इस पर ऊपर कई बार संकेत किया गया है। यदि किसी बात के सीखने में कोई बालक दूसरों से अधिक समय लेता है तो उससे सहानुभूति दिखलाना आवश्यक है। उसकी हँसी उड़ाना या उसे हतोत्साह करना अमनोवैज्ञानिक है। *इससे व्यक्तित्व-विकास कुण्ठित हो जाता है और बालक में आत्महीनता की* भावना आ जाती है।

कौशल के पाठ में जिन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

१—कार्य को ठीक प्रकार प्रारम्भ करना बड़ा आवश्यक है। यदि प्रारम्भ अच्छा न हुआ तो बाद में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। पहले गति[1] पर ध्यान न देकर रूप[2] पर ध्यान देना चाहिए। किसी बात को सीखने के लिए केवल अभ्यास ही *पर्याप्त नहीं। अभ्यास के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसकी विधि भी ठीक* है, अन्यथा परिश्रम का समुचित फल न मिलेगा, और साथ ही कुछ गलत आदतों के पड़ने का भय भी रहेगा। उदाहरणार्थ, टाइप-राइटिङ्ग के पाठ में यदि प्रारम्भ ठीक न किया गया तो गलत आदत पड़ जायगी, और अँगुलियों का ठीक रास्ते पर लाना कठिन हो जायगा।

२—सीखने वाले की मनोवृत्ति का सीखने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पाठ में रुचि रहने से विद्यार्थी लगातार इस चेष्टा में रहता है कि दिन पर दिन उसकी उन्नति हो। कुछ शिक्षकों की धारणा है कि रुचि के अभाव में भी अभ्यास से कोई चीज बहुत अच्छी तरह सीखी जा सकती है। इसके विपरीत कुछ का मत है कि रुचि ही प्रधान है और अभ्यास गौण। वस्तुतः किसी एक ही पर बल

1 Speed. 2 Form.

किया जा सकता। इस दृष्टि से शिक्षा की मनोवैज्ञानिक [illegible] के
दशों में जितने प्रयत्न किये गये शिक्षा गई। [illegible]
है उन पर 'नज़ीर के फ़क़ीर' के समान [illegible]
विक भेद के अनुसार निर्धारित नियमों से [illegible]
नता और क्षमता का विकास में होना [illegible] है। [illegible]
नुसार ही बालकों को ध्यान देना चाहिए, यह बात इसी [illegible]
र ऊपर कई बार संकेत किया गया है। यदि किसी बालक [illegible]
क दूसरों से अधिक समय लेता है तो उसमें सहानुभूति [illegible]
। उसकी हँसी उड़ाना या उसे हतोत्साह करना अमनोवैज्ञानिक है।
व-विकास कुण्ठित हो जाता है और बालक में [illegible] को
जाता है।

न के पाठ में जिन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए उनका उल्लेख
ा जा रहा है :—

—कार्य को ठीक प्रकार प्रारम्भ करना बड़ा आवश्यक है। यदि प्रारम्भ
हुआ तो बाद में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। पहले गति[1] पर ध्यान न देकर
र ध्यान देना चाहिए। किसी बात को सीखने के लिए केवल अभ्यास ही
नहीं। अभ्यास के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसकी विधि भी ठीक
यथा परिश्रम का समुचित फल न मिलेगा, और साथ ही कुछ गलत आदतों
ने का भय भी रहेगा। उदाहरणार्थ, टाइप-राइटिंग के पाठ में यदि प्रारम्भ
न किया गया तो गलत आदत पड़ जायगी, और अंगुलियों को ठीक रास्ते
लाना कठिन हो जायगा।

२—सीखने वाले की मनोवृत्ति का सीखने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पाठ
चि रहने से विद्यार्थी लगातार इस चेष्टा में रहता है कि दिन पर दिन उसकी
ति हो। कुछ लोगों की धारणा है कि रुचि के अभाव में भी अभ्यास से
ई चीज बहुत अच्छी तरह सीखी जा सकती है। इसके विपरीत कुछ का मत
कि रुचि ही प्रधान है और अभ्यास गौण। वस्तुतः किसी एक ही पर [illegible]

---

1 Speed. 2. Form.

उल्लेख इसमे भी किया जा सकता है। इन्हीं सब पदो पर नीचे हम अलग-अलग विचार करेंगे।

प्रस्तावना—

जिस पाठ की रसानुभूति शिक्षक बालको से कराना चाहता है—उसका स्वयं उसे पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। कभी-कभी विषय-ज्ञान होते हुए भी शिक्षक अपनी किसी विशिष्ट रुचि के कारण बालको को उसकी रसानुभूति नही करा सकता। ऐसी स्थिति में शिक्षक को उस पाठ का सचालन न करना चाहिए, क्योकि वह बालको को रसानुभूति के पथ पर लाने में समर्थ न हो सकेगा। रसानुभूति-पाठ के सचालन के पूर्व शिक्षक को उसके लिए समुचित वातावरण का आयोजन कर लेना आवश्यक है। बाह्य वस्तुओ से बालको का ध्यान इधर-उधर डिग न जाय इसका भी शिक्षक को ध्यान रखना है। अतः उसे हर समय विभिन्न सरस रुचियो के आधार पर बालको का ध्यान पाठ की ही ओर आकर्षित करते रहना है। इसके लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, शिक्षक को निर्देश-शक्ति का सहारा लेना होगा।

शिक्षक को छात्रो की शक्तियो और कमजोरियो का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह समझ सके कि छात्र कैसे पाठ की रसानुभूति कर सकते है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत पाठ का सम्बन्ध बालक के पूर्व ज्ञान से इस प्रकार जोडना है कि वह उनके लिए एकदम नया न मालूम हो। यथासम्भव जीवन के अनुभव से सम्बन्धित बातो का उल्लेख समयानुसार करते रहना चाहिए। ऐसा करने से प्रस्तुत विषय को बालक अच्छी प्रकार समझते जायेंगे। पाठ में आये हुए कठिन शब्द और अलकार आदि का अर्थ एक दिन पहले ही बतला दिया जाय तो अच्छा है, क्योकि शब्दार्थ और रसानुभूति साथ ही साथ नहीं चल सकते। रसानुभूति के पाठ में शब्दो का अर्थ नही बताया जाता, वरन् उसमें छिपे हुए भाव की ओर सकेत किया जाता है। शब्दार्थ बतलाने की धुनि में रसानुभूति गौण पड़ जायगी। जिस पद में बहुत कठिन शब्द हो उसे रसानुभूति के पाठ में रखना ही गलत है। जिस पद में सरल-सरस शब्द होते हैं उन्हीं को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसानुभूति कराई जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह हुआ कि रसानुभूति के

है। यह ध्यान रखना चाहिए और इन में बालकों में अच्छी तरह इनका विकास करना है जो उनके जीवन में आगे चलकर बहुत सहायक हो सकता है। किसी वस्तु [illegible] कि बालक बचपन में ही उनकी अच्छी धारणा बना लेंगे। इसमें अध्यापक निर्देश बड़ा सहायक होता है। परन्तु निर्देश देने के बजाय विरुद्ध निर्देश का प्रभाव हो जाता है और बालक को किसी वस्तु से अरुचि हो जाती है। बालकों में किसी भी वस्तु के लिए अनुकूल उत्पन्न करना तो कठिन काम है। इसमें बालकों के स्वभाव और रुचि का पूरा ध्यान आवश्यक है।

शिक्षक को यह जानना चाहिए कि [illegible] बालकों का स्वभाव है [illegible] खेल में [illegible]। अपना [illegible] के अवसर पाते [illegible] इसमें न पूछेंगे। इसके लिए बालकों को छेड़ना न चाहिए। थोड़ी भी चेष्टा या जाने से ही बालक भद्दे और कुरूप के प्रति अपनी मुख-मुद्रा अथवा शब्द से उनके प्रति अपने भाव प्रकट कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बालकों में सौन्दर्य प्रेम का बीज वर्तमान रहता है। उचित वातावरण के आयोजन से हमें उस बीज को अंकुरित करने और बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि बालकों के ऊपर कोई विचार जबरदस्ती न लादा जाय। ऐसे विचारों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। अपना विचार देते समय शिक्षक को यह कह देना चाहिए कि ये उनके विचार हैं। बालकों को अच्छी तरह समझा देना उचित है कि भली-भाँति समीक्षा कर लेने पर ही उन्हें किसी विचार को स्वीकार करना चाहिए। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि जिन बातों में उसका विश्वास न हो अथवा जिन्हें उसने स्वयं अच्छी प्रकार न समझ लिया हो, उनका उल्लेख वह बालकों के सामने न करे अन्यथा विरुद्ध निर्देश के प्रभावस्वरूप बालकों में उनके प्रति अरुचि पैदा हो जायगी। इस प्रकार उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से रसानुभूति के अनुकूल वातावरण का सृजन किया जा सकता है।

रसानुभूति के पाठ का ठीक संचालन आनन्द और खेल की मुद्रा में होता है। अतः इसे अन्य पाठों की तरह हरबार्ट के निश्चित पदों के अन्दर हम ठीक बाँध नहीं सकते, तथापि प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, अभ्यास और पुनरावृत्ति का

अनुभव का विवरण देना आवश्यक हो सकता है, तो वहीं पर प्रश्नों द्वारा बालकों के पूर्व ज्ञान को हो जागृत करना अनुकूल दिखलाई पड़ सकता है। इस प्रकार विविध ढङ्गों से शिक्षक को रसानुभूति के पाठ की तैयारी करनी होगी।

विषय-प्रवेश—

प्रस्तावना के बाद विषय-प्रवेश की समस्या आती है। यथासम्भव विषय-प्रवेश का ढंग कलात्मक हो। इस स्थल पर शिक्षक को लेखक अथवा कवि के भावों का सफल अभिनय करना चाहिए। इसके लिए लम्बे-लम्बे वक्तव्य देना आवश्यक है। यदि शिक्षक लेखक की बात को समझता है और प्रकाशित भावों का स्वयं अनुभव करता है तो उनका बालकों पर वाञ्छित प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह बात विस्तृत व्याख्या के समय ही लागू नहीं, वरन् आदर्श पाठ के समय भी अक्षरशः सत्य है। यदि कवि के भावों के प्रति सहानुभूति अथवा तादात्म्य का अनुभव करते हुए आदर्श पाठ किया गया तो आधा विजय वहीं हो जाती है। एक वातावरण उपस्थित हो जाता है, बालकों के कान खड़े हो जाते हैं और उनकी रुचि पाठ के अन्त तक बनी रहती है।

आदर्श पाठ के बाद विस्तृत व्याख्या का नम्बर आता है। वस्तुतः यह भी विषय प्रवेश का ही एक अंग है। यदि ऊपर कही हुई बातों के अनुसार कक्षा का वातावरण अनुकूल हुआ तो प्रस्तुत विषय पर लड़के अपनी सम्मति देने में नहीं हिचकेंगे। शिक्षक की बात पर वे आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।
...ों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर देना रसानुभूति पाठ का
... यदि इसमें शिक्षक उन्हें उत्साहित कर सका तो बालक अवश्य ही
... होंगे। यदि बालक भाव-प्रकाशन में सकोच दिखा रहा है
... विवश करना अमनोवैज्ञानिक होगा। सहानुभूति दिखलाने से
... में भाव-प्रकाशन सरलता से कर सकते हैं।

... का तुलनात्मक अध्ययन भी रसानुभूति में सहायक होता
... के लेखकों और कवियों का उदाहरण भी अप्रा-
... इस प्रकार करना है कि बालक अपनी सम्मति
... से प्रभावित होकर न दें। उन्हें अपने भाव-

अनुभव का विश्लेषण देना आवश्यक हो सकता है, जो वहाँ पर प्रश्नों द्वारा बालकों के पूर्व ज्ञान को ही जागृत करना समुचित दिखलाई पड़ सकता है। इस प्रकार विविध ढंगों से शिक्षक को रसानुभूति के पाठ की तैयारी करनी होगी।

विषय-प्रवेश –

प्रस्तावना के बाद विषय-प्रवेश की समस्या आती है। यथासम्भव विषय-प्रवेश का ढंग कलात्मक हो। इस स्थल पर शिक्षक को लेखक अथवा कवि के भावों का सफल अभिनय करना चाहिए। इसके लिए अच्छे-अच्छे वक्तव्य देना आवश्यक है। यदि शिक्षक लेखक की बात को समझता है और प्रकाशित भावों का स्वयं अनुभव करता है तो उसका बालकों पर वांछित प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह बात विस्तृत व्याख्या के समय ही लागू नहीं, वरन् आदर्श पाठ के समय भी यथाक्रमशः सत्य है। यदि कवि के भावों के प्रति सहानुभूति अथवा तादात्म्य का अनुभव करते हुए आदर्श पाठ किया गया तो आधा विजय वहीं हो जाती है। एक वातावरण उपस्थित हो जाता है, बालकों के कान खड़े हो जाते हैं और उनकी रुचि पाठ के अन्त तक बनी रहती है।

आदर्श पाठ के बाद विस्तृत व्याख्या का नम्बर आता है। वस्तुतः यह भी विषय प्रवेश का ही एक अंग है। यदि ऊपर कही हुई बातों के अनुसार कक्षा का वातावरण अनुकूल हुआ तो प्रस्तुत विषय पर लड़के अपनी सम्मति देने में नहीं हिचकेंगे। शिक्षक की बात पर वे आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर देना रसानुभूति पाठ का प्राण है। यदि इसमें शिक्षक उन्हें उत्साहित कर सका तो बालक अवश्य ही रसानुभूति में सफल होंगे। यदि बालक भाव-प्रकाशन में संकोच दिखा रहा है तो उसके लिए उसे विवश करना मनोवैज्ञानिक होगा। सहानुभूति दिखलाने से ऐसे बालक भविष्य में भाव-प्रकाशन सरलता से कर सकते हैं।

लेखकों और कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी रसानुभूति में सहायक होता है। कभी-कभी दूसरी भाषा के लेखकों और कवियों का उदाहरण भी असा-संगिक न होगा। पाठ का संचालन इस प्रकार करना है कि बालक अपनी सम्मति पक्ष या विपक्ष में शिक्षक के भावों से प्रभावित होकर न दें। उन्हें अपने भाव-

प्रकाशन अपनी अनुभूति के आधार पर करता है। शिक्षक की बातों को रटा देने से तो स्पष्ट यह है वे एकदम कुछ पढ़ और ला यह कह दें कि उसकी कविता में कुछ नहीं आया। आनन्द की अपनी मानसिक अनुभूति की वस्तु है। मैं शिक्षक की आज्ञा का पालन नहीं हो सकता। बालकों की रुचि का अवलम्ब आवश्यक है। उनकी रुचि न जितना आनन्द नहीं जितना उनके प्रकाशन के लिए प्रश्नों का सहारा लेना भय है। इसके बाद में बालकों की सारी रुचि दूर हो जाती है और बालकों में थकान आ जाती है। कुछ बालक अपने आप प्रश्नों में बड़ा असन्तोष करते हैं। बालक कुछ नहीं कहता तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह कुछ नहीं जानता। रसानुभूति उस कोमल पौधे के समान है जिसके लिए बड़ी सहानुभूति और सतर्कता की आवश्यकता है।''[1]

छोटे बालकों के साथ विशेषकर भावात्मक भावनाओं का ही सम्बन्ध रखना ठीक होगा। पर कुछ बड़े बालकों के साथ बौद्धिक विषयों की भी चर्चा की जा सकती है। लेकिन, कवि अथवा मनीषा की शैली और छन्द पर विवेचना करना उनके लिए अनुपयुक्त न होगा।

अभ्यास—

कुछ लोगों की धारणा है कि जो लोग स्वयं कविता करते, लिखते अथवा चित्र बनाते हैं वे औरों की अपेक्षा पद्यात्मक, गद्यात्मक अथवा चित्र का रसास्वादन अधिक सरलता से कर पाते हैं। यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे रसास्वादन में असफल रहते हैं। तथापि अच्छा होगा यदि बालकों को गद्य, पद्य तथा चित्र की रचना करने के लिये उत्साहित किया जाय। इसमें कुछ सफलता मिल जाने से बालक निश्चय ही किसी कला की रसानुभूति शीघ्र कर सकेंगे। छोटे और बड़े सभी बालकों को उनकी शक्ति के अनुसार इसके लिए उत्साहित किया जा सकता है। बालक का प्रयत्न कितना ही बुरा क्यों न हो, पर शिक्षा दृष्टि से उसका महत्व बड़ा भारी है। वह उसकी सहानुभूति में अवश्य ही सहायक होगा।

1. Pincent : *The Principles of Teaching Method*, p. 349.

पुराने अनुभव का आधार, बालक बिना सोचे समझे कुछ

नये विषय को मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छा का अंग बनाना।

पाठ का उद्देश्य बता देना आवश्यक।

पाठ्यक्रम अच्छी प्रकार जानना।

ज्ञान, कौशल और रसानुभूति-सम्बन्धी पाठ।

ज्ञान का विकास

सीखने में 'बाल-क्रिया' प्रधान, पढ़ने का वर्तमान सम्बन्ध।

बालक के ज्ञान और अनुभव को सुसंगठित करना।

शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से भारी।

दूसरों के अनुभव से तथा स्वयं परिश्रम करके सीखना।

प्रस्तावना—

शिक्षक का बालक के पूर्व अनुभव से परिचित होना जागृत करना, बालक की परिस्थिति में अपने को डालना।

विश्राम-काल की उपयोगिता।

वैयक्तिक भेद के अनुसार सीखने का नियम व... में परिवर्तन करने की शिक्षक मे क्षमता। ...ण, निर्धारित नि

ठीक प्रारम्भ, पहले रूप पर ध्यान, ठीक विधि।

रुचि और अभ्यास दोनों आवश्यक।

'प्रधान गलियों' पर ध्यान देना।

टुकड़े-टुकड़े पर बहुत देर तक अभ्यास न करना, दिन में कई बार अभ्य... करना।

३—रसानुभूति का पाठ

संगीत, साहित्य और कला का मान, शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण, सृजे... त्मक शक्तियों का विकास।

रसानुभूति में वातावरण का प्रभाव—

वातावरण का स्थान, अप्रत्यक्ष निर्देश, बालकों में सौन्दर्य-प्रेम का... वर्तमान, अनुभूति की ही बातें कहना।

प्रस्तावना—

समुचित वातावरण उपस्थित करना, जीवन से सम्बन्धित बातों का उल्ले... छिपे भाव की ओर संकेत करना।

कक्षा की स्थिति और बालकों की मुद्रा, अनुकूल वातावरण।

शिक्षक का भाग।

विषय-प्रवेश—

कवि के भावों के प्रति शिक्षक की सहानुभूति और तादात्म्य, आदर्श पा... बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त समय देना, तुलनात्मक अध्यय... अपनी मानसिक अनुभूति।

यह जानना कि बालक का ध्यान किन किन बातों की ओर आकर्षित कर पूर्व अनुभव को मनोवैज्ञानिक ढंग से जागृत करना।

उद्देश्य कथन—

शिक्षक और छात्र दोनों के लिए उद्देश्य जानना आवश्यक।

शिक्षक अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन न करे, पाठ छात्रों का है, शिक्षक है पथ-प्रदर्शक।

विषय-प्रवेश और व्याख्यीकरण—

इस पर ध्यान रखना कि छात्र कहाँ तक समझ रहे हैं।

सिद्धान्त निरूपण—

सदा सम्भव नहीं, छात्रों की सहायता द्वारा।

प्रयोग—

इससे ज्ञान दृढ़।

२—कौशल का विकास

कौशल के पाठ में मुख्य 'करना'।

प्रस्तावना—

अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में करना।

उद्देश्य-कथन—

विषय-प्रवेश—

आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर रास्ता दिखा देना, व्यक्तिगत ध्यान देना अधिक आवश्यक।

अभ्यास—

व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार सहायता देना।

उन्नति का ज्ञान, 'करने' की आवश्यकता का अनुभव करना।

त्रुटि-संशोधन—

तात्कालिक सुधार सदा सम्भव नहीं, मनोवैज्ञानिक क्षण पर ध्यान, त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव का अंग बनाना।

परस्पर-आलोचना का अधिक प्रयोग, शिक्षक सर्वश्रेष्ठ आलोचक।

सकता है । सुनी हुई बात अथवा कथा को नहीं आता जो नई में आता है । इसलिए शिक्षक पय में भी अपना पाठ प्रारम्भ कर सकता है । पर के पूर्व अनुभव से यदि सम्बन्ध न हुआ तो प्रस्तावना विषय की थोड़ी सी झाँकी देने के बाद शिक्षक को पाठ प्रारम्भ करना चाहिए । अज्ञात विषय का ज्ञात । शिक्षक की कुशलता का द्योतक है । वस्तुतः शिक्षक देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित होना चाहिए । ज्ञान राना अरुचिकर और व्यर्थ है और अज्ञान विषय को ेयन करना उसको और भी कठिन बनाना है । इस- सम्बन्ध स्थापित करते हुए बालकों का मानसिक का उद्देश्य कहा जा सकता है ।

विशिष्ट से सामान्य की ओर[1]

विशिष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न होता है । सामान्य तो है । अतः विशिष्ट ज्ञान के बिना सामान्य ज्ञान नहीं में परिणामात्मक प्रणाली का आभास मिलता है । सामान्य को ही रखा जाय तो वह दूसरों की बात को । उसे अपनी तर्क-शक्ति से काम लेने की आवश्यकता होगा कि बात उसकी समझ में न आयेगी । पढ़ाने में कुछ आ जाय, पर वह उसके मानसिक सगठन का अतः विशिष्ट से सामान्य की ओर चलना मनोवैज्ञानिक शिष्ट और सामान्य क्या है इसका पता लगाने के लिये र पूर्व ज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त करना होगा ।

-स्थूल से सूक्ष्म की ओर[2]

क सके और उसकी कल्पना उसी से भरी हो क्योंकि

lar to General 2. From Concrete to

सामने सबसे पहले जटिल वस्तु को न उपस्थित कर दिया जाय। बालकों को सफलता की भावना देना आवश्यक है। उनकी आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रदर्शन[1] की मूलप्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत रहती है। वे दूसरों को दिखलाना चाहते हैं कि कुछ कर दिखाने में वे भी समर्थ हैं। यदि इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति न की गई तो उन्हें गहरी ठेस लगेगी। इसकी पूर्ति उनके सामने सरल वस्तु के उपस्थित करने से ही हो सकती है। यदि यकायक उन्हें कोई जटिल प्रश्न करना हुआ तो वे हिम्मत हार बैठेंगे और किसी काम में उनका मन न लगेगा। अतः उनके सामने सरल वस्तु को ही रखना चाहिए, जिससे उनमें संतोष और सफलता की भावना आ जाय।

परन्तु सरल और जटिल वस्तु का निर्णय कैसे किया जाय? जो एक के लिए सरल है वही दूसरे के लिए कठिन हो सकता है। जो एक समय कठिन है वही दूसरे समय सरल जान पड़ता है। बचपन में हमें जो बातें बहुत जटिल मालूम होती थीं अब वे सरल दिखलाई पड़ती हैं। किसी व्याकरण-शास्त्री के लिए वर्ण सरलतम ध्वनि होती है और उसके बाद शब्द और वाक्य का नम्बर आता है। पर बालक के लिए निरर्थक ध्वनि से कोई प्रयोजन नहीं। वह उसमें रुचि नहीं दिखला सकता। अतः सरल और जटिल का निर्णय करते समय हमें बालक के पूर्व अनुभव और मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि जो उसे सरल दिखलाई पड़ता है वही बालकों के लिए कठिन हो सकता है। बालकों के लिए सरल क्या है इसका पता कुछ प्रश्नों से चल सकता है। विकास-अवस्था से भी हमको कुछ ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी पाठ का प्रारम्भ बहुत जटिल विचारों अथवा शब्दों से किया जा सकता है, यदि वे विचार या शब्द बालकों की समझ के भीतर हों। अतः "सरल से जटिल की ओर' बढ़ने का तात्पर्य सरलतर से कुछ कठिनतर की ओर बढ़ना है।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर[2]

बालकों को जो मालूम है उसकी स्मृति उन्हें बड़ी जल्दी आ जाती है। पर

1. Self-display. 2. From Known to Unknown.

उसके रुचिकर होने में सन्देह हो सकता है। सुनी हुई बात अथवा कथा को दुबारा सुनने में वह आनन्द नहीं आता जो नई में आता है। इसलिए शिक्षक कभी-कभी एकदम नए विषय से भी अपना पाठ प्रारम्भ कर सकता है। पर उस नए विषय का बालक के पूर्व अनुभव से यदि सम्बन्ध न हुआ तो प्रस्तावना रोचक न हो सकेगी। नए विषय की थोड़ी सी झाँकी देने के बाद शिक्षक को बालक के पूर्व ज्ञान से ही पाठ प्रारम्भ करना चाहिए। अज्ञात विषय का ज्ञात से सम्बन्ध स्थापित कर देना शिक्षक की कुशलता का द्योतक है। वस्तुतः शिक्षक का सारा परिश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित होना चाहिए। ज्ञात विषय को ही बार-बार दोहराना अरुचिकर और व्यर्थ है और अज्ञात विषय को पूर्व ज्ञान से अलग कर उपस्थित करना उसको और भी कठिन बनाना है। इसलिए ज्ञात और अज्ञात का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बालकों का मानसिक विकास करना ही शिक्षण का उद्देश्य कहा जा सकता है।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर[1]

हमारा सामान्य ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। सामान्य तो विशिष्ट ज्ञान का ही निचोड़ है। अतः विशिष्ट ज्ञान के बिना सामान्य ज्ञान नहीं बन सकता। इस सूत्र से हमें परिणामात्मक प्रणाली का आभास मिलता है। यदि पहले बालक के सामने सामान्य को ही रखा जाय तो वह दूसरों की बात को तुरन्त स्वीकार कर लेगा। उसे अपनी तर्क-शक्ति से काम लेने की आवश्यकता न होगी। इसका फल यह होगा कि बात उसकी समझ में न आवेगी। पहले समय भले ही उसकी समझ में कुछ आ जाय, पर वह उसके मानसिक संगठन का स्थायी अङ्ग न हो सकेगा। अतः विशिष्ट से सामान्य की ओर चलना मनोवैज्ञानिक होगा। बालक के लिए विशिष्ट और सामान्य क्या है इसका पता लगाने के लिए उसके मानसिक विकास और पूर्व ज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त करना

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर[2]

बालक सूक्ष्म को समझ सके और उसकी कल्पना

1. From Particular to General. 2. Abstract.

सामने सबसे पहले जटिल वस्तु को न उपस्थित कर दिया जाय । बालकों सफलता की भावना देना आवश्यक है। उनकी आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रद की मूलप्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत रहती है । वे दूसरो को दिखलाना चाहं कि कुछ कर दिखाने में वे भी समर्थ है । यदि इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति की गई तो उन्हे गहरी ठेस लगेगी । इसकी पूर्ति उनके सामने सरल वस्तु उपस्थित करने से ही हो सकती है । यदि यकायक उन्हे कोई जटिल प्रश्न कर हुआ तो वे हिम्मत हार बैठेंगे और किसी काम मे उनका मन न लगेगा । अ उनके सामने सरल वस्तु को ही रखना चाहिए, जिससे उनमें सतोष और सफल की भावना आ जाय।

परन्तु सरल और जटिल वस्तु का निर्णय कैसे किया जाय? जो एक के लि सरल है वही दूसरे के लिए कठिन हो सकता है । जो एक समय कठिन है वा दूसरे समय सरल जान पडता है । बचपन में हमे जो बातें बहुत जटिल मालू होती थी अब वे सरल दिखलाई पडती है। किसी व्याकरण-शास्त्री के लिए वट सरलतम ध्वनि होती है और उसके बाद शब्द और वाक्य का नम्बर आता है। पर बालक के लिए निरर्थक ध्वनि से कोई प्रयोजन नही । वह उसमें रुचि नही दिखला सकता । अतः सरल और जटिल का निर्णय करते समय हमें बालक के पूर्व अनुभव और मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि जो उसे सरल दिखलाई पड़ता है वही बालकों के लिए कठिन हो सकता है। बालको के लिए सरल क्या है इसका पता कुछ प्रश्नों से चल सकता है। विराम-अवस्था मे भी इसका कुछ ज्ञान हो जाता है । कभी-कभी पाठ का प्रारम्भ बहुत जटिल विचारो अथवा शब्दो से किया जा सकता है, यदि वे विचार या शब्द बालको की समझ के भीतर हो। अतः "सरल से जटिल की ओर' बढ़ने का तात्पर्य सरलतर से कुछ कठिनतर की ओर बढ़ना है।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर[2]

बालको को जो मालूम है उसकी स्मृति उन्हे बड़ी जल्दी आ जाती है। पर

1. Self display. 2. From Known to Unknown.

उसके रुचिकर होने में सन्देह हो सकता है । सुनी हुई बात अथवा कथा को दुबारा सुनने में वह आनन्द नहीं आता जो नई में आता है । इसलिए शिक्षक कभी-कभी एकदम नए विषय से भी अपना पाठ प्रारम्भ कर सकता है । पर उस नए विषय का बालक के पूर्व अनुभव से यदि सम्बन्ध न हुआ तो प्रस्तावना रोचक न हो सकेगी । नए विषय की थोड़ी सी झाँकी देने के बाद शिक्षक को बालक के पूर्व ज्ञान से ही पाठ प्रारम्भ करना चाहिए । अज्ञात विषय का ज्ञात से सम्बन्ध स्थापित कर देना शिक्षक की कुशलता का द्योतक है । वस्तुतः शिक्षक का सारा परिश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित होना चाहिए । ज्ञात विषय को ही बार-बार दोहराना अरुचिकर और व्यर्थ है और अज्ञात विषय को पूर्व ज्ञान से अलग कर उपस्थित करना उसको और भी कठिन बनाना है । इस-लिए ज्ञात और अज्ञात का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बालकों का मानसिक विकास करना ही शिक्षण का उद्देश्य कहा जा सकता है ।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर[1]

हमारा सामान्य ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न होता है । सामान्य तो विशिष्ट ज्ञान का ही निचोड़ है । अतः विशिष्ट ज्ञान के बिना सामान्य ज्ञान नहीं बन सकता । इस सूत्र में हमें परिणामात्मक प्रणाली का आभास मिलता है । यदि पहले बालक के सामने सामान्य को ही रखा जाय तो वह दूसरों की बात को तुरन्त स्वीकार कर लेगा । उसे अपनी तर्क-शक्ति से काम लेने की आवश्यकता न होगी । इसका फल यह होगा कि बात उसकी समझ में न आयेगी । पढ़ाते समय भले ही उसकी समझ में कुछ आ जाय, पर वह उसके मानसिक संगठन का स्थायी अङ्ग न हो सकेगा । अतः विशिष्ट से सामान्य की ओर चलना मनोवैज्ञानिक होगा । बालक के लिए विशिष्ट और सामान्य क्या है इसका पता लगाने के लिये उसके मानसिक विकास और पूर्व ज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त करना होगा ।

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर[2]

बालक सूक्ष्म को समझ सके और उसकी कल्पना उसी से भरी हो इसीलिए

---

1. From Particular to General. 2. From Concrete to Abstract.

उसे शिक्षा दी जाती है। जिसका जितना अधिक मानसिक विकास होता है वह उतना ही सूक्ष्म को सोच और समझ सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास धीरे धीरे होता है। प्रारम्भ में बालक केवल स्थूल को ही समझने में समर्थ होता है। खिलौना, कुर्सी, मकान, माता-पिता आदि का बोध उसे शीघ्र हो जाता है, क्योंकि वह उन्हें छू और देख सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति यकायक किसी एक दिन नहीं आ जाती। इसका विकास तो क्रमशः होता है। जब बालक सूक्ष्म को समझने लगता है तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। हम चाहते हैं कि ईमानदारी, न्याय प्रियता, दयालुता तथा सत्यता आदि सूक्ष्म भावों को बालक समझने लगे। इसको समझाने के लिए इनकी परिभाषा का सहारा लेना मनोवैज्ञानिक न होगा, क्योंकि बालक पहले स्थूल को ही समझता है। उदाहरणार्थ, बालक पहले लाल वस्तु को देखता है। कई प्रकार की लाल वस्तुएँ देखते-देखते उसे "लाल रङ्ग" अर्थात् एक "सूक्ष्म भाव" का बोध हो जाता है। लाल रङ्ग को समझ लेने का आधार लाल रङ्ग वाली स्थूल वस्तु ही है। इसी प्रकार 'सत्यता'—सूक्ष्म भाव को समझाने के लिए उसका ध्यान किसी सत्य बोलने वाले व्यक्ति की ओर खींचना चाहिए। अतः सत्यता के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न करने के लिए शिक्षक को किसी व्यक्ति अर्थात् "स्थूल वस्तु" का ही आधार मानना चाहिए। सत्य बोलने वाले लड़के अथवा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर आदि महापुरुषों अर्थात् स्थूल प्रमाणों से उसे 'सत्यता' सूक्ष्म भाव का ज्ञान तथा इसके प्रति प्रेम और स्थायीभाव बालक में उत्पन्न किया जा सकता है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का बड़ा भारी महत्व है। मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ सकता है, इसीलिए वह पशुओं से ऊपर है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही 'सूक्ष्म' ज्ञान का प्राप्त करना है। जिसे जितना ही इसका ज्ञान रहता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। अतः शिक्षक का यह प्रयत्न होना चाहिए कि [illegible] सूक्ष्म के आधार पर कल्पना और तर्क कर सके। पर ऊपर संकेत किया [illegible] है कि इसका विकास क्रमशः प्रयत्न करने पर होता है। हम सभी लोगों [illegible] यह अनुभव है कि पहले सूक्ष्म बात कह देने से बालक की समझ में कुछ नहीं [illegible] न के आधार पर उसे समझाया जाय तो सूक्ष्म को वह तुरन्त [illegible] नि अथवा विज्ञान के पाठ में स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने

उन शिक्षा दी जाती है। जिसका जितना अधिक मानसिक विकास होता है वह उतना ही सूक्ष्म को सोच और समझ सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास धीरे धीरे होता है। प्रारम्भ में बालक केवल स्थूल को ही समझने में समर्थ होता है। खिलौना, कुर्सी, मकान, माता-पिता आदि का बोध उसे शीघ्र हो जाता है, क्योंकि वह उन्हें छू और देख सकता है। सूक्ष्म का समझने की शक्ति यकायक किसी एक दिन नहीं आ जाती। इसका विकास तो क्रमशः होता है। जब बालक सूक्ष्म को समझने लगता है तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। हम चाहते हैं कि ईमानदारी, न्याय-प्रियता, दयालुता तथा सत्यता आदि सूक्ष्म भावों को बालक समझने लगे। इनको समझने के लिए इनकी परिभाषा का सहारा लेना मनोवैज्ञानिक न होगा, क्योंकि बालक पहले स्थूल को ही समझता है। उदाहरणार्थ; बालक पहले लाल वस्तु को देखता है। कई प्रकार की लाल वस्तुएँ देखते-देखते उसे "लाल रङ्ग" अर्थात् एक "सूक्ष्म भाव" का बोध हो जाता है। लाल रङ्ग को समझ लेने का आधार लाल रङ्ग वाली स्थूल वस्तु ही है। इसी प्रकार 'सत्यता'—सूक्ष्म भाव को समझाने के लिए उसका ध्यान किसी सत्य बोलने वाले व्यक्ति की ओर खींचना चाहिए। अतः सत्यता के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न करने के लिए शिक्षक को किसी व्यक्ति अर्थात् "स्थूल वस्तु" का ही आधार मानना चाहिए। सत्य बोलने वाले लड़के अथवा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर आदि महापुरुषों अर्थात् स्थूल प्रमाणों से उसे 'सत्यता' सूक्ष्म भाव का ज्ञान तथा उसके प्रति प्रेम और स्थायीभाव बालक में उत्पन्न किया जा सकता है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का बड़ा भारी महत्व है। मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ सकता है, इसीलिए वह पशुओं से ऊपर है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही 'सूक्ष्म' ज्ञान का प्राप्त करना है। जिसे जितना ही इसका ज्ञान रहता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। अतः शिक्षक का यह प्रयत्न होना चाहिए कि बालक सूक्ष्म के आधार पर कल्पना और तर्क कर सके। पर ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इसका विकास क्रमशः प्रयत्न करने पर होता है। हम सभी लोगों को यह अनुभव है कि पहले सूक्ष्म बात कह देने से बालक की समझ में कुछ नहीं आता। किन्तु स्थूल के आधार पर उसे समझाया जाय तो सूक्ष्म को वह तुरन्त समझ लेता है। ज्यामिति अथवा विज्ञान के पाठ में स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने

यद्यपि सब एक ही साध्य के विभिन्न साधन हैं, पर सबका महत्त्व समान नहीं। किसी की एकदम निन्दा कर त्याग देना भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अवसर के अनुसार हमें प्रायः सभी विधियों की आवश्यकता होती है। शुद्ध रूप से किसी एक विधि से ही काम चलाना कठिन है। हमें दूसरों की भी सहायता लेनी पड़ती है। अतः अच्छा होगा यदि नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण विधियों पर संक्षेप में विचार कर लिया जाय।

१—सुकराती विधि[1]

सुकरात[2] एथेन्स का एक बहुत बड़ा महात्मा आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हो चुका है। उसका यह विश्वास था कि किसी को हठात् ज्ञान देना एकदम व्यर्थ है, क्योंकि इसमें व्यक्ति कुछ सीखता नहीं। उसकी धारणा थी कि ज्ञान अथवा अनजान में ज्ञान का पुञ्ज सबके मस्तिष्क में पड़ा रहता है। सुन, देख और पढ़ कर सभी लोग कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पर सब उसे अपने मानसिक संगठन का व्यवस्थित अंग नहीं बना पाते। सुकरात अपनी इस धारणा के आधार पर लोगों के अव्यवस्थित ज्ञान को व्यवस्थित बनाना चाहता था। इसके लिए उसने 'प्रश्न-विधि'[3] का सहारा लिया। उसने अपनी इस विधि का इतना सफल प्रयोग किया कि वह सुकराती विधि से ही प्रसिद्ध हो गई है।

सुकरात राह चलते किसी भी स्थान पर लोगों को छेड़ दिया करता था और अपने वैज्ञानिक प्रश्नों द्वारा लोगों के विचारों को सुव्यवस्थित और ठीक बनाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार सबको ठीक रास्ते पर लाना उसने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया था। वह अपने प्रश्नों के आधार पर ही दूसरों को ठीक ज्ञान देना चाहता था, जिससे व्यक्ति यह समझे कि पाया हुआ ज्ञान उसी का है और किसी ने हठात् स्वीकार करने को उसे बाध्य नहीं किया है। इस विश्वास के आ जाने पर व्यक्ति तदनुसार चलने के लिए स्वभावतः बाध्य हो जायगा—ऐसा सुकरात का विश्वास था। सुकरात की प्रणाली बड़ी मनोवैज्ञानिक है। इसीलिए तो जिज्ञासुओं की उसके पास सदा भीड़ लगी रहती थी।

1. Socratic Method. 2. Socrates. 3 Questioning Technique.

कुछ भी सहायक न होगा। उदाहरणार्थ, यदि कुत्ता पर कोई पाठ दें तो कुत्ता के चित्र से हमें प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि बालक इससे परिचित होते हैं। तत्पश्चात् इसके विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

७—मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं

उपर्युक्त पाठ-सूत्रों के विवेचन में हम वस्तुतः वैज्ञानिक विधि का उल्लेख करते रहे हैं। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि शिक्षण में "बालक की रुचि" ध्यान और ग्रहण-प्रक्रिया अर्थात् मनोवैज्ञानिक विधि पर भी ध्यान देना चाहिए या विषय की केवल तार्किक शिक्षण पद्धति पर ही ?" यहाँ इस मनोवैज्ञानिक विधि पर ही ध्यान रखना उपयुक्त होगा। उदाहरणार्थ; तार्किक दृष्टिकोण से भाषा के अध्यापन में सर्वप्रथम ध्वनि और वर्णों से ही प्रारम्भ करना चाहिए। परन्तु मनोवैज्ञानिक बतलाता है कि बालक की रुचि निरर्थक ध्वनियों और वर्णों में नहीं होगी। उसका प्रेम सार्थक वस्तु से होता है इसलिए उसके सामने सर्वप्रथम वाक्य ही रखना ठीक होगा, क्योंकि उसमें उसे कुछ सार्थकता दिखलाई पड़ती है। ऐसे ही इतिहास के अध्यापन में ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से चलकर वर्तमान काल तक आना तार्किक होगा पर बालक को पुरानी बातों में रुचि नहीं। उसे तो वर्तमान से प्रेम होता है। मनोवैज्ञानिक की यही माँग है। बालक-सम्बन्धी हमारा निज का अनुभव भी यही बतलाता है। अतः उसकी शिक्षा में हमें उसकी रुचि और मानसिक विकास अवस्था पर ध्यान देना है। पर एक तरह से देखा जाय तो तार्किक विधि भी अमनोवैज्ञानिक नहीं ठहरती, क्योंकि उपर्युक्त विवरण में यथास्थान हम बालकों की रुचि, ध्यान-प्रक्रिया और विकास-अवस्था पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वस्तुतः वह विधि तार्किक नहीं जो कि अमनोवैज्ञानिक है।

(ख) कुछ शिक्षण-विधियाँ

उपर्युक्त पाठ-सूत्रों के आधार-भूत कई शिक्षण-विधियाँ निकल पड़ी हैं।

1. Psychological, not logical.

को बालकों से व्याख्या कराकर चतुर्भुज की परिभाषा का निर्माण करना अगमन विधि के अनुसार चलना है। इस विधि को अगमन-विधि कहते हैं, क्योंकि इसमें विद्यार्थी विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ता है। पहले विशिष्ट बातों का विश्लेषण के आधार पर अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् एक सामान्य बात का निर्माण किया जाता है। इसीलिये इसको कुछ लोग विश्लेषण-विधि भी कहते हैं। अगमन-विधि मनोवैज्ञानिक मालूम होती है। इसमें बालकों पर जोर नहीं पड़ता। उनका मस्तिष्क थकता नहीं, क्योंकि सरल प्रश्नों के आधार पर वे सारी बातें समझते जाते हैं और वे सन्तोष और सफलता का अनुभव करते हैं। अतः यह विधि उन्हें बड़ी सरल लगती है। शिक्षकों का यह अनुभव होगा कि कभी-कभी बालक इस विधि के सहारे यकायक बहुत जल्दी ही सामान्य नियम की ओर संकेत कर बैठते हैं। इस अवसर पर उन्हें कितनी प्रसन्नता होती होगी। इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं, क्योंकि सभी को इसका किसी न किसी अवसर पर कुछ व्यक्तिगत अनुभव होगा। इस विधि में बालक की उत्सुकता प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है।

अगमन-विधि के प्रयोग के समय उदाहरण देने में शिक्षक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। उपस्थित की हुई वस्तु की समानता और भिन्नता की ओर बालकों का ध्यान ठीक-ठीक आकर्षित करना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। समानता और भिन्नता के ही सहारे विशिष्ट से सामान्य की ओर आना होता है। चतुर्भुज का ज्ञान देने में शिक्षक कई चतुर्भुजों का आकार बालकों के सामने रखता है। विभिन्न आकार के चतुर्भुजों में समानता और भिन्नता दोनों हैं। अतः बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे गलत निष्कर्ष पर न पहुँच जायँ।

३—निगमन-विधि[1]

निगमन-विधि अगमन का एकदम उलटा है। अगमन-विधि में हम विशिष्ट से सामान्य की ओर चलते हैं और निगमन में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। निरूपित सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की सत्यता को

1. Deductive Method.

सुकरात विशेषतः धर्म, नीति, आचार शास्त्र और राजनीति पर प्रश्न किया करता था। सर्वप्रथम वह युवक के साथ विषय पर ही वह ही बात करता था। युवक के उत्तर पर वह दूसरे प्रश्न उपस्थित कर प्रश्न पर प्रश्न किए जाता था। इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में अन्ततः युवक वांछित ज्ञान पर आ जाता था और उस ज्ञान का भ्रम नाश भी हो जाता था। सुकरात अपने को मस्तिष्क-रूपी शिशु जनाने वाली दाई कहा करता था। दाई माँ के पेट से बाहर न कोई बच्चा डाल नहीं सकती। वह केवल पेट से उपस्थित बच्चे को बाहर निकल आने में सहायक मात्र होती है। यही सुकरात की शिक्षा का आदर्श था। वह व्यक्ति के मस्तिष्क में बाहर के ज्ञान को नहीं ठूँसना चाहता था। वह वहीं उपस्थित ज्ञान को ही ठीक से व्यवस्थित और पल्लवित होने में दाई के समान सहायता देना चाहता था। सुकरात अपने विद्यार्थी को किसी परीक्षा में उत्तीर्ण करने के हेतु परिश्रम नहीं करता था, वह तो अपने विद्यार्थी में केवल जिज्ञासा जगा देना चाहता था, जिससे वह उसकी तुष्टि के लिए स्वयं परिश्रम करे।

आजकल सुकराती-विधि का काफी प्रयोग किया जाता है। शिक्षक अपने पाठ के सचालन में हर पद पर प्रश्नों का सहारा लेता है। प्रस्तावना के स्तर पर वह प्रश्नों द्वारा बालकों को आवश्यक पूर्व-ज्ञान की याद दिलाता है। सिद्धान्त-निरूपण प्रश्नों के आधार पर ही बनता है। समझ[1] और धारणा[2] की शक्तियों की परीक्षा प्रश्नों द्वारा ही की जाती है। यह सब सुकरानी विधि ही है। पर बहुत से प्रश्नों की झड़ी लगा देना भी ठीक नहीं। प्रश्न उपयुक्त ही हों। उनमें विध्वंसक आलोचना या आभास न मिले। ऐसे प्रश्न बालकों से न पूछना चाहिए, और न उन्हें इसके लिए उत्साहित ही करना चाहिए।

२—आगमन-विधि[3]

किसी बात को बालकों को सीधे न बताकर उदाहरणों द्वारा उन्हीं से सिद्धान्त का निरूपण करना आगमन-विधि का काम है। चतुर्भुज की परिभाषा देने से पहले विभिन्न प्रकार के चतुर्भुज सामने रखकर उनके साधारण गुणों

1. Understanding. 2. Retention. 3. Inductive Method.

को बालकों से व्याख्या कराकर चतुर्भुज की परिभाषा का निर्माण करना आगमन विधि के अनुसार चलना है। इस विधि को आगमन-विधि कहते हैं, क्योंकि इसमें विद्यार्थी विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ता है। पहले विशिष्ट बातों का विश्लेषण के आधार पर अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् एक सामान्य बात का निर्माण किया जाता है। इसीलिये इसको कुछ लोग विश्लेषण-विधि भी कहते हैं। आगमन-विधि मनोवैज्ञानिक मालूम होती है। इसमें बालकों पर जोर नहीं पड़ता। उनका मस्तिष्क थकता नहीं, क्योंकि सरल प्रश्नों के आधार पर वे सारी बातें समझते जाते हैं और वे सन्तोष और सफलता का अनुभव करते हैं। अतः यह विधि उन्हें बड़ी सरल लगती है। शिक्षकों का यह अनुभव होगा कि कभी-कभी बालक इस विधि के सहारे यकायक बहुत जल्दी ही सामान्य नियम की ओर संकेत कर बैठते हैं। इस अवसर पर उन्हें कितनी प्रसन्नता होती होगी। इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं, क्योंकि सभी को इसका किसी न किसी अवसर पर कुछ व्यक्तिगत अनुभव होगा। इस विधि में बालक की उत्सुकता प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है।

आगमन-विधि के प्रयोग के समय उदाहरण देने में शिक्षक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। उपस्थित की हुई वस्तु की समानता और भिन्नता की ओर बालकों का ध्यान ठीक-ठीक आकर्षित करना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। समानता और भिन्नता के ही सहारे विशिष्ट से सामान्य की ओर आना होता है। चतुर्भुज का ज्ञान देने में शिक्षक कई चतुर्भुजों का आकार बालकों के सामने रखता है। विभिन्न आकार के चतुर्भुजों में समानता और भिन्नता दोनों हैं। अतः बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे गलत निष्कर्ष पर न पहुँच जायें।

३—निगमन-विधि[1]

निगमन-विधि आगमन का एकदम उलटा है। आगमन-विधि में हम विशिष्ट से सामान्य की ओर चलते हैं और निगमन में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। निरूपित सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की सत्यता की

1. Deductive Method.

परीक्षा करना निगमन-विधि का काम है। उदाहरणार्थ; पहले बालकों को यह बता दिया जाता है कि एक त्रिभुज के तीनों कोण दो समकोण के बराबर होते हैं। बालक विभिन्न प्रकार के त्रिभुजों के कोणों को नाप कर इस सामान्य नियम की सत्यता पहचान कर तदनुसार और आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार सामान्य नियम इसमें पहले दिया जाता है। परन्तु सामान्य नियम का पहले देना घोड़े के आगे गाडी का रखना है। त्रिभुज का ठीक-ठीक ज्ञान करने के लिए सबसे पहले बालक को एक ही त्रिभुज का समझना आवश्यक है। ऐसा न करने से वह परिभाषा रट कर काम निकालने का प्रयत्न करेगा और उनका मानसिक विकास ठीक न होगा। इस प्रकार निगमन-विधि अमनोवैज्ञानिक मालूम पड़ती है। इसमें बिना उदाहरण दिये बालक कुछ न समझ सकेगा। पर हमें बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि निष्कर्ष पर वह स्वयं पहुँच जाय। अंकगणित, विज्ञान और ज्यामिति की परिभाषा उसे अपने मानसिक परिश्रम से स्वयं निकालनी चाहिए।

अगमन और निगमन में भेद—

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अगमन विधि शिक्षा देने का साधन है और निगमन विधि आदेश[1] देने का। अगमन में देरी अवश्य लगती है पर शिक्षा-क्रिया शीघ्र नहीं पूरी हो सकती। मानसिक विकास की गति भी तो धीमी होती है। अतः अगमन-विधि ही सच्ची शिक्षा-विधि है। निगमन में शीघ्रता अवश्य होती है। पर इसमें यह जानना कि बालक किसी विषय को समझते हुए आगे बढ रहे हैं कठिन है, क्योंकि बहुत से ऐसे नियम होते हैं जिन्हें बिना स्वयं परीक्षा किये वे नहीं समझ सकते। अगमन 'निगमन' से अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले व्यक्ति स्वयं सब कुछ सोच-समझ लेता है। अगमन से आत्म-निर्भरता बढ़ती है और निगमन से दूसरों पर निर्भर रहने की आदत पड जाती है।

४—वास्तविक शिक्षण-विधि 'अगमन-निगमन'[2]

उपर्युक्त विवरण से मालूम होता है कि अगमन और निगमन विधियाँ

1. Dı. . . 2. The real teaching method is Inductive

उतावलेपन में गलत निष्कर्ष पर चले जाना, उनके लिए कठिन न होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि ह्यूरिस्टिक विधि की उपयोगिता नहीं। उपर्युक्त विवरण का उद्देश्य केवल इतना ही है कि इस विधि को बहुत दूर तक ले जाने में अर्थ का अनर्थ हो जाने का भय है।

वस्तुतः ह्यूरिस्टिक विधि सर्वश्रेष्ठ विधियों में से है। यथासम्भव इसका प्रयोग बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होगा। इस विधि का तात्पर्य शिक्षक को यह समझना चाहिए कि किसी समस्या का स्पष्टीकरण स्वयं बालकों के सामने नहीं कर देना है। उनकी योग्यतानुसार समस्या का विभिन्न भागों में आवश्यक विभाजन कर उन्हें अगमन-विधि से निराकरण पर पहुँचाना है। इस प्रकार विश्लेषण, अगमन और ह्यूरिस्टिक में बड़ी समानता दिखलाई पड़ती है। अगमन और विश्लेषण-विधि में सर्वप्रथम बालकों के सामने विभिन्न प्रकार के उदाहरण रखे जाते हैं, जिनसे सत्य पर वे अपने आप पहुँच जायँ। ऐसा करने में उनके पूर्व ज्ञान और विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रखा जाता है। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक का काम करता है। ह्यूरिस्टिक-विधि में भी इसकी ही चेष्टा होती है। अतः इन प्रणालियों में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखलाई पड़ता।

यदि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर बालकों को कुछ नया ज्ञान सीखना है तो ह्यूरिस्टिक-विधि सहायक हो सकती है। यहाँ ह्यूरिस्टिक-विधि और निगमन में मेल दिखलाई पड़ता है। नियमन में ज्ञात सिद्धान्तों के आधार पर कुछ बातों को समझने की चेष्टा की जाती है। नये प्रश्नों को हल करने के लिए बालकों को उनके पूर्व ज्ञान के आधार पर उत्साहित किया जा सकता है। गणित में ऐसे अवसर बहुत आते हैं। कभी-कभी एक ही प्रकार के कई प्रश्नों को बालकों के सामने दिया जाता है और इस प्रकार साधारण नियम बालकों को स्वतः पाया जाता है। पर यह सदा सम्भव नहीं होता। शिक्षक को कभी-कभी स्वयं नियम बतला देना आवश्यक हो जाता है। ह्यूरिस्टिक विधि बड़ी लाभदायक प्रतीत होती है और इसमें अन्य विधियों से मेल भी दिखलाई पड़ता है। पर इसे बहुत दूर तक ले जाना उतना ही खाली होगा जितना कि इसे पूरा छोड़ देना।

का प्रयोग सम्भव नहीं। इतिहास और विज्ञान में इसका प्रयोग कुछ सम्भव है, पर साहित्य, अर्थशास्त्र और इतिहास आदि विषयों में इसका प्रयोग कैसे किया जाय ? कुछ लोगों का मत है कि इन विषयों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। पर क्या किसी पद्य के सौन्दर्य का पता लगाना, किसी प्रश्न पर स्वतंत्र विचार प्रकट करना या किसी घटना के कारणों की खोज करना इस निश्चित विधि की ओर संकेत नहीं करता ?

सारांश

कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य और विधियाँ

(क) कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य

शिक्षण में सहायक।

१—सरल से जटिल की ओर

पहले जटिल उपस्थित करने में सफलता की सम्भावना नहीं, सरल और जटिल का निर्णय कठिन।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर

ज्ञात और अज्ञात में सम्बन्ध स्थापित करना।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर

परिणामात्मक प्रणाली का आधार।

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर

सूक्ष्म के समझने योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य, स्थूल के आधार पर सूक्ष्म का ज्ञान सम्भव।

५—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर

दोनों का सम्मिश्रण 'विश्लेषण-संश्लेषण' ही ठीक विधि।

६—सम्पूर्ण से अंश की ओर

वह सम्पूर्ण जिसे बालक जानता हो।

... व्यर्थ। ... भाषा शिक्षण

प्रश्नो के आधार पर व्यक्ति के ज्ञान को

प्रकार देना कि वह बाहर से आया है ...

सुकराती-विधि का बहुत प्रयोग। ...

२—आगमन विधि

उदाहरण द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करना ...

उदाहरण देने में विशेष सतर्कता।

३—निगमन-विधि

सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की परीक्षा करना ...

आगमन और निगमन मे भेद—

आगमन शिक्षा के लिए और निगमन आदेश लिए ...

४—वास्तविक शिक्षण-विधि आगमन ...

दोनो एक दूसरे पर निर्भर, दोनो विधियों की आवश्यकता ...

५—ह्यूरिस्टिक विधि

स्वय अन्वेषण के लिए बालक को प्रेरित करना।

जिज्ञासा और विधायकता-मूलप्रवृत्ति को प्रोत्साहन ...

स्वय नही खोज सकता, इस विधि को बहुत दूर तक न ...

आगमन विधि से निराकरण पर पहुँचना।

ह्यूरिस्टिक विधि का अन्य विधियों से मेल,

सरल नही।

प्रश्न

१—'सरल से जटिल की ओर' मे 'सरल' से आप क्या समझते हैं ?

२—'ज्ञात से अज्ञात की ओर' का प्रयोग किसी पाठ में किस प्रकार किय जायगा ? उदाहरण दीजिए।

३—'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' चलने का क्या तात्पर्य है ?

४—'आगमन निगमन विधि सर्वोत्तम है'—क्या आप इस उक्ति से सहमत हैं ? कारण दीजिए।

५—ह्यूरिस्टिक विधि का क्या तात्पर्य है ? इसका प्रयोग कहाँ किया ज सकता है ?

६—किन्हीं दो शिक्षण-विधियों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

• • •

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमाण्ट—द प्रिंसीपुल्स ऑव एजूकेशन, अध्याय ८।

२—जे० वेल्टन—लॉजीकल बेसिस ऑव् एजूकेशन।

३—स्पेन्सर—एजूकेशन।

४—मर्सी—टीचर्स हैण्डबुक ऑव साइकॉलॉजी।

५—डीवी—द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी।

६—एच० एन० पीरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निंग ऐण्ड टीचिंग।

७—ए० डी० उडरफ—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिंग।

८—डब्लू० एच० राइबर्न—द प्रिंसीपुल्स ऑव् टीचिंग, अध्याय २।

९—सदरलैंड, राबर्टसन ऐण्ड ओव—द साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑव् टीचिंग, अध्याय, ४, ५।

• • •

३१

प्रश्न और उत्तर[1]

(क) प्रश्न

१—कुछ साधारण बातें

बालकों में जिज्ञासा मूलप्रवृत्ति विशेषतः उस अवस्था में रहती है । अतः बे प्रश्न बहुत पूछा करते हैं । प्रश्न के ही आधार पर वे वातावरण पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर अपना मानसिक विकास करते हैं। स्कूल में आने की अवस्था प्राप्त करने के पहले भी वे बहुत से प्रश्न किया करते हैं। स्कूल में आने के समय उनके प्रश्नों की मात्रा कुछ कम हो जाती है, क्योंकि उस काल तक उनका मानसिक विकास वातावरण की साधारण वस्तुओं के समझने योग्य हो जाता है। तथापि प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति उनमें होती ही है । वे प्रश्न पूछना चाहते हैं: पर स्कूल वातावरण की कृत्रिमता उनकी इस इच्छा-पूर्ति में बाधक होती है। इसी लिए तो बालक घर में अपने माता-पिता और भाई-बहिन से अधिक प्रश्न पूछते हैं। स्कूल में प्रश्न पूछने की इच्छा रखते हुए भी डर से वे चुप रहते हैं। गत पृष्ठों में हम कई बार कह चुके हैं कि स्कूल का वातावरण कृत्रिम न हो। कृत्रिमता बालकों के मानसिक विकास में बाधक होती है, क्योंकि इसमें प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा प्रवृत्ति को वे तृप्त नहीं कर पाते । स्पष्ट है कि उनकी शिक्षा अथवा विकास-क्रम में "प्रश्न" का बड़ा भारी महत्त्व है

जिस शिक्षक की कक्षा में जितने ही अधिक प्रश्न कि

1. Questions and Answers.

अध्यापन उतना ही गलत मानना चाहिए। योग्य शिक्षक प्रश्न पूछने के लिए बालकों को उत्साहित करता है। वह बीच-बीच में रुककर विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने को प्रेरित करता है। यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि उनके प्रश्नों का किस रूप में उत्तर देना चाहिए। यह तो वैदनिक प्रश्नों की कोटि पर ही निर्भर करेगा। कुछ प्रश्न भूलंतापूर्ण हो सकते हैं और बालकों को उनके प्रश्नों की गलतियों की ओर संकेत कर देना उचित होगा। कुछ प्रश्नों में विचारहीनता दिखलाई पड़ती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर स्वयं प्रश्नकर्त्ता से ही पूछना चाहिये, जिससे उसे अपनी गलती का पता लग जाय। कुछ प्रश्नों से ऐसा पता चल सकता है कि बालकों ने पाठ को एकदम समझा ही नहीं है। ऐसी दशा में पाठ को फिर से दोहराना आवश्यक होगा। यदि किसी प्रश्न के उत्तर में सारी कक्षा की रुचि न हो तो उसका उत्तर अलग ही देना चाहिए, जिससे कुछ के लिए सबका समय नष्ट न हो। कुछ प्रश्नो आगे आने वाली बात की ओर संकेत कर सकते हैं। ऐसे प्रश्नकर्ता की प्रशंसा अवश्य कर देना चाहिए, परन्तु उत्तर प्रसंग आने पर ही देना चाहिए। कुछ प्रश्न का उत्तर प्रश्नकर्ता से दो-तीन प्रश्न पूछ लेने पर ही निकल आता है। इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि बालको की शंका का समाधान यथासम्भव शीघ्र ही करना चाहिये।

जब बालको की जिज्ञासा का सहानुभूतिपूर्वक निराकरण नही होता तो वे प्रश्न पूछने में डरने लगते हैं। अतः शिक्षक को इस विषय में बड़ी सतर्कता दिखलानी है, जिससे बालको की जिज्ञासा कुण्ठित न हो जाय। बहुत सम्भव है कि शिक्षक बालक के किसी प्रश्न का उत्तर न दे पावे। ऐसे अवसर पर स्पष्ट शब्दो में अपनी असमर्थता प्रकट कर देना ही उचित है। टाल-मटोल अथवा गलत उत्तर देना अक्षम्य अपराध है। इस ओर हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं। जो शिक्षक बालको को प्रश्न करने के लिए उत्साहित करते हैं उन्हे अवश्य ही कुछ ऐसे प्रश्नो का सामना करना पड़ेगा जिनका उत्तर अवसर पर तत्परता से देना कठिन हो सकता है। ऐसे समय शिक्षको का घबड़ाना ठीक नहीं। ऐसे प्रश्नो में सच्ची रुचि दिखलाकर शिक्षको को उन्हे लिखकर दूसरे दिन उनका उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ प्रश्न ऐसे भी हो सकते हैं जिनका उत्तर बालकों की समझ में ही नही आ सकता। ऐसे प्रश्नो का उतना ही

उत्तर देना चाहिए जितना कि वे समझ सकें। शेष को [illegible] सम्मिलित कर लेना मनोवैज्ञानिक होगा।[1]

बालकों के प्रश्न-प्रकार का हम संक्षेप में विवेचन कर चुके। [illegible] शिक्षकों को भी प्रश्न पूछने पड़ते हैं और इन प्रश्नों का बालकों के [illegible] महत्व नहीं। अध्यापन की सफलता शिक्षक के प्रश्न पूछने की [illegible] हद तक निर्भर है, क्योंकि सभी अध्यापन-प्रणालियों में प्रश्न का [illegible] महत्वपूर्ण होता है। प्रश्न की अनेक उपयोगितायें हैं। पर ठीक ठीक [illegible] विवरण देना सरल नहीं। तथापि उनकी उपयोगिताओं का संक्षेप में [illegible] उल्लेख करते हैं :—

२—प्रश्न करने के उद्देश्य

१—विद्यार्थियों की सफलता का अनुमान लगाना।
२—उन्हें आगे के लिए आवश्यक प्रेरणा देना।
३—यह जानना कि दिये हुए काम को वे कहाँ तक कर सके हैं।
४—वैयक्तिक कमजोरियों का पता लगाना।
५—अभ्यास देना।
६—कल्पना-शक्ति का विकास करना।
७—बालकों की रुचियों का पता लगाना।

उपर्युक्त उ [illegible]
करने की एक [illegible]
सीखना आवश्य [illegible]
किन बातों पर ध्यान अपेक्षित है। इन्हीं सब बातों पर नीचे [illegible] संकेत किया जा रहा है, क्योंकि उनके विस्तृत व्याख्या की विशेष [illegible] नहीं।

३—अच्छे प्रश्नों के लक्षण

१—प्रश्न पाठ के उद्देश्य के अनुसार होने चाहिए।

---

1 Hughes, *Learning and Teaching*, [illegible]

उद्देश्य का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। प्रश्न ऐसे हों कि वे एक निश्चित उद्देश्य की ओर संकेत करें।

२—प्रश्न ऐसे हों कि पाठ्य ज्ञान विद्यार्थियों से ही निकल आवे और शिक्षक उपदेशक न होकर पथ-प्रदर्शक ही बना रहे।

३—जिन प्रश्नों से कल्पना-विकास में सहायता नहीं मिलती वे निम्नकोटि के होते हैं। जिन प्रश्नों से छात्रों में चेतना और एकाग्रता आती है वे ही प्रश्न अच्छे होते हैं।

४—प्रश्न की शब्दावली, सरल, स्पष्ट और निश्चित हो। कम अनुभवी शिक्षक व्यर्थ के लम्बे लम्बे प्रश्न पूछा करते हैं। उदाहरणार्थ *"तुम लोगों में से कौन बता सकता है कि* पानीपत की लड़ाई किन-किन में हुई", *"हाँ तो अब यह बताओ* कि वह कैसे विजयी हुआ?", *"क्या तुम्हें मालूम है कि* घास क्यों पड़ती है?"—ऐसे शब्दावलियों के प्रश्नों का पूछना समय नष्ट करना है। इन प्रश्नों में तिरछे अंश एकदम व्यर्थ हैं।

५—प्रश्न बालकों के अनुभव और योग्यता के अनुसार हों। कभी-कभी कुछ कठिन प्रश्न भी विद्यार्थियों से पूछे जा सकते हैं, यदि उनके उत्तर सभी विद्यार्थियों की समझ में आ जाँय। इस प्रकार कुशाग्र बुद्धि बालकों की विचार-शक्ति का कमजोर भी कुछ लाभ उठा सकेंगे। कमजोर विद्यार्थियों से अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछना समय का खोना है।

६—प्रश्नों की भाषा में भिन्नता का होना आवश्यक है।

७—प्रश्न ऐसे हों कि उनका एक ही उत्तर हो, क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में बालकों को कठिनाई नहीं होती। एक उत्तर के अनुपयुक्त होने पर तुरन्त ही वे दूसरा उत्तर दे देते हैं:—जैसे "स्टेशन पर हम क्या देखते हैं"—इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। प्रश्नों का एक ही विचार से सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिन प्रश्नों के बड़े लम्बे उत्तर होते हैं उनके उत्तर में बालक रुचि नहीं लेते। जिन प्रश्नों के लम्बे उत्तर अपेक्षित हों उन्हें कई भागों में बाँट देना मनोवैज्ञानिक होगा।

८—प्रश्न की शब्दावली पाठ्य पुस्तकों की न हो, अन्यथा बालक भी अपने [illegible]ों का प्रयोग न कर पुस्तक के ही शब्दों को याद कर उत्तर देने की चेष्टा

करेगा। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन हो जायगा ... को समझा है या नहीं। अतः शिक्षक को अपनी ही भाषा में प्रश्नों ... चाहिए। इससे बालक भी अपने वाक्यों में उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

९—जिन प्रश्नों के उत्तर "हाँ" या "नहीं" में आ जाते हैं उन्हें पूछना नहीं, क्योंकि उनसे विचार-शक्ति के विकास में सहायता नहीं मिलती ... क्या सिनेमा देखना अच्छा है ?

पर कभी-कभी यह देखा जाता है कि ऐसे प्रश्नों के पूछने की आवश्यकता हो जाती है। स्वीकृति मात्र के लिए जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके उत्तर ... या "नहीं" में ही आते हैं। किसी विषय का वर्णन करते समय बीच में ... कभी स्वीकृति लेने के लिए ऐसे प्रश्न पूछने पड़ते हैं। पर यदि गम्भीरता ... सोचने के बाद ही 'हाँ' या 'नहीं' उत्तर आता है तो ऐसे प्रश्नों का पूछ... अमनोवैज्ञानिक नहीं। कभी कभी बालकों में कुतूहल जागृत करने ... अथवा ... सोचने को विवश करने के लिए भी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

१०—अध्यापक को प्रत्येक बात को साधिकार कहने की चेष्टा कर... चाहिए। उसे छात्रों के समर्थन की अपेक्षा न होनी चाहिये। जो ऐसी ... करते हैं वे सफल शिक्षक नहीं होते। छात्रों से कुछ कहने के बाद "ठीक है ... है न !" आदि पूछना ठीक नहीं।

११—सभी प्रश्नों का एक दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा न होने ... शिक्षा का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है, जब प्रश्नों ... सार्थकता हो। पूर्व ज्ञान की परीक्षा में छात्रों से छुटपुट प्रश्न भी ... हैं ऐसे प्रश्नों में परस्पर-सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं।

१२—प्रश्न पूछने का स्वर बहुत मोठा हो। झुड़क कर ... में प्रश्न पूछना ठीक नहीं। प्रसन्न मुद्रा में प्रश्न पूछने से बालकों में ... बढ़ता है और वे अपनी कठिनाइयाँ शिक्षकों के सामने रखते हैं ...

१३ - प्रश्न पूरी कक्षा से पूछने के बाद किसी बालक को सम्बोधित करना चाहिए। प्रश्नों का वितरण ... से अधिक बालकों को उत्तर देने का अवसर मिल सके ... बार प्रश्न पूछ कर कमज़ोर की अवहेलना करना

उद्देश्य का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। प्रश्न ऐसे हो कि वे एक
उद्देश्य की ओर सकेत करें।

२—प्रश्न ऐसे हो कि पाठ्य-ज्ञान विद्यार्थियों से ही निकल
शिक्षक उपदेशक न होकर पथ-प्रदर्शक ही बना रहे।

३—जिन प्रश्नो से कल्पना-विकास में सहायता नही मिलती वे
के होते हैं। जिन प्रश्नो से छात्रो मे चेतना और एकाग्रता आती है
अच्छे होते हैं।

४—प्रश्न की शब्दावली, सरल, स्पष्ट और निश्चित हो। कम
शिक्षक व्यर्थ के लम्बे-लम्बे प्रश्न पूछा करते हैं। उदाहरणार्थ *"तुम
से कौन बता सकता है कि* पानीपत की लड़ाई किन-किन मे हुई",
"अब कह जाओ कि वह कैसे विजयी हुआ ?", *"क्या तुम्हें मालूम*
ओस क्यों पड़ती है ?"—ऐसे शब्दावलियों के प्रश्नो का पूछना सम
करना है। इन प्रश्नों में तिरछे अंश एकदम व्यर्थ हैं।

५—प्रश्न बालकों के अनुभव और योग्यता के अनुसार हों। क
कुछ कठिन प्रश्न भी विद्यार्थियों से पूछे जा सकते हैं, यदि उनके उत्त
विद्यार्थियों की समझ में आ जाय। इस प्रकार कुशाग्र बुद्धि वालकों को
शक्ति का कमजोर भी कुछ लाभ उठा सकेंगे। कमजोर विद्यार्थियों से
कठिन प्रश्न पूछना समय का खोना है।

६—प्रश्नों की भाषा में भिन्नता का होना आवश्यक है।

७—प्रश्न ऐसे हों कि उनका एक ही उत्तर हो, क्योंकि ऐसे प्र
उत्तर देने में बालकों को कठिनाई नहीं होती। एक उत्तर के अनुपयुक्त हो
तुरन्त ही वे दूसरा उत्तर दे देते हैं:—जैसे "स्टेशन पर हम क्या देखते हैं
इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। प्रश्नों का एक ही विचार से स
होना आवश्यक है। जिन प्रश्नों के बड़े लम्बे उत्तर होते हैं उनके उत्त
बालक रुचि नहीं लेते। जिन प्रश्नों के लम्बे उत्तर अपेक्षित हों उन्हें कई
में बाँट देना मनोवैज्ञानिक होगा।

८—प्रश्न की शब्दावली पाठ्य पुस्तकों की न हो, अन्यथा बालक भा
शब्दों का प्रयोग न कर पुस्तक के ही शब्दों को याद कर उत्तर देने का

करेगा। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन हो जायगा कि उसने प्रस्तुत विषय को समझा है या नहीं। अतः शिक्षक को अपनी ही भाषा में प्रश्नों को पूछना चाहिए। इसमें बालक भी अपने वाक्यों में उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

९—*जिन प्रश्नों के उत्तर "हाँ" या "नहीं" में आ जाते हैं उन्हें पूछना ठीक नहीं,* क्योंकि उनसे विचार-शक्ति के विकास में सहायता नहीं मिलती, जैसे, क्या सिनेमा देखना अच्छा है ?

पर कभी-कभी यह देखा जाता है कि ऐसे प्रश्नों के पूछने की आवश्यकता हो जाती है। स्वीकृति मात्र के लिए जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके उत्तर "हाँ" *या "नहीं" में ही आते हैं। किसी विषय का वर्णन करते समय बीच में कभी-*कभी स्वीकृति लेने के लिए ऐसे प्रश्न पूछने पड़ते हैं। पर यदि गम्भीरतापूर्वक सोचने के बाद ही 'हाँ' या 'नहीं' उत्तर आता है तो ऐसे प्रश्नों का पूछना अमनोवैज्ञानिक नहीं। कभी-कभी बालकों में कुतूहल जागृत करने अथवा उन्हें सोचने को विवश करने के लिए भी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

१०—अध्यापक को प्रत्येक बात को साधिकार कहने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे छात्रों के समर्थन की अपेक्षा न होनी चाहिये। जो ऐसी आशा करते हैं वे सफल शिक्षक नहीं होते। छात्रों से कुछ कहने के बाद "ठीक है न, है न ?" आदि पूछना ठीक नहीं।

११—सभी प्रश्नों का एक दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा न होने से शिक्षा का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब प्रश्नों में सार्थकता हो। पूर्व ज्ञान की परीक्षा में छात्रों से छुटपुट प्रश्न भी पूछे जा सकते *हैं ऐसे प्रश्नों में परस्पर-सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं।*

१२—प्रश्न पूछने का स्वर बहुत मीठा हो। घुड़क कर बहुत कर्कश ध्वनि में प्रश्न पूछना ठीक नहीं। प्रसन्न मुद्रा में प्रश्न पूछने से बालकों में उत्साह बढ़ता है और वे अपनी कठिनाइयाँ शिक्षकों के सामने रखने से हिचकते नहीं।

१३—प्रश्न पूरी कक्षा से पूछने के बाद किसी बालक को उत्तर के लिए *सम्बोधित करना चाहिए। प्रश्नों का वितरण ऐसा हो कि यथासम्भव अधिक,* से अधिक बालकों को उत्तर देने का अवसर मिल सके। तेज बालक से ही बार-बार प्रश्न पूछ कर कमजोर की अवहेलना करना अनुचित है। वस्तुतः शिक्षक

की सफलता तो कमजोर बालक से उत्तर निकलवाने में है। उत्तर
छात्रों से हाथ उठाने का आदेश दिया जा सकता है। इससे उनमें
शीलता आ जाती है।

१४—प्रश्नों का दोहराना ठीक नहीं। उन्हें दोहराने से बालक
बार ध्यान से न सुनने की आदत पड़ जाती है, और इससे कुछ ब
विचार-प्रक्रिया में भी विघ्न पड़ता है।

४—प्रश्नों के प्रकार[1]

प्रश्नों के उद्देश्य और उनके करने की विधि का विवेचन कर
उनके प्रकार पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। प्रश्नों का वर्गीक
उद्देश्य तथा उनसे सम्बन्धित मानसिक-प्रक्रिया के आधार पर किया ज
है। इस तरह का वर्गीकरण ठीक दिखलाई पड़ता है, क्योंकि जो प्रश
सात्मक होंगे उन्हें विचारात्मक कहना उपयुक्त न होगा। अभ्यासात्म
में तो विशेषकर स्मृति की परीक्षा होती है। शिक्षण के विषय को रोच
के लिए कई प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए। अतः प्रश्नों के प्रकार
लगाना आवश्यक है।

रिस्क[2] के अनुसार स्वरूप की दृष्टि से प्रश्नों के दो प्रकार हो सकते
(१) स्मृत्यात्मक[3] और (२) विचारात्मक[4]। स्मृत्यात्मक प्रश्नों में पिछ
की हुई बातों को दोहराना होता है, पर विचारात्मक प्रश्नों में उपस्थित
पर अपनी कल्पना द्वारा किसी नई बात का सृजन करके उत्तर देना पड़
इनका उद्देश्य कल्पना-शक्ति को जागृत करना होता है। कभी-कभी बाल
सामने एक नई समस्या रख दी जाती है। इससे यह जाना जाता है कि
वस्तु को अच्छी प्रकार समझकर छात्रों ने उस पर विचार किया है कि
अथवा उसका वे प्रयोग कर सकते है या नहीं। नीचे कुछ प्रश्नों का उदा
दिया जाता है।

---

1. Kinds of Questions. 2 Risk. 3. Pertaining to mem
Pertaining to thought.

(१) कारण पूछने वाले प्रश्न[1]—

१—चन्द्रग्रहण किसी अन्य तिथि को न लगकर पूर्णिमा के ही दिन क्यों लगता है ?

२—पानीपत की पहली लड़ाई में हिन्दुओं की क्यों हार हुई ?

३—तुलसीदासजी ने भरत के लिए क्यों कहा है कि—"भरत महा महिमा जल रासी, मुनि मत ठाढ़ि तीर अबलासी" ?

४—पद्य गद्य से क्यों अधिक प्रभावशाली होता है ?

५—मोड़ पर रेल की पटरियाँ एक दूसरे से ऊँची-नीची क्यों रखी जाती है।

(२) सम्बन्ध बतलाने वाले[2]—

१—भोजन का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

२—विज्ञान के अध्ययन में गणित की अधिक आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

(३) निर्णयात्मक[3]—

१—भगतसिंह और सुभाषचन्द्र बोस में तुम किसको अधिक प्यार करते हो ?

२—लिखित और मौखिक परीक्षा में तुम्हें अधिक अच्छी कौन लगती है ?

(४) विश्लेषणात्मक[4]—

१—किन-किन गुणों के कारण तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

(५) तुलनात्मक[5]—

१—अशोक और अकबर की शासन की दृष्टि से तुलना करो।

(६) वर्गीकरणात्मक[6]—

१—चमगादड़ पशु है कि पक्षी ?

(७) वर्णनात्मक[7]—

१—महात्मा गाँधी की अहिंसा नीति की व्याख्या करो।

२—भक्ति-काल के कवियों की प्रधान विशेषताओं की ओर संकेत करो।

---

1. Questions eliciting causes 2. Relationship. 3. Decision. 4. Analytic. 5 Comparison. 6. Classification. 7 D[illegible]

(८) आलोचनात्मक[1]—

किसी पद्य अथवा गद्य खण्ड या किसी छात्र के कथन की आलोचना के लिए कहना।

(९) विवेचनात्मक[2]—

इन प्रश्नो का उद्देश्य मस्तिष्क को कुशल बनाने का है। इससे विचार-शैली के व्यवस्थित और नियमित होने में बडा योग मिलता है। इससे छात्रों में उचित-अनुचित, शुद्ध-अशुद्ध का सतर्क निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे प्रश्नो से बालक स्वय कल्पना और तुलना करके परिणाम निकालता है, और अपने विचारो को इस प्रकार अङ्कित करने का प्रयत्न करता है कि लोगों पर उसकी शैली का वाछित प्रभाव पडे। ऐसे प्रश्नो की रचना शिक्षक को ऐसी सतर्कता से करनी चाहिए कि बालको को खूब सोचना पडे। उदाहरणार्थ,

१—बिजली से मनुष्य को अधिक लाभ या हानि हुई है ?

२—भौगोलिक दृष्टि से इगलैण्ड और जापान की तुलना करो।

(१०) आवृत्यात्मक[3]—

ऐसे प्रश्नो में, जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, स्मृति की परीक्षा होती है। इसमें पठित पाठ की परीक्षा की जाती है। उदाहरणार्थ,

१—किसी स्थान का जलवायु किन-किन बातो पर निर्भर करता है ?

२—सन् १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-सग्राम के क्या-क्या कारण थे ?

३—गाने की कितनी शैलियाँ है ?

(११) प्रस्तावनात्मक[4]—

ऐसे प्रश्नो मे पूर्व-ज्ञान की परीक्षा कर यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि विद्यार्थी आगे पढ़ने के लिए तैयार है अथवा नहीं। ऐसे प्रश्नो का क्रमिक होना आवश्यक है। ऐसा मालूम हो कि एक प्रश्न दूसरे से निकल रहा है।

(ख) उत्तर

१—उत्तर निकलवाना

जिस प्रकार प्रश्न करने की एक कला होती है वैसे ही उसी से सम्बन्धित

[1]...ism. 2. Developing. 3 Revisional. 4. Preparatory.

उत्तर निकलवाने की भी एक कला मान ली जाय तो अनुपयुक्त न होगा। ट्रेनिंग कॉलेज के विद्यार्थी कभी-कभी बड़ी बड़ी आशायें लेकर पढ़ाने जाते है, पर जहाँ उनका मनचाहा उत्तर न आया, या गलत उत्तर आया तो उनका सारा मसौदा बिगड़ जाता है और उनके मुख पर असफलता की रेखा स्पष्ट खिंच जाती है। ऐसी स्थिति में वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कभी-कभी छात्रों से ऐसे उत्तर आते हैं कि शिक्षक हतबुद्धि सा हो जाता है। एक प्रसंग का उल्लेख यहाँ कर देना असंगत न होगा। *एक छात्राध्यापक महोदय 'शेर और खरगोश' की कहानी* पढ़ाने के लिए एक चित्र कक्षा में ले गये। उनके पूछने पर कि 'यह किसका चित्र चित्र है?' लड़कों ने कहा "आपका"। ऐसे उत्तर पर अध्यापक की मुद्रा ऐसी बिगड़ी कि सभी लड़के हँस पड़े और उस दिन का उनका पाठ चौपट हो गया। परिस्थिति को सँभालने के लिए हँसमुख मुद्रा और धैर्य के साथ शिक्षक को दुबारा पूछना चाहिये था कि "इसमें किन-किन जानवरों का चित्र है" ? अथवा "इसमें तुम किसका चित्र देखते हो" यदि ऐसे ही अवसरों पर शिक्षक सावधानी और धीरता दिखलाए तो बालकों के उद्दण्ड उत्तर को भी किसी न किसी प्रकार वह एक व्यवस्थित ढंग पर ला सकता है। हाँ, यह सत्य है कि उत्तर देना बालकों के अधीन है। पर शिक्षक के कौशल का प्रमाण यह है कि छात्रों के उत्तर से वह अपना अभीष्ट सिद्ध करे। यहाँ शिक्षक में अधिक चतुरता अपेक्षित है। स्पष्ट है कि प्रश्न करने से उत्तर निकलवाने की कला कम महत्वपूर्ण नहीं, यद्यपि उत्तर प्रश्न पर ही अवलम्बित होता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रश्न पूरी कक्षा से पूछकर एक लड़के को उसके उत्तर के लिए सम्बोधित करना चाहिए। पर वह एक लड़का कौन हो ? इसका निर्णय किस आधार पर किया जाय ? प्रश्न करने पर कभी-कभी बहुत से छात्र उत्तर देने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उनकी यह उत्सुकता विनय-व्यवस्था में भी गड़बड़ी मचा देती है। कुछ लड़के बिना पूछे ही एक साथ उत्तर दे बैठते हैं। कुछ हाथ ऊपर उठाकर इस प्रकार हिलाने लगते हैं कि बहुत ही बुरा लगता है। यह आवश्यक नहीं कि उत्सुक दीखने वाले छात्र से ही उत्तर लिया जाय और दूसरों की अवहेलना की जाय। यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना चाहिए। अच्छा होगा कि शिक्षक कक्षा को पार्श्वों में बाँट ले और बारी बारी [illegible]

और ऐसी मुख-मुद्रा बनाते हैं मानो बालक का नाम लेना उनके पद व
गौरव के प्रतिकूल है और उससे अनभिज्ञता प्रकट करना किसी ऊँचे पदाधिकारी
की भी गम्भीरता और महत्ता रखता है। वास्तव में शिक्षक को न केवल नाम
ही जानना चाहिए, अपितु बालक के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
शिक्षक के द्वारा किसी प्रकार का कृत्रिम दम्भ करना बालक को मानिक धक्का
पहुँचा सकता है और उसकी जान-बूझ कर की गई अवहेलना के समकक्ष है,
तथा उसके व्यक्तित्व की अस्वीकृति और निरादर है। शिक्षक को यह ध्यान रहे
कि निर्देशक[1] अथवा रोलर से प्रश्न पूछते समय बालकों की ओर संकेत करना
अच्छा नहीं। इससे छोटे-छोटे बालक दण्ड पाने के लिए भय से आती हुई बात
भी भूल जाते हैं, और बड़े छात्रों को भी यह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि
इसमें कुछ अनादर का भाव छिपा रहता है।

सम्बोधित करते समय छात्रों का 'तुम' ही का प्रयोग करना चाहिए। इसका
यह तात्पर्य नहीं कि उन्हें अनादर की दृष्टि से देखना चाहिए। "आप" शब्द के
प्रयोग से छात्रों के मन में शिक्षक के दब्बूपन की भावना आ जाती है और कभी-
कभी वे शिक्षक के सर पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि
"आप" कह कर सम्बोधित करने वाले अध्यापक की कक्षा में बहुधा विनय-
व्यवस्था ढीली दिखलाई पड़ती है। 'तुम' शब्द के प्रयोग में आत्मीयता झलकती
है। इसीलिये तो माँ को बहुधा तुम ही कह कर सम्बोधित किया जाता है।

शिक्षक को ध्यान रहे कि प्रश्न पूछने पर सम्बोधित विद्यार्थी अपने स्थान प
शीघ्र खड़ा होकर उत्तर के लिये तैयार हो जाय। बड़े विद्यार्थियों की कक्षा
इसमें बड़ा आलस्य दिखलाई पड़ता है। कुछ लड़के अँगड़ाइयाँ लेते हुए उठते है
कुछ इतने टेढ़े खड़े होते हैं कि अष्टावक्र का चित्र सा खिंच जाता है। कुछ बे
पर झुक कर खड़े होते हैं। कुछ बेंच पर एक पैर रखकर खड़े होते हैं। खड़े ह
के इन सवमासनों[2] और उत्तर देने की क्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि श
शरीर से तत्परता की मुद्रा नहीं झलकती तो किसी काम में हमारा मन एकाग्र
हो सकता। इसलिये यह आवश्यक है कि उत्तर देते समय छात्र ठीक से खड़े
छात्रों का उत्तर देने के समय ठीक से खड़ा होना विनय-व्यवस्था के लि

1. Pointer. 2. Postures.

आता है। छोटे विद्यार्थियों को कक्षा के नन्हें-नन्हें बालक उन्हारा व 'सावधान' के आसन में सैनिक की तरह खड़े होने में बड़ा आनन्द लेते हैं। अ: ऐसे विद्यार्थियों को तो विशेषतः सैनिकों की भाँति खड़े होने की शिक्षा देनी चाहिए।

शिक्षक को यह समझ लेना चाहिए कि जिस विद्यार्थी को प्रश्न का उत्तर नहीं आता वह बड़ी कठिनाई से खड़ा होता है। ऐसे विद्यार्थियों पर आरम्भ में ही बहुत समय नष्ट कर देना ठीक नहीं होगा। यदि उत्तर देने में बालक बिल्कु असमर्थ हो तो शिक्षक को दूसरे से उत्तर माँगना चाहिए। असफल विद्यार्थियों के बैठने की आज्ञा ठीक उत्तर की आवृत्ति कर लेने के बाद ही देनी चाहिए। यदि कोई बालक औसत से बहुत नीचे हुआ और किसी उत्तर के दोहराने में नि असफल होता हो तो उसे कक्षा के बाहर ही आवश्यक बात समझा देनी चाहिए। यह ध्यान रहे कि किसी प्रकार उसके प्रति भी सहानुभूति दिखलानी आवश्यक है। जो शिक्षक यथाशक्ति प्रत्येक के आवश्यकतानुसार सहानुभूति दिखलाने की चेष्टा करता है वह बालकों में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

उत्तर न मिलने पर किसी छात्र को डाँटना और फटकारना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। कुछ शिक्षक तो बड़े-बड़े विशेषण तक दे जाते हैं। इसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। हम ऊपर बार-बार कह चुके हैं कि बालकों के विकास

जाता है।

यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रश्न का उत्तर पूरे वाक्य में ही स्वीकार किया जाय या कुछ शब्दों में भी। कुछ लोग पूरे वाक्य का ही समर्थन करते हैं। पर यह सदा ठीक नहीं। यदि कुछ ही शब्दों से प्रश्न का पूरा उत्तर निकल आता है तो पूरा वाक्य बोलने के लिए बालक को बाध्य करना आवश्यक नहीं। भूगोल, इतिहास, विज्ञान, मातृभाषा तथा गणित आदि जैसे पाठों में यह नियम मान में कोई हानि नहीं। पर यदि पाठ का उद्देश्य भाषा-शक्ति का विकास हो तो पूरा वाक्य बोलने के लिए बालक को उत्साहित किया जा सकता हरणार्थ; अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा अथवा संस्कृत के पाठ में विशेषतः

पूरे वाक्य में ही उत्तर माँगना बुरा न होगा। परन्तु इन पाठों में भी कहीं कहीं प्रसंगानुसार छूट देनी आवश्यक हो सकती है।

२—उत्तर का रूप कैसा हो ?

अब हमें यह देखना चाहिए कि उत्तर किस रूप में स्वीकार किया जाय। शिक्षा-शास्त्रियों ने आदर्श उत्तर के निम्नलिखित गुणों की ओर संकेत किया है :

१ – व्याकरण और भाषा की दृष्टि से शुद्ध[1]।

२—उचित[2]।

३—प्रासंगिक[3]।

४—तार्किक[4]।

५—सार्थक[5]।

६—आवश्यक[6]।

यद्यपि यह सब गुण इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं, पर नीचे कुछ उदाहरणों का दे देना अप्रासंगिक न होगा।

शिक्षक का यह समझना ठीक नहीं कि भाषा की शुद्धता पर ध्यान केवल भाषा तथा साहित्य के पाठ में ही देना चाहिए। गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी प्रकार के पाठों में भी भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना आवश्यक है। भाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति अपने भावों का प्रकाशन करता है। इस साधन के अभाव में विषय-ज्ञान रखता हुआ भी व्यक्ति कुछ कहने में असमर्थ है। इसी साधन के सहारे प्रत्येक विषय में पुस्तकों की रचना की जाती है। प्रायः सभी का यह अनुभव होगा कि भाषा-शक्ति के सहारे साधारण सी बात को भी इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मुख से बरबस "वाह ! वाह !" निकल पड़ता है। भाषा की शुद्धि में केवल व्याकरण-सम्बन्धी ही गलतियों पर ध्यान देना अपेक्षित नहीं। यह भी ध्यान देना आवश्यक होगा कि बालक प्रधानतः एक ही भाषा का प्रयोग कर रहा है। हिन्दी और अंग्रेजी की खिचड़ी भाषा का प्रयोग करना अथवा तत्सम संस्कृत और फारसी के शब्दों का प्रयोग

---

1 Grammatically Correct. 2. Proper. 3. Relevant. 4 Logical. 5. Meaningful. 6. Necessary.

पास चार गायें हैं" असंगत है, क्योंकि प्रश्न भैंस की संख्या की माँग करता है, गाय की नहीं।

सार्थक उत्तर का अर्थ है कि उसमें निरर्थक बातें न हों और कहने का तात्पर्य तथा प्रश्न का उद्देश्य पूरा हो। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध कौन थे ?— इस प्रश्न का यह उत्तर कि शुद्धोधन के पुत्र—सार्थक नहीं। वस्तुतः शुद्धोधन के पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ थे, न कि गौतम बुद्ध। 'गौतम बुद्ध' से बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का ही संकेत होना चाहिए।

आवश्यक उत्तर का तात्पर्य यह है कि उसमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर न हो। प्राय. लड़के परीक्षाओं में कई कापियाँ रंग आते है, पर उन्हें अंक बहुत कम मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महाराणा प्रताप कौन थे ?—इस प्रश्न के उत्तर में "राजपूत-कुल-कमल-दिवाकर, भारत गौरव, प्रातः स्मरणीय, देशभक्त तथा स्वतन्त्रता देवी के पुजारी श्रीमान् महाराणा प्रताप को कौन नहीं जानता ? वे राणा साँगा के पौत्र और राणा उदयसिंह के पुत्र थे।" इस उत्तर में बहुत से विशेषणों का शब्द-जाल बड़ा ही बुरा और अनावश्यक है।

(३) अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय ?

ऊपर हम कह आये है कि गलत उत्तर देने पर बालकों को डाँटना और फटकारना अमनोवैज्ञानिक है। ऐसा करने से बालक उत्साहहीन हो जाता है, और सही उत्तर भी देने में गलती के भय से हिचकिचाता है। उत्तर में दो प्रकार की गलती होती है —१. भाषा और २. तथ्य की। बालकों के गलती करने पर यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध शब्द की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी वाक्य को शुद्ध करने के लिए उसे श्यामपट पर लिखना आवश्यक हुआ तो उसे वहाँ अधिक देर तक न रहने देना चाहिए। गलतियों के अधिक देर तक सामने रहने से उनका प्रभाव बुरा पड़ता है। उच्चारण, व्याकरण अथवा भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ जल्दी से जल्दी ठीक करना आवश्यक है। गलती ठीक करने के लिए पहले किसी दूसरे बालक से ही कहना चाहिए। पूरी कक्षा के असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं कि "तुम बताओ, तुम बताओ" की प्रत्येक

करना ठीक नहीं। ऐसी गड़बड़ी प्राय: हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों में अधिक ह है, क्योंकि अभी सर्वमान्य रूप से यह निश्चित नहीं किया जा सका कि हिन्दी किन संस्कृत, पारसी या उर्दू के शब्दों को स्वीकृत किया जाय। दूसरे, अंग्रे भाषा को अब तक इतनी प्रधानता रही है कि हम बिना दो एक अंग्रेजी शब्द प्रयोग किये अपने भावों का प्रकाशन कर ही नहीं पाते। हमारा यह तात्पर्य न कि अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करना पाप है। अभिप्राय केवल इतना है कि बाल में भाषा-शक्ति के विकास के लिए यथासम्भव एक ही भाषा की शब्दावलियों निर्भर रहना ठीक होगा। यदि इस बात पर हम प्रारम्भ ही से ध्यान दें बालकों अर्थात् भावी नवयुवकों से खिचड़ी भाषा का प्रयोग निकालना कठिन होगा।

उत्तर के औचित्य पर ध्यान देने का अर्थ यह है कि विद्यार्थी भद्दे शब्दों न प्रयोग न कर बैठें। कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका प्रयोग घरेलू अथवा 'लँगोटिया यारी-मण्डली' में ही होता है। सभ्य समाज में उनका प्रयोग बड़ा भद्दा लगत है। उदाहरणार्थ, कक्षा में यह कहना कि "पण्डितजी ने आज खूब लड्डू और पूड़ी भोरी" ठीक न होगा। "भोरी" शब्द का प्रयोग बीभत्स है। कक्षा में इसके स्थान पर "खाई" शब्द का ही प्रयोग करना ठीक होगा। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उचित उत्तर का सम्बन्ध बालकों की मानसिक

प्रासंगिक उत्तर का अर्थ यह है कि जितना पूछा जाय उतना ही उत्तर भी दिया जाय। कभी-कभी विद्यार्थी प्रश्न का ठीक अर्थ न समझने से अथवा जितना आता है सब दिखलाने की उत्कट इच्छावश आवश्यकता से अधिक बातें वह और लिख जाता है। बालकों से स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए कि उत्तर देने के पहले वे प्रश्न की माँग को भली-भाँति समझ लें और सब कुछ आते हुए ज्ञान को प्रदर्शित कर देने के लोभ का वे संवरण करें।

तार्किक उत्तर का अर्थ यह है कि प्रश्न की माँग और पूर्ति में संगति पाई पड़े। उदाहरणार्थ, "तुम्हारे पास कितनी भैंसे हैं?" का उत्तर "मेरे

पास चार गायें हैं" असंगत है, क्योंकि प्रश्न भैंस की संख्या की माँग करता है, गाय की नहीं।

सार्थक उत्तर का अर्थ है कि उसमें निरर्थक बातें न हों और कहने का तात्पर्य तथा प्रश्न का उद्देश्य पूरा हो। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध कौन थे?— इस प्रश्न का यह उत्तर कि शुद्धोधन के पुत्र—सार्थक नहीं। वस्तुतः शुद्धोधन के पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ थे, न कि गौतम बुद्ध। 'गौतम बुद्ध' से बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का ही संकेत होना चाहिए।

आवश्यक उत्तर का तात्पर्य यह है कि उसमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर न हो। प्रायः लड़के परीक्षाओं में कई कापियाँ रंग आते हैं, पर उन्हें अंक बहुत कम मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महाराणा प्रताप कौन थे?—इस प्रश्न के उत्तर में "राजपूत-कुल-कमल-दिवाकर, भारत गौरव, प्रातः स्मरणीय, देशभक्त तथा स्वतन्त्रता देवी के पुजारी श्रीमान् महाराणा प्रताप को कौन नहीं जानता? वे राणा साँगा के पौत्र और राणा उदयसिंह के पुत्र थे।" इस उत्तर में बहुत से विशेषणों का शब्द-जाल बड़ा ही बुरा और अनावश्यक है।

(३) अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय?

ऊपर हम कह आये हैं कि गलत उत्तर देने पर बालकों को डाँटना और फटकारना अमनोवैज्ञानिक है। ऐसा करने से बालक उत्साहहीन हो जाता है, और सही उत्तर भी देने में गलती के भय से हिचकिचाता है। उत्तर में दो प्रकार की गलती होती है.—१. भाषा और २. तथ्य की। बालकों के गलती करने पर यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र शुद्ध शब्द की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी वाक्य को शुद्ध करने के लिए उसे श्यामपट पर लिखना आवश्यक हुआ तो उसे वहाँ अधिक देर तक न रहने देना चाहिए। गलतियों के अधिक देर तक सामने रहने से उनका प्रभाव बुरा पड़ता है। उच्चारण, व्याकरण अथवा भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ जल्दी से जल्दी ठीक करना आवश्यक है। गलती ठीक करने के लिए पहले किसी दूसरे बालक से ही कहना चाहिए। पूरी कक्षा के असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं कि "तुम बताओ, तुम बताओ" की प्रत्येक बालक पर

आवृत्ति की जाय। तीन-चार बालकों से पूछने के बाद "कौन बता सकता है ?" इतना कह देने से ही पूरी कक्षा से पूछने का अभिप्राय हो जाता है।

ट्रेनिङ्ग कालेज के विद्यार्थियों को यह प्रश्न बहुत तंग किया करता है कि "बालकों की गलतियों का सुधार कब किया जाय।" इस सम्बन्ध में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता। शीघ्रातिशीघ्र गलती का परिमार्जन कर देना ही अधिक मनोवैज्ञानिक दीख पड़ता है, क्योंकि तभी बालक अच्छी तरह सीख सकता है। परन्तु इस नियम में एक छूट भी दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, बालक का स्वरवाचन यदि बहुत अच्छा हो रहा है और बीच में एकाध बार कोई गलती होती है तो उसके वाचन में विघ्न डालना ठीक न होगा। वाचन समाप्त होने के बाद ही उससे कहना उचित है। पर ऐसे उदाहरण बिरले ही होते हैं।

भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित तथा विज्ञान आदि के पाठ में उत्तर की त्रुटि को तत्काल ही शुद्ध करना ठीक है। स्पष्ट है कि त्रुटि-संशोधन की समस्या ऐसी है कि उस विषय में शिक्षक ही निर्णय कर सकता है। परिस्थिति के अनुसार उसे किसी गलती को तुरन्त या बाद में ठीक करने की स्वतन्त्रता है, पर यह याद रहे कि किसी भी गलती की अवहेलना न हो। बालकों के सामने कोई गलत उदाहरण न आवे। इसके लिए कुछ शिक्षा शास्त्रियों का तो कहना है कि पहले ठीक उत्तर देने वाले छात्रों से ही पूछना चाहिए और उसके बाद उसी की आवृत्ति कमजोर छात्रों से करा लेनी चाहिए। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। इससे कुछ छात्रों में मानसिक आलस्य और उदासीनता आ जायगी और अपना काम दूसरे के उत्तर की आवृत्ति करने तक ही वे सीमित रखेंगे।

कुछ अध्यापकों में बालकों के उत्तर दोहरा देने की आदत पड़ जाती है। यह निन्दनीय है, क्योंकि इससे समय नष्ट होता है और बालकों में ध्यानपूर्वक सुनने की आदत नहीं पड़ती। वे सोचते हैं कि 'मास्टर साहब' तो एक आवृत्ति अवश्य ही करेंगे। यह ठीक है कि बालकों के उत्तर को दोहराना जोर देने के लिए कभी-कभी आवश्यक हो जाता है, पर इसकी आदत न पड़ने देना चाहिए।

शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न की तरह उत्तर पर भी इतना जोर दिया जाय कि कक्षा के सभी छात्र उसे भली-भाँति सुन लें। कुछ छात्रों में बड़े धीरे से बोलने की आदत होती है और कुछ इतने जोर से बोलते हैं कि उद्दण्डता भी जान पड़ती है। धीरे से बोलने वाले छात्रों को मनोवैज्ञानिक ढग से उत्साहित करना चाहिए। "आज खाया नहीं क्या रे ?"—अथवा "बुड्ढा हो गया क्या रे ?" इत्यादि कहकर छात्रों को लज्जित करना उचित नहीं। मीठे और गम्भीर स्वर में उन्हें बोलना सिखलाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक भी वैसा ही व्यवहार करे।

यद्यपि छात्रों के ठीक उत्तर देने पर उनकी प्रशंसा का सकेत कर देना मनोवैज्ञानिक है, पर 'शाबाश', 'ठीक' या 'बहुत ठीक' इत्यादि शब्दों की झड़ी लगा देना बड़ा ही बुरा है। कुछ शिक्षकों को इन शब्दों के प्रयोग करने की इतनी आदत पड़ जाती है कि छात्र उनका 'उपनाम' ही "शाबाश" और "ठीक" इत्यादि रख देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षक को बहुत सम्भल कर व्यवहार करना चाहिए।

कभी-कभी उत्तर निकलवाने में शिक्षक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि छात्रगण उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थी तो इसे अपनी बड़ी भारी असफलता समझते हैं और निरुत्साह में अपना सारा पाठ बिगाड़ बैठते हैं। प्रश्न का यथोचित उत्तर न आने पर शिक्षक को अपने प्रश्न के रूप पर दृष्टिपात करना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी प्रश्न की विषमता ही इसमें बाधक होती है। ऐसी स्थिति में विश्लेषण कर प्रश्न को कई अगों में बाँट देना चाहिए। उत्तर देते समय बीच-बीच में छात्रों को दो एक शब्द या विचार का सहारा दे देना चाहिए। इससे उनका लाभ होता है। छात्र उत्तर देने में सफल होकर सन्तोष का अनुभव करते हैं।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कभी-कभी छात्रों को भी प्रश्न पूछने का अवसर देना चाहिए। पठित-विषय की कठिनाई को समझने के लिए छात्रों को प्रश्न पूछने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार बिना विचार-विनिमय हुए पाठ के आवश्यक अगों पर सभी छात्रों का ध्यान सरलता से न जायगा। शिक्षक को उचित है कि छात्र के प्रश्न का आदर्श रूप से उत्तर दे, जिससे

आवृत्ति की जाय। तीन चार बालकों से पूछने के बाद "कौन बता सकता है?" इतना कह देने से ही पूरी कक्षा से पूछने का अभिप्राय हो जाता है।

ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियों को यह प्रश्न बहुत तंग किया करता है कि 'बालकों की गलतियों का सुधार कब किया जाय।' इस सम्बन्ध में कोई खास नियम नहीं बनाया जा सकता। शीघ्रातिशीघ्र गलती का परिमार्जन कर देना ही अधिक मनोवैज्ञानिक ठीक पड़ता है, क्योंकि तभी बालक अच्छी तरह सीख सकता है। परन्तु इस नियम में एक छूट भी दी जा सकती है। उदाहरणार्थ बालक का स्वरवाचन यदि बहुत अच्छा हो रहा है और बीच में एकाध बार कोई गलती होती है तो उसके वाचन में विघ्न डालना ठीक न होगा। वाचन समाप्त होने के बाद ही उससे कहना उचित है। पर ऐसे उदाहरण विरले ही होते हैं।

भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित तथा विज्ञान आदि के पाठ में उत्तर की त्रुटि को तत्काल ही शुद्ध करना ठीक है। स्पष्ट है कि त्रुटि-संशोधन की समस्या ऐसी है कि उस विषय में शिक्षक ही निर्णय कर सकता है। परिस्थिति के अनुसार उसे किसी गलती को तुरन्त या बाद में ठीक करने की स्वतन्त्रता है, पर यह याद रहे कि किसी भी गलती की अवहेलना न हो। बालकों के सामने कोई गलत उदाहरण न आवे। इसके लिए कुछ शिक्षा शास्त्रियों का तो कहना है कि पहले ठीक उत्तर देने वाले छात्रों से ही पूछना चाहिए और उसके बाद उसकी आवृत्ति कमजोर छात्रों से करा लेनी चाहिए। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। इससे कुछ छात्रों में मानसिक आलस्य और उदासीनता आ जायगी और अपना काम दूसरे के उत्तर की आवृत्ति करने तक ही वे सीमित समझेंगे।

कुछ अध्यापकों में बालकों के उत्तर दोहरा देने की आदत पड़ जाती है। यह निन्दनीय है, क्योंकि इससे समय नष्ट होता है और बालकों में ध्यानपूर्वक बात सुनने की आदत नहीं पड़ती। वे सोचते हैं कि 'मास्टर साहब' तो एक बार आवृत्ति अवश्य ही करेंगे। यह ठीक है कि बालकों के उत्तर को दोहराना शिक्षक के लिए कभी-कभी आवश्यक हो जाता है, पर इसकी आदत न पड़े तो अच्छा है।

शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न की तरह उत्तर पर भी इतना जोर दिया जाय कि कक्षा के सभी छात्र उसे भली-भाँति सुन लें। कुछ छात्रों में बड़े धीरे से बोलने की आदत होती है और कुछ इतने जोर से बोलते हैं कि उद्दण्डता सी जान पड़ती है। धीरे से बोलने वाले छात्रों को मनोवैज्ञानिक ढग से उत्साहित करना चाहिए। "आज खाया नहीं क्या रे ?"—अथवा "बुड्ढा हो गया क्या रे ?" इत्यादि कहकर छात्रों को लज्जित करना उचित नहीं। मीठे और गम्भीर स्वर में उन्हें बोलना सिखलाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक भी वैसा ही व्यवहार करे।

यद्यपि छात्रों के ठीक उत्तर देने पर उनकी प्रशंसा का संकेत कर देना मनोवैज्ञानिक है, पर 'शाबाश', 'ठीक' या 'बहुत ठीक' इत्यादि शब्दों की झड़ी लगा देना बड़ा ही बुरा है। कुछ शिक्षकों को इन शब्दों के प्रयोग करने की इतनी आदत पड़ जाती है कि छात्र उनका 'उपनाम' ही "शाबाश" और "ठीक" इत्यादि रख देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षक को बहुत सम्भल कर व्यवहार करना चाहिए।

कभी-कभी उत्तर निकलवाने में शिक्षक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि छात्रगण उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थी तो इसे अपनी बड़ी भारी असफलता समझते हैं और निरुत्साह हो अपना सारा पाठ बिगाड़ बैठते हैं। प्रश्न का यथोचित उत्तर न आने पर शिक्षक को अपने प्रश्न के रूप पर दृष्टिपात करना चाहिए; क्योंकि कभी-कभी प्रश्न की विषमता ही इसमें बाधक होती है। ऐसी स्थिति में विश्लेषण कर प्रश्न को कई अंगों में बाँट देना चाहिए। उत्तर देते समय बीच-बीच में छात्रों को दो एक शब्द या विचार का सहारा दे देना चाहिए। इससे उनका लाभ होता है। छात्र उत्तर देने में सफल होकर सन्तोष का अनुभव करते हैं।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कभी-कभी छात्रों को भी प्रश्न पूछने का अवसर देना चाहिए। पठित-विषय की कठिनाई को समझने के लिए छात्रों को प्रश्न पूछने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार बिना विचार-विनिमय हुए पाठ के आवश्यक अंगों पर सभी छात्रों का ध्यान सरलता से न जायगा। शिक्षक को उचित है कि छात्र के प्रश्न का आदर्श रूप से उत्तर दे, जिससे वे

(१) कारण पूछने वाले प्रश्न
(२) सम्बन्ध बतलाने वाले
(३) निर्णयात्मक
(४) विश्लेषणात्मक
(५) तुलनात्मक
(६) वर्गीकरणात्मक
(७) वर्णनात्मक
(८) आलोचनात्मक
(९) विवेचनात्मक
(१०) आवृत्यात्मक
(११) प्रस्तावनात्मक

(ख) उत्तर

१—उत्तर निकलवाना

शिक्षक में धैर्य और सतर्कता आवश्यक।

यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना, कमजोर छात्रों से अधिक उत्तर दिलवाना, सहानुभूतिपूर्वक उत्तर निकलवाना, उत्तर सोचने के लिए समय देना, छात्र को उसके नाम से सम्बोधित करना।

छात्र से समीपता स्थापित करने के लिए "तुम" शब्द का प्रयोग।

उत्तर देने के समय छात्रों का ठीक से खड़ा होना, असमर्थ विद्यार्थी को अधिक समय देना ठीक नहीं।

उत्तर न मिलने पर डाँटना ठीक नहीं।

उत्तर पूरे वाक्य में या कुछ ही शब्दों में।

२—उत्तर का रूप कैसा हो ?

भाषा की शुद्धता पर प्रत्येक विषय में ध्यान।
भद्दे शब्द का प्रयोग नहीं, मानसिक अवस्था विकास के अनुसार।
केवल आवश्यक बातें ही बतलाना।
माँग और पूर्ति में संगति।
प्रश्न के उद्देश्य की पूर्ति।
शब्दाडम्बर न हो।

३—अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय ?

शुद्ध शब्द की ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान आकर्षित करना, सबके असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता।

छात्रों के उत्तर को न दोहराना।

जोर से उत्तर निकलवाना।

बहुत से प्रशंसासूचक शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं।

कठिन प्रश्नों का विश्लेषण और उनके उत्तर में बीच-बीच में सहायता।

छात्रों को भी प्रश्न पूछने की आवश्यक सुविधा, विषयान्तरित प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता नहीं।

प्रश्न

१—प्रश्न करने के क्या उद्देश्य होते हैं ? अच्छे प्रश्नों के लक्षण बताइए।

२—प्रश्न कितने प्रकार के होते हैं और उनका प्रयोग कैसे-कैसे पाठों में किया जाता है ?

३—'उत्तर निकलवाने की कला' पर एक निबन्ध लिखिए।

४—अशुद्ध उत्तरों को कैसे शुद्ध करना चाहिए ?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टीसेज् ऑव् टीचिंग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय २३।

२—बर्मिंग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव टीचिंग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय १०।

३—हीर, एगॉथ एल०—स्टेप्स टु बेटर टीचिंग, अध्याय ११।

४—स्ट्रक, एफ० थ्योडोर—क्रिएटिव टीचिंग, अध्याय ६।

५—मॉरिसन, डब्लू० एच०—परमानेण्ट लर्निंग, अध्याय १७।

६—उडरफ, एसेल डी०—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिंग।

७—चतुर्वेदी और [illegible] अध्यापन कला, अध्याय ८, ९।

८—ह्यूम—[illegible] चिंग, अध्याय १९।

* * *

३२
शिक्षण के कुछ अन्य उपकरण[1]

१—शिक्षक द्वारा व्याख्या[2]

प्रश्न करने के अतिरिक्त कभी-कभी शिक्षक को अपनी व्याख्या-शक्ति के आधा पर भी बालकों को समझाना पड़ता है। अतः अब व्याख्या के ढंग तथ उनके अपेक्षित गुणों का उल्लेख करना आवश्यक दीख पड़ता है। अध्यापक वं विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। सभी दृष्टिकोण से उसे अपने विषय प पाण्डित्य होना चाहिए। उसमें बालकों के प्रति सहानुभूति का होना आवश्य है। इसके बिना वह उनकी कठिनाइयों को न समझ सकेगा। व्याख्या देने वे आवेश में शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि बालकों को व्याख्यान विशे अच्छा नहीं लगता। उन्हें तो अपनी ही क्रियाशीलता में आनन्द आता है। ऊँच कक्षाओं में प्रश्नोत्तर-प्रणाली में विद्यार्थियों को जितना आनन्द आता है उतन शिक्षक की वाणी में नहीं। अतः शिक्षक को अपनी व्याख्या का प्रयोग मनोवैज्ञा निक रूप में उचित ढंग से करना चाहिए। शिक्षक को अपनी वाणी में भावानु सार आवश्यक उतार-चढ़ाव लाना आवश्यक है। इसके बिना उसका प्रभाव बहु ही कम पड़ता है। ऐसी दशा में कक्षा में विद्यार्थी ऊँघते हुए देखे जाते हैं। उचित मुख-मुद्रा और अङ्ग-सञ्चालन से व्याख्या की नीरसता कम हो जाती है। कथन को अधिक उपदेशात्मक बनाना ठीक नहीं, क्योंकि कोरे उपदेश बालकों को अच्छे नहीं लगते। कथन का अधिक वैज्ञानिक और साहित्यिक होना भी रुचिकर नहीं होता। कथन के समय बालकों की सीमित योग्यता पर ध्यान देना आवश्यक है।

1. Some Other Aids to Teaching. 2. Explanation by the Teacher.

कथन को रोचक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को अपने विषय के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण रुचि के विषयों का ज्ञान हो, जिससे प्रसंगानुसार विषयान्तर में वह प्रस्तुत विषय का अन्य विषयों से सम्बन्ध की ओर भी संकेत कर सके । यदि भूगोल, इतिहास तथा साहित्य आदि पढ़ाने समय चित्रकला, संगीत, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राजनैतिक विषयों पर प्रसंगानुसार कुछ संकेत किया जा सका तो मानो सोने में सुगन्ध भी आ गई । इससे विद्यार्थियों में शिक्षक के प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ जाता है और उसकी बात को वे ध्यानपूर्वक सुनते हैं । पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि पाठ्य-विषय को छोड़ इन्हीं सब विषयों पर व्याख्यान दिया जाय ।

शिक्षक को अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। कुछ शिक्षक अवसर पर अपने विषय में बातें करते नहीं थकते । इसका बालकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है । उनकी आलोचना शक्ति बड़ी पैनी होती है। वे ऐसे अध्यापकों का लोहा कभी नहीं मानते । उनकी विद्वत्ता पर भी उनका विश्वास नहीं रहता जिस विषय से शिक्षक का परिचय न हो उस पर उसका न बोलना ही ठीक होगा ।

अपने कथन में शिक्षक यदि तुलना का आधार ले तो वह विषय को बालकों के लिए सरलता से बोधगम्य बना सकता है । तुलना, वैपरीत्य और समानता दोनों दिखला कर की जा सकती हैं । भूगोल के पाठ में जापान और ब्रिटिश द्वीप समूह की, इतिहास में अशोक और अकबर तथा साहित्य में तुलसी और सूर आदि की तुलना विषय को अधिक रोचक बना देगी । ज्ञात से तुलना करने पर अज्ञात का समझना कठिन नहीं क्योंकि इससे भावों, विचारों और परिस्थितियों का ऐसा साहचर्य आ जाता है जो मानसिक प्रक्रिया में बड़ा सहायक होता है। इस विधि की सहायता से विद्यार्थी नए ज्ञान को अपने मन में सरलता से बैठा लेते हैं और नए विषय के बारे में ठीक बातों का स्वयं अनुमान लगाने में वे सफल हो जाते हैं ।

विरोधात्मक भावों के उपस्थित करने से भी आवश्यक बातें समझने में बड़ी सहायता मिलती है । साहित्य में क्लिष्ट शब्दों को उनके विरोधी शब्दों से विद्यार्थियों को सरलता से समझाया जा सकता है । जैसे "अनुपम" का अर्थ निकालने के लिए पूछा जा सकता है कि 'भद्दा का उलटा क्या है ?' उत्तर 'सुन्दर' आया।

इस प्रकार अनुपम तथा अन्य क्लिष्ट शब्दों का अर्थ सरलता से समझाया जा सकता है। पर इस प्रकार की व्याख्या में शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बतलाया हुआ शब्द पहले का केवल पर्यायवाची ही न हो, वरन् समानार्थक भी हो, यदि यह सम्भव न हो तो कठिन शब्दों की व्याख्या परिभाषा से भी की जा सकती है। कभी-कभी इस विधि में अधिक सुविधा होती है। व्याख्या के समय शब्दों का विग्रह करना भी आवश्यक हो सकता है। भाव-स्पष्टता के लिए उपयुक्त वस्तु अथवा चित्र-प्रदर्शन में भी कोई हानि नहीं। क्रिया की ओर सकेत करने वाले शब्दों का स्पष्टीकरण उचित अभिनय द्वारा ही करना ठीक होगा। ऊँची कक्षाओं में शब्द की उत्पत्ति की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

किसी परिच्छेद की व्याख्या में शिक्षक को सर्वप्रथम कठिन शब्दों की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके बाद पूरे परिच्छेद के भाव को बालकों से सरल भाषा में कहलवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक स्वयं व्याख्या दे। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि उसकी व्याख्या लम्बी न हो और सरल शब्दों की व्याख्या में समय नष्ट न किया जाय। चतुर शिक्षक व्याख्या के समय भी बीच बीच में बालकों से प्रश्न पूछा करते हैं।

भूगोल और इतिहास के पाठ में वर्णन का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है वर्णन में शिक्षक को बड़ी सतर्कता से काम लेना है। बीच-बीच में बालकों के व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों का पूछना बड़ा ही आवश्यक है। पाठ कितना ही क्लिष्ट क्यों न हो, किसी न किसी प्रकार उसमें बालकों के निजी अनुभव की ओर सकेत किया ही जा सकता है। यह बात विज्ञान, गणित और नागरिक-शास्त्र आदि सभी विषयों में लागू है। शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि वर्णन बहुत लम्बा न हो। वर्णन के पूरे कथानक को छोटी-छोटी अन्वितियों[1] में बाँट कर एक अन्विति के अन्त में बालकों से कुछ प्रश्न करना आवश्यक है। इससे उनमें क्रियाशीलता आ जाती है और यह पता चल जाता है कि [illegible] को वे कहाँ तक समझ रहे हैं। भूगोल और इतिहास के शिक्षण में [illegible] इन विधियों का अनुसरण किया जाता है। वर्णन करते [illegible]

1 Units.

चित्र, सार चित्र और श्यामपट के प्रयोग की भी आवश्यकता होती है। इन सबों के उपयोग से वर्णन में सरलता आ जाती है, क्योंकि सदा वर्णन ही पाठ-कला नहीं सिद्ध हो सकता।

२—प्रदर्शन-सामग्री[1]

चार्ट, मानचित्र और चित्र आदि जो दिखलाए जायें उनका रुचिकर होना आवश्यक है। छोटे बच्चों की कक्षा में तो इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हें तड़क-भड़क से विशेष रुचि होती है। सूक्ष्म को वे सरलता से नहीं समझ सकते। इसलिए उनके सामने यथासम्भव स्थूल का ही रखना अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। परन्तु प्रदर्शन-सामग्री इतनी आकर्षक न हो कि मुख्य विषय गौण हो जाय। इससे साधन का ही महत्त्व साध्य से बढ़ जाता है। कुछ नये-नये अध्यापक कक्षा में प्रदर्शन-सामग्री इतनी ले जाते हैं कि कभी कभी उन्हें कई आदमियों के ढोने की आवश्यकता हो जाती है। फलत उनका पाठ मदारी का खेल हो जाता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि प्रदर्शन वस्तु इतनी बड़ी हो कि उसे एक स्थान से ही सभी लड़के समझ सकें। यदि उसे दिखाने के लिए शिक्षक को एक कोने से दूसरे कोने जाना हुआ तो 'विनय-व्यवस्था' में गड़बड़ी होगी और समय भी नष्ट होगा। कोने कोने जाकर दिखलाने में सभी बालकों को समान अवसर भी नहीं मिलता। अत. उनमें से कुछ अप्रसन्न और उदास हो जाते हैं। वे समझते हैं कि 'मास्टर साहब' की सहानुभूति उनकी ओर कम है।

प्रदर्शन-वस्तु का पाठ के अनुसार होना बड़ा ही आवश्यक है। पहाड़ी दृश्य को समझाने के लिए अनेक पहाड़ के चित्र दिखलाना युक्तिसंगत नहीं। एक ही का काफी लम्बा चित्र पर्याप्त होगा। प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दिखलाकर दृष्टि से ओझल कर देना ठीक नहीं। वांछित प्रभाव के लिए उसे बालकों के सामने काफी देर तक रखना आवश्यक है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दृष्टि से परे कर देना चाहिए, नहीं तो बालक पाठ पर ध्यान न देकर उसी को देखते रहते हैं। किसी प्रदर्शन-वस्तु को कितनी देर तक बालकों को दिखलाया जाय इसका निर्णय शिक्षक ही कर सकता है। प्रसंगानुसार वही

---

1. Materials for exhibition.

इस बात को समझ सकता है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रदर्शन वस्तु को जरा सा दर्शन करा कर ढक देना न दिखलाने से भी बुरा है।

३—श्यामपट का प्रयोग[1]

अध्यापन में श्यामपट का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रायः आलसी शिक्षक ही श्यामपट के प्रयोग से डरते हैं, उन्हें मौखिक वर्णन ही अच्छा लगता है। ऐसे अध्यापक बालकों पर वांछित प्रभाव डालने में सफल नहीं होते। किसी प्रदर्शन-वस्तु के स्थान पर शिक्षक का श्यामपट पर रेखाचित्र खींच देना पाठ में कभी-कभी अधिक सहायक होता है। एक तो, इसमें कम समय लगता है, दूसरे, बालक भी वैसा ही बनाने की चेष्टा कर सकते हैं, तीसरे, इससे शिक्षक की बड़ी धाक जम जाती है। अतः शिक्षक को रेखा और मान चित्र बनाने में निपुण होना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्याख्या अथवा वर्णन की शैली में। समय-समय पर श्यामपट पर कुछ लिखते रहने से शिक्षण-विधि में कुछ परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन बालक के लिए बड़ा ही रोचक और लाभदायक होता है। एक तो उनका ध्यान विषय की ओर अधिक आकर्षित हो जाता है, दूसरे ऊँघने वाले लड़कों में इससे कुछ अधिक स्फूर्ति आ जाती है।

श्यामपट पर किया हुआ काम इतना साफ और बड़ा हो कि कक्षा के सभी बालक उसे देख और समझ सकें। जो कागज पर अच्छा लिखते हैं उनका श्यामपट पर भी अच्छा लिख देना निश्चित नहीं। कभी-कभी कागज पर खराब लिखने वाले भी श्यामपट पर अच्छा लिख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि श्यामपट पर अच्छा लिखने के लिए काफी अभ्यास की आवश्यकता है। श्यामपट पर सुन्दर लिखने का बालकों पर बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई बात को वे सरलता से याद कर लेते हैं और वे भी वैसा ही सुन्दर लिखने का प्रयत्न करते हैं। यथासम्भव श्यामपट पर सीधा अक्षर लिखना चाहिए, क्योंकि इससे छात्रों की आँख पर जोर कम पड़ता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि श्यामपट के कार्य में कुछ गलती न रह जाय। अतः उसे दोहरा लेना आवश्यक है। श्यामपट पर प्रायः लोग अक्षरों पर

1 The Use of the Black-board.

पाठ्य पुस्तकों का स्थान शिक्षकों के व्याख्यान और लिखाये हुए नोटों ने ले लिया। यति के कारण इनका भी वांछित फल न मिला। भला केवल नोट्स से शिक्षा कितनी सरल हो सकती है! इस वस्तुस्थिति का चित्रण रेमाण्ट के इन शब्दों में अच्छा मिलता है, "अन्त में लोग कहा करते हैं कि विद्यार्थियों के स्थान को अब शिक्षकों ने ग्रहण कर लिया है। पहले विद्यार्थी ही पढ़ते, याद करते और सुनाते थे। अब तो यह काम शिक्षक का ही हो गया है।"

वास्तव में पाठ्य-पुस्तक की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि अच्छी पाठ्य-पुस्तक हुई तो शिक्षक के हाथ में वह बड़ा भारी अस्त्र है। इससे उसके समय और शक्ति दोनों की बचत होती है और शिक्षक की अनुपस्थिति में बालकों के लिए वह कुछ हद तक शिक्षक का भी काम कर सकती है। स्पष्ट है कि पाठ्य पुस्तक की आवश्यकता सन्देहास्पद नहीं। बिना पाठ्य-पुस्तक के सहारे बालकों को ठोस ज्ञान देना अत्यन्त कठिन है। केवल एक बार सुन और कह लेने से ही नया ज्ञान पक्का नहीं हो जाता। उसके लिए समय-समय पर आवृत्ति की आवश्यकता होती है। पाठ्य-पुस्तक के होने पर बालक के लिए यह सब कठिन नहीं। अब प्रश्न यह है कि "पाठ्य-पुस्तक कैसी होनी चाहिए?"—"उसके आवश्यक गुण क्या-क्या हैं?" नीचे हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे। इन प्रश्नों के उत्तर की व्याख्या आवश्यक नहीं। अतः नीचे उन्हें सूत्र रूप में ही दिया जा रहा है :—

१—साल में किये जाने वाले काम की पाठ्य-पुस्तक में स्पष्ट रूप-रेखा होनी आवश्यक है। इससे शिक्षक को शिक्षण में बड़ी सरलता होती है। बालकों को आवश्यकतानुसार शिक्षण को व्यवस्थित करना आवश्यक है। इस व्यवस्था में पाठ्य-पुस्तक का सहायक होना अपेक्षित है। लकीर के फकीर की तरह पाठ्य-पुस्तक की लीक पर ही चलना शिक्षण के लिए वांछित नहीं। इसलिए अपने अनुभव के आधार पर पाठ्य-पुस्तक में आवश्यक संशोधन करने की शिक्षक को बड़ी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वस्तुतः सफल शिक्षक की पाठ्य-पुस्तक का आदर्श रचयिता हो सकता है और यह कार्य उसी को देना भी चाहिए।

२—पाठ्य-पुस्तक बालकों की विकास की अवस्था के अनुसार होनी

तथा कुछ घरेलू काय में भी हाथ बटाना है। अतः गृह-कार्य देना ठीक नहीं। इस मत से हम शत प्रतिशत सहमत नहीं हो सकते। हमें मध्य मार्ग अपनाना होगा। अर्थात् बालक को उतना ही कार्य देना चाहिए जितना वह सरलता से करते हुए वह अपने सामाजिक जीवन तथा घरेलू-कार्य में भी भाग ले सके।

गृह-कार्य देने के पूर्व बालक की योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान लगा लेना आवश्यक है। शक्ति के परे कार्य देना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। कभी-कभी कुछ गणित तथा विज्ञान की समस्याओं पर सोचने तथा कार्य करने के लिए कुछ प्रश्न दिये जा सकते हैं। पर बहुधा गृहकार्य का उद्देश्य स्कूल पर सीखे हुए विषय अथवा बात की आवृत्ति ही होना चाहिए। यदि गृह-कार्य से बालक में सफलता की भावना न आई तो उसका देना व्यर्थ है। गणित और विज्ञान आदि के कार्य में वैयक्तिक भिन्नता पर बिना ध्यान दिये सब को समान रूप से गृह-कार्य देना ठीक नहीं। यहीं वैयक्तिक भिन्नता पर सरलता से ध्यान दिया जा सकता है। जो बालक कमजोर हैं उन्हें सरल और कम कार्य देना चाहिए। गृह-कार्य देने के पूर्व शिक्षक को बालक की पारिवारिक स्थिति का भी कुछ पता लगा लेना आवश्यक और उचित है। यदि घर में कोई अधिक बीमार हुआ या बालक को घर के माता पिता के कार्य में हाथ बँटाना होता है तो उसके गृह काय का भार कुछ अवश्य हल्का कर देना चाहिए। कुछ ऐसे भी बालक होते हैं जिन्हें घर पर कुछ अन्य शिक्षक[1] भी पढ़ाते हैं। ऐसे बालकों को भी स्कूल में दिये हुए गृह-कार्य के करने का समय नहीं मिलता। ऐसे बालकों का भी गृह-कार्य बहुत हल्का कर देना उचित है।

स्कूल आने पर गृह-कार्य का निरीक्षण करना बड़ा आवश्यक है। यदि यह न किया गया तो गृह-कार्य देना ही व्यर्थ है। अतः पाठ प्रारम्भ करने के पहले यथावसर उसका निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिए। गृह-कार्य दण्ड-स्वरूप देना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। कुछ शिक्षक क्रोध में अधिक गृह-कार्य दे दिया करते हैं। इसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इससे बालकों में पाठ्य-विषय के प्रति अरुचि हो जाती है और इस अरुचि के स्थायी हो जाने ५।

1. Tutor.

बहुधा छोटी कक्षाओं में गृह-कार्य बहुत ही कम अथवा न दिया जाय तो अच्छा है। दस बारह वर्ष के बालकों में खेलने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इस खेल के सहारे ही वे अपनी कई मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर पाते हैं। अतः इस आयु तक गृह-कार्य न देना ही अच्छा होगा। किसी विशेष अवसर पर कुछ अभ्यास घर पर करने के लिए दे देना हानिकारक भी नहीं।

बहुधा यह देखा जाता है कि रविवार तथा किसी अन्य छुट्टी के अवसर पर बालकों को अधिक गृह-कार्य दे दिया जाता है। इससे छुट्टी का महत्व ही घट जाता है। यदि रविवार को भी स्कूल की ही तरह बालक घर पर भी पढ़ता रहा तो इस छुट्टी से विशेष लाभ नहीं। शारीरिक और मानसिक विकास के लिए परिवर्तन और विश्राम आवश्यक है। अतः छुट्टी के दिन कुछ मानसिक विश्राम दे देना मनोवैज्ञानिक होगा। अच्छा होता यदि अभ्यास देते समय शिक्षक यह जाँच ले कि बालक को दूसरे विषय में कितना गृह-कार्य दिया गया है, अन्यथा उसके अत्यधिक हो जाने का बड़ा भय है। बहुधा गणित में गृह कार्य की विशेष आवश्यकता होती है। पर किस विषय में कितना गृह-कार्य दिया जाय इसका समझौता अध्यापकों को आपस में पहले ही कर लेना चाहिए। अपने विषय को विशेष महत्ता देने के उद्देश्य से अध्यापकों में गृह-कार्य विषयक स्पर्धा वांछित नहीं। इसका बालकों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ सकता है।

७—पुस्तकालय[1]

बालकों की शिक्षा में पुस्तकालय का स्थान बड़ा ही आवश्यक है। कदाचित् ही कोई ऐसा माध्यमिक स्कूल होगा जिसमें किसी न किसी प्रकार का छोटा या बड़ा पुस्तकालय न हो। अध्यापकों के प्रवचन सुन लेने और पाठ्य पुस्तक के पढ़ लेने से सफल जीवन बिताने के लिए बालकों को पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक स्कूल में पुस्तकालय की व्यवस्था की जाती है। स्कूल-काल के बाद जब व्यक्ति जीवन के विभिन्न दायित्व को सँभालता है तो उसे पुस्तक में सीखी हुई महत्वपूर्ण बातें ही अधिक याद आती हैं। अतः यह आवश्यक है कि पुस्तकालय का संगठन इस प्रकार किया जाय कि बालक उसमें अधिक से

1. Library

अधिक लाभ उठा सकें । स्कूल-पुस्तकालय में बालकों की जिज्ञासावस्था तथा आवश्यकतानुसार किताबें रखनी चाहिए । बाजार में भली और बुरी दोनों प्रकार की पुस्तकें होती हैं । जब बालक पढ़ने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें कोई न कोई नई पुस्तक पढ़ने की सदा इच्छा बनी रहती है । इसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य की ओर स्कूल-पुस्तकालय में अच्छी अच्छी पुस्तकों का संग्रहण होना आवश्यक है । पुस्तकें ऐसी हों कि वे बालकों में वाञ्छित रुचि उत्पन्न कर सकें और यह रुचि ऐसी हो कि वह उनके उत्तर जीवन की सफलता में सहायक हो सके । अतः स्कूल-पुस्तकालय में ज्ञान, उपदेश और मनोरञ्जन-सम्बन्धी पुस्तकों का सकलन होना चाहिए ।

स्कूल-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के लिए बालकों को तैयार करने की चेष्टा करता है । पुस्तकालय को भी इसी उद्देश्य की पूर्ति में योग देना है। पुस्तकालय से ली हुई पुस्तकें बालकों को स्वयं पढ़नी पड़ती हैं । अतः उनकी योग्यता और रुचि के अनुसार उनका सरल होना आवश्यक हैं । इससे बालकों में स्वतः ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा आयेगी । कुछ स्कूलों में बालकों की आवश्यकता और रुचि पर बिना ध्यान दिये ही पुस्तकें खरीद ली जाती हैं । ये पुस्तकें परीक्षा देने वाले किसी शिक्षक के हित अथवा अन्य शिक्षकों की व्यक्तिगत जिज्ञासा की पूर्ति के लिए होती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि आजकल के अधिकांश स्कूल-शिक्षकों को पुस्तकालय से पुस्तकें लेने पर भी घर पर पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता। लाख इच्छा रखने पर भी अपनी कुछ कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण वे इतने दबे रहते हैं कि इसका सारा दोष उन्हीं पर मढ़ना अन्याय होगा (उनकी स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक साधनों की ओर संकेत करना विषयांतर होगा) ये पुस्तकें अपने विषय पर बड़ी अच्छी होती हैं, पर इतना निर्विवाद है कि वे बाल-पुस्तकें नहीं होतीं । बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही इतनी ऊँची-ऊँची पुस्तकें मँगाना युक्तिसंगत है ।

यदि पाठ्य-पुस्तक-सम्बन्धी किसी बात के स्पष्टीकरण हेतु बालक पुस्तकालय से किसी पुस्तक को पढ़ कर स्वयं समझ सकता है तो उसके आनन्द का ठिकाना नहीं । अतः पुस्तकों के संकलन में विभिन्न विषयों की पाठ्य-पुस्तकों के अन्तर्गत पाठों पर भी ध्यान देना आवश्यक है । संकलन के बाद पुस्तकों के संगठन का

प्रश्न आता है। पुस्तकों का संगठन इस प्रकार हो कि बालक यह समझ सके कि किस ज्ञान प्राप्ति के लिए उसे कौन-सी पुस्तक पढ़नी चाहिए, इसका प्रबन्ध करना कठिन नहीं। यदि इस प्रकार के संगठन का उत्तरदायित्व विषय शिक्षक को दे दिया जाय तो यह सम्भव हो सकता है। शिक्षक को भी इस दायित्व का पालन प्रसन्न मन से करना चाहिए। इस प्रकार के संगठन के बाद पुस्तकों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि बालक में सदा एक नई पुस्तक पढ़ने की रुचि रहे। बहुधा यह देखा जाता है कि स्कूल-पुस्तकालयों का बालक सदुपयोग नहीं कर पाते। इसके कई कारण हैं। एक तो उन्हें पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं किया जाता। दूसरे, यदि वे कोई पुस्तक ले भी गये तो उसके पढ़ने की विधि सम्बन्धी आवश्यक बात उन्हें नहीं समझायी जाती। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसा करना आवश्यक है जिससे वे पुस्तकालय का सदुपयोग कर सकें। अच्छा होता यदि कक्षा और विषय के नाम पर पुस्तकों का संकलन किया जाय और साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक अवधि के आधार पर उनके वितरण का उत्तरदायित्व मानिटर अथवा अन्य योग्य बालकों को दिया जाय।

बालकों के पास एक ऐसी नोट बुक होनी चाहिए जिसमें वे पुस्तक सम्बन्धी अपने विचार अंकित कर सकें। पुस्तक के सारांश अथवा किसी नायक के चरित्र-चित्रण लिखने के लिए भी उन्हें उत्साहित किया जा सकता है। इन सब बातों का शिक्षक कभी-कभी निरीक्षण कर ले तो अच्छा है। पुस्तकालय से नियमित रूप से पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देने के लिए प्रधानाध्यापक को एक फार्म छपा लेना चाहिए। इस फार्म पर पुस्तक पढ़ने के बाद उसका नाम तथा सम्बन्धी कुछ बातें लिखने के लिए बालक को उत्साहित करना आवश्यक है। मास के अन्त में कक्षा तथा स्कूल में ठीक रीति से सबसे अधिक पुस्तकें पढ़ने वाले विद्यार्थी को पुरस्कार देना मनोवैज्ञानिक प्रेरक होगा। बड़ा अच्छा होगा यदि बालकों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों को शिक्षकगण किसी प्रकार पढ़ जावें, जिससे वे तत्सम्बन्धी बालकों की समस्याओं को हल कर सकें।

सारांश

शिक्षण के कुछ मन्त्र

१—शिक्षक द्वारा

आवश्यकतानुसार कम से कम, [illegible] सञ्चालन, अधिक उपदेशात्मक नहीं।

शिक्षक को अन्य विषयों का भी ज्ञान, [illegible]

आत्म-प्रशंसा न हो।

तुलना का आधार।

विरोधी शब्दों, परिभाषा, विग्रह, [illegible] आदि की सहायता।

व्याख्या के बीच बीच में प्रश्न।

वर्णन-प्रणाली, छात्रों के निजी अनुभव [illegible] चार्ट, चित्र और श्यामपट का उपयोग।

२—प्रदर्शन-सामग्री

रुचिकर, पर विशेष आकर्षक नहीं, प्रदर्शन-वस्तु [illegible] नहीं।

पाठ के अनुसार, बालकों के सामने [illegible] देर तक [illegible]

३—श्यामपट का प्रयोग

श्यामपट के उचित प्रयोग में शिक्षक की पटुता।

श्यामपट पर सुन्दर लिखना अभ्यास से सम्भव; सुन्दर, [illegible] लिखना, लिखे जाने वाले शब्दों को बोलते रहना; समान [illegible] पंक्तियाँ, समझाने प्रकार।

आवश्यक चित्रों और मानचित्रों के खींचने में शिक्षक का [illegible] पट का सफल प्रयोग बड़ा आवश्यक।

श्यामपट सम्बन्धी कुछ अन्य ध्यान देने योग्य बातें—

श्यामपट को न ढकना, शरीर टेढ़ा करके न लिखना, [illegible] कभी कक्षा का निरीक्षण करना, अध्यापन के पूर्व श्यामपट [illegible] में श्यामपट को साफ करके जाना, अधिकतर सफेद खड़िया [illegible]

प्रश्न

१—शिक्षण में उपकरणों का क्या स्थान है? अपने प्रयोग किये हुए किन्हीं दो उपकरणों की विवेचना कीजिए।

२—किसी कक्षा मे जिस प्रदर्शन-सामग्री का तुमने उपयोग किया है उसके गुण और सीमा की ओर संकेत कीजिए।

३—व्याख्या में शिक्षक को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए?

४—अच्छी पाठ्य पुस्तक के लक्षणों का विवरण दीजिए।

५—लिखित कार्य का संशोधन किस प्रकार करना चाहिए?

६—गृहकार्य के देने में किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है?

७—स्कूल-पुस्तकालय का संगठन किस प्रकार किया जाय कि विद्यार्थी उससे अधिकतम लाभ उठा सकें?

८—श्यामपट का प्रयोग कैसे और कब करना चाहिए?

● ● ●

सहायक पुस्तकें

१—स्टर्ट ऐण्ड ग्रोकडेन—मेटर ऐण्ड मेथड इन एडुकेशन, पृष्ठ १२१, १३५, १५७, १७२।

२—जॉन ऐडम्स—एक्सपोजीशन ऐण्ड इलस्ट्रेशन इन टीचिंग।

३—एम० डब्लू० कीटिंग—सजेस्शन इन एडुकेशन।

४—डब्लू० एच० किलपैट्रिक—फाउण्डेशन्स ऑव मेथड।

५—जे० जे० फिन्डले—प्रिन्सीपुल्स ऑव क्लास टीचिंग।

६—चतुर्वेदी और रुद्र—अध्यापन-कला।

७—थाई ऐण्ड रॉस्क—द अप्रोच टु टीचिंग, अध्याय ६, ७।

८—बा.फोर्ड, सी० सी०—हाउ टु टीच, अध्याय १३।

९—हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड, अध्याय ९, १०।

१०—एच० एम० पेरेरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निंग ऐण्ड टीचिंग, अध्याय ४-८।

● ● ●

कुछ उल्लेख कर दिया जाय तो बालकों को तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक और मौलिक—दोनों ज्ञान प्राप्त होगा।

गणित को अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित—तीन अङ्गों में बाँट दिया गया है। यदि अंकगणित के कुछ साधारण सिद्धान्तों के उल्लेख के समय बीजगणित के भी प्रारम्भिक नियमों को स्पष्ट कर दिया जाय तो उतने ही समय में दो काम बन जायेंगे। ड्राइङ्ग[1] के साथ यदि भूगोल और इतिहास के कुछ मानचित्र खिंचवाये जाँय तो एक ही साथ दो-तीन विषयों में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं। यह सोचा जाता है कि अंग्रेजी में व्याकरण, लेख[2] और अनुवाद[3] अलग-अलग पढ़ाने जाने चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। प्राथमिक कक्षाओं में व्याकरण में सीखे हुए नियमों को ही लेख और अनुवाद में कार्यान्वित करते हैं। इसी प्रकार मौखिक और लिखित अंकगणित को समन्वित किया जा सकता है।

आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त समन्वित विषयों पर विशेष जोर देता है और इस प्रकार विषयों की संख्या कम करना चाहता है। समन्वय पर समुचित ध्यान न देने से विभिन्न विषयों के अध्यापन में कुछ कृत्रिमता आ गई है और एक ही विषय को कभी-कभी दो बार पढ़ा कर बालकों की रुचियों और परिश्रम की अवहेलना की जाती है। विशेष-शिक्षकों की नियुक्ति भी असमन्वित शिक्षा के चलने में योग देती है। यह सत्य है कि कभी-कभी विशेषज्ञों की बड़ी आवश्यकता होती है और उनके बिना हमारा शिक्षा-कार्य सफलता से सम्पादित नहीं हो सकता। पर विशेषज्ञों को अपने ही विषय की धुन में न रहना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि उनका भी विषय 'सामान्य ज्ञान'[4] का केवल एक अङ्ग ही है। अतः "सामान्य ज्ञान" के सम्बन्ध का पूरा ज्ञान होना विशेषज्ञ के लिए आवश्यक है। तभी वह बालकों में अपने विषय के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न कर सकेगा। ऐसा करने से ही सब शिक्षक यह समझ सकेंगे कि सब का परिश्रम एक ही उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित हो रहा है। विवरण से यह स्पष्ट है कि शिक्षा में समन्वय की बड़ी आवश्यकता

1. Drawing. 2. Composition. 3. Translation
Knowledge.

अतिरिक्त किसी हस्तकला (तथा अन्य विषय) को केन्द्रीकरण का आधार मान लिया जाता है।

५—समन्वय का व्यावहारिक रूप

उपर्युक्त विवरण से यह मालूम होता है कि केन्द्रीय विषय के चुनाव में लोग अपनी ही रुचि का ध्यान रखते हैं। हरबार्ट को इतिहास अधिक पसन्द था। पार्कर के लिए विज्ञान श्रेष्ठ है। डीवी के लिए हस्तकला सबसे उपयुक्त है। इस प्रकार इन सब विचारों में बालक की रुचि की अवहेलना का भान होता है। हमें उदार भावना से प्रत्येक पाठ्य-विषय से सम्बन्धित अन्य विषयों की ओर संकेत करना चाहिए। पर किसी एक ही विषय को मान्यता दे देना दूसरों की अवांछित अवहेलना करनी होगी। हमें समन्वय से बालक को "ज्ञान की एकता" का अनुभव देना है। यदि यह ज्ञान उसको न दिया जा सका तो वह क्रम-बद्ध रूप में कुछ न सीख सकेगा। इस एकता का ज्ञान देने के लिए पाठ्यक्रम को एक नए ढंग से सुगठित करना होगा। विभिन्न विषयों में समान भागों का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि बालक को उसे बार-बार न पढ़ना पड़े। इससे समय की काफी बचत होगी। किसी विषय के पढ़ाने के समय उससे सहायतः अन्य विषयों सम्बन्धी बातों का बालकों से उल्लेख कर देना आवश्यक है। इससे उनकी संकीर्णता चली जायगी।

पर यह ध्यान रहे कि विषयान्तर के बोझ से वह उनकी कल्पना के बाहर की न हो जाय। विषयान्तर ऐसा हो कि वह मुख्य विषय के ही समझने में सहायक हो। वस्तुत. शिक्षक का उद्देश्य समन्वय करना नहीं है, वरन् किसी विषय को पढ़ाना है। समन्वय साधन है, साध्य नहीं। अतः यदि उसकी आवश्यकता न हो तो व्यर्थ की खींचा-तानी वांछित नहीं। उपर्युक्त विचारों को एक अमेरिकन लेखक इस प्रकार रखता है :—"वास्तविक केन्द्रीकरण विभिन्न विषयों का यान्त्रिक संगठन नहीं। इसमें तो पाठ्य-विषय से सम्बन्धित उन सभी

---

1. Nature Study. 2. Project Method (अध्याय ३४).

करना है कि उससे बालक, 'ज्ञान की एकता' का अनुभव करते हुए मानो स लित¹ रुचियों का विकास करता रहे।

४—विषयों का केन्द्रीकरण²

शिक्षा समन्वय के लिए हरबर्ट ने केन्द्रीकरण का नियम बना रखा है इसके अनुसार किसी एक ही विषय को प्रधान मान कर अन्य विषयों को शि उसी के इर्द गिर्द सगठित करना चाहिए। हरबार्ट ने इस सम्बन्ध में इतिहा को श्रेष्ठता दी है। इतिहास को एक व्यापक विषय मानकर उसने यह दिखना की चेष्टा की है कि साहित्य, चित्रकला, शिल्पकला, गणित, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषय इतिहास से कैसे समन्वित किये जा सकते हैं। उसने यह दिखलाया है कि साहित्य पढ़ाने के लिए ऐतिहासिक नाटक, काव्य और उपन्यास चुने जा सकते हैं। बालकों के चरित्र निर्माण के लिए ऐतिहासिक महापुरुषो के जीवन-चरित्र पढ़ाये जा सकते हैं। चित्रकला व शिल्पकला के सिखाने में ऐतिहासिक दुर्ग, भवन, रथ तथा कवच आदि बनाने की बालको को शिक्षा दी जा सकती है। ऐतिहासिक आक्रमणो के उल्लेख के आधार पर कुछ प्रदेशो के भूगोल का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किसी ऐतिहासिक सेना और इमारत के व्यय-सम्बन्धी बातों के आधार पर गणित की भी शिक्षा दी जा सकती है।

हरबार्ट के अनुयायियो ने इतिहास में विज्ञान की शिक्षा का भी समन्वय करने का साहस किया है। उदाहरणार्थ; किसी सामुद्रिक युद्ध के वर्णन में हवाओ, तूफानो तथा कुतुबनुमा आदि का वैज्ञानिक ज्ञान देना कठिन न होगा। पर केन्द्रीकरण की इतनी दूर तक खींचा-तानी करना सम्भव नहीं। फलतः कुछ अमेरिकन शिक्षा-शास्त्रियों ने इतिहास का पक्ष छोड़ प्रकृति-विज्ञान³ को केन्द्रीकरण का आधार माना है। उनका विश्वास है कि प्रकृति-विज्ञान इतना व्यापक है कि इसे चित्र-कला, मूर्तिनिर्माण, भाषा, काव्य, गणित, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी विषयों के अध्ययन का आधार माना जा सकता है। 'प्रॉजेक्ट-मेथड'⁴ में इस केन्द्रीकरण का विभिन्न रूप देखने को मिलता है। इसमें प्रकृति-विज्ञान के

1. Balanced. 2. Concentration of studies. 3. Nature Study.
4. Project Method (अध्याय ३६).

सारांश

शिक्षा-समन्वय

१—आवश्यकता

विभिन्न विषय एक ही ज्ञान की विभिन्न शाखायें, समन्वय से शक्ति और समय की बचत।

समन्वय के अभाव में कृत्रिमता, विशेषज्ञों का दायित्व।

२—शिक्षा-समन्वय पर हरबार्ट का मत

सामञ्जस्यपूर्ण बहुरुचि की उत्पत्ति में चरित्र-निर्माण।

३—समन्वय-रहित शिक्षा के कुछ दोष

ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक अंग पर अलग-अलग समुचित ध्यान नहीं, एकांगी और बौद्धिक शिक्षा।

ज्ञान की एकता और सन्तुलित रुचियों का विकास।

४—विषयों का केन्द्रीकरण

हरबार्ट के अनुसार 'इतिहास' केन्द्रीकरण का सर्वश्रेष्ठ साधन, वर्तमान शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार प्रकृति-विज्ञान और हस्तकला केन्द्रीकरण का साधन।

५—समन्वय का व्यावहारिक रूप

बालकों की रुचि की अवहेलना नहीं, विषयान्तर मुख्य विषय के समझने में सहायक हो, समन्वय साधन, व्यर्थ की खींचा-तानी ठीक नहीं।

छोटे बालकों की शिक्षा में समन्वय सरल, मानव प्रधान वातावरण का ही अंग रखना।

शिक्षक को पाठ्यक्रम का पूरा ज्ञान आवश्यक।

प्रश्न

१—शिक्षा-समन्वय का क्या अर्थ है ? स्कूल के पाठ्यक्रम

३४
कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण[1]

१—कक्षा-शिक्षण के कुछ दोष[2]

आजकल वैयक्तिक शिक्षण को कक्षा-शिक्षण से श्रेष्ठतर समझा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से वैयक्तिक भिन्नता का रूप अब अधिक समझ में आ गया है। कक्षा-शिक्षण में बालकों की वैयक्तिक आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान देना कठिन होता है, क्योंकि एक कक्षा में कई कोटि के बालक पाये जाते हैं। कोई बहुत जल्दी सीख लेता है और किसी को बड़ी देर लगती है। ऐसी स्थिति में तेज और कमजोर बालकों में समझौता करना कठिन हो जाता है। जब शिक्षक कमजोर बालक के समझाने में लग जाता है तो तेज बालक कुढ़ता है और पाठ्य-विषय से उसकी रुचि हट जाती है।

बहुत सी बातों में बालकों की आपसी असाम्यता से कक्षा-शिक्षण में शिक्षक को अपने परिश्रम का उचित फल नहीं मिलता। कभी-कभी कुछ बालकों की शक्ति, आवश्यकतायें और समस्यायें दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें कक्षा-शिक्षण विधि से पढ़ाना उनके विकास में रोड़े अटकाना है। थोड़ी-अधिक भिन्नता से कभी-कभी कुछ लाभ हो भी जाता है, क्योंकि उससे स्पर्धा-भावना के कारण व्यक्ति में विकास के लिए प्रेरणा आ जाती है। परन्तु अधिक भिन्नता वाले बालकों को ३५-४० बालकों की बड़ी कक्षा में पढ़ाने से कभी मनोवांछित फल नहीं मिल सकता। कमजोर विद्यार्थी सदा किसी न किसी बात में पिछड़ा ही रहता है। कक्षा में जो कुछ पढ़ा दिया जाता है उसे वे पचा नहीं पाते। सभी

1. Class Instruction and Individual Instruction. 2. Some Defects of Class Instruction.

लड़कों के साथ पाठ्यक्रम समाप्त कर लेने पर भी उनके मस्तिष्क में कुछ नहीं आता। अध्यापक अपने चलने की चाहे जो गति बनाये सभी बालकों के लिए वह एक सी लाभप्रद नहीं हो सकती। जो लड़के भाषा में कमजोर हैं उन्हें कक्षा शिक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ अधिक समय नहीं दिया जा सकता, न उनमें विशिष्ट रुचि वाले छात्र के लिए कोई विशेष प्रबन्ध ही किया जा सकता है। इन सब दृष्टियों से कक्षा शिक्षण दोषयुक्त दिखलाई पड़ता है।

ऊपर हम कई बार कह चुके हैं कि बालक के चरित्र-विकास में शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव बड़ा महत्वपूर्ण होता है। कक्षा शिक्षण में शिक्षक बालकों के सम्पर्क में इतना नहीं आता कि वह उनका ठीक से नाम भी याद कर सके, तो समुचित रूप से प्रभावित करने की बात कहाँ तक की जाय। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कक्षा-शिक्षण अमनोवैज्ञानिक भी है। क्योंकि उसमें बालक के साधारण स्वभाव की अवहेलना की जाती है। चुपचाप बैठा रहना बालक को पसन्द नहीं। वह कुछ न कुछ करते रहना चाहता है। अध्यापकों के प्रवचन सुनने में उसकी रुचि नहीं। पर कक्षा में ऐसा सम्भव नहीं। इसीलिए तो छोटे लड़के कक्षा में बहुधा ऊधम मचाते हुए देखे जाते हैं।

२—कक्षा-शिक्षण के कुछ गुण[1]

कक्षा शिक्षण के उपर्युक्त दोषों से तो ऐसा जान पड़ता है कि वह सर्वथा त्याज्य है। पर बात ऐसी नहीं। इसीलिए तो वैयक्तिक शिक्षण की कई विधियों के आविष्कार होने पर भी कक्षा-शिक्षण का महत्व एकदम घटा नहीं। वैयक्तिक-शिक्षण पूर्णतः सम्भव होता तो वह आदर्श की बात होती। पर इस आदर्श तक पहुँचना कठिन है। इतने अध्यापकों की व्यवस्था कैसे की जा सकती है? इसमें आर्थिक समस्या भी आ जाती है। दूसरे, बालक में भी सामूहिकता[2] की मूलप्रवृत्ति काफी जागृत रहती है। वह अपनी उम्र और कोटि के बालकों के साथ रहना चाहता है। वह अपने इस समाज में रहकर नैतिकता तथा आचरण-सम्बन्धी अनेक पाठ सीखता है। उसका मानसिक विकास भी अपनी कोटि के बालकों में रहकर अधिक होता है, क्योंकि, स्पर्धा[3], अनुकरण[4],

1. Some Merits of Class Instruction. 2. Instinct of Gregariousness. 3. Emulation. 4. Imitation.

सहानुभूति[1] आदि प्रवृत्तियों के कारण वे एक दूसरे से बराबरी या बढ़ जाने की चेष्टा में रहते हैं। इस चेष्टा से उनमें कई गुणों का आ जाना सरल होता है।

कभी-कभी यह देखा गया है कि वैयक्तिक-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत बालक कक्षा-शिक्षण की भाँति नहीं सीख पाता, क्योंकि अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी रहती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें सहानुभूति, सहयोग और अनुकरण की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसे पाठ्य-विषयों में बालकों की संख्या जितनी ही अधिक होगी शिक्षण उतना ही सफल होगा। श्रोतागण की संख्या जितनी ही अधिक होती है भाषण-वक्ता बहुधा उतना ही अच्छा व्याख्यान देता है। यही बात शिक्षक के सम्बन्ध में भी कुछ अवसरों पर कही जा सकती है। ऐसे अवसर जॉन ऐड्म्स के शब्दों में "साहित्य, धर्म, ज्ञान, कला, संगीत, इतिहास तथा भूगोल" के शिक्षण में आते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि कक्षा-शिक्षण में कमजोर विद्यार्थियों के कारण एक ही बात के बार-बार दोहराने से केवल उन्हीं का लाभ नहीं होता, वरन् तेज छात्रों के मस्तिष्क में भी बात बड़ी अच्छी तरह बैठ जाती है। इन्हीं सब कारणों से मॉन्टेसरी, प्रोजेक्ट मेथड, 'डाल्टन प्लान' आदि पद्धतियाँ विरोधी होते हुए भी कक्षा-शिक्षण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं करतीं और इन्हें भी समय-समय पर कक्षा-शिक्षण का आश्रय लेना पड़ता है। इससे यह जान पड़ता है कि हमें किसी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना होगा।

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षण के स्थान पर किस समन्वित मार्ग को अपनाया जाय इसका भी एकमत से निश्चय नहीं किया जा सका है। आदर्श तो यह होगा कि वैयक्तिक-शिक्षण विधि के अन्तर्गत ही कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे कक्षा-शिक्षण वाले लाभ से छात्र वंचित न रह सकें। पर अभी तक किसी ऐसे मार्ग की सम्भावना नहीं दीख पड़ी है जो इस दृष्टिकोण से दोषमुक्त प्रतीत हो। अतः वर्तमान स्थिति में तो यही ठीक जान पड़ता है कि कक्षा-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही छात्रों पर वैयक्तिक ध्यान देने का कुछ प्रबन्ध किया जाय। यह ठीक है कि ऐसे प्रबन्ध में शिक्षक का उत्तरदायित्व और

1. Sympathy

परिश्रम बढ़ जायगा। पर क्या ऐसा करने में वह अपने कर्तव्य का ही पालन न करेगा ?

बालकों पर यदि वैयक्तिक ध्यान देना न हुआ तो शिक्षक कक्षा में आकर मनमाना पढ़ा देने से ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बालकों के विकास पर कुठाराघात करेगा। ऐसी स्थिति को हमें यथाशक्ति रोकना है और कुछ ऐसी विधियों का अवलम्बन लेना है जिनसे छात्रों की वैयक्तिक भिन्नता का शिक्षक को ज्ञान देकर यथासम्भव बालकों की आवश्यकतानुसार शिक्षण-कार्य को सगठित करना है। इस प्रयत्न में शिक्षक के भार को कुछ कम करने के लिए कक्षा में बालकों की संख्या ३५-४० से २०-२५ करनी होगी और स्कूल में शिक्षकों की संख्या को भी बढ़ाना होगा। सामान्य स्कूल-परिस्थिति के अन्तर्गत वैयक्तिक-शिक्षण की व्यवस्था के लिए कुछ पद्धतियों का निर्माण किया गया है। संक्षेप में नीचे हम इसका उल्लेख करते हैं :—

३—मैकमन की दो-दो की शिक्षण-विधि

मैकमन[1] का कहना है कि सम्पूर्ण कक्षा को यदि दो-दो बालकों की टोली में विभाजित कर पढ़ाया जाय तो यह कक्षा-शिक्षण से कहीं अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि इसमें वैयक्तिक-शिक्षण और कक्षा-शिक्षण दोनों के गुण आ जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका बालक पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक होती है और आवश्यकता पर अध्यापक की सहायता भी मिल जाती है। इस प्रकार मैकमन शिक्षा में साझेदारी[2] की भावना का प्रवर्तक है। उसके ये विचार शिक्षण-कला के बड़े गुण देनों में से माने जाते हैं। इस सिद्धान्त का प्रधान उद्देश्य यह है कि अधिकतम समय में बालक क्रियाशील रहें और यथासम्भव वह अपने आप से सीखने की चेष्टा करें।

मैकमन ने यह समझ लिया था कि प्रचलित शिक्षण-विधि का प्रधान दोष है कि उसमें बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता की जागृति के लिए अवसर नहीं दिया जाता। जहाँ शिक्षा देने की धुन में सब कुछ शिक्षक

[1] Muno. 2. Partnership.

अपने आप ही बह जाता है। जैसे छोटे बर्तन में बड़े मुँह [illegible] पानी गिरने से बर्तन भरता नहीं, प्रत्युत उसमें जो कुछ [illegible] भी थोड़ा भाग बाहर गिर जाने का भय रहता है, वैसे ही [illegible] वाणी बालकों के मस्तिष्क में नहीं जमती। इसके फलस्वरूप [illegible] आता है उसे भी वे कभी-कभी भूल जाते हैं। अतः शिक्षक [illegible] पर नियन्त्रण रख बालकों को स्वयं सीखने के लिए उत्साहित [illegible] लगाकर देखा गया है कि कक्षा में शिक्षक और छात्रों के [illegible] अनुपात २० : १ का है अर्थात् शिक्षक यदि ३० मिनट बोलता है [illegible] १½ मिनट बोल पाता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विरुद्ध है [illegible] तो शिक्षा में क्रियाशीलता[1] की इतनी आवाज उठाई गई [illegible] रही है।

मैकमन का कहना है कि कक्षा-समय मे प्रत्येक बालक को [illegible] है। आधे समय तक उसे सीखना है और आधे में उसे अपने [illegible] का उत्तर देना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैकमन ने [illegible] की रचना की जिन्हे अंग्रेजी में "डिफेरेन्शियल पार्टनरशिप बुक्स" [illegible] मैकमन का यह अनुभव रहा कि उन विषयों को छोड़कर जिनमें [illegible] सहायता पग-पग पर आवश्यक होती है अन्य विषयों में इन पुस्तकों [illegible] से बालक बहुत कुछ अपने आप ही सीखने में समर्थ होजाते हैं। [illegible] में सर्वप्रथम शिक्षक बालकों को कार्य करने की पूरी विधि [illegible] इसके बाद लड़के दो-दो की टोलियों में बँट कर कार्य [illegible] कुछ देर के बाद सभी एकत्रित होते हैं, जिससे शिक्षक [illegible] सुधार कर सके। इस प्रकार इस विधि से लड़के अपने से [illegible] जाते हैं।

मैकमन शिक्षक की स्थिति की तुलना डाक्टर से करता है [illegible] की दवा इस प्रकार करता है कि फिर उसको देखने की [illegible] यदि डाक्टर की उपस्थिति नित्य आवश्यक है तो इसका अर्थ [illegible]

1. Activity. 2. Differential Partnership

वे स्वतः उपाय सोचें। अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "निर्देशित स्वाध्याय"—विधि कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण का अच्छा समन्वय है। प्रथम दो भाग में सभी छात्र एक साथ ही कक्षा में बैठ कर शिक्षक की बातें सुनते हैं और तीसरे भाग में उन्हें अपनी व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है।

५—गैरी पद्धति[1]

अमेरिका के इण्डियाना राज्य के डब्लू० ए० वर्ट ने एक नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया है, जिसे "गैरी पद्धति" कहते हैं। वर्ट का विचार है कि स्कूल ज्ञान देने का नहीं वरन् शिक्षा देने का स्थान है। उसके अनुसार, 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन हैं। अत, उसने एक ऐसे स्कूल के संगठन करने का प्रयत्न किया जहाँ बालकों के खेल और [illegible] समुचित प्रबन्ध होते हुए भी 'ज्ञान' सीखने का भी पूरा प्रबन्ध [illegible] प्रकार स्कूल प्रधानतः 'घर', 'मनोरंजन के स्थान' तथा 'कार्यशाला' [illegible]

वर्ट कहता है कि जैसे घरों और बगीचों में बालकों के लिए [illegible] स्थान नहीं होता और वे कहीं भी बैठ-उठ सकते हैं, [illegible] प्रत्येक बालक के लिए एक निश्चित स्थान का होना आवश्यक [illegible] कर वर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्कूल में जितने कमरे [illegible] ही काम निकल सकता है, क्योंकि जब कुछ लड़के बाहर [illegible] आधे कमरे हर समय खाली पड़े रहते हैं। अतः [illegible] कुल संख्या के आधे ही के लिए बैठने की व्यवस्था [illegible] में काम करने की। परन्तु गैरी-पद्धति की [illegible] स्कूल में काम करने और खेलने के लिए और [illegible] कला-गृह, पुस्तकालय, मनोरंजन-स्थान, [illegible] आदि स्थानों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है।

वर्ट ने अपनी शिक्षा-पद्धति में दो [illegible]

---

1. The Gary System "गैरी" [illegible] कारण इसका नामकरण गैरी कर दिया [illegible]

ने स्कूल-समय को बड़ा बना दिया और स्कूल-कार्य को भी तदनुसार
बनाना पड़ा । 'स्कूल' खेल, कार्य और अध्ययन करने का स्थान है
छुट्टियाँ देने की व्यवस्था ही नहीं की गई ; क्योंकि स्कूल में रहते हुए भी
ोरंजन द्वारा बालक छुट्टियाँ मना सकता है । इस विश्वास के कारण
को तथा अन्य छुट्टियाँ काट दी गई । स्कूल बारहों महीने और सप्ताह
रहता है । (२) अपने अवकाश के समय अभिभावकों को स्कूल में आने
न्त्रण सदा खुला रहता है । वे किसी भी समय आकर स्कूल में अपना
रंजन कर सकते हैं । इस प्रकार वर्ट ने स्कूल-अधिकारियों और अभि-
ों तक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है ।

यहाँ 'गैरी पद्धति' के केवल उन्हीं अंशों पर दृष्टिपात करेंगे जिनसे शिक्षा
को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और उसे अपने विकास के
म्मेदार बनाया जाता है । अन्य स्कूलों की अपेक्षा "गैरी स्कूलों" के
ो अधिक स्वतन्त्रता होती है । ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बालक
मय स्कूल में काम ही नहीं करना पड़ता और न शिक्षक को प्रवचन ही
है । कुछ अध्यापकों का कर्तव्य बालकों की वैयक्तिक आवश्यकताओं
न कर तदनुसार उनके कार्य, मनोरंजन और अध्ययन की व्यवस्था
होता है । वे बालकों को पाठ्य-वस्तु की ओर संकेत कर देते हैं और
तला देते हैं कि किस कक्षा में उनका बैठना आवश्यक होगा । इस
क्तिक स्वतन्त्रता के आयोजन का कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयत्न अवश्य
ता है । 'गैरी-पद्धति' में एक विशेषता यह है कि कभी-कभी इन बारह
बालकों को एक ही स्थान पर एकत्रित किया जाता है और उन्हें
ध्यापक कुछ देर तक कुछ पढ़ाता अथवा उनसे कोई काम कराता है ।
कक्षा-शिक्षण का भी रूप इस पद्धति में दिखलाई पड़ता है । यद्यपि
ों में ऐसे योग्य अध्यापक नहीं मिलते जो इतनी बड़ी कक्षा का निरी-
हुए उनके अध्ययन में लाभ दें, पर कुछ तो ऐसे अवश्य ही हर अभी
ते हैं ।

udutorium.

२—कक्षा-शिक्षण के कुछ गुण

वैयक्तिक शिक्षण पूर्णतः सम्भव नहीं, कक्षा में आचरण का पाठ, अपनी उम्र के बालकों के साथ बालक की प्रवृत्तियों का विकास, अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी।

नई शिक्षण-पद्धतियों को भी कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता, कक्षा-शिक्षण के अन्तर्गत वैयक्तिक ध्यान देने का प्रबन्ध, कक्षा में बालकों की संख्या कम और स्कूल में अध्यापकों को बढ़ाना आवश्यक।

३—मंकमन की दो-दो की शिक्षण-विधि

वैयक्तिक और कक्षा-शिक्षण दोनों के गुण, स्वयं सीखने के लिए उत्साहित करना।

शिक्षक की स्थिति डाक्टर की तरह।

४—निरीक्षित स्वाध्याय

शिक्षक के निरीक्षण में बालक अपनी शिक्षा के लिए उत्तरदायी, वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना।

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण का अच्छा समन्वय।

५—गैरी पद्धति

स्कूल ज्ञान देने का नहीं—वरन् शिक्षा देने का स्थान, 'कार्य' 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन।

स्कूल-समय और कार्य पहले से बढ़ा, छुट्टी नहीं, स्कूल-अधिकारियों और अभिभावकों में घनिष्ठ सम्बन्ध।

बालकों को अधिक स्वतन्त्रता, कक्षा-शिक्षण का भी रूप।

बाहरी और स्कूल के जीवन में सम्बन्ध।

कक्षा-शिक्षण पर ध्यान कम, अप्लीकेशन टीचर।

६—"मेसन पद्धति"

'क्या' और 'कैसे' पढ़े, पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के पाठ, मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर जोर, उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बाधक।

अथवा साहित्यिक आदि विषय नहीं पढ़ाये जाते, वरन् उन्हें यह सिखलाया जाता है कि "क्या और कैसे पढ़ें ।" "क्या और कैसे पढ़ें" का ज्ञान हो जाने पर बालक स्वतन्त्र अध्ययन में समर्थ हो सकेंगे । मेसन के अनुसार बालकों की पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के विषयों का होना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी रुचि बनी रहेगी । विषय ऐसे हों कि वे यथासम्भव उनके वैयक्तिक अनुभव की ओर संकेत कर सकें । ऐसा होने से वे उन्हें स्वतः समझ सकेंगे । विषय को एक बार बालक को पढ़ने के लिए देना चाहिए । तत्पश्चात् मौखिक और लिखित रीति से उसे व्यक्त करने के लिए उन्हें उत्साहित करना चाहिए ।

इस प्रकार मेसन पद्धति में मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर विशेष ज़ोर दिया जाता है, क्योंकि मिस मेसन का विश्वास है कि बिना आवृत्ति के कोई ज्ञान स्थायी नहीं होता । पर यह ध्यान देने की बात है कि मेसन-पद्धति में ज्ञानार्जन के लिए बालक को एक ही बार पढ़ने पर जोर दिया जाता है, जिससे एक ही बार में वह अपना ध्यान एकाग्रित करना सीख ले । जहाँ कहीं भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया वहाँ इसे बड़ी सफलता मिली है । साधारण स्कूलों के छात्रों की अपेक्षा 'मेसन पद्धति' पर चलने वाले स्कूलों के छात्र अधिक श्रम, उत्साह और सलग्नता से अपना विषय पढ़ते और याद करते हैं और उनका ज्ञानार्जन भी अधिक होता है । पर मेसन-पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बड़ा बाधक दिखलाई पड़ता है ।

सारांश

कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक-शिक्षण

१—कक्षा-शिक्षण के कुछ दोष

।ल.कों ः असमानता से शिक्षण का वाछित फल नहीं, कमजोर का पिछ-
और तेज के समय का नष्ट होना, वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना सम्भव
।

शिक्षक के व्यक्तित्व से पूर्ण लाभ कक्षा-शिक्षण में सम्भव नहीं, बाल-स्वभाव
की उपेक्षा ।

३५
परीक्षा[1]

१—भूमिका

परीक्षा हमारी शिक्षा-प्रणाली का एक मुख्य अंग है। अतः इस पर भी कुछ विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है। परीक्षा बालकों की शिक्षा का मापदण्ड हो गई है। उन्हें परीक्षा में पास होने के लिए ही पढ़ाया जाता है। शिक्षक के सामने भी मुख्य उद्देश्य अपने छात्रों को परीक्षा में शत प्रतिशत उत्तीर्ण करना ही रहता है। व्यक्तित्व के विकास का आदर्श शिक्षकों के सामने बहुत कम आता है। वास्तव में यह स्थिति बड़ी खेदजनक है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि परीक्षा से हानि ही होती है, परन्तु हमें उसके गुण और अवगुण दोनों पर ध्यान देना चाहिए। पढ़ाया हुआ विषय विद्यार्थी ने कहाँ तक समझ लिया है तथा शिक्षक अपने अध्यापन-कार्य में कहाँ तक सफल हुआ है इसकी जाँच के लिए परीक्षा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इसलिए छात्रों को समय-समय पर परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा भी कुछ परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके फल पर प्रमाण-पत्र दिया जाता है। पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी हो गई है कि इससे विद्यार्थियों को बड़ा डर लगता है। परीक्षा के समय उन्हें खाने-पीने का अवकाश नहीं रहता। रात-रात भर जाग कर परिश्रम करने पर भी उन्हें परीक्षा का डर बना ही रहता है। नीचे हम परीक्षा के कुछ अन्य दोषों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं, इसलिए उन्हें इन सूत्र रूप में ही दे रहे हैं।

1. Examination.

प्रश्न

१—कक्षा-शिक्षण के गुण-दोष का विवेचन कीजिए ।

२—वैयक्तिक शिक्षण की कुछ विधियों की आलोचना कीजिए ।

* * *

सहायक पुस्तकें

१—बॉसिंग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड्स ऑव टीचिंग इन सेकण्डरी स्कूल्स
२—बर्टन, विलियम ऐच०—द गाइडेन्स ऑव लर्निंग ऐक्टीविटीज ।
३—मेसन—एन एसे टुवर्ड्स ए फिलॉसफी ऑव् एडुकेशन ।
४—सी० डब्लू० वाशबर्न—ऐडजस्टिंग द स्कूल टु द चाइल्ड ।
५—डब्लू० जे० मैकक्लिस्टर—द ग्रोथ ऑव फ्रीडम इन एडुकेशन ।
६—डब्लू० सी० बैगले—एडुकेशनल वैलूज ।
७—स्टेवेन्सन—प्रॉजेक्ट मेथड इन टीचिंग ।
८—ई० डीवी—डाल्टन लेबोरेटरी प्लान ।
६—ह्यूगुस—लर्निंग ऐण्ड टीचिंग, अध्याय २० ।
०—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज ऑव टीचिंग, अध्याय २४ ।

* * *

विद्यार्थी से परीक्षा में आगे बढ़ जाता है। इसका कारण उपर्युक्त प्रथम दो पैराग्राफ में स्पष्ट है।

७—प्रश्नों का निश्चित और स्पष्ट उत्तर नहीं होता। विभिन्न परीक्षार्थी अपनी-अपनी विधि से उत्तर देते हैं। कोई तर्क शक्ति पर जोर देता है तो कोई स्मृति और बातों की क्रम-बद्धता पर। वस्तुतः परीक्षक इन तीनों बातों का एक ही में समन्वय चाहता है, पर एक ही उत्तर में विभिन्न मानसिक क्रियाओं का समन्वय सम्भव नहीं।

३—सुधार के लिए कुछ सुझाव

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के लिए शिक्षा-शास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिकों की सहायता से एक नई परीक्षा प्रणाली का आविष्कार किया है जिसे 'अचीवमेण्ट टेस्ट' या न्यू टाइप-टेस्ट' अथवा 'ज्ञान-परीक्षा' कहते हैं।[1] अचीवमेण्ट टेस्ट के गुण और अवगुण दोनों हैं। वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली के बहुत से दोषों को उसने निःसन्देह दूर किया जा सकता है। परन्तु हमारे गरीब देश में, जहाँ कि साक्षरता की ही समस्या का सरल समाधान नहीं दिखलाई पड़ता उसका प्रयोग धनाभाव के कारण सम्भव नहीं। "अचीवमेण्ट टेस्ट" की रचना के लिए हमें कुछ विशिष्ट अध्यापकों की ही आवश्यकता न होगी, वरन् उन्हें शिक्षा भी एक दूसरे ढंग से देनी पड़ेगी। पर हमारी वर्त्तमान शिक्षा-व्यवस्था 'अचीवमेण्ट टेस्ट' के निर्माण तथा उपयोग के लिए अभी पूर्णतः तैयार नहीं। हम यहाँ 'अचीवमेण्ट टेस्ट' के गुणों और अवगुणों का विवेचन नहीं करेंगे। इसकी व्याख्या तो किसी एक अलग ही पुस्तक में सम्भव है। हम यहाँ केवल यही विचार करेंगे कि वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली में किन-किन बातों का सुधार कर दिया जाय कि वह काम चलाऊ हो जाय, क्योंकि सुधार का धीरे-धीरे लाना ही अधिक युक्ति-संगत और व्यावहारिक होता है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि परीक्षा का होना आवश्यक है। हमें प्रयत्न यह करना है कि वह उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाय। यथासम्भव परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में लेनी चाहिए। उसका वातावरण कृत्रिम न हो, अन्यथा छात्रों के

1. Achievement Test or New Type Test.

मन में उनके प्रति भय न जायगा। परीक्षा का रूप ऐसा हो कि वह छात्र के दैनिक शिक्षा-क्रम का ही आवश्यक अङ्ग मालूम हो। यदि उसे दैनिक शिक्षा-क्रम का साधारण अङ्ग बनाया जा सका तो उसकी पूर्व सूचना आवश्यक न होगी। विषयों के अध्यापन की तरह अचानक एक दिन परीक्षा भी हो जायगी। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाती तो वह आदर्श होता। इससे छात्रों में प्रतियोगिता की भावना न आएगी। प्रतियोगिता से शारीरिक और मानसिक शक्तियों का बड़ा ह्रास होता है। परीक्षा के पूर्व बालकों से स्पष्ट कह देना चाहिए कि बिना डर के उन्हें जो कुछ आता हो लिखें।

प्रश्नपत्र के बनाने में अध्यापकों को कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। कठिन-२ प्रश्न देना मनोवैज्ञानिक नहीं। प्रश्न इतने सरल हों कि अधिकांश छात्र अधिक से अधिक लिख सकें। प्रश्नपत्र का लम्बा होना भी ठीक नहीं। प्रश्नों की रचना में यह ध्यान रहे कि छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल कुछ प्रश्न अवश्य मिल जाँय। प्रश्नपत्र एक ही बैठक में नहीं बनाने चाहिए। ऐसा करने से प्रायः उन्हीं प्रश्नों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो कि आसानी से बन जाते हैं और इस प्रकार पठित विषय का बहुत भाग छूट जाता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक पाठ से कुछ न कुछ बातें पूछी जायँ। ऐसा करना असम्भव नहीं—पर प्रश्नपत्र बनाने में अध्यापक को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ; भाषा के प्रश्नपत्र में व्याख्या, शब्दार्थ, जीवन-चरित्र तथा शैली आदि सम्बन्धी प्रश्न विभिन्न पाठों से बनाये जा सकते हैं। अपनी दृष्टि से केवल महत्वपूर्ण पाठों से ही प्रश्नों को चुन देना ठीक नहीं। इसी प्रकार भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा गणित आदि विषयों में भी सभी पठित-विषयों से कुछ न प्रश्न बनाये जा सकते हैं। ऐसा करने से परीक्षार्थियों की अनुमान लगाने की टेव धीरे-धीरे बहुत कम हो जायगी। प्रश्नों का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से भी कुछ कहने की स्वतन्त्रता हो। इससे उनके व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होगी और परीक्षा का मूल्य भी बढ़ जायगा।

उपर्युक्त बातें तो विशेषकर स्कूल की आन्तरिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में हुईं। पर इनके अतिरिक्त जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ दूसरी परीक्षायें भी होती हैं जो शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा आयोजित की जाती हैं। इन्हें

सन्देह नहीं कि हमारे स्कूल के अध्यापक किसी से कम ईमानदार नहीं। दायित्व
पाने पर वे इतना सतर्कता से काम करेंगे कि ऐसी शङ्का के लिए कहीं स्थान भी
न रहेगा।

अब उत्तर पुस्तकों की परीक्षा की बात आती है। वस्तुतः इनकी परीक्षा
करना प्रश्नपत्र बनाने से कहीं कठिन है। हम ऊपर कह चुके हैं कि एक उत्तर
पर विभिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अङ्क देते हैं। इस दोष के सुधार के लिए
प्रकार के सुझाव दिये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्रश्न ऐसे पूछे जा
जिनमें छात्र की लेखन शक्ति की परीक्षा न हो, वरन् ज्ञान अर्थात् आवश्यक बा
की परीक्षा हो। यदि लेखन शक्ति की परीक्षा आवश्यक हो तो उसमें बीस प्रति
शत से अधिक अङ्क न रखने चाहिए। उनका कहना है कि सात या आठ प्रश्न
चुन कर तो प्रश्नों के लगभग पूछने चाहिए। ये प्रश्न ऐसे हों कि प्रत्येक का उ
तीन-चार शब्दों में हो आ जाय। यह प्रणाली केवल भूगोल, इतिहास, विज्ञा
और भाषा में ही नहीं, वरन् गणित में भी लागू हो सकती है। परीक्षा की
प्रणाली मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा के लिए बनाये गये प्रश्न-प्रणाली से बहु
बहुत मिलती है। इस प्रणाली में अङ्क देना परीक्षकों की झक पर नहीं नि
करेगा। इसमें पाठ्य-विषय का अधिकांश सम्मिलित किया जा सकता है।

कुछ दूसरे शिक्षा शास्त्री उपर्युक्त विधि से पूर्णतः सहमत नहीं। उन
कहना है *कि साहित्य और भाषा जैसे विषयों में उत्तर के विभिन्न सूत्रों का पार*
में सम्बन्धित होना आवश्यक है। सम्बन्धित सूत्रों में अपने भाव को व्यक्त कर
की शक्ति इतनी आवश्यक है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। छात्रों
इस शक्ति के विकास के लिए उचित प्रेरणा देना आवश्यक है। उपर्युक्त
परस्पर विरोधी मतों में समझौता करना आवश्यक है। हमें लेखन-शक्ति का
विकास करना है और साथ ही साथ यह भी देखना है कि लेखन-शक्ति
परीक्षा दूसरी आवश्यक बातों को ढक न ले। हमें परीक्षक के झक के लिए
से कम स्थान देना है। यह देखना है कि परीक्षा के लिए महत्वपूर्ण प्रश्नों
छात्र अनुमान ही न लगावें, वरन् विषय के वास्तविक बोध-प्राप्ति की चेष्टा करें
सबसे अच्छी विधि यह मालूम होती है कि प्रश्नपत्रों में बहुत से कई प्रकार
प्रश्न दिये जायें। इनका उत्तर एक दो, तीन या चार शब्दों में एक या दो-

ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—हाँ, यह ज्ञान रटी हुई बातों से एकदम भिन्न है। यदि चरित्र-निर्माण ही शिक्षा की वास्तविक परीक्षा समझी जाय तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि बौद्धिक ज्ञान चरित्र-निर्माण में सहायक ही है क्योंकि परीक्षा से बौद्धिक ज्ञान की सीमा नापी जाती है। सत्य यह है कि शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोधी नहीं। हाँ, परीक्षा का ऐसा रूप न हो कि लड़कों के लिए वह हउआ हो जाय। यदि गत पृष्ठों में किये गये सकेतों के अनुसार चला जाय तो परीक्षा के बहुत कुछ दोष दूर किये जा सकते हैं और शिक्षा उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग सरल हो सकता है।

सारांश

परीक्षा

१—भूमिका

परीक्षा माप-दण्ड, परीक्षा के लिए पढ़ाना।

२—वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के कुछ दोष

३—सुधार के लिए कुछ सुझाव

अचीवमेण्ट टेस्ट्स के प्रयोग में कठिनाई, परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में; परीक्षा दैनिक शिक्षा के अंग की तरह।

सरल प्रश्न, लम्बा नहीं, छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल, प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में न बनाना, सभी पाठों के अंश, प्रश्न का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से कहने की स्वतन्त्रता।

सार्वजनिक परीक्षायें, इनका शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा प्रभाव, परीक्षा एक कला।

परीक्षक को पाठ्यक्रम और पठित विषय का पूरा ज्ञान होना, पढ़ाने के क्रम में ही समय-समय पर प्रश्न लिखते रहना, सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षकों को भी पाठ्य-पुस्तक को खूब पढ़ना चाहिए, अपरीक्षणीय विषय को न देना।

स्कूल के अध्यापक का परीक्षक होना उत्तम।

उत्तर-पुस्तक देखना कठिन, मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा को स्थान देना।

कई प्रकार के प्रश्नों का देना—उनका उत्तर छोटा और बड़ा दोनों होना, प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में लेखन-शक्ति विशेष की परीक्षा नहीं।

आदर्श उत्तर का विश्लेषण, शीघ्रता से पढ़कर मूल्यांकन करना, विभिन्न अंगों के अनुसार जाँचना, वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक।

परीक्षा अनिवार्य, परीक्षा से ज्ञात परिष्कृत, स्पर्धा, बौद्धिक ज्ञान की ही मापना, शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोध नहीं।

* * *

प्रश्न

१—वर्तमान परीक्षा-पद्धति के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

२—वर्तमान परीक्षा-पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए सुझाव दीजिए

* * *

सहायक पुस्तकें

१—ग्रीन ऐण्ड वर्कएनफ—ए प्राइमर ऑव टीचिंग प्रैक्टिस, अध्याय १३, १४।
२—टी० रेमाण्ट—माडर्न एडुकेशन, अध्याय ९।
३—बार्ड ऐण्ड रॉसक्यू—द अप्रोच टु टीचिंग, अध्याय १३।
४—बैलर्ड—द न्यू एक्जामिनर।
५—पी० जे० हार्टॉग—एक्जामिनेशन ऐण्ड देयर रिलेशन टु कल्चर ऐण्ड एफीसीएन्सी।
६—बी० सी० वालिस—द टेकनिक ऑव एक्जामिनिंग चिल्ड्रेन।
७—सी० डब्लू० वैलेनटाइन—द रिलायेबिलिटी ऑव् एक्जामिनेशन्स।
८—स्टॅट ऐण्ड ग्रोव्हेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडुकेशन, पृष्ठ २०४–२४१।
९—सी० आफोर्ड—हाऊ टु टीच, अध्याय २५।
१०—बॉसिंग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिंग इन सेकण्डरी स्कूल्स, अध्याय २०।
११—स्कीनर—एडुकेशनल साइकॉलोजी, अध्याय १७ (१९४५)।
१२—ल्योनार्ड, जे० पॉल—ऐन इवैलुएशन ऑव् माडर्न एडुकेशन (१९४२)।
१३—रॉस सी० सी०—मेजरमेण्ट इन टुडेज स्कूल्स (१९४१)।

* * *

पंचम खण्ड

कुछ शिक्षण-पद्धतियाँ

३६
प्रॉजेक्ट पद्धति[1]

प्रॉजेक्ट पद्धति अमेरिका के शिक्षा विशारदों द्वारा अनुप्राणित की गई है। इसमें डीवी और किलपैट्रिक का विशेष हाथ कहा जाता है। कृषि शिक्षा में किये गये प्रयोग के आधार पर प्रॉजेक्ट पद्धति का जन्म हुआ है। जब तक कृषि शिक्षा के लिए स्कूलों में खेत और क्यारियाँ आदि के रूप में समुचित संगठन नहीं किया गया बालक कृषि सम्बन्धी अपने प्रयोग घर पर ही एक वातावरण उत्पन्न करके करते थे। बालक के अनुभवों से शिक्षकों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके आधार पर किलपैट्रिक के नेतृत्व में एक नई शिक्षा विधि का जन्म दिया गया। प्रॉजेक्ट पद्धति के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर भी संकेत किया गया है।

१—मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य वातावरण के सम्पर्क में आकर कई प्रकार का अनुभव करता है। वह समझता है कि उसका वातावरण पर प्रभाव पड़ता है और वह भी वातावरण द्वारा जान अथवा अनजान में प्रभावित होता है। इस प्रकार अपने तथा वातावरण के परस्पर आदान-प्रदान पर उसके व्यक्तित्व का विकास बहुत हद तक निर्भर रहता है। व्यक्ति की सदा यह चेष्टा रहती है कि वह वातावरण में उपस्थित वस्तुओं तथा अपनी दैनिक इच्छाओं में शीघ्रातिशीघ्र एक सामंजस्य प्राप्त कर ले। जब तक वह इस सामंजस्य को नहीं पाता उसे चैन नहीं। इस सामंजस्य के पा लेने पर वह कुछ देर के लिए शान्त हो जाता है। पर व्यक्ति की इच्छायें विभिन्न हुआ करती हैं। विकास के अनुसार इनका क्षेत्र दिन पर

1. Project Method.

दिन बढ़ता ही जाता है। फलतः किसी न किसी सामञ्जस्य प्राप्ति के लिये उसमें प्रेरणा और उत्साह बना ही रहता है। इस प्रेरणा और उत्साह के अभाव में वह जीते हुए भी मृतक के समान है। उसका जीवन पशुवत् हो जाता है।

सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में किसी विषमता के देखने से उसका व्यक्तित्व उत्तेजित हो उठता है और अपनी शक्ति के अनुसार सामञ्जस्य की प्राप्ति के लिए रास्ते ढूँढ़ने के चक्कर में वह लग जाता है। इस प्रकार के अनुभव से उसको एक ऐसी आदत पड़ जाती है कि भविष्य में भी यथा अवसर उसमें पूर्व संस्कार उत्तेजित हो उठते हैं और वह आवश्यक क्रिया में अनायास लग जाता है। यदि शिक्षणीय विषय को बालक के सामने एक ऐसी समस्या के रूप में रखा जाय कि उसे वातावरण में अपेक्षित सामञ्जस्य में विषमता दिखलाई पड़े तो उस समस्या की पूर्ति के लिए उसमें स्वभावतः प्रेरणा और उत्साह आ जायगा। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य की नींव पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना की गई है।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने कुछ ऐसी समस्यायें रखी जाती हैं जिन्हें उन्हें यथासम्भव वास्तविक परिस्थिति के वातावरण में पूरी करनी होती है। स्कूल में बहुत से ऐसे कार्य कराये जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से सम्बन्ध बालकों को नहीं मालूम होता। अङ्कगणित के अभ्यासों में यह बात बहुधा देखी जाती है। भूगोल के पाठ में भी अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो वास्तविक परिस्थिति के बहुत परे मालूम पड़ते हैं, क्योंकि बहुत सी बातें कल्पना के ही आधार पर माननी पड़ती है। उदाहरणार्थ, दो स्थानों की दूरी का अनुमान हम एक कल्पित माप-दण्ड के आधार पर लगा लेते हैं। किसी स्थान के जल-वायु के बारे में कुछ बातों का अध्ययन कर अनुमान किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति ऐसी स्थिति की बड़ी कड़ी आलोचना करती है और स्कूल और वास्तविक ~ में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की पक्षपाती है।

प्रॉजेक्ट-पद्धति स्कूल को ज्ञान देने का केन्द्र न मान कर उसे कार्य केन्द्र बनाना चाहती है। डा० स्टेवेन्सन के अनुसार प्रॉजेक्ट पद्धति वह विधि है जिसमें किसी समस्यात्मक कार्य[1] को उसके स्वाभाविक वातावरण के अन्तर्गत

1. Problematic Act.

पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति की यह विशेषता है कि बालक के सामने पाठ्य विषय को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि उनमें किसी शिक्षाप्रद क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक शिक्षात्मक[1] क्रिया का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिए। यह समझना भूल है कि प्रॉजेक्ट पद्धति केवल शारीरिक क्रिया को ही प्रश्रय देती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की सभी क्रियाओं को लिया जा सकता है, चाहे उनका प्रधान सम्बन्ध शारीरिक श्रम से हो या मानसिक श्रम से।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने तीन प्रकार का कार्य-क्रम रखा जाता है। पहले प्रकार में उन्हें आवश्यक उपकरण दे दिये जाते हैं और कुछ करने को बता दी जाती है। तदनुसार उन्हें कुछ ऐसी चीजें बनानी होती हैं जिनका व्यावहारिक महत्त्व होता है। उदाहरणार्थ; गाड़ी, पुल तथा इन्जिन आदि का मॉडल बनाना अथवा टोकरी, दरी और खिलौने इत्यादि दूसरे प्रकार के कार्यक्रम में शिक्षक आवश्यक साधनों का उल्लेख नहीं करता। वह केवल बनाई जाने वाली वस्तु का नाम बतला देता है और शेष बालकों को स्वयं ही सोचकर उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। तीसरे प्रकार के कार्यक्रम में सब कुछ बालकों को ही करना पड़ता है। अपना उद्देश्य भी वे ही निर्धारित करते हैं।

प्रॉजेक्ट पद्धति का अर्थ यह है कि शिक्षा उद्देश्यहीन न हो। बालकों को यह निश्चित रूप से जानना चाहिए कि वे किस उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर कर रहे हैं। उद्देश्य का ज्ञान रहने से उनमें उत्साह सदा बना रहता है। शिक्षा काल में बालकों को संसार की वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ रखना ठीक नहीं, अन्यथा वे कुशल नागरिक न हो सकेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुयायियों का मत है कि सब कुछ किसी व्यावहारिक क्रिया के आधार पर ही पढ़ाना चाहिए। बालकों को 'करने से सीखने'[1] के लिए उत्साहित करना चाहिए। जो ज्ञान स्वयं अपने परिश्रम से प्राप्त किया जाता है वह मस्तिष्क में सदा के लिए सुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार पढ़ने से बालकों को अपनी विशेष रुचि का भी पता चल जाता है।

यह याद रखना होगा कि प्रॉजेक्ट का सम्बन्ध कृत्रिम वातावरण से न हो, अन्यथा वह प्रॉजेक्ट न होगा, चाहे वह एक समस्या भले ही हो जाय। बालकों को व्यावहारिक जीवन की गम्भीर समस्याओं के निराकरण करने की शिक्षा और शक्ति देने के लिए प्रॉजेक्ट पद्धति का आविष्कार किया गया है। काल्पनिक समस्याओं की पूर्ति से बालक व्यावहारिकता का पाठ नहीं सीख सकते। 'समस्यात्मक' कार्य को उसके प्राकृतिक वातावरण में सम्पादित करने पर जोर देने वाली प्रॉजेक्ट पद्धति का शुद्ध रूप में प्रयोग बहुत ही कम होता है।

प्रॉजेक्ट पद्धति पर चलने वाले स्कूल कुछ अन्य बातों का भी मिश्रण कर लेते हैं। इसमें किसी कक्षा के लिए पहले से ही निर्धारित कोई पाठ्यक्रम नहीं रहता। सभी विषयों के शिक्षक मिलकर कुछ 'प्रॉजेक्ट' की सूची बना लेते हैं। अपनी विकास-अवस्था के अनुसार बारी-बारी से उनको पूरा करना होता है। उन्हें पूरा करने में छात्रों को कई प्रकार की बातों का ज्ञान आवश्यक होता है। ऐसे ही स्थल पर बालक किसी विषय को जानने की आवश्यकता समझता है। इस प्रकार उसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित तथा भाषा आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक जान पड़ता है। वस्तुतः इन सब विषयों का ज्ञान आवश्यक जान पड़ता है। वस्तुतः इन सब विषयों के सीधे सीखने का कोई आयोजन नहीं रहता, वरन् उनके स्थान पर कुछ योजनाएँ रहती हैं। इनकी पूर्ति में उसे वांछित विषय का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक योजना में किसी न किसी प्रकार प्रायः सभी विषयों का कुछ ज्ञान आवश्यक रहता है। इस प्रकार उसके चारों ओर कई विषयों का समन्वय हो जाता है। जिन विषयों का समन्वय नहीं हो पाता उनका ज्ञान अलग से दे दिया जाता है। इस प्रकार 'शुद्ध प्राकृतिक वातावरण' के ...ु के साथ कुछ समझौता करना पड़ता है।

२—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ गुण

हमारे देश के स्कूलों में व्यावहारिकता की छाप बहुत कम दिखलाई पड़ती है। छात्र स्कूलों में सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं पर उनका वे अपने व्याव... में उपयोग नहीं कर पाते। प्रॉजेक्ट पद्धति इन दोषों से मुक्त ...है। इसमें बालक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। वह धीरे-

ीरे सीख लेता है कि वास्तविक जीवन में उसे किस प्रकार के शारीरिक और मानसिक श्रम करने पड़ेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक को सदा यह भान होता है कि वह किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ है। इससे उसका उत्साह सदा बना रहता है। उसकी रुचि कभी ठण्डी नहीं पड़ती। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधनों के ढूँढने से बालकों में दूरदर्शिता, मौलिकता और आत्म-निर्भरता आदि गुणों का विकास होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में शिक्षा-समन्वय की समस्या अपने आप हल हो जाती है। किसी 'समस्यात्मक क्रिया' को करने में जिन विभिन्न विषयों का बालक ज्ञान पाता है व उसे एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखायें मालूम पड़ती हैं। कुछ प्रॉजेक्ट ऐसे होते हैं जिन्हें कई बालकों को मिल कर करना पड़ता है। इससे उनमें सहकारिता, विनय, नेतृत्व तथा उचित कार्य-वितरण आदि के गुण आ जाते हैं।

प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में अन्वेषण शक्ति का विकास होता है, क्योंकि उन्हें कभी-कभी साधनों को भी खोजना पड़ता है। इस प्रकार उनमें कल्पना-शक्ति बढ़ती है। बालकों में हर समय क्रियाशीलता दिखलाई पड़ता है। अपने से 'करके सीखना' मनोवैज्ञानिक भी है, इससे बालकों के ज्ञान और व्यवहार में सामञ्जस्य आ जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में श्रम का दुरुपयोग बहुत कम होता है, क्योंकि अनुभव की हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में कुछ निश्चित आदतों और कौशल का विकास हो जाता है, क्योंकि वे यह शीघ्र अनुभव कर लेते हैं कि उनमें किन-किन बातों की कमी है। इस अनुभव के वश क्रियाशील रहने में उन्हें बड़ी प्रेरणा मिलती है। यदि प्रॉजेक्ट पद्धति से बालक को कृषि शास्त्र पढ़ाया गया है तो ठीक-ठीक अपने ज्ञान को कार्यान्वित कर खेत के बहाने वह कुछ पैदा भी कर सकता है।

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ अवगुण

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी प्रॉजेक्ट पद्धति में कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे उसे पूर्णरूपेण कार्यान्वित करना सरल नहीं दिखलाई पड़ता। कुछ अध्यापकों का कहना है कि इस प्रणाली के अनुसार काम करने में शिक्षा में कोई क्रम न रह जायगा। किसी प्रॉजेक्ट के चारों ओर समन्वित कर कुछ विषयों के कुछ अंश

हैं, न कि बालक पाठ्यक्रम के लिए। यदि प्रॉजेक्ट का आयोजन ठीक से [illegible]
जाय तो उससे स्वयं एक पाठ्यक्रम की रूप-रेखा निकल आयेगी और यह रूप-
रेखा ऐसी होगी कि इसके आधार पर सभी सामान्य विषय मनोवैज्ञानिक ढंग
से समन्वित किये जा सकेंगे।

५—प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें

गुण और अवगुण पर विचार कर लेने के बाद निश्चित रूप से प्रॉजेक्ट-
पद्धति की सीमाओं की ओर संकेत कर देना उचित है। यदि स्कूल केवल
प्रॉजेक्ट पद्धति पर ही आयोजित किया जाय तो उपर्युक्त दोषों का शिक्षा-क्रम
में आ जाना असम्भव न होगा। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक का उद्देश्य ज्ञान ही
प्राप्त करना नहीं है, वरन् उसमें किसी स्थूल वस्तु[1] की प्राप्ति की भी उसे
आशा रहती है, जैसे खिलौना, टोकरी, फर्श और दरी आदि। इसलिए इन
चीजों को शीघ्र बना लेने की धुन में बालक जल्दबाजी भी कर सकते हैं और
यह देखा भी गया है कि बहुत से लड़के जल्दी में बड़ी खराब चीज बनाते हैं।
प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुसार बालक जो शिक्षा पाता है उसे वह गौण मालूम होती
है, प्रधान तो उसे उस वस्तु विशेष का बनाना लगता है। यदि प्रॉजेक्ट-पद्धति
के साथ कुछ अन्य विधियों की भी सहायता ली जाय तो उसकी कमी कुछ पूरी
हो सकती है। पर प्रॉजेक्ट-पद्धति की पूरी उपेक्षा करना बालक को एक बड़े
लाभ से वंचित करना होगा। अच्छा होगा कि बालकों के शिक्षा-क्रम में कुछ
प्रॉजेक्ट रखते हुए अन्य प्रचलित विधियों से भी काम लिया जाय।

प्रॉजेक्ट पद्धति की प्रक्रिया के पद[2]

प्रॉजेक्ट छोटे से बड़े के अन्दर कई प्रकार के हो सकते हैं। अतः सभी
प्रकार के प्रॉजेक्ट के लिए किसी समान पदों की चर्चा करना कठिन है। परन्तु
साधारणतः यह कहा जा सकता है कि सभी प्रॉजेक्ट्स में कम से कम इन
पदों की आवश्यकता होती है—उद्देश्य निर्धारण[3], योजनाकरण[4]
करना[5] तथा निर्णय करना[6]। इन चार पदों का और सूक्ष्म

1. Concrete thing. 2. Steps in the Project
3. Purposing. 4. Planning. 5. Executing. 6.

जा सकता है, अर्थात् इन चार प्रमुख पदों के कई अनुपदों[1] की चर्चा की जा सकती है। नीचे इन्हीं अनुपदों की ओर संक्षेप में संकेत किया जा रहा है।

१—शैक्षिक मूल्य के प्रॉजेक्ट्स चुनना चाहिए। इसमें शिक्षक का निर्देशन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि छात्रगण शैक्षिक मूल्य का निर्धारण नहीं कर सकते।

२—छात्रों की विकासावस्था तथा कक्षा के अनुसार प्रॉजेक्ट चुनना चाहिए क्योंकि विकास की अवस्था के अनुसार प्रॉजेक्ट के प्रकार में भेद का माना आवश्यक है।

३—चुने हुए प्रॉजेक्ट के लिए यथासम्भव प्रत्येक छात्र की स्वीकृति प्राप्त करना चाहिए। सबकी स्वीकृति की प्राप्ति के लिए एक कक्षा के छात्रों के लिए कई प्रोजेक्ट आवश्यक हो सकते हैं।

४—प्रॉजेक्ट को प्रारम्भ करने के पूर्व आवश्यक पदों[2] और प्रक्रियाओं[3] के बारे में निर्णय कर लेना चाहिए।

५—प्रॉजेक्ट को निर्धारित उद्देश्य से सदा सम्बन्धित रखना चाहिए, जिससे छात्रों को उद्देश्य का सदा ध्यान रहे और उनकी क्रियाशीलता में सदा एक उद्देश्य निहित रहे।

६—आवश्यक सहायक सामग्री के संकलन में छात्रों की आवश्यक सहायता करनी चाहिए, जिससे प्रॉजेक्ट के कार्यान्वित करने में आवश्यक देरी न हो।

७—छात्रों की प्रक्रियाओं का निरीक्षण करते रहना चाहिए, जिससे किसी व्यर्थ के काम में वे न लग जायें और वे किसी दुर्घटना में न फँस जायें, परन्तु इस निरीक्षण का तात्पर्य यह न हो कि छात्रों की मौलिकता तथा क्रियाशीलता बाधा पहुँचे।

८—योजना और प्रॉजेक्ट के सम्बन्ध को सदा समझते रहना चाहिए, और बीच-बीच में योजना में यदि किसी सुधार की आवश्यकता हो तो उसे तुरन्त कर देना चाहिए, जिससे समय नष्ट न हो।

९—प्रॉजेक्ट का मूल्यांकन सर्वप्रथम छात्रों को ही करना चाहिए, जिससे वे

1. Sub-steps. 2. Steps. 3. Processes.

अपने कार्य के महत्व को स्वयं समझने की शक्ति आ सकें। शिक्षक को इसकी राय बाद में बतलानी चाहिए।

१०—प्रॉजेक्ट के फलस्वरूप रुचि, कौशल, मनोवृत्ति तथा ज्ञान आदि में जिस प्रकार का परिवर्तन या विकास आया हो उसकी चर्चा छात्रों को हो करना चाहिए।

नीचे प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने दिए जा रहे हैं।

प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने[1]

भाषा में—

१—एक कविता की रचना करना जिसे पूरी कक्षा गा सके।

२—कक्षा के खेलने के लिए एक एकांकी नाटक लिखना।

३—उपयुक्त आलोचना देते हुए कुछ कविताओं का संग्रह करना।

४—अन्य प्रदेशों के विद्यार्थियों से पत्र-व्यवहार करना।

५—स्थानीय समाचार-पत्रों को किसी राजनैतिक अथवा सामाजिक घटना पर अपने विचार भेजना।

संस्कृत में—

१—किसी भाषा की पाठ्य-पुस्तक के उन शब्दों को रेखांकित करना जो संस्कृत से निकले हैं।

२—कुछ सरल पद्यों का संस्कृत में अनुवाद करना और उन्हें गाना।

३—वर्तमान नाटककारों अथवा कवियों की संस्कृत के प्राचीन नाटककारों और कवियों से तुलना करना।

४—अपनी मातृभाषा तथा संस्कृत के व्याकरण की कुछ अंशों में तुलना करना तथा उनके भेद की ओर संकेत करना।

गणित में—

१—ज्यामिति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी मंदिर तथा भवन के आकार का अध्ययन करना।

२—अपने व्यक्तिगत आय-व्यय का लेखा करना।

1. Some Specimen Projects.

३—अंकों के विकास-क्रम का अध्ययन करना।

४—किसी कालेज, स्कूल अथवा जन-शिक्षा[1] के व्यय के महत्व का अध्य करना।

५—दैनिक जीवन में गणित की उपयोगिताओं की एक सूची बनाना।

सङ्गीत में—

१—वाद्य या गायन के लिये किसी राग, गीत अथवा गीत की रचना करना।

२—किसी अच्छे सगीत की रसानुभूति करना।

३—सामूहिक सगीत उपस्थित करने की तैयारी करना।

४—किसी नये वाद्य पर सगीत दिखलाने का प्रयत्न करना।

५—किसी सगीतज्ञ के जीवन-चरित्र, किसी वाद्य के विकास अथवा सगीत के इतिहास की खोज करना।

कला में—

१—आधुनिक कला को समझना और उसकी रसानुभूति करना।

२—किसी खेले जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में विभिन्न कला-प्रकारों का ढाँचा बनाना।

३—स्कूल की घटनाओं के लिए विज्ञापन बनाना।

४—स्कूल पुस्तकालय अथवा कक्षा के लिए कोई उपयुक्त चित्र अथवा नक्शा बनाना।

५—पुस्तकों की जिल्द के लिए अच्छे अच्छे ढाँचे बनाना।

वाणिज्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों में—

१—गोरखपुर के चीनी मिलों अथवा कानपुर के कपड़ों के मिलों का सभी दृष्टिकोण से अध्ययन करना।

२—किसी स्थानीय गाँव या मुहल्ले में किसी व्यापार के विकास की समस्या का अध्ययन करना।

३—व्यक्तिगत आय व्यय का विवरण लेखा रखना।

४—किसी दूकान अथवा स्कूल के सहकारी-समिति के हिसाब का निरीक्षण करना।

३—किसी नवविवाहित युवक और युवती के लिए आवश्यक कपड़ों की एक सूची बनाना।

४—लगभग एक महीने तक स्कूल से लौटे हुए किसी छोटे भाई अथवा बहिन की देख-रेख के लिए एक योजना बनाना।

विदेशी भाषा में—

१—इङ्गलैण्ड, फ्रान्स अथवा जर्मनी के किसी व्यक्ति से पत्र व्यवहार करना।

२—भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों पर—जैसे भाषा, साहित्य तथा रहन-सहन आदि पर अंग्रेजी प्रभाव का अध्ययन करना।

३—किसी अंग्रेजी अथवा फ्रेञ्च नाटक का खेलना।

४—अंग्रेजी अथवा फ्रेञ्च समाचार-पत्रों का पढ़ना और उनका मौखिक विवरण सुनाना।

५—किसी दूसरे देश की रहन सहन के किसी भाग का विवरण लिखना।

प्रोजेक्ट के एक नमूने को कार्यान्वित करने की विविध प्रक्रियाओं का विवरण सुनाना।

प्रोजेक्ट का एक उदाहरण : पशुशाला बनाना[1]

इस प्रोजेक्ट में उत्पन्न होने वाले गुण—

मान लीजिए, किसी कक्षा के छात्रों को पशुओं के रहने के लिए एक घेरा सा घर बनाना है। इस घर के बनाने में छात्रों का घर बनाने के सम्बन्ध में [illegible][2] का पता चलता, तथा उनमें कुछ [illegible] आदतों,[3] कौशल[4] तथा [illegible][5] का विकास होगा। नीचे इन विविध बातों, आदतों कौशल और [illegible] को [illegible] किया जा रहा है।

पशुशाला बनाने के क्रम में छात्रों को [illegible] यह ज्ञात हो जायगा कि [illegible] के निर्माण के लिए किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। [illegible] [illegible] का भी [illegible] हो जायगा। [illegible]

1. An Example of a project : To Construct a Shed-house for Cattle. 2 [illegible] 3 Habit 4 Skill 5 Attitude

में कई कमरों की क्यों आवश्यकता होती है इसे भी वे समझ जायँगे। सूर्य के प्रकाश तथा शुद्ध हवा का महत्व भी कुछ-कुछ उनकी समझ में आ जायगा। पशुशाला को सजाने में उन्हें कुछ रंगों के मिश्रण तथा उनके महत्व का ज्ञान हो जायगा। कार्य की योजना बनाने तथा विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न कार्यों को सौंपने में उन्हें साल, महीने, सप्ताह तथा दिन का बोध हो जायगा। कार्य को विभिन्न व्यक्तियों तथा समितियों में बाँटना होगा, इससे समितियों तथा उनके कार्यकर्ताओं के कर्त्तव्यों का उन्हें कुछ बोध हो जायगा।

पशुओं के लिए घर बनाने के क्रम में छात्रों में पशुओं के लिए दया का विकास होगा। एक साथ काम करने से उनमें सहकारिता की भावना का प्रादुर्भाव होगा। साथ ही उनमें उत्तरदायित्व की भावना भी आयेगी। एक साथ काम करते रहने से उनमें एक दूसरे के लिए विनम्रता की भावना आयेगी। इस प्रकार दया, सहकारिता, उत्तरदायित्व तथा विनम्रता के अमूल्य गुण तथा मनोवृत्तियाँ उनमें आयेंगी।

प्रॉजेक्ट के कार्यान्वित करने के क्रम में उन्हें कुछ वस्तुओं के साथ काम करना पड़ेगा, इससे उनके उपयोग सम्बन्धी कौशल उनमें आयेगा। काम करने के कारण स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ नियमों का भी उन्हें ज्ञान हो सकता है। प्रॉजेक्ट से शारीरिक परिश्रम के महत्व को छात्र समझेंगे। इससे स्कूल जीवन तथा जीवन की कुछ वास्तविकताओं में कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। इस प्रकार छात्रों का जगत की आवश्यकताओं से परिचय होगा।

पशुशाला का बनाना—

शिक्षक किसी एक परिस्थिति का निर्माण कैसे करे कि छात्र उपर्युक्त प्रॉजेक्ट अर्थात् पशुशाला के बनाने की आवश्यकता का अनुभव करें? शिक्षक देखता है कि कक्षा के कुछ छात्र अपना अध्यवसाय नहीं कर पा रहे हैं, अर्थात् वे उचित रूप से कक्षा के कार्य में रुचि नहीं दिखला रहे हैं, और कुछ छात्र पर्याप्त रूप से क्रियाशील रहते हैं। शिक्षक छात्रों से उन खेलों के बारे में पूछता है जिन्हें वे घर पर बहुधा खेला करते हैं। वह उनकी खेल-सम्बन्धी रुचियों के बारे में भी पूछता है। इसी क्रम में वह पूछता है कि घर पर किनके किनके पास गाय, भैंस, बैल तथा बकरियाँ आदि पाली जाती हैं। ... कृपया...

३—किसी नवविवाहित युवक और युवती के लिए अ
एक सूची बनाना।

४—लगभग एक महीने तक स्कूल से लौटे हुए किस
बहिन की देख-रेख के लिए एक योजना बनाना।

विदेशी भाषा में—

१—इङ्गलैण्ड, फ्रान्स अथवा जर्मनी के किसी व्यक्ति
करना।

२—भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों पर—जैसे भा
रहन-सहन आदि पर अंग्रेजी प्रभाव का अध्ययन करना।

३—किसी अंग्रेजी अथवा फ्रेञ्च नाटक का खेलना।

४—अंग्रेजी अथवा फ्रेञ्च समाचार-पत्रों का पढ़ना औ
विवरण सुनाना।

५—किसी दूसरे देश की रहन-सहन के किसी भाग का वि
प्रॉजेक्ट के एक नमूने को कार्यान्वित करने की विधि
विवरण सुनाना।

प्रॉजेक्ट का एक उदाहरण : पशुशाला ब

इस प्रॉजेक्ट से उत्पन्न होने वाले गुण—

मान लीजिए, किसी कक्षा के छात्रों को पशुओं के रहने के
सा घर बनाना है। इस घर के बनाने में छात्रों को घर बना
वविध बातों का पता चलेगा, तथा उनमें कुछ अच्छी आदतों
नोवृत्तियों का विकास होगा। नीचे इन विविध बातों, आद
मनोवृत्तियों की ओर संकेत किया जा रहा है।

पशुशाला बनाने के क्रम में छात्रों को कम से कम यह ज्ञात
किसी मकान के निर्माण के लिए किन किन वस्तुओं की आवश्य
हस्तकला-सम्बन्धी कुछ प्रक्रियाओं का भी उन्हें बोध हो जायगा

भेजना आवश्यक समझा जाता है शिक्षक छात्रों से कहता है कि घर जाने पर वे माता-पिता से पूछे कि आवेदन पत्र कैसे लिखा जाता है।

दूसरे दिन बच्चे स्कूल आते हैं अध्यापक बालकों द्वारा दिये गये सुझावों को श्यामपट पर लिख देता है और उन्हें प्रिन्सीपल के नाम एक आवेदन-पत्र लिखने की अनुप्रेरणा देता है। बालक इस प्रकार एक आवेदन-पत्र लिखते हैं— "महाशय, पीपल के पेड़ के नीचे एक पशुशाला बनाने के लिए हमें अनुमति प्रदान कीजिए।" कक्षा के बालक अपने-अपने हस्ताक्षर इस आवेदन पत्र पर करते हैं। हस्ताक्षर करने के लिए प्रत्येक बालक अध्यापक की मेज के पास आता है और इसमें वह अपना गौरव समझता है। प्रिन्सीपल के यहाँ से स्वीकृति-पत्र आने पर अध्यापक उसे सभी बालकों को पढ़ने के लिए देता है। इस स्वीकृति-पत्र के पढ़ने से विद्यार्थी प्रिन्सीपल के नाम से अवगत हो जाते हैं। इस समय अध्यापक उनसे कहता है कि प्रिन्सीपल की इस दया के लिए उन्हें कृतज्ञ होना चाहिए। इस प्रकार बच्चे कृतज्ञता का पाठ सीखते हैं।

अब पशुशाला-सम्बन्धी विभिन्न बातों पर बालकगण विचार करते हैं। पशुशाला में बनाये जाने वाले विभिन्न कमरों के आकार के अनुमान के लिए बालक गज, फुट तथा इंच के उपयोग का तात्पर्य समझते हैं। इस प्रकार विभिन्न कमरों का आकार निश्चित किया जाता है। अध्यापक उन्हें यह समझाता है कि गाय, बकरी तथा बैल आदि के लिए अलग-अलग कमरों की बड़ी आवश्यकता है। वह उन्हें किसी निकट स्थित गोशाला का निरीक्षण करने के लिये भेजता है।

गोशाला के निरीक्षण के लिए बालक उसके प्रबन्धक के यहाँ एक प्रार्थना पत्र भेजते हैं। प्रबन्धक की स्वीकृति आ जाती है। अध्यापक बालकों को समझाता है कि रास्ते में उन्हें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। उन्हें यह बताया जाता है कि रास्ते में वे एक-दूसरे को धक्का न दें और सब साथ ही अध्या[illegible] प्रश्न न पूछें। गोशाला देख लेने के बाद बालकों से यह पूछा जाता [illegible] कौन सी बातें अच्छी और कौन सी बुरी लगीं।

अब बालक पशुशाला बनाने के लिए विभिन्न वस्तुओं [illegible]
अध्यापक उन्हें समझाता है कि दीवालें ईंट की क्यों [illegible]

को ईंट बनाने की क्रिया समझाई जाती है। उन्हें उपयुक्त मिट्टी पहचानने और चुनने के लिए कहा जाता है। ईंट बनाने के लिए लकड़ी के साँचे बनाना उन्हें समझाया जाता है। अध्यापक को यहाँ यह देखना चाहिए कि बालकों से उनकी शक्ति के परे काम न लिया जाय।

पड़ोस में किसी बनते हुए घर को देखने के लिए बालकों से कहा जाता है। खिड़कियों की आवश्यकता उन्हें समझाई जाती है। कमरों और खिड़कियों का आकार निश्चित किया जाता है। बालकों से उनके घर तथा उनके पशुओं के रहने के स्थान के बारे में पूछा जाता है और तत्सम्बन्धी बुरी बातें उन्हें समझाई जाती हैं। इस प्रकार स्वास्थ्य-विज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातें उन्हें मालूम हो जाती हैं। बालकों को स्कूल की इमारत की छत का निरीक्षण करने के लिये कहा जाता है, और वे इस निरीक्षण में छत के लिए आवश्यक उपकरणों को समझ जाते हैं। इस प्रकार जो वस्तुएँ उन्हें बाजार से खरीदनी हैं उन्हें वे निश्चय कर लेते हैं। वस्तुओं के दाम के निर्धारण में बालकों को अङ्कगणित के कई नियमों और प्रश्नों से अपने को अवगत करना होता है। इस प्रकार उनका अङ्कगणित का ज्ञान भी बढ़ता है। वस्तुओं को खरीदने के लिए तथा हिसाब का पूरा लेखा रखने के लिए एक छोटी-सी समिति बना दी जाती है। इस प्रकार बालकगण सहयोग, सहकारिता, ईमानदारी तथा मितव्ययता का पाठ सीखते हैं। जब पशुशाला बनकर तैयार हो जाती है तो उसे और सुन्दर बनाने के लिए अध्यापक उनसे कहता है। इस प्रकार बालकगण रंग तथा चित्रकारी का भी ज्ञान सीख लेते हैं।

पशुशाला के बन जाने पर उसके उद्घाटन समारोह की बारी आती है। इस समारोह में बालक अपने माता-पिता, मित्रगण तथा गाँव के कुछ अन्य लोगों को निमन्त्रित करने की इच्छा प्रकट करते हैं, क्योंकि पशुशाला के निर्माण-कार्य में इन व्यक्तियों से उनका किसी न किसी प्रकार का कार्य रहा है। यदि कार्य नहीं तो इसके विषय में उनसे उन्होंने बातचीत ही की है। अतः निमन्त्रण-पत्र लिखना उन्हें सिखलाया जाता है। समारोह के कार्य-क्रम के विषय में विचार विनिमय किया जाता है। समारोह की तैयारी के लिए स्वागत समिति, सामाजिक समिति तथा ... का गठन किया जाता है। समारोह की तैयारी में बालक

एक महीना लग सकता है। अतः इसमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। मैत्रीभाव, सहकारिता, सहयोग तथा शारीरिक परिश्रम के प्रति सम्मान आदि भावनाओं से भरे गीतों तथा एकाङ्की नाटकों का आयोजन समारोह में किया जा सकता है। सम्यागत के प्रति कर्तव्यों को बालकों को अच्छी प्रकार ज्ञान देना चाहिए। इस प्रकार पशुशाला के प्रॉजेक्ट के आधार पर बालकों में अनेक कौशल और गुणों का विकास होगा।

सारांश

प्रॉजेक्ट पद्धति

कृषि-सम्बन्धी प्रयोग से इसका जन्म।

१—मनोवैज्ञानिक आधार

सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में विषमता के कारण व्यक्ति में स्वाभाविक उत्तेजना—इस उत्तेजना की नींव पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना।

स्कूल और वास्तविक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना, स्कूल ज्ञान-केन्द्र नहीं—वरन् कार्य-केन्द्र, समस्यात्मक कार्य को स्वाभाविक वातावरण में पूरा करना, सभी क्रियायें।

तीन प्रकार का कार्यक्रम।

शिक्षा उद्देश्य-पूर्ण, 'करने से सीखना'।

व्यावहारिक जीवन की गम्भीर समस्याओं का निराकरण, पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम नहीं, विभिन्न विषयों का समन्वय।

२—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ गुण

व्यावहारिकता का ज्ञान, दूरदर्शिता, मौलिकता, आत्म-निर्भरता, सहकारिता, विनय, नेतृत्व और 'उचित कार्य वितरण की शक्ति' का विकास।

अन्वेषण और कल्पना शक्ति, ज्ञान और व्यवहार में आदत और कौशल का विकास।

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के कुछ अवगुण

शिक्षा में क्रम का अभाव, विषय का अपूर्ण ज्ञान रहने की सम्भावना। परीक्षा-सम्बन्धी कठिनाई, बड़े-बड़े प्रॉजेक्ट का आयोजन कठिन, स्कूल-कार्य अस्त-व्यस्त।

४—ऊपर की कुछ आपत्तियों के उत्तर

ज्ञान का सुसंगठित रूप देना प्रारम्भ में सम्भव नहीं, पाठ्यक्रम की रचना होने ही नहीं, पाठ्यक्रम बालक के लिए।

५—प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें

प्रॉजेक्ट पद्धति के साथ अन्य विधियों की भी सहायता आवश्यक।

प्रॉजेक्ट पद्धति की प्रक्रिया के पद

प्रॉजेक्ट के कुछ नमूने

ाषा में—
ंस्कृत में—
णित में—
ंगीत में—
ला में—
ाणिज्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों में—
ामाजिक विज्ञानों में—
ज्ञान में—
ृ-प्रबन्धशास्त्र में—
विदेशी भाषा में—

प्रॉजेक्ट का एक उदाहरण : पशुशाला बनाना

ंस प्रॉजेक्ट से उत्पन्न होने वाले गुण—
शुशाला का बनाना—

• • •

प्रश्न

१—प्रॉजेक्ट-पद्धति के मनोवैज्ञानिक और रचनात्मक पहलू की व्याख्या कीजिए।

२—प्रॉजेक्ट-पद्धति के गुण-दोष की विवेचना कीजिए। इसे भारत में अपनाने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा ?

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के प्रविशा पद क्या हैं ? किसी प्रॉजेक्ट के आधार पर छठी कक्षा के सभी विषयों को आप कैसे पढ़ायेंगे ?

४—प्रॉजेक्ट पद्धति के आधार मूल सिद्धान्तों का विवरण दीजिए।

* * *

सहायक पुस्तकें

१—विलियम एच० किलपैट्रिक—द प्रॉजेक्ट मेथड टीचर्स कालिज रेकॉर्ड भाग १६।

२—डब्लू० डब्लू० चार्टर्स—द लिमिटेशन्स ऑव द प्रॉजेक्ट (द ऐड्रेस ऐ प्रोसीडिंगज ऑव द फिफ्टीनाइन्थ ऐनुवल मीटिंग) भाग ५६, पृष्ठ ४२८-३.

३—ल्योनार्ड जे० पॉल—ऐन इवॅल्युएशन ऑव एडूकेशन, अध्याय ३, ४।

४—पीटर्स, चार्ल्स सी०—द करीक्यूलम ऑव् डेमोक्रैटिक एडूकेशन।

५—स्कीनर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १

६—जे० ऐण्ड ई० ड्यूई—स्कूल्स ऑव् टुमॉरो।

७—टी० लेविट—द मॉडर्न स्कूल्स हैण्डबुक।

* * *

३७
डाल्टन पद्धति[1]

१—स्वरूप

डाल्टन पद्धति की रचना अमेरिका की मिस पार्कहर्स्ट द्वारा की ग
डाल्टन नगर में सबसे पहले इसका प्रारम्भ होने से इसका नाम
प्लान दिया गया है। नवीन शिक्षा-पद्धति में डाल्टन पद्धति का स्थान ब
महत्त्वपूर्ण है। मिस पार्कहर्स्ट को डा० मॉन्तेसरी के साथ सन् १६१५ १८
काम करने से यह ज्ञात होगया था कि वैयक्तिक आधार पर शिक्षा देकर ब
की विभिन्न नैसर्गिक शक्तियों का विकास कहाँ तक किया जा सकता ह
प्रकार से मान्तेसरी और डाल्टन पद्धति में बड़ी तात्विक समानता दि
पड़ती है। मिस पार्कहर्स्ट पर डा० डीवी के शिक्षा-सिद्धान्तों का भी
प्रभाव पड़ा है।

अपने समय की अमेरिका की प्रचलित शिक्षा प्रणाली से मिस पार्कहर
को बड़ा असन्तोष हुआ। उन्होंने देखा कि प्रचलित शिक्षा से बालकों में न
बल तथा आत्म-निर्भरता का आना बहुत कठिन है। बात-बात में बालक
शिक्षक की सहायता पर निर्भर रहना उसे बड़ा खटकता था। वह शिक्षा
संगठन इस प्रकार चाहती थी कि बालक अपने प्रयत्नों से ही स्वत.
व्यक्तित्व का विकास कर सके। मिस पार्कहर्स्ट स्कूल के शिक्षा-क्रम में सामा
जीवन का पुट भी ले आना चाहती थी। इसके अतिरिक्त वह स्कूल को एक
प्रयोगशाला बनाना चाहती थी जहाँ बालक विविध प्रयोग कर अपने ज्ञान
व्यक्तित्व का विकास करें।

1. Dalton Plan.

२—डाल्टन पद्धति की कुछ विशेषतायें[1]

उपर्युक्त विवेचन से हमें डाल्टन पद्धति और प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की तुलना में बहुत सी भिन्नताओं का भान होता है। डाल्टन पद्धति से शिक्षा में एक क्रान्ति सी आ गई है। प्रचलित शिक्षा में शिक्षक का महत्व अधिक दिखाई पड़ता है; मानो उसके बिना शिक्षा की कोई भी क्रिया सम्भव नहीं। सभी बालकों को समान समझ कर उन्हें समान रूप से शिक्षा दी जाती और इस प्रकार उनकी वैयक्तिक भिन्नता और आवश्यकताओं की उपेक्षा की जाती है। पैंतीस-चालीस की कक्षा में शिक्षक आकर ४० मिनट तक मनमानी कर जाता है। अध्यापन से बालकों का कितना लाभ हुआ इस पर विचार करना उसके लिए सम्भव नहीं होता और कदाचित् अत्यधिक भार से लदे हुए अध्यापक को इसका अवकाश भी नहीं। इस प्रकार तेज और कमजोर सभी प्रकार के छात्र एक साथ ही चलते हैं। डाल्टन पद्धति में इस स्थिति का पूरा सुधार किया गया है।

डाल्टन पद्धति में एक सीमा के अन्तर्गत बालकों को पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। अपनी शिक्षा और विकास के लिए उनका दायित्व बहुत बढ़ा दिया जाता है। अपने विकास के लिए बालकों को ही स्वयं उत्तरदायी बना देने का श्रेय डाल्टन पद्धति को ही है। इसके पहले भी इसकी काफी चर्चा चल चुकी थी, पर कार्यान्वित करने में सबको कठिनाई मालूम होती थी। डाल्टन पद्धति में समय सारिणी[2] आदि का बन्धन नहीं। रुचि होने पर कोई बालक अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी देर तक किसी विषय के अध्ययन में लगा रह सकता है।

डाल्टन पद्धति के अन्तर्गत कक्षाओं के लिए अलग अलग कमरे न होकर विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग प्रयोगशालायें[3] होती हैं। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ इनमें स्कूल-समय तक बैठे रहते हैं, जिससे बालक अपनी इच्छानुसार वहाँ पर जाकर उनकी सहायता से लाभ उठा सके। पाठकार्यारोपण[4] करते समय बालक को उसके उद्देश्य का थोड़ा अनुमान दिया जाता है और

1. Some characteristics of the Dalton Plan. 2 T
3. Laboratories. 4. Assignment

उसके अध्ययन की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। कभी-कभी कुछ आवश्यक साधनों की ओर संकेत भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, इतिहास, साहित्य और विज्ञान के कार्यारोपण में उन्हें पढ़ने योग्य पुस्तकों के नाम बता दिये जाते हैं। छात्र को अपनी उन्नति का पूरा लेखा रखना होता है। इसकी तीन प्रतियाँ होती हैं जिसमें से एक अध्यापक के पास चली जाती है। बालक की उन्नति का लेखा ग्राफ द्वारा अंकित किया जाता है। प्रत्येक बालक का अलग अलग ग्राफ शिक्षक कक्षा में टाँगे रहता है। इससे उसे पूरा ज्ञान रहता है कि कौन-सा बालक कितनी उन्नति कर रहा है। बालक अपने पास दो प्रकार के लेखा रखते हैं :—१. विभिन्न विषयों का अलग-अलग, और २. सबका सामूहिक इस प्रकार उन्हें अपने कार्य तथा सफलता का पूरा ज्ञान रहता है।

अलग-अलग काम करते हुए भी बालकों को कभी-कभी ऐसी कठिनाई होती है कि उनका काम रुक सा जाता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक की सहायता अपेक्षित होती है। यदि कोई कठिनाई सभी लड़कों के साथ है तो उसका निराकरण कक्षा-शिक्षण की भाँति सामूहिक रूप में किया जाता है। कक्षा-शिक्षण के पक्षपाती अपने समर्थन में बहुधा कहा भी करते हैं कि कक्षा शिक्षण का महत्व घट नहीं सकता, क्योंकि डाल्टन पद्धति को भी इसकी आवश्यकता होती है। सच है, रसानुभूति के पाठ में तो शिक्षक को कक्षा-शिक्षण के ही अवलम्बन से अधिक सफलता मिल सकती है।

डाल्टन पद्धति कोई नई शिक्षण-विधि नहीं। यह केवल एक नए शिक्षा-[illegible] का रूप है। निर्धारित पाठ्यक्रम को इसमें एक नए संगठन और विधि से पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें छात्रों का श्रेणी-विभाजन [तो किय]ा जाता है, परन्तु उस श्रेणी विभाजन के लिए बालकों की विभिन्न [प्रक]ार शक्ति की अवहेलना नहीं की जाती। श्रेणी विभाजन के आधार पर [कक्षा-]शिक्षण में बालकों को इधर-उधर घूमने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। सब, एक सब घार कुर्सी के सहारे हर समय बैठा रहना ही उनके विनय का लक्षण उत्तम लक्षण समझा जाता है। डाल्टन पद्धति में ऐसी स्थिति वांछनीय नहीं। [कक्षा] में इधर-उधर घूमने, परामर्श करने और पारस्परिक सहायता की

पूरी स्वतन्त्रता होती है। वस्तुतः उनमें सामाजिकता का ज्ञान देने का यह बड़ा भारी साधन माना जाता है।

डाल्टन पद्धति में कक्षा-शिक्षण के साथ साथ आत्म शिक्षण[1] की भी व्यव दिखलाई पड़ती है और यह आशा की जाती है कि इसके द्वारा शिक्षा पाने बालक अधिक योग्य व्यक्ति और नागरिक होगा। डाल्टन स्कूल का समय भागों में बँटा रहता है। १—पूर्वाह्न[2] और २—अपराह्न[3]। पूर्वाह्न बालको स्वतन्त्र रीति से काम करने के लिए और अपराह्न कक्षा-शिक्षण और खेल के लिए होता है।

डाल्टन पद्धति में 'स्कूल' समाज का एक छोटा रूप माना जाता है और चेष्टा की जाती है कि सभी छात्र यह समझें कि वे इस समाज के महत्व सदस्य है। छात्रों को यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि उनका स्कूल (अ समाज) एक स्वशासित[4] संस्था है और उसके अच्छे शासन के लिए वे स उत्तरदायी हैं। इस प्रकार कक्षा और पाठ्य विषयों के पुनर्संगठन के आधार डाल्टन पद्धति एक नए सामाजिक पुनर्संगठन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति में शिक्षा में एक अभूतपूर्व सामाजिक प वर्तन का चित्र दिखलाई पड़ता है।

मौखिक पाठ[5]

बालकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रति सप्ताह प्रति विषय लिए एक मौखिक पाठ का आयोजन रहता है। इस प्रकार प्रतिदिन सभी छ एक बार एकत्रित हो जाते हैं; इस मौखिक पाठ में शिक्षक भाषणवक्ता छात्र श्रोता नहीं होते। यह पाठ आपस की बातचीत की तरह होता बालकों को पाठ में अनुभव की हुई व्यक्तिगत कठिनाइयों के निराकरण में बहुधा सारा समय दिया जाता है।

विशेषज्ञ[6]

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि प्रयोगशालाओं में विभिन्न विषयों विशेषज्ञ बैठे रहते हैं। डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों का महत्व बढ़ जाता है

1. Self teaching. 2. Morning. 3. Afternoon. 4. Self-gov ned. 5. Oral lesson. 6. Specialist.

उसके अध्ययन की सीमा भी, निर्धारित कर दी जाती है। कभी-कभी कुछ आवश्यक साधनों की ओर संकेत भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, इतिहास, साहित्य और विज्ञान के कार्यारोपण में उन्हें पढ़ने योग्य पुस्तकों के नाम बता दिये जाते हैं। छात्र को अपनी उन्नति का पूरा लेखा[1] रखना होता है। इसकी तीन प्रतियाँ होती हैं जिसमें से एक अध्यापक के पास चली जाती है। बालक की उन्नति का लेखा ग्राफ द्वारा अंकित किया जाता है। प्रत्येक बालक का अलग-अलग ग्राफ शिक्षक कक्षा में टाँगे रहता है। इससे उसे पूरा ज्ञान रहता है कि कौन-सा बालक कितनी उन्नति कर रहा है। बालक अपने पास दो प्रकार का लेखा रखते हैं :—१. विभिन्न विषयों का अलग-अलग, और २. सबका सामूहिक। इस प्रकार उन्हें अपने कार्य तथा सफलता का पूरा ज्ञान रहता है।

अलग-अलग काम करते हुए भी बालकों को कभी-कभी ऐसी कठिनाई होती है कि उनका काम रुक सा जाता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक की सहायता अपेक्षित होती है। यदि कोई कठिनाई सभी लड़कों के साथ है तो उसका निराकरण कक्षा-शिक्षण की भाँति सामूहिक रूप में किया जाता है। कक्षा-शिक्षण के पक्षपाती अपने समर्थन में बहुधा कहा भी करते हैं कि कक्षा-शिक्षण का महत्व घट नहीं सकता, क्योंकि डाल्टन पद्धति को भी इसकी आवश्यकता होती है। सच है, सहानुभूति के पाठ में तो शिक्षक को कक्षा-शिक्षण के ही अवलम्बन से अधिक सफलता मिल सकती है।

डाल्टन पद्धति कोई नई शिक्षण-विधि नहीं। यह केवल एक नए शिक्षा-संगठन का रूप है। निर्धारित पाठ्यक्रम का इसमें एक नए संगठन और विधि रूप से पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें छात्रों का श्रेणी-विभाजन माना जाता है, परन्तु उस श्रेणी विभाजन के लिए बालकों की विभिन्न योग्यता और रुचि की अवहेलना नहीं की जाती। श्रेणी विभाजन के आधार पर कक्षा-शिक्षण में बालकों को इधर-उधर घूमने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। वह, एक मेज और कुर्सी के सहारे हर समय बैठा रहता है उनके लिये अनुशासन[2] का प्रश्न उत्पन्न अवश्य कर जाता है। डाल्टन पद्धति में ऐसी स्थिति आवश्यक नहीं। इसमें छात्रों को इधर-उधर घूमने, परामर्श करने और पारस्परिक सहायता की

1. Record. 2. Discipline.

-जत सहायता करता है। सहायता के अन्तर्गत कठिनाइयों का
प्रेरणा देना आता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक का व्यवहार
पूर्ण होना चाहिए। डाल्टन पद्धति के अनुसार पढने से जिन बा
कम दिखलाई पडती है उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाना
करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है
-धीरे काम करते हैं, पर अपना काम बहुत पक्का करते हैं।
निर्देशित पाठ को पूरा कर जाते हैं, पर उन्हें विशेष बोध नहीं हो
धीरे धीरे काम करने वालो से परीक्षा में वे हार जाते हैं। अतः शि
न यही नहीं देखना है कि लड़के ने निर्देशित पाठ को पूरा कर
, वरन् उसे यह भी देखना है कि पाठ का ठीक अध्ययन किया है
इसी की परीक्षा करने के लिए पीछे वर्णित ग्राफ की व्यवस्था की गई
हाँ पाठ-निर्देश का एक नमूना दे देना सगत दिखलाई पडता है।
तिहास-पाठ का एक नमूना दिया जाता है।

इतिहास का पाठ-निर्देशक्रम

(कक्षा ६ लिए, बालकों की आयु १३-१४ वर्ष)

क्रम संख्या १

प्रथम सप्ताह[1]

विषय—मुगल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

तुमने मुगल साम्राज्य का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। अब ह
है कि इस काल की सभ्यता और संस्कृति कैसी थी। इसका पता
ए हमें उस समय की शासन-व्यवस्था, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत-
य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का अध्ययन
।

खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)

मुगल-राज्य फौजी न था, पर उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुधा सेन

1. First Period.

उन्हे छात्रो की कठिनाइयो को दूर करने के लिए हर समय तैयार रहना होता ।
है। इसलिए उनका ज्ञान बडा गहन और विस्तृत होना चाहिए। यह ध्यान ।
देने की बात है कि डाल्टन पद्धति मे विशेषज्ञो को अपने विषय में विशेष ट्रेनिंग
की आवश्यकता नही, अर्थात् भूगोल को पढ़ाने के लिए भूगोल शिक्षण में
विशेषज्ञता प्राप्त करना अपेक्षित नही। यदि स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर
एक-एक विषय के पढने तथा उसमे छात्रो की सहायता करने के लिए आपस में
निर्णय कर लें तो कुछ ही दिनो में प्रत्येक एक विषय में विशेषज्ञ हो जायगा
और इसमे स्कूल की आवश्यकता अच्छी प्रकार पूरी होगी।

३—पाठ-निर्देश[1]

डाल्टन पद्धति में प्रत्येक विषय के पूरे साल के कार्य-क्रम को छोटे-छोटे
भागो में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार बंटे हुए भाग को 'निर्देशित पाठ'
अथवा पाठ-निर्देश कहते हैं। पाठ-निर्देश डाल्टन पद्धति का प्राण है। एक
निश्चित अवधि के लिये व्यक्तिगत योग्यतानुसार प्रत्येक बालक के लिए कुछ
पाठ निर्देशित[2] कर दिया जाता है। वैज्ञानिक रूप में इन पाठो का विभाजन
और उप-विभाजन किया रहता है। साधारणतः किसी विषय के साल भर के
लिए दिये हुए कार्य को ठेका (कॉन्ट्रैक्ट), एक महीने वाले को पाठ-निर्देश, एक
सप्ताह वाले को अवधि (पीरियड) और एक दिन वाले को इकाई (यूनिट)
कहते हैं। प्रत्येक ठेके को एक प्रति महीने के हिसाब से दस भागों में बाँट दिया
जाता है। प्रत्येक पाठ निर्देश को चार अवधियो, और प्रत्येक अवधि को पाँच
इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। एक 'इकाई' एक दिन का कार्य
ा है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक प्रतिदिन हर विषय में एक
काई पूरा करे। अपनी रुचि के अनुसार वह एक दिन में किसी विषय का
पूरा या आधा ही निर्धारित कार्य कर सकता है। शिक्षक को केवल इतना ही
देखना होता है कि महीने का निर्देशित पाठ उस महीने में पूरा हो जाता है।
बहुधा यह देखा जाता है कि [illegible] प्रतिभाशाली छात्र निर्देशित पाठ को उचित
समय के भीतर ही पूरा कर लेते हैं। जो लड़के इसमें असमर्थ होते हैं शिक्षक

1. Lesson Assignment. 2. Assigned.

नकी अपेक्षित सहायता करता है। सहायता के अन्तर्गत कठिनाइयों का दूर रना तथा प्रेरणा देना आता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक का व्यवहार बड़ा हानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। डाल्टन पद्धति के अनुसार पढ़ने से जिन बालकों ो उन्नति कम दिखलाई पड़ती है उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाता है। र ऐसा करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि छात्र धीरे-धीरे काम करते हैं, पर अपना काम बहुत पक्का करते हैं। दूसरे ल्दी में निर्देशित पाठ को पूरा कर जाते हैं, पर उन्हें विशेष बोध नहीं होता। फलतः धीरे धीरे काम करने वालों से परीक्षा में वे हार जाते हैं। अतः शिक्षक को केवल यही नहीं देखना है कि लड़के ने निर्देशित पाठ को पूरा कर लिया कि नहीं, वरन् उसे यह भी देखना है कि पाठ का ठीक अध्ययन किया है या नहीं। इसी की परीक्षा करने के लिए पीछे वर्णित ग्राफ की व्यवस्था की गई है।

यहाँ पाठ-निर्देश का एक नमूना दे देना संगत दिखलाई पड़ता है। अतः नीचे इतिहास-पाठ का एक नमूना दिया जाता है।

इतिहास का पाठ-निर्देशक्रम

(कक्षा ९ लिए, बालकों की आयु १३-१४ वर्ष)

क्रम संख्या १

प्रथम सप्ताह[1]

विषय—मुगल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

तुमने मुगल साम्राज्य का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। अब हमें यह देखना है कि इस काल की सभ्यता और संस्कृति कैसी थी। इसका पता लगाने के लिए हमें उस समय की शासन-व्यवस्था, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत-विद्या, साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का अध्ययन करना होगा।

खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)

मुगल-राज्य फौजी न था, पर उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुधा सेना पर

1. First Period.

उन्हें छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर समय तैयार रहना होता है। इसलिए उनका ज्ञान बड़ा गहन और विस्तृत होना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों को अपने विषय में विशेष ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं, अर्थात् भूगोल को पढ़ाने के लिए भूगोल शिक्षण में विशेषज्ञता प्राप्त करना अपेक्षित नहीं। यदि स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर एक-एक विषय के पढ़ने तथा उसमें छात्रों की सहायता करने के लिए आपस में निर्णय कर लें तो कुछ ही दिनों में प्रत्येक एक विषय में विशेषज्ञ हो जायगा और इससे स्कूल की आवश्यकता अच्छी प्रकार पूरी होगी।

३—पाठ-निर्देश[1]

डाल्टन पद्धति में प्रत्येक विषय के पूरे साल के कार्य-क्रम को छोटे-छोटे भागों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार बंटे हुए भाग को 'निर्देशित पाठ' अथवा पाठ-निर्देश कहते हैं। पाठ-निर्देश डाल्टन पद्धति का प्राण है। एक निश्चित अवधि के लिये व्यक्तिगत योग्यतानुसार प्रत्येक बालक के लिए कुछ पाठ निर्देशित[2] कर दिया जाता है। वैज्ञानिक रूप में इन पाठों का विभाजन और उप-विभाजन किया रहता है। साधारणतः किसी विषय के साल भर के लिए दिये हुए कार्य को ठेका (कॉन्ट्रैक्ट), एक महीने वाले को पाठ-निर्देश, एक सप्ताह वाले को अवधि (पीरियड) और एक दिन वाले को इकाई (यूनिट) कहते हैं। प्रत्येक ठेके को एक प्रति महीने के हिसाब से दस भागों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक पाठ निर्देश को चार अवधियों, और प्रत्येक अवधि को पांच इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। एक 'इकाई' एक दिन का कार्य [illegible]ता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक प्रतिदिन हर विषय में एक [illegible] पूरा करे। अपनी रुचि के अनुसार वह एक दिन में किसी विषय का पूरा या आधा ही निर्धारित कार्य कर सकता है। शिक्षक को केवल इतना ही देखना होता है कि महीने का निर्देशित पाठ उस महीने में पूरा हो जाता है।

बहुधा यह देखा जाता है कि ७५ प्रतिशत छात्र निर्देशित पाठ को उचित समय के भीतर ही पूरा कर लेते हैं। जो लड़के इसमें असफल होते हैं शिक्षक

1. Lesson Assignment. 2. Assigned.

लेखकों की पुस्तकों के समत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिए हुए प्रश्नो के उत्तर तैयार करो :—

१—डा० ईश्वरी प्रसाद।

२—डा० ताराचन्द।

३—डा० विश्वेश्वर प्रसाद।

प्रश्न—

१—भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम संग्राम के प्रधान कारणों को समझाओ।

२—इस संग्राम के प्रथम स्थल तथा मुख्य गतियों का विवरण दो।

३—इसके परिणाम की व्याख्या करो।

४—भारतवर्ष का एक मानचित्र खींचो और उससे इस संग्राम के प्रधान स्थलों को दिखलाओ।

क्रम-संख्या ३

तीसरा सप्ताह[1]

विश्व का इतिहास

विषय—फ्रांस की राजक्रांति

तुमने पढ़ा है कि इङ्गलैंड की सन् १६४२ और १६८८ की क्रांतियाँ प्रधानतः राजनीतिक और धार्मिक थीं। अमेरिका की सन् १७७६ की क्रांति विशेषतः राजनीतिक थी। परन्तु फ्रांस की १७८९ की क्रांति राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक थी। फ्रांस की क्रांति की जड़ में ये बातें प्रधान थीं। (१) निरंकुश फ्रांसीसी राजा अयोग्य थे; फ्रांस के दार्शनिक विद्वान अन्य देशों के विचारकों की तुलना में अधिक प्रभावशाली थे, और (३) दूसरे देशों की जनता की अपेक्षा फ्रांस की जनता अंग्रेजी तथा अमेरिकी क्रांतियों से अधिक प्रभावित हुई। इसे समझने के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के सगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एल० शर्मा।

---

1. Third Period.

ही निर्भर थी । प्रजा के हित पर बराबर ध्यान रखा जाता था। टोडरमल, मानसिंह और बीरबल आदि के बारे में तुम लोग पढ़ ही चुके हो। इससे मालूम होता है कि हिन्दू और मुसलमानों आदि का समान आदर किया जाता था। टोडरमल द्वारा की हुई पैमाइश पर सैनों और किसानों का उचित प्रबन्ध किया गया था। पर सड़कें सुरक्षित न थी। देहात में रहने वालों की रक्षा और न्याय का समुचित प्रबन्ध न था। इन सब का अध्ययन डा० ईश्वरीप्रसाद तथा डा० ताराचन्द के भारतवर्ष के इतिहास में क्रमशः पृष्ठ ४१४ से ४२५, तथा पृष्ठ ३१२-३२० में पढ़ो। इस पर दो पृष्ठ का एक निबन्ध लिखकर दिखलाना। (इसी प्रकार वास्तुकला व चित्रकला, संगीत व साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का एक-एक खण्ड बनाकर विभिन्न दिनों के लिए दिया जा सकता है। प्रत्येक विषय पर पढ़ने के लिए पुस्तकों का नाम व पृष्ठ संख्या दे देनी होगी। हर विषय पर एक छोटा निबन्ध लिखने के लिए दे देना चाहिए अथवा कुछ छोटे-छोटे प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर लिखने के लिए भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी पाठ-निर्देश दिया जाता है।)

क्रम-संख्या २

दूसरा सप्ताह[1]

विषय—भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध १८५७

तुमने लार्ड डलहौजी के शासन प्रबन्ध के बारे में अच्छी प्रकार पढ़ लिया है। तुमने देखा कि डलहौजी ने जो नई शक्तियाँ पैदा की उनसे भारत की दशा बदल गई। रेल और तार ने सारे देश को एक सूत्र में बाँध दिया। परन्तु डलहौजी की नीति सदा दोषमुक्त न थी। वह हर स्थान पर ब्रिटिश सत्ता को स्थापित करना चाहता था। देशी राजाओं को वह अंग्रेजों के कठिन नियन्त्रण में रखना चाहता था। भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम युद्ध-सम्बन्धी कारणों में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग डलहौजी की नीति को इसका प्रधान कारण मानते हैं। कुछ के अनुसार इसका कारण सैनिक था, और कुछ के अनुसार राजनीतिक और सामाजिक था। इनके कारणों को अच्छी तरह समझने के लिए निम्नलिखित

1. Second Period.

लेखकों की पुस्तकों के सगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिए हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करो :—

१—डा० ईश्वरी प्रसाद।

२—डा० ताराचन्द।

३—डा० विश्वेश्वर प्रसाद।

प्रश्न—

१—भारतीय स्वतन्त्रता के प्रथम सग्राम के प्रधान कारणों को समझाओ।

२—इस सग्राम के प्रथम स्थल तथा मुख्य गतियों का विवरण दो।

३—इसके परिणाम की व्याख्या करो।

४—भारतवर्ष का एक मानचित्र खींचो और उसमें इस सग्राम के प्रधान स्थलों को दिखलाओ।

क्रम-संख्या ३

तीसरा सप्ताह[1]

विश्व का इतिहास

विषय—फ्रांस की राजक्रांति

तुमने पढ़ा है कि इङ्गलैंड की सन् १६४२ और १६८८ की क्रांतियाँ प्रधानतः राजनीतिक और धार्मिक थीं। अमेरिका की सन् १७७६ की क्रांति विशेषतः राजनीतिक थी। परन्तु फ्रांस की १७८९ की क्रांति राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक थी। फ्रांस की क्रांति की जड़ में ये बातें प्रधान थी। (१) निरंकुश फ्रांसीसी राजा अयोग्य थे; फ्रांस के दार्शनिक विद्वान अन्य देशों के विचारकों की तुलना में अधिक प्रभावशाली थे, और (३) दूसरे देशों की जनता की अपेक्षा फ्रांस की जनता अग्रेजी तथा अमेरिकी क्रांतियों से अधिक प्रभावित हुई। इसे समझने के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के सगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एल० शर्मा।

1. Third Period.

२—एच० ए० डेवीज़।

३—एच० जी० वेल्स।

प्रश्न—

१—फ्रांस की क्रांति के मूल कारणों की व्याख्या करो।

२—फ्रांस की क्रांति की प्रधान घटनाओं का संक्षेप में विवरण दो।

३—फ्रांस की क्रांति के प्रभाव और महत्व पर प्रकाश डालो।

क्रम-संख्या ४

चौथा सप्ताह[1]

विश्व का इतिहास

विषय—रूस की क्रांति, १९१७

जारशाही से प्रजा अत्यन्त दुखी थी। कृषक बड़े ही सन्तप्त थे। सारा देश धार्मिक व्यामोहों से विकल था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कल कारखाने स्थापित किये गये, परन्तु उनके श्रमिक पूँजीपतियों के अमानुषिक व्यवहार से विचलित हो उठे। इन सबके अतिरिक्त राजकीय बन्धन अत्यन्त कठोर थे। सर्वसाधारण धनिक वर्ग से द्वेष करता था। देश में शिक्षा का अभाव था। देश में सामाजिक कुरीतियाँ घेरे हुई थीं। नैतिकता बहुत कम देखने को मिलती थी। चारों ओर क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं। देश में एक क्रांतिकारी दल उत्पन्न होगया था जो चुपके-चुपके कार्यशील था। बम और पिस्तौल से राज्य-कर्मचारियों की हत्यायें होने लगी थीं। इन सब प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा की जाती थी। पर यह कहाँ सम्भव था? फलतः क्रान्ति किसी के रोकी न रुक सकी। इन सब बातों को समझने के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के सम्बद्ध पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एन० शर्मा।

२—एच० जी० वेल्स।

३—एच० ए० डेवीज़।

[1] Fourth Period.

२—एच० ए० डेवीज।

३—एच० जी० वेल्स।

प्रश्न—

१—फ्रांस की क्रांति के मूल कारणों की व्याख्या करो।

२—फ्रांस की क्रांति की प्रधान घटनाओं का संक्षेप में विवरण दो।

३—फ्रांस की क्रांति के प्रभाव और महत्व पर प्रकाश डालो।

क्रम-संख्या ४

चौथा सप्ताह

विश्व का इतिहास

विषय—रूस की क्रांति, १९१७

जारशाही से प्रजा अत्यन्त दुखी थी। कृषक बड़े ही सन्तप्त थे। सारा देश धार्मिक व्यामोहों से विकल था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कल कारखाने स्थापित किये गये, परन्तु उनके श्रमिक पूँजीपतियों के अमानुषिक व्यवहार से विचलित हो उठे। इन सबके अतिरिक्त राजकीय बन्धन अत्यन्त कठोर थे। सर्व साधारण धनिक वर्ग से द्वेष करता था। देश में शिक्षा का अभाव था। देश में सामाजिक दुर्वृत्तियाँ घेरे हुई थी। नैतिकता बहुत कम देखने को मिलती थी। चारों ओर क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थी। देश में एक क्रांतिकारी दल उत्पन्न होगया था जो चुपके-चुपके कार्यशील था। बम और पिस्तौल से राज्य-कर्मचारियों की हत्यायें होने लगी थीं। इन सब प्रवृत्तियों को बलवश दबाने की चेष्टा की जाती थी। पर यह कहाँ सम्भव था ? फलतः क्रांति किसी से रोकी न जा सकी। इन सब बातों को समझने के लिए निम्नलिखित लेखकों की पुस्तकों के सगत पृष्ठों को पढ़ो और नीचे दिये हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करो।

१—पी० एल० शर्मा।

२—एच० जी० वेल्स।

३—

बनवा सकते हैं ? स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति को भारतवर्ष में कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई धन की है। धन होने पर योग्य शिक्षक, उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें और आवश्यक इमारतें सभी उपलब्ध हो सकती हैं। परन्तु पूरा नहीं तो कुछ सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया ही जा सकता है। डाल्टन पद्धति के प्रवर्तक के अनुसार कुछ ही सिद्धान्तों के पालन से बालकों का बहुत लाभ हो सकता है। अतः कुछ न कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

सारांश

डाल्टन पद्धति

१—स्वरूप

मॉन्टेसरी पद्धति से तात्विक समानता, स्थूल ऐसी प्रयोगशाला जहाँ बालक अपने विकास के लिये स्वयं प्रयत्न कर सके।

२—डाल्टन पद्धति की कुछ विशेषतायें

व्यक्तिगत आवश्यकता पर पूरा ध्यान।

सीमा के अन्दर उचित स्वतन्त्रता, समय-सारिणी का बन्धन नहीं।

प्रयोगशालायें, पाठ-निर्देश, उन्नति का लेखा।

सामान्य कठिनाई का निराकरण सामूहिक रूप में।

नई शिक्षण-विधि नहीं, नए शिक्षा संगठन का एक रूप, श्रेणी विभाजन में व्यक्तिगत भिन्नता की उपेक्षा नहीं; पारस्परिक सहायता की पूरी स्वतन्त्रता, सामाजिकता का विकास।

आत्म-शिक्षण, पूर्वान्ह और अपरान्ह।

स्थूल समाज का एक छोटा रूप।

मौखिक पाठ

विशेषज्ञ

३—पाठ-निर्देश

डाल्टन पद्धति का प्राण पाठ-निर्देश।

यह देखना कि पाठ-निर्देश का ठीक अध्ययन किया गया है या नहीं।

जोर नहीं दिया जाता। डाल्टन पद्धति तो वह प्रणाली है जिसे कार्यान्वित करने के लिए एक ही नियम के पालन की अपेक्षा नहीं की जाती। इसे सभी लोग अपनी-अपनी विधि के अनुसार उपयोग में ला सकते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि डाल्टन पद्धति में मौखिक कार्य के अभ्यास के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता। मौखिक कार्य भाषा के सीखने में बड़ा आवश्यक है। इस प्रणाली को ठीक से कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। उपयुक्त पुस्तकों के अभाव में बालक अपने से कुछ न कर सकेंगे। यदि शिक्षक योग्य न हुए तो वे पाठ-निर्देश अच्छा न बना सकेंगे। वे किसी न किसी प्रकार का पाठ बालकों को देकर केवल खाना पूर्ति कर देंगे। पाठ-निर्देश ऐसा होना चाहिए कि बालकों की सारी मानसिक शक्ति उसमें लग जाय। तार्किक-क्रम से विषय का विवेचन करने वाली पुस्तकें बालकों के लिये विशेष उपयोगी नहीं होतीं। डाल्टन-पद्धति के लिए *पाठ्य-पुस्तकें* कैसी हों इसका अभी कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं किया जा सका है। पर बालकों के विकास पर पूरा ध्यान देकर ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का लिखना आवश्यक है जिनमें उपयुक्त पाठ-निर्देश भी दिये हों। इसके अतिरिक्त डाल्टन स्कूल में प्रत्येक विषय के लिए अच्छी और आवश्यक पुस्तकों का संग्रह होना आवश्यक है। इसके बिना पाठ-निर्देश का कुछ तात्पर्य न होगा।

५—डाल्टन-पद्धति और हमारा देश

कुछ अध्यापकों को डाल्टन पद्धति अरुचिकर लगती है। क्योंकि उसमें उनके आत्म-गौरव प्रदर्शन करने की इच्छा की विशेष पूर्ति नहीं होती। उनका स्थान गौण हो जाता है। डाल्टन पद्धति में सालाना तरक्की के सम्बन्ध में बड़े [illegible] नियमों का पालन किया जाता है। भारतीय अभिभावक अभी उनके लिए [illegible] नहीं। वे तो अपने बालक को हर साल आगे की कक्षा में देखना चाहते [illegible]। इस प्रकार अभिभावकों से सहानुभूति न मिलने से हमारे देश में डाल्टन पद्धति का सफल होना कठिन है। डाल्टन पद्धति में स्कूल भवन ऐसा होना चाहिए कि उसमें विभिन्न विषयों के लिए प्रयोगशालायें बनाई जा सकें। जब कि हमारे देश के बहुत से स्कूल किसी प्रकार अपने को पूरा और बरबाद न बचाने के प्रबन्ध में हैं तो वे प्रयोगशालाओं के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें कहाँ

इतिहास का पाठ-निर्देश
(कक्षा ६ के लिए, बालकों की आयु १३-१४)
क्रम संख्या १
प्रथम सप्ताह
विषय-मुगल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति
खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)
क्रम संख्या २
दूसरा सप्ताह
विषय—भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध, १८५७
क्रम संख्या ३
तीसरा सप्ताह
विश्व का इतिहास
विषय--फ्रान्स की राजक्रान्ति
क्रम संख्या ४
चौथा सप्ताह
विश्व का इतिहास
विषय—रूस की क्रान्ति, १९१७

४—डाल्टन पद्धति की आलोचना

बालक मनमानी बात नहीं कर सकता, उसकी स्वतन्त्रता सीमित।
"सामान्य बालकों की ही शिक्षा"।
किसी एक नियम-पालन की बढ़ना नहीं।
उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता।

३८

खेल द्वारा शिक्षा[1]

प्रायः सभी नवीन शिक्षा-प्रणालियों में 'खेल' द्वारा शिक्षा देने पर काफी जोर दिया जाता है। एक प्रकार से प्रॉजेक्ट मेथड और डाल्टन प्लान में भी बालक की खेल-प्रवृत्ति का कुछ न कुछ उपयोग किया जाता है। किण्डरगार्टेन और मॉन्तेसरी प्रणालियाँ तो प्रधानतः खेल पर ही आधारित हैं। अतः यहाँ खेल के स्वरूप तथा शिक्षा में उसके उपयोग पर संक्षेप में विचार कर लेना असंगत न होगा। खेल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा उसके विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ न किया जायगा।[2]

१—खेल का स्वरूप[3]

खेल का स्वरूप ठीक-ठीक समझने के लिए 'कार्य' से उसकी तुलना कर लेना युक्तिसंगत जान पड़ता है। खेल और कार्य में सैद्धान्तिक विरोध दिखलाई पड़ता है, क्योंकि दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। कार्य से व्यक्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। उदाहरणार्थ, बढ़ई लकड़ी पर काम करता है जिससे मेज और कुर्सियाँ तैयार हो जायँ। अन्न पैदा करने के लिए किसान खेत में काम करता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए विद्यार्थी कमरे में बैठ घण्टों पढ़ता रहता है—यह उसका कार्य हुआ। डाक्टर का काम धनो-

1. Play way in Education.

2. लेखक द्वारा रचित 'मनोविज्ञान और शिक्षा" द्वि० सं०, पृष्ठ २२५-२४६, प्रकाशक लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६। 'खेल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और सिद्धान्त' के लिये पढ़िये।

3. Nature of Play.

अर्जन के लिए रोगियों को देखने यहाँ-वहाँ जाना है या अस्पताल में ही बैठे उनकी चिकित्सा करता है। अपने-अपने काम पूरे हो जाने पर बढ़ई, किसान, विद्यार्थी और डाक्टर सन्तोष का अनुभव करते हैं। 'खेल' की बात इसमें एकदम निराली है। खेल में व्यक्ति खेल के परे किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं चाहता। वस्तुत, खेल खेलना ही उसका ध्येय होता है। खिलाड़ी को वास्तविक आनन्द का अनुभव खेल-क्रिया ही में होता है। इसके विपरीत कार्य करने वाले को आनन्द का अनुभव कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादित हो जाने पर होता है।

यहाँ एक आदर्श की ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि खेल और कार्य में सैद्धान्तिक विरोध है। पर आदर्श की दृष्टि से ऐसी बात नहीं। यदि कार्य अर्थात् कर्त्तव्य को हम खेल की मुद्रा में कर डालें तो कितनी बड़ी बात हो! वस्तुतः व्यक्तित्व के आदर्श विकास की यही माँग है। तभी तो कर्त्तव्य-पालन कृष्ण और राम के लिए खेल ही था कदाचित् इसी भावनावश हमारे पूर्वजों ने 'कृष्णलीला' और रामलीला' का नामकरण किया है। लीला' का अर्थ खेल ही है। विषय की अधिक खींचा-तानी करनी न होगी यदि हम कहें कि कर्त्तव्य-पालन में हम बालक को खेल की ही मुद्रा देना चाहते हैं जिससे वह अपना कार्य प्रसन्नचित्त होकर करे। खेलने में उसे जो आनन्द आता है वही आनन्द उसे अपने काम में भी आना चाहिए। हमारा भी यह अनुभव है कि जो काम हम बड़े आनन्द से करते हैं उसका फल बड़ा ही मनोहर होता है।

शिक्षक को बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वह वर्त्तमान और भावी जीवन में प्रस्तुत कार्य को हँसते हँसते कर ले। इसी वांछित आदर्श की ओर 'खेल द्वारा शिक्षा' का आन्दोलन संकेत करता है। मानव समाज के लिए वह दिन बड़े आनन्द का होगा जब कि प्रत्येक नागरिक अपने-अपने काम को हँसते-हँसाते करता जाय। ऐसा होने पर ही समाज की विभिन्न कुरीतियाँ दूर हो सकती हैं और भावी महायुद्धों से हम मुक्त हो सकते हैं। आइए, हम आशा करें कि वह दिन बहुत दूर नहीं। हम शिक्षकों को तो आशा के ही आधार पर अपने कर्तव्यों का पालन करते जाना है। हमारा यह आदर्श बालकों के लिए बड़ा भारी उदाहरण होगा।

भावावेश में ऊपर हम बहुत दूर तक चले गये । खेल और काम के कुछ अन्य भेदों पर भी अभी दृष्टिपात करना शेष है । खेल हमारी इच्छा पर निर्भर होता है, पर कार्य नहीं । अपनी रोटी कमाने अथवा अपने ध्येय को पूरा करने के लिए काम करने को हम बाध्य हो जाते हैं । किसान खेत में काम न करेगा तो क्या खायेगा ? डाक्टर रोगियों की चिकित्सा नहीं करेगा तो पैसा कैसे पावेगा ? अर्थात् ऐसे कार्यों के बिना उसका काम नहीं चल सकता । खेल के विषय में ऐसी बात नहीं । वह तो व्यक्ति के झक पर निर्भर है । मन किया तो रैकिट लेकर टेनिस खेलने मैदान में पहुँच गये । इच्छा हुई तो सिनेमा देखने चले गये, नहीं तो सो ही गये, अर्थात् खेल में बाहरी कोई दबाव नहीं ।

कार्य में हमें दूसरों के द्वारा कुछ निर्धारित नियमों का पालन करना होता है । कार्य से और वास्तविक जीवन की घटनाओं से पक्का सम्बन्ध है । खेल में अपने ही बनाये हुए नियमों का पालन करना होता है और उनके पालन में आनन्द आता है । खेल में हम वास्तविक जीवन से दूर होकर काल्पनिक संसार के क्षेत्र में विचरते हैं । बचपन में न्यायाधीश, पुलिस और वकील आदि का मनमाना अभिनय किसने नहीं किया है ? पुनः, रेल और महल बनाने का स्वांग किसने नहीं रचा है ? काल्पनिक संसार में विचरने की स्वतन्त्रता खेल प्रवृति का प्राण है । इसी को छीन लीजिए तो साधारण व्यक्ति के लिए वही खेल 'काम' हो जायगा । यदि निरीक्षण-शक्ति की वृद्धि के लिए बालक पतङ्ग उड़ाता है,' क्रिकेट पर धन कमाने के लिए खिलाड़ी हॉकी या फुटबॉल का खेल खेलता है 'पतङ्ग उड़ाना', अथवा 'हॉकी या फुटबॉल' आदि खेल 'काम' हो जायेंगे, उसमें खिलाड़ी की मनचाही स्वतन्त्रता छिन जाती है ।

२ – खेल द्वारा शिक्षा

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खेल और कार्य में बहुत दूर तक दृष्टिकोण का अन्तर है । दृष्टिकोण के परिवर्तन से ही 'खेल' और कार्य 'काम' हो सकता है । शिक्षा के क्षेत्र का [illegible] के आधार में हम [illegible] के दृष्टिकोण में ही वांछित परिवर्तन कर देना चाहते हैं । [illegible] [illegible] कहना है कि [illegible] में बालक की सभी स्वाभाविक [illegible] [illegible]

और ठीक से समझा जा सकता है। किसी ने सच कहा है कि 'शिशु के स्वभाव का अध्ययन करना है तो उसके साथ कुछ देर तक खेल लो।' खेल में व्यक्ति भूलकर अपने वास्तविक स्वभाव को अनजान में स्पष्ट कर देता है। ऊपर हमने खेल और काम के भेद का स्पष्टीकरण किया है और उससे यह समझा जा सकता है कि कार्य से जी ऊब जाने पर मनुष्य मनोरञ्जन के लिए खेल का आश्रय लेता है। यदि खेल का यही अर्थ लिया जाय तो 'खेल द्वारा शिक्षा' की बात उठाना ही भ्रम होगा। इसीलिए काल्डवेल कुक ने 'खेल' को बचपन की एक प्रधान क्रिया मानी है। कहना न होगा कि यह धारणा बिलकुल ठीक भी है। बाल-मन में छिनाई नहीं होती। बालक की संसार के दृढ़ प्राणियों में गणना की जा सकती है। खेलने के समय बालक बड़ा एकाग्रचित्त और दृढ़ दिखलाई पड़ता है। खेलने के आवेश में वह खाना-पीना और सभी सामाजिक बन्धन भूल जाता है। दस वर्ष का बन्नू खेलने में इतना मग्न रहा कि बाबूजी के कई दिन बाहर से आने पर भी उसे उन्हें प्रणाम करने की सुधि न रही। खेल समाप्त होने पर वह अचानक बाबूजी को प्रणाम कर बैठा। खेल के मनोवैज्ञानिक आधार से अपरिचित व्यक्ति चौंक पड़े। सच है, खेल में बालक उतना ही दृढ़प्रतिज्ञ रहता है जितना कि रणक्षेत्र में सेनापति। कदाचित् इसीलिए कुक का कहना है कि शिक्षा में खेल को लाने का तात्पर्य बालक को अध्ययन अथवा सीखने की क्रिया से वंचित कर उसका मनोरञ्जन मात्र नहीं करना है, वरन् उसे सीखने की ही क्रिया में संलग्न करना है, क्योंकि बालक के लिए 'खेलना' सीखने का बड़ा भारी साधन है। 'खेल-प्रवृत्ति' के उपयोग से पढ़ने-लिखने में उसे आनन्द आने लगता है।

कुक के अनुसार स्वतन्त्रता,[1] उत्तरदायित्व[2] और रुचि[3] 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण हैं, क्योंकि ये तीनों खेल के मुख्य गुण हैं। खेल में बालक पूरी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इसके अभाव में खेल 'खेल' नहीं है। खेल के बुरे अथवा अच्छे फल का उत्तरदायित्व पूर्णतः खिलाड़ी पर ही होता है। खेल में गहरी चोट लग जाने पर भी बालक नहीं रोता। भारी से भारी हानि हो जाने पर भी वह चूँ नहीं बोलता, क्योंकि उसमें उसी का उत्तरदायित्व रहता

1. Freedom. 2. Responsibility. 3. Interest.

है। खेल रुचि रहने तक ही चलता है। किसी के कहने पर बालक खेलना नहीं प्रारम्भ कर सकता। रुचि रहने पर ही वह खेलता है और न रहनेपर घर चला आता है। घर-घरौदा खेलते हुए बालक को यदि अभिनय के स्वाङ्ग रचने के लिए आदेश दिया जाय तो अपनी रुचि के विरुद्ध वह कुछ न करेगा। रुचि के अनुसार वह अपनी खेल-क्रिया का रूप बदला करता है, पर दूसरे की रुचि के अनुसार खेलना उसे स्वीकार नहीं हो सकता। खेल द्वारा शिक्षा में मनोवैज्ञानिक ढग से हम कुछ अरुचिकर क्रियाओं को ही खेल के रूप में बालकों से करवाते हैं। बालकों की कुछ वस्तुओं में स्वभावतः रुचि होती है और कुछ में अरुचि। "खेल द्वारा शिक्षा" में हम बालक की स्वभावतः रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। अतः बालकों की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना "खेल द्वारा शिक्षा" का उद्देश्य है।

बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं का पता कैसे चलाया जाय? वस्तुतः हम उनका ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं कर सकते। जो चीज एक समय रुचिकर है वही दूसरे समय अरुचिकर हो सकती है। अपनी रुचि से किये जानेवाले कार्य को यदि किसी दबाव के कारण हमें विवश होकर करना हुआ तो वही कार्य अरुचिकर हो जायगा। बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। गेंद खेलने में उसे बड़ा आनन्द आता है। पर यदि उसे गेंद खेलने के लिए बाध्य किया जाय तो वही काम उसके लिए अरुचिकर हो जायगा। पर यदि अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ दिया जाय तो वही रुचिकर जान पड़ेगा। एक मील पैदल चलना बालक के लिए अरुचिकर हो सकता है। पर कबड्डी या कुश्ती लड़ने के लिए इतने दूर पैदल जाना उसे रुचिकर मालूम होगा। बालक को यदि उसके कार्य का उद्देश्य बता दिया जाय तो वह उसे रुचि के साथ कर सकता है।

३—'खेल द्वारा शिक्षा' के विरोधियों का मत

'खेल द्वारा शिक्षा' प्रणाली से पूरी शिक्षा-पद्धति को रूपान्तरित किया जा ... पर कुछ लोगों का कहना है कि खेल द्वारा सभी विषयों का पढ़ाना ... ऐसे लोग खेल का बहुत सीमित अर्थ लगाते हैं। वे हॉकी, फुटबाल,

परिश्रम कर सके। खेल का शिक्षा में प्रयोग का तात्पर्य एक मनोवृत्ति विशेष अथवा दृष्टिकोण से है। यदि बालक में शिक्षा के समय खेल की मनोवृत्ति उत्पन्न की जा सकी तो कठिन से कठिन कार्य भी उसे सरल मालूम होगा। सन्तोष की बात है कि खेल द्वारा शिक्षा के उपर्युक्त विरोध का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और यथासम्भव खेल मनोवृत्ति का बालकों को शिक्षा में सदुपयोग किया गया है। नीचे हम कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जिनसे खेल द्वारा शिक्षा की प्रगति का पता चलेगा।

४—खेल द्वारा शिक्षा का क्रियात्मक रूप

आजकल शायद ही ऐसा कोई स्कूल होगा जहाँ बालचर संस्था की एक टोली न हो। बालचरों को खेल के द्वारा ही अनेक व्यावहारिक और वास्तविक बातों में शिक्षा दी जाती है। जिन नैतिक गुणों के प्रति स्थायीभाव[1] उत्पन्न करने के लिए कक्षा में शिक्षक को बड़ी कठिनाई मालूम होती है उन्हें बालचर अपने खेलों के आधार पर अपना लेते हैं। बालचरों का भ्रातृत्व, लोकसेवा, जीवों के प्रति दया, दुःखियों के लिए सहानुभूति और सहायता, सहिष्णुता आदि नैतिक गुणों से सभी परिचित हैं। वस्तुतः बालचर संस्था तो इन्हीं गुणों पर आधारित है। स्कूल अथवा घर में व्यावहारिक जीवन की बातें सीखने के लिए श्रम करना बालकों को बड़ा अरुचिकर लगता है। पर बालचर संस्था में खेल बहुत सी व्यावहारिक बातें वह हँसते-हँसते सीख लेता है। कैम्प में चित्त चारों ओर की गन्दगी साफ कर डालता है, भोजन बनाता है दूसरों की सेवा करता है। जाड़े की रात्रि में वह घण्टों पहरा देता रहता। वह कर्त्तव्यपरायण हो जाता है। बालचर संस्थायें बालकों के जीवन को आदर्श बनाने के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं।

स्कूलों में कभी-कभी नाटक भी खेलने का आयोजन किया जाता है। इससे बालकों को इतिहास और साहित्य की अच्छी शिक्षा मिलती है। सिनेमा से भी उन्हें कई तरह की अच्छी शिक्षायें दी जाती हैं। सिनेमा का आधार खेल ही होता है। हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट और कबड्डी आदि खेलों में केवल शारीरिक

[1] ent.

स्वास्थ्य की ही वृद्धि नहीं होती, वरन् उनसे बालक, नेतृत्व, आत्मत्याग तथा सहिष्णुता आदि अनेक नैतिक गुण प्राप्त करता है।

संगीत, साहित्य और चित्रकला आदि में रसानुभूति-पाठों की आजकल चलन चल पड़ी है। इनमें यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक संगीत, साहित्य, चित्रकला के कुछ सुन्दर अङ्गों को समझें और यदि सम्भव हो तो स्वयम् वैसी रचना करने का प्रयत्न करें। इनमें 'खेल द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त की ही ओर संकेत मिलता है, क्योंकि इसमें बालक के सौन्दर्य-प्रेम के विचारात्मक और क्रियात्मक दोनों भावों का मेल दिखलाई पड़ता है।

सारांश

खेल द्वारा शिक्षा

१–खेल का स्वरूप

खेल और काम में सैद्धान्तिक विरोध, आदर्श की दृष्टि से दोनों में समानता।

खेल इच्छा पर निर्भर—पर कार्य नहीं।

काम में वास्तविक जीवन से सम्बन्ध, खेल में काल्पनिक जीवन।

२–खेल द्वारा शिक्षा

खेल और काम में दृष्टिकोण का अन्तर, खेल से व्यक्ति का स्वभाव पहचानना, खेल बचपन की प्रधान क्रिया और सीखने का साधन।

स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण; रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना।

अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ना।

३–'खेल द्वारा शिक्षा' के विरोधियों का मत

प्रत्येक विषय खेल द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता।

खेल को शिक्षा का आधार बनाना सिद्धान्ततः गलत ?

'खेल द्वारा शिक्षा' का अर्थ परिश्रम से बालक को दूर हटाना नहीं।

४–खेल द्वारा शिक्षा का क्रियात्मक रूप

बालचर-संस्था।

३९
किंडरगार्टेन पद्धति[1]

खेल द्वारा शिक्षा देने का विस्तृत और क्रमबद्ध रूप सबसे पहले जर्मनी के दार्शनिक शिक्षा विशेषज्ञ फ्रोबेल[2] ने १९वी शताब्दी में हमें दिया। १९वीं शताब्दी में स्कूल बालकों के लिए जेल के समान थे। उनको खेल पर आधारित करना शिक्षा में एक बड़ी भारी क्रान्ति लाना था। स्कूल एक अरुचिकर स्थान का द्योतक हो चला था। कदाचित् इसीलिए फ्रोबेल ने अपनी प्रणाली के नामकरण में 'स्कूल' शब्द का समावेश नहीं किया। वह स्कूल को बालकों के मनोरञ्जन का स्थान बनाना चाहता था। वह चाहता था कि बालक स्कूल वैसे ही प्रसन्न मन से जायें जैसे वे खेल-मैदान में जाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने खेल को छोटे बालकों की शिक्षा का आधार बनाया।

१—फ्रोबेल के दार्शनिक विचार पर शिक्षा की नींव

फ्रोबेल विकास के एक सार्वलौकिक नियम में विश्वास करता है। उसके शिक्षा-आदर्श में आध्यात्म-विद्या की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। उसके अनुसार आध्यात्मिक विकास के क्रम-बद्ध होने से ही शिक्षा सम्भव हो सकती है। "शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। वांछित दशायें सभी स्वस्थ बालकों में उपस्थित रही हैं। शिक्षा द्वारा केवल वास्तविक वातावरण ही उपस्थित करना है।" फ्रोबेल कहता है कि इस संसार की

1. Kindergarten System. 2. फ्रोबेल के गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों की विवेचना करना इस अध्याय का उद्देश्य नहीं। इसके लिए पाठक को "पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास" पढ़ें। यहाँ पर केवल 'किण्डरगार्टेन रेखा पर ही अति संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

नाटक, सिनेमा, हॉकी व फुटबॉल आदि खेल।

रसानुभूति-पाठ।

प्रश्न

१—खेल द्वारा शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार क्या हैं? उनकी आलोचना कीजिए।

२—खेल द्वारा शिक्षा के किसी क्रियात्मक रूप का विवरण दीजिए। आठवीं कक्षा के पाठ्यक्रम के किसी अंश से उदाहरण देकर समझाइए।

३—खेल और कार्य के भेद की ओर संकेत कीजिए। खेल द्वारा शिक्षा के विरोधियों का इस सिद्धान्त के विरुद्ध क्या मत है?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—काल्डवेल कुक—प्ले-वे इन एडूकेशन।

२—रेनो—द प्लेस ऑव प्ले इन एडूकेशन।

३—टी० पी० नन—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ७-८।

४—लोवेनफ़ील्ड—प्ले इन चाइल्डहुड।

* * *

यदि विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार चलता है और उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर होता है तो शिक्षा की आवश्यकता क्या ? .फ्रोबेल कहता है कि बालक का वातावरण स्वाभाविक नहीं होता। जन्मते ही वह एक सामाजिक प्राणी हो जाता है और उस पर कृत्रिम वातावरण के विभिन्न प्रभाव पड़ने लगते हैं। इन प्रभावों के कारण उसका विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं चल पाता। उसमें माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा मनमान में ही हस्तक्षेप हो जाता है। इस प्रकार विकास के लिये आदर्श दशा नहीं रहती। इसलिए शिक्षा की आवश्यकता है। पर बालकों की शिक्षा के लि .फ्रोबेल एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह बालक की पौधे उपमा देता है। इसी उपमा के आधार पर उसने बच्चों के स्कूल का ना 'किण्डरगार्टेन (बच्चों का बाग) रखा। पौधे के विकास में माली केवल यो देता है। उसके लिए अनुकूल वातावरण अर्थात् आवश्यक मिट्टी, खाद व पान का वह प्रबन्ध भर कर देता है। वह निरीक्षण करता रहता है जिसमें पौधे क किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। माली के सभी प्रयत्नों के होते हुए भी विका का काम पौधा ही करता है। माली केवल आवश्यक साधनों का आयोजन मा कर देता है। पौधे के विकास के लिए माली उतावला नहीं होता। वह उस जड़ खोद-खोद कर यह नहीं देखता कि उसका विकास कितना हुआ है। वह केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित करके विकास क्रम का उत्तरदायित्व पौधे प छोड़ देता है। .फ्रोबेल का सिद्धान्त है कि बालक की शिक्षा में शिक्षक को भी एकदम यही करना है।

.फ्रोबेल शिक्षक की उपमा माली से देता है। माली की तरह शिक्षक को भी केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देना है। जिस प्रकार माली पौधे की स्वाभाविक क्रिया में योग देता है उसी प्रकार शिक्षक को भी अपने कर्तव्य का पालन करना है। बालक की स्वाभाविक क्रिया खेल है। खेल विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। शिक्षक को बालक के खेल का ही मनोवैज्ञानिक है। यदि यह आयोजन ठीक हुआ तो विकास अपने आप होगा .फ्रोबेल बालक के विकास में खेल को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दे .फ्रोबेल को आध्यात्मिक महत्व दिखलाई पड़ता है। "ध्वनि

समझने के लिए उसके खेलों का अध्ययन करना चाहिए। फ्रोबेल ने खेल को बालक की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन माना है। अतः वह उनके खेलों में सामाजिकता लाकर एक निश्चित उद्देश्य डालना चाहता है। उसका विश्वास था कि यदि उनके खेलों में एक निश्चित उद्देश्य न हुआ तो उनका विकास-क्रम ठीक से न चलेगा।

फ्रोबेल कहता है कि प्रत्येक बालक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। इसीलिए एक साथ पढ़ने रहने पर भी सबका विकास एक समान नहीं होता। हमारे कहने से बालक कुछ नहीं करता। उसके मन में जो आता है वही करता है। फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में शिक्षकों की इच्छा को स्थान देना नहीं चाहता वह बालकों की ही इच्छा को प्रधान मानता है। फ्रोबेल का मत है कि आत्म-क्रिया[1] सबसे बड़ा शिक्षक है। आत्म-क्रिया से ही बालक अपने विभिन्न अंगों का विकास करते हुए विविध ज्ञान प्राप्त करता है। बालक हर समय क्रियाशील दिखलाई पड़ता है। उसे चुपचाप बैठना पसन्द नहीं। बड़े लोग उसकी क्रियाशीलता से तंग आकर उसे शान्त रखने के लिए बहुधा डाँटा करते हैं। फ्रोबेल का विश्वास है कि उसकी क्रियाशीलता को ठीक पथ पर अनुशासित कर देना ही उसकी शिक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इस ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं।

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

फ्रोबेल ने देखा कि 'गाना',[2] 'संकेत करना'[3] और 'कुछ[4] बनाना' बालकों की सरलतम स्वाभाविक क्रियायें हैं। इन्हीं के द्वारा वह अपने विचार प्रकट किया करता है। अतः उसके उचित पथ-प्रदर्शन के लिए इनका अध्ययन कर तदनुसार अपेक्षित उपकरणों का आयोजन करना नितान्त आवश्यक है। इसलिए फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में 'गाना', 'संकेत' और 'बनाने' को महत्वपूर्ण स्थान देता है। बच्चों को इन्हीं साधनों से ज्ञान देना चाहिए। उनकी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का विकास उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता[5] में योग देने से किया जा सकता है। इस योग के लिए 'गाना', 'संकेत' और 'बनाना' बड़े अच्छे साधन हैं। उदाहरणार्थ, उसे किसी ऐतिहासिक घटना का ज्ञान, गाना, कहानी तथा नाटक के रूप

1. Self activity. 2. Singing. 3. Gesture. 4. Construction.
5. Spontaneous activ

बड़ा महत्वपूर्ण है। बचपन खेल के लिए है और किशोरावस्था कार्य के लिए।
बालक ने जो पहले अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलतावश किया उसे बड़ा लड़का
एक निश्चित फल के लिए करेगा। क्रियाशीलता से बच्चे को आनन्द आता है
और बड़े लड़के को कार्य से।"[1]

३—मानसिक विकास और शिक्षा का उद्देश्य

फ्रोबेल के अनुसार मानसिक क्रियायें तीन प्रकार की होती हैं:—जानना[2],
अनुभव करना[3] और सङ्कल्प[4] करना। इन तीनों क्रियाओं का विकास एक साथ
ही होता रहता है। जैसे पौधे की शाखाओं और पत्तों के लिए माली एक साथ
ही उद्योग करना है वैसे ही शिक्षक को इन सभी मानसिक क्रियाओं के लिए एक
साथ ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही मस्तिष्क का अनुरूप विकास
हो सकता है—(एडूकेशन ऑव मैन)। फ्रोबेल कहता है कि "सृष्टि, प्रकृति,
ससार के क्रम तथा मानव जाति की उन्नति में ईश्वर ने हमें शिक्षा के वास्तविक
रूप का आभास दिया है। सृष्टि और प्रकृति में हर समय हमें क्रियाशीलता
दिखलाई पड़ती है। इसी क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने सकेत किया है। अतः
शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता है। 'चेतन रहना', 'क्रियाशील रहना' और
'विचारना' व्यक्ति के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य
व्यक्ति में इन्हीं गुणों का लाना है। ईश्वर से व्यक्ति को सदा सीखते रहना है।
निरन्तर कार्य करता रहता है। परिश्रम और अध्यवसाय में हमें ईश्वर
...न होना है[5]।

बालकों की शिक्षा में फ्रोबेल उनकी रुचि पर विशेष ध्यान देता है। फ्रोबेल
की धारणा है कि एक बार स्वाभाविक प्रवृत्ति के जागृत कर देने से बालक में
रुचि अपने आप आ जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति, रुचि और भावना का बच्चे
की शिक्षा में क्या महत्व है इस ओर सर्वप्रथम फ्रोबेल ने ही हमारा ध्यान आक-
र्षित किया है। इसलिए उसकी गणना सर्वश्रेष्ठ शिक्षा सुधारकों में की जाती है।
वर्तमान शिक्षा-प्रगति में हमें फ्रोबेल के इस विचार की छाप स्पष्ट दिखलाई
पड़ती है। फ्रोबेल का कहना है कि बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि को

1. Education of Man, 949. 2. Knowing. 3. Feeling.
4. Willing 5. Education of Man, § 23.

समझने के लिए उसके खेलों का अध्ययन करना चाहिए। फ्रोबेल ने खेल को बालक की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन माना है। अतः वह उनके खेलों में मामाजिकता लाकर एक निश्चित उद्देश्य डालना चाहता है। उसका विश्वास था कि यदि उनके खेलों में एक निश्चित उद्देश्य न हुआ तो उनका विकास-क्रम ठीक से न चलेगा।

फ्रोबेल कहता है कि प्रत्येक बालक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। इसीलिए एक साथ पढ़ते रहने पर भी सबका विकास एक समान नहीं होता। हमारे कहने से बालक कुछ नहीं करता। उसके मन में जो आता है वही करता है। फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में शिक्षकों की इच्छा को स्थान देना नहीं चाहता वह बालकों की ही इच्छा को प्रधान मानता है। फ्रोबेल का मत है कि आत्म-क्रिया[1] सबसे बड़ा शिक्षक है। आत्म-क्रिया से ही बालक अपने विभिन्न अंगों का विकास करते हुए विविध ज्ञान प्राप्त करता है। बालक हर समय क्रियाशील दिखलाई पड़ता है। उसे चुपचाप बैठना पसन्द नहीं। बड़े लोग उसकी क्रियाशीलता से तंग आकर उसे शान्त रखने के लिए बहुधा डाँटा करते हैं। फ्रोबेल का विश्वास है कि उसकी क्रियाशीलता को ठीक पथ पर अनुशासित कर देना ही उसकी शिक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इस ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं।

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

फ्रोबेल ने देखा कि 'गाना',[2] 'संकेत करना'[3] और 'कुछ[4] बनाना' बालकों की सरलतम स्वाभाविक क्रियायें हैं। इन्हीं के द्वारा वह अपने विचार प्रकट किया करता है। अतः उसके उचित पथ-प्रदर्शन के लिए इनका अध्ययन कर तदनुसार अपेक्षित उपकरणों का आयोजन करना नितान्त आवश्यक है। इसलिए फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में 'गाना', 'संकेत' और 'बनाने' को महत्वपूर्ण स्थान देता है। बच्चों को इन्हीं साधनों से ज्ञान देना चाहिए। उनकी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का विकास उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता[5] में योग देने से किया जा सकता है। इस योग के लिए 'गाना', 'संकेत' और 'बनाना' बड़े अच्छे साधन हैं। उदाहरणार्थ, उसे किसी ऐतिहासिक घटना का ज्ञान, गाना, कहानी तथा नाटक के,

1. Self activity. 2. Singing. 3. Gesture. 4. Constr
5. Spontaneous activity.

में सरलता से दिया जा सकता है। कहानी इतनी सरल हो कि बालक अनुभव करे कि उसी के स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। मानो ऐसा हो कि वह भी उसमें भाग ले सके। कागज तथा मिट्टी की कुछ वस्तुएँ बनवाने से भी घटना की कुछ बातें उसे समझायी जा सकती हैं। इस प्रकार यथासम्भव बालक के सामने "वास्तविकता" का रूप उपस्थित करने की चेष्टा करनी चाहिए। इससे उसमें विचार-शक्ति का विकास होगा।

बच्चों की शिक्षा गाने, संकेत करने और बनाने तक ही सीमित नहीं। फ्रोबेल उनके लिए कुछ उपहार[1] और क्रियाओं[2] का भी प्रबन्ध करना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता को जाग्रत करने के लिए उन्हें लकड़ी तथा कागज आदि के कुछ खिलौने अर्थात् उपहार दिये जाते हैं। इन खिलौनों के साथ जो उन्हें खेल खेलने होते हैं वे ही उनकी क्रियायें हुईं। "उपहारों" का चुनाव फ्रोबेल एक सिद्धांत के अनुसार करना चाहता है। ऊटपटाँग वस्तुओं का चुनाव उसे पसन्द नहीं। 'उपहार' के चुनाव में बच्चे के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। एक विकास-अवस्था के लिए चुने हुए 'उपहार' दूसरी विकास-अवस्था वाले से भिन्न हों। पहले उपहार के देखने से दूसरे उपहार का अनुमान लगा लेना कठिन न हो, अर्थात् उपहारों में पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध के निभाने से ही बालक के विकास में 'उपहार' कुछ योग दे सकता है। उपहारों का चुनाव फ्रोबेल अपनी दार्शनिक भित्ति पर करता है। उसे 'उपहार' और 'क्रिया' में जीवन और प्रकृति के नियम दिखलाई पड़ते हैं। फ्रोबेल का विश्वास था कि जीवन में सफलता लाने के लिए मनुष्य को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए। पर यदि वह कार्य उसे विवश होकर करना हुआ तो उसका कुछ महत्त्व न रहेगा। इसीलिए वह बालकों से खेल के रूप में ही कुछ काम कराना चाहता है, जिससे वह कार्य बालक को स्वाभाविक प्रतीत हो।

बालकों में सामाजिकता के विकास के लिए फ्रोबेल उन्हें कुछ सामूहिक खेल खिलाना चाहता है। आवश्यकता पड़ने पर तथा परस्पर-स्पर्धा के आधार पर उत्साहित कर उन्हें खेल खिलाना चाहिए। इससे उनमें सहानुभूति, अनुकरण तथा नेतृत्व आदि के गुण सरलता से आ सकते हैं।

1. Gifts 2. Occupations.

स्कूल में बालकों से शारीरिक परिश्रम कराने का भी .फ्रोबेल पक्षपाती है। "प्रत्येक बच्चा, बालक और युवक को, जीवन की चाहे जैसी स्थिति में, प्रतिदिन दो एक वस्तुएँ बनानी चाहिए। केवल पुस्तकीय शिक्षा से बालकों में क्रियाहीनता आ जाती है। इस प्रकार मानव शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग अविकसित रह जाता है।[1] .फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्त का इस प्रकार संक्षेप में उल्लेख कर लेने के बाद अब हम कुछ उपहारों की व्याख्या करेंगे। इससे किण्डरगार्टेन पद्धति ठीक-ठीक स्पष्ट हो जायगी।

पहला उपहार[2]

उपहारों में सबसे पहले रङ्ग-बिरंगे ऊन के छः गेंदे[3] दिए जाते हैं। गेंदों का इधर-उधर लुढ़काना उनके साथ की 'क्रिया' है। .फ्रोबेल का विश्वास है कि गेंदों की सहायता से बालक को रूप, रंग और गति का ज्ञान प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त गेंद के उपहार और तत्सम्बन्धी निहित दार्शनिक सिद्धान्त का भी बालक पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इससे उसके विकास में सहायता मिलेगी। गेंद सरलता से घूम सकता है, वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है, लचीला चमकदार और गरम है। फ्रोबेल सोचता है कि बालक समझ सकेगा कि उसके जीवन और गेंद में बड़ी समानता है। इस प्रकार उसे आत्मबोध[4] का कुछ आभास होगा। जिस प्रकार गेंद में उसे विभिन्न गुणों के समन्वय का ज्ञान होता है, वैसे ही बालक यह अनुमान कर सकेगा कि वे सब गुण उसमें भी निहित हैं।

दूसरा उपहार[5]

दूसरे उपहार में बालक को लकड़ी के बने हुए त्रिघात[6], गोला[7] और नलाकार[8] दिये जाते हैं। .फ्रोबेल समझता है कि इन वस्तुओं के साथ खेलने में बालक को ईश्वर की सृष्टि के नियम का कुछ आभास मिलेगा। त्रिघात प्रत्येक स्थिति में स्थिर रहता है। गोला अस्थिर रहता और नलाकार एक स्थिति में स्थिर और दूसरी में अस्थिर रहता है। अतः इनके साथ खेलने में बालक यह समझ सकेगा

1. Education of Man, §23. 2 First gift. 3. Balls. 4-[illegible] realization. 5. Second gift. 6 Cube. 7. Sphere. 8

कि नित्यता और परिवर्तनता अर्थात् दो वस्तुओं का मानदण्ड एक ही वस्तु में कैसे मिल सकता है। इस प्रकार उसे अपने विभिन्न अवयवों और शक्तियों के विकास को रखना व विकास हो जायगा। यह समझना कठिन है कि अबोध बालक इन दार्शनिक विचारों को कैसे समझ सकेगा। वस्तुतः फ्रोबेल के विचार बड़े दूर हैं उन्हें किसी भी व्यक्ति के लिए समझना कठिन है।

तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा उपहार

तीसरे उपहार में बालक को लकड़ी का एक बड़ा घिनाल दिया जाता है जो आठ बराबर भागों में बँटा रहता है। इसमें सम्बद्ध क्रिया उससे बेंच, कुर्सी तथा सीढ़ी आदि बनाना होता है। इससे बालक सम्पूर्ण और उसके भाग के सम्बन्ध को समझ लेता है। चौथे, पाँचवें और छठे उपहार में टिकिया[1] छल्ले[2] और छोटी कुण्डली[3] दी जाती हैं। इसमें फ्रोबेल बच्चे को सतह,[4] रेखा[5] और बिन्दु[6] की धारणा देना चाहता है। उपहारों को देने से ही शिक्षक का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। क्रिया की ओर उसे संकेत करना होता है और कभी-कभी उसे स्वयं करके दिखाना भी पड़ता है, या वह उपहार-सम्बन्धी गीत गाने लगता है, जिससे तत्सम्बन्धी भाव बालक अपने मन में ला सकें।

५—आलोचना

«. ने लिखा है कि "मानव स्वभाव का रूप बचपन में जैसा हम देखते, उसके लिए जैसी शिक्षा की आवश्यकता है उसके प्रति मेरे विचारों को, कदाचित् शताब्दियों बाद समझेगा।" एफ० डब्लू० पार्कर के अनुसार 'किण्डरगार्टेन' उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण सुधार है। श्री कोर्टहोप के अनुसार "किण्डरगार्टेन बिना किण्डरगार्टेन के विचार के ही प्रयोग किया जा सकता है। वह बिना आत्मा के शरीर सा है। इसका ह्रास शीघ्र ही हो जायगा।" डा० जेम्सवाड कहते हैं कि 'किण्डरगार्टेन को समझने वाले उससे प्रशंसनीय फल देखला सकते हैं। पर यह निष्प्राण यन्त्र के समान लगता है। इसमें सभी खेल एक साथ ही बालकों को खेलने के लिए दे दिये जाते हैं।" आलोचकों के इन [illegible] कुछ सत्य अवश्य जान पड़ता है। पर फ्रोबेल की महत्ता में कदाचित्

Stick 3. Ring. 4. Surface. 5. Line. 6. Point.

है भी सन्देह न होगा। फ्रोबेल के सभी निर्णय ठीक दिखलाई पड़ते हैं। पर पने निर्णय का कारण जो वह बतलाता है वह सर्वमान्य नहीं। फ्रोबेल का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक न होकर आध्यात्मिक है। परन्तु दार्शनिकों में उसकी गणना नहीं की जाती, क्योंकि वह अपने विचारों को क्रमबद्ध न कर सका। कुछ लोगों का कहना है कि फ्रोबेल ने जिन चित्रों और गानों के प्रयोग की राय दी है वे उपयुक्त नहीं हैं। पर फ्रोबेल का यह तात्पर्य नहीं कि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन न लाए जाय।

बालकों की रुचि पर ध्यान देने के लिए रूसो, पेस्तालॉजी और हरबार्ट ने भी जोर दिया था। पर आदर्श को मूर्तरूप देने का सफल प्रयास फ्रोबेल ह बराबर इन तीनों में से कोई न कर सका। वस्तुओं की सम्बद्धता और पारस्परिक निर्भरता की ओर संकेत कर फ्रोबेल ने ही आधुनिक समन्वित शिक्ष का बीज बोया। कर्नल पार्कर और डीवी आदि के क्रियात्मक[1] प्रणालियों क उद्गम हमें फ्रोबेल के आत्मक्रिया[2] वाले सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। शि के सामाजिक दृष्टिकोण की ओर जो इतना ध्यान आजकल दिखलाई पड़ता उसमें फ्रोबेल की ही आत्मा मालूम पड़ती है।

फ्रोबेल ने छोटे बालकों की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान पहले प आकर्षित किया। उसके पहले उनकी शिक्षा को इतना महत्व नहीं दिया ज था। एक दृष्टि से मॉन्तेसरी प्रणाली को किण्डरगार्टेन का दत्तक पुत्र मानना चाहिए। आजकल का युग बालकों का युग माना जाता है। बहराना-धारा के निर्माण में फ्रोबेल का उतना ही बड़ा हाथ है जितना मॉन्तेसरी का। हाँ, यह सत्य है कि फ्रोबेल के बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त बोधगम्य नहीं होते। पर उसके बालक सम्बन्धी स्वतन्त्रता, आरम-नि स्वाभाविक क्रियाशीलता और मनोरंजकता के सिद्धान्त हमारे लिए सदा बने रहेंगे। इन सिद्धान्तों के कार्यान्वित रूप में देश और काल के अनुसार परिवर्तन अवश्य होते रहेंगे, पर उनकी अन्तरात्मा शाश्वत है, अतः वह समान रहेगी।

---

1. Activity Methods 2. Self-activity.

किण्डरगार्टेन पद्धति के विवेचन के बाद आधुनिक किण्डरगार्टेन स्कूल की रूप-रेखा पर थोड़े में यहाँ प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। इस प्रयत्न में सम्भव है कि कुछ बातों की पुनरावृत्ति हो जाय, पर विचार स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है।

६—किण्डरगार्टेन स्कूल

किण्डरगार्टेन स्कूल में प्रायः अध्यापिकाएँ नियुक्त की जाती हैं, क्योंकि छोटे बालकों के पढ़ाने की उनमें अधिक क्षमता होती है। इस स्कूल में प्रत्येक पाठ बीस या पच्चीस मिनट का होता है। यथासम्भव शिक्षा खेल रूप में दी जाती है। मनोरंजकता के लिये पाठ का रूप बदलना रहता है। छोटी कक्षाओं में हाथ के कामों और खेलों पर अधिक जोर दिया जाता है। स्कूल प्रार्थना अथवा धार्मिक शिक्षा से बहुधा प्रारम्भ किया जाता है। धार्मिक शिक्षा का रूप बड़ा सरल रखा जाता है, जिससे बालक उसे सरलता से समझ सके।

स्कूल के प्रथम भाग में प्रायः अंकगणित और पढ़ना सिखलाया जाता है। इसके बाद कुछ जलपान और विश्राम के लिए अवकाश दिया जाता है। फिर खेल, ड्रिल और संगीत की बारी आती है। तत्पश्चात् क्रमशः लिखना, ड्राइंग, प्रकृति-विज्ञान, वस्तु-पाठ, इतिहास अथवा भूगोल, मिट्टी का काम, सुई का काम, कागज का काम या चटाई बुनने का काम किया जाता है। अन्त में गाने के बाद घर जाने के लिए छुट्टी दी जाती है।

अब हम पाठ्यक्रम के विविध विषयों की शिक्षा-विधि पर ध्यान देंगे।

" शिक्षा छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियों के रूप में दी जाती है। मौलिक में यथासम्भव चित्रों का प्रयोग किया जाता है, जिससे बालकों की रुचि बनी रहे। यदि कोई विषय खेल द्वारा पढ़ाया जा सकता है तो उसको खेल ही द्वारा बालकों को समझाया जाता है। प्रारम्भिक कक्षा में वर्ण ज्ञान के लिए खिलौने के रूप में लकड़ी के ऐसे टुकड़े बने रहते हैं जिन्हें जोड़ने से वर्णों के विभिन्न अंग अलग-अलग बनाये जाते हैं। तत्पश्चात् अंगों को जोड़ कर किसी वर्ण का रूप दिया जाता है। शिक्षक निरीक्षण के लिए उपस्थित रहता है। [illegible] बालक यह जान लेता है कि उसे कुछ वर्णों का ज्ञान हो गया।

यथासम्भव स्थूल वस्तुओं का ही आधार लिया जाता है।

इन स्थूल वस्तुओं में गोलियाँ, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े तथा कुर्सियाँ आदि के नाम लिए जा सकते हैं। अङ्कों से परिचित कराने के लिए बच्चों से भी यही विधि अपनाई जाती है। गिनती व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रीति से सिखायी जाती है।

लिखने का पाठ 'पढ़ने' से सम्बन्धित रखा जाता है। लिखने में चित्रकार तथा वाणी की सहायता ली जाती है। उन्हें शब्दों की ध्वनि सिखलायी जाती है। प्रकृति और वस्तु पाठ में चित्रों की सहायता से बालकों से बातचीत की जाती है। बातचीत का विषय यथासम्भव बालकों का व्यक्तिगत अनुभव ही रखा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ बागवानी की जाती है और पशु-पक्षी पाले जाते हैं। इनसे प्राकृतिक वस्तुओं को बालक समझने लगते हैं। किण्डरगार्टेन स्कूलों में बालक की कल्पना-शक्ति के विकास तथा उनमें सद्गुण के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक कहानियाँ, परियों का वृत्तान्त तथा महापुरुषों के जीवन चरित्र सुनाये जाते हैं। नदी और पहाड़ आदि के मिट्टी के नमूनों की सहायता से बालकों को उनकी विकास-अवस्था के अनुसार भौगोलिक शिक्षा दी जाती है। रूप, रंग और संख्या के ज्ञान के लिए बालकों को कागज मोड़ना, मिट्टी आदि के खिलौने बनाना, रंगीन लकड़ी के टुकड़े से विभिन्न प्रकार की भावर्धक वस्तुएँ बनाना आदि सिखलाया जाता है।

किण्डरगार्टेन स्कूलों में मार्चिंग तथा ड्रिल आदि के आधार पर बालकों के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी काफी ध्यान दिया जाता है। इसके लिए इन्हें सामूहिक खेल भी खिलाये जाते हैं। इनसे उनमें सामाजिकता का विकास होता है।

किण्डरगार्टेन स्कूलों का सारा काम खेल द्वारा होता है। बच्चों को पूरी स्वतन्त्रता होती है। उन्हें शिक्षक का भय नहीं रहता। वे एक जगह से दूसरी जगह इच्छानुसार जा सकते हैं। बच्चों की रुचि पर ध्यान दिया जाता है। यथासम्भव सामूहिक रूप में ही बालकों से सारे काम कराये जाते हैं। बालकों को खेलने के लिए शिक्षोपयोगी विभिन्न वस्तुएँ दी जाती हैं। इनके साथ खेलते वे पढ़ना-लिखना और अङ्कगणित आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सारांश

किण्डरगार्टेन पद्धति

.फ्रोबेल का उद्देश्य।

१—.फ्रोबेल के दार्शनिक विचार पर शिक्षा की नींव

विकास का सार्वलौकिक नियम, आध्यात्मिक विकास का शिक्षा से सम्बन्ध, विभिन्न वस्तुओं में एकता का भान, विकास में बाह्य हस्तक्षेप हानिकर।

२—विकास-क्रम

लोकनीज का .फ्रोबेल पर प्रभाव, विकास के लिए अभ्यास आवश्यक।

विकास के लिए आदर्श अवस्था नही, अतः शिक्षा की आवश्यकता, शिक्षक माली की तरह अनुकूल वातावरण उपस्थित कर दे।

३—मानसिक विकास और शिक्षा उद्देश्य

सभी मानसिक क्रियाओं के विकास के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना, क्रियाशीलता शिक्षा का सच्चा रूप।

खेल में सामाजिकता लाकर एक निश्चित उद्देश्य डालना।

शिक्षा में बालकों की ही इच्छा प्रधान, आत्म क्रिया सबसे बड़ा शिक्षक।

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

गाना, संकेत करना और बनाना बालक की स्वाभाविक क्रियायें।

उपहार और क्रियायें।

सामूहिक खेल।

केवल पुस्तकीय शिक्षा नहीं।

पहला उपहार

रंग बिरंगे ऊन के छः गेंद, रूप, रंग और जाति का ज्ञान, गेंद से बालक को आत्म-ज्ञान का अभ्यास।

दूसरा उपहार

[illegible] गोला, मलाकार; विभिन्नता में सामंजस्य का ज्ञान।

तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा उपहार

५—आलोचना

फ्रोबेल के निर्णय ठीक, पर उनका कारण सर्वमान्य नहीं, फ्रोबेल
दृष्टिकोण आध्यात्मिक।

आधुनिक समन्वित शिक्षा का बीज, सामाजिक दृष्टिकोण, फ्रोबेल को
बालक का युग, सिद्धान्तों की अन्तरात्मा शाश्वत।

६—किण्डरगार्टेन स्कूल

अध्यापिकायें, छोटा पाठ, धार्मिक शिक्षा, विभिन्न विषय।

खेल के रूप में सब कुछ सीखना।

क्रियाशीलता शिक्षा का आधार।

स्वास्थ्य पर ध्यान।

स्वतन्त्रता, शिक्षक का भय नहीं।

* * *

प्रश्न

१—आधुनिक शिक्षा-प्रणाली पर किण्डरगार्टेन-पद्धति का कि[illegible]
प्रभाव पड़ा है।

२—किण्डरगार्टेन पद्धति के अन्तर्निहित सिद्धान्तों का विवेचन कीजि[illegible]

३—किसी वर्तमान किण्डरगार्टेन स्कूल का विवरण दीजिए, [illegible]
बतलाइये कि फ्रोबेल के कुछ सिद्धान्तों से वे क्यों कुछ [illegible]
गये हैं।

* * *

४०

मॉन्तेसरी पद्धति[1]

मॉन्तेसरी पद्धति का नामकरण उसकी आविष्कर्त्री डा० मॉन्तेसरी के नाम पर ही किया गया है। आप का जन्म सन् १८७० ई० में इटली में हुआ। शिक्षा में बालकों के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करने का विशेष श्रेय आप ही को दिया जा सकता है। अस्पताल में काम करते हुए मैडम मॉन्तेसरी को कुछ मन्द-बुद्धि के बालकों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनकी दुर्दशा देख उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उनकी शिक्षा के लिए उसने एक नई प्रणाली बनाई और अपनी सफलता की परीक्षा के लिए उसने एक बालक पर उसका प्रयोग भी किया। मॉन्तेसरी को यह भान हुआ कि उचित शिक्षा पाने पर मन्द-बुद्धि बालक साधारण बालकों से बहुत पीछे न रहेंगे। भाग्यवश उन दिनों मनोविज्ञान पर काफी काम किया जा रहा था। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का भी जन्म हो चुका था। मॉन्तेसरी ने अपनी विधि की प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की कसौटी पर परीक्षा की। उसने सेग्विन, लॉमब्रॉसो और सर्जाई आदि की प्रणालियों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया। इस प्रकार अपनी शिक्षा-प्रणाली को पुष्ट करने में उसने यथा-शक्ति प्रयत्न किया।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

मॉन्तेसरी के शिक्षा सिद्धान्त को समझने के प्रयत्न में उसकी फ्रोबेल से कुछ तुलना करना प्रासंगिक और युक्तिसंगत जान पड़ता है।

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी में काफी समानता दिखलाई देती है। दोनों ने छोटे बच्चों की शिक्षा-प्रणाली का निर्माण खेल के आधार पर किया है और एक

1. Montessori System.

प्रकार से यह कहा भी जा सकता है कि मॉन्तेसरी पद्धति किण्डरगार्टेन पद्धति का परिवर्द्धित रूप है। पर दोनों पद्धतियों में मौलिक भेद भी दिखलाई पड़ता है। मॉन्तेसरी .फ्रोबेल के समान दार्शनिक नहीं। वह .फ्रोबेल की तरह बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं उपस्थित करना चाहती। वह बच्चों को उपहार नहीं देती। वह स्वाभाविक वातावरण में ही उनकी शिक्षा के आयोजन करने की पक्षपाती है। निस्सन्देह मॉन्तेसरी प्रणाली अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी जान पड़ती है। यद्यपि बालक को स्वतन्त्रता और रुचि पर मॉन्तेसरी भी .फ्रोबेल के समान ध्यान देती है। पर किण्डरगार्टेन पद्धति में अध्यापक का स्थान अधिक महत्वपूर्ण दिखलाई पड़ता है। उसे बालक को उपहारों के आधार पर कुछ विशिष्ट कार्यों में लगाना पड़ता है। मॉन्तेसरी पद्धति में बालक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। प्राप्त उपकरणों के साथ वह इच्छानुसार खेल सकता है। मॉन्तेसरी पद्धति में वैयक्तिक क्रिया पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए .फ्रोबेल के 'उपहार' के आधार पर मॉन्तेसरी ने शिक्षोपकरणों[1] की रचना की है। शिक्षोपकरणों की रचना ही इस प्रकार की गई है कि बालक अपने से ही अधिक कार्य कर सके। .फ्रोबेल सामाजिकता को विशेष महत्व देता है। वह विभिन्नता में बालक को एकता का ज्ञान देने का इच्छुक है। वह बालक को आध्यात्मिकता का आभास देना चाहता है। मॉन्तेसरी इन सबके फेर में नहीं पड़ती। वह भौतिक क्रियाओं को ही विशेष महत्व देती है।

मॉन्तेसरी बालकों की शिक्षा में 'मनोवैज्ञानिक क्षण'[2] को विशेष महत्व देती है। रुचि और आवश्यकतानुसार बालक को शिक्षा देना ही "मनोवैज्ञानिक क्षण" का निर्वाह करना है। मॉन्तेसरी की धारणा है कि बिना "मनोवैज्ञानिक क्षण" पर ध्यान दिये कोई शिक्षा सफल नहीं हो सकती। यदि पढ़ाया हुआ विषय बालक की समझ में नहीं आया तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने 'मनोवैज्ञानिक क्षण' पर ध्यान नहीं दिया है अथवा उसे समझने में उसने भूल की है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने में बालक को विषय का पूरा-पूरा बोध हो जाता है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने का तात्पर्य यह है कि बालक की मानसिक स्थिति का शिक्षक को पूरा ज्ञान होना चाहिए और तदनुसार

1. Didactic Materials. 2. Psychological Momer

उसे उसकी शिक्षा के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देता है। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि इस प्रकार पढ़ाने से बालकों में दम्भ नहीं आता। वे किसी कृत्रिम पुरस्कार के इच्छुक नहीं होते। गुण की प्राप्ति ही उनके लिए सबसे बड़ा पुरस्कार होता है। इसीलिए तो किसी चीज के बना लेने पर मॉन्तेसरी स्कूल का बालक चिल्ला उठता है "मास्साब ! मास्साब ! देखिए मैंने क्या बना दिया है।"

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि मॉन्तेसरी बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहती है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता से ही बालक की नैसर्गिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। अतः वह स्कूल का वातावरण स्वतन्त्रता-प्रधान बनाना चाहता है, जिसमें बालक अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण में अग्रसर हो सकें। वह बालक की स्वाभाविक क्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। एक शिक्षक ने किसी बालक से पूछा "बेटा तेरे लिए मैं क्या करूं ?" बालक ने शीघ्र उत्तर दिया "जैसा मैं करता हूं वैसा मुझे करने दो।" इन्हीं शब्दों में मॉन्तेसरी पद्धति को आत्मा की झलक है। नीचे हम मॉन्तेसरी स्कूल का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। इससे मॉन्तेसरी सिद्धान्तों तथा पद्धति का और स्पष्टीकरण हो गया।

२—मॉन्तेसरी स्कूल में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

मॉन्तेसरी स्कूल में प्रायः ढाई से सात वर्ष के बच्चों की शिक्षा का आयोजन रहता है। बालकों को प्रायः दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। पहले उन्हें व्यावहारिक जीवन में कुछ शिक्षा दी जाती है। हाथ, मुँह, नाक, दाँत, नेत्र तथा कपड़े आदि साफ रखना उन्हें सिखलाया जाता है। यदि आवश्यक हुआ तो अध्यापिका उनके शरीर की सफाई भी कर देती है। वह "अरे ! तुम्हारा मुँह तो बड़ा गन्दा है, छि: छि: तुम्हारी नाक और आँख तो बड़ी ही मैली है" न कह कर के यह कहती है "बेटा ! जरा मेरे पास आओ। मैं तुम्हारे मुँह नाक और आँख धो दूँ और तुम्हें सुन्दर बना दूँ।" भावना का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है ! बालक गद्‌गद् हो जाता है। उसे मालूम होता है कि मानो वह अपने घर में उसे बुला रही है। यदि मॉन्तेसरी स्कूल को "प्यार का घर"

कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। मालूम होता है इस कार्य [illegible]
मॉन्तेसरी को पेस्तालॉजी से प्रेरणा मिली है।

मॉन्तेसरी स्कूल में बालक को आत्मनिर्भरता और [illegible]
सिखलाया जाता है। यदि सम्भव हुआ तो बालक को ही अपने कार्य [illegible]
के लिए उत्साहित किया जाता है। उसके असफल होने पर [illegible]
उसका पथ-प्रदर्शन करती है। कपड़े पहनना तथा उन्हें उतार कर [illegible]
बालक को सिखलाया जाता है। भोजन करना, सोना, [illegible]
हँसना आदि सभी बातों में उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दी जाती है। [illegible]
को सजाने की शिक्षा देने के लिए किसी कमरे की चीज़ें अस्त-व्यस्त कर दी
जाती है और उन्हें ठीक करना बालकों को सिखलाया जाता है। [illegible]
व्यावहारिक शिक्षा में बालकों के विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रखा [illegible]
है। जो बालक जिस कार्य के योग्य हुआ उसे उसी में शिक्षा दी [illegible]
बालकों के स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। बालकों को [illegible]
ताल बड़े प्रिय होते है। अतः एक लय और ताल में उन [illegible] को कुछ [illegible]
व्यायाम कराया जाता है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[1]

मॉन्तेसरी बालक की शिक्षा में अध्यापक द्वारा कम से कम [illegible]
है। कदाचित् उसके शिक्षोपकरणों के आविष्कार का यह भी एक [illegible]
इन्हीं शिक्षोपकरणों से बालक की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा दी [illegible]
पहली कक्षा में बालक की स्पर्श, दृष्टि और श्रवण शक्ति बढ़ाने की [illegible]
जाती है। उसे विभिन्न स्थूल वस्तुओं के आकार और रूप का [illegible]
जाता है। उदाहरणार्थ, खिड़की, मेज, कुर्सी और दरवाजा आदि [illegible]
उसे कुछ काम दिया जाता है, जिससे यह उन्हें समझ ले। [illegible]
तथा ठीक स्थान पर रखना ही उनके सम्बन्ध का काम होता है।

दूसरी कक्षा में लकड़ी के टुकड़े के टीले और [illegible]
बालकों को लम्बाई और चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है।

---

1. Sense Training by Didactic Materials.

बनाने में उन्हें लम्बे और पतले का ज्ञान होता है। कुछ वस्तुओं को इधर-उधर बिखेर दिया जाता है। उनके चुनने में बालकों को छोटे और बड़े का ज्ञान होता है। अपनी भूलों का स्वयं सुधार करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। ये सारे कार्य प्रायः अकेले ही करते हैं, पर कभी-कभी तीन-चार बालक मिलकर भी किसी काम को कर लेते हैं। रंग-ज्ञान के लिये विभिन्न रंग के चौसठ कार्ड उन्हें दिये जाते हैं। उन्हें रंग का नाम बतलाना पड़ता है और वस्तु का नाम भी याद करना होता है। स्पर्श-ज्ञान के लिये उन्हें गर्म, ठण्डा, कठोर और कोमल वस्तुओं को आँखें बाँधकर अँगलियों से छूना होता है। स्पर्श ज्ञान को मॉन्टेसरी प्राथमिक मानती है। इसलिए मानसिक विकास में इसे वह विशेष महत्व देती है। मॉन्टेसरी की धारणा है कि रंग-ज्ञान से नेत्रों की निर्णयात्मिका शक्ति का विकास होगा। इस शक्ति से लिखना और पढ़ना सीखने में सहायता मिलेगी।

तीसरी कक्षा में श्रवण-शक्ति के विकास के लिए बालू, पत्थर के टुकड़े, अनाज के दानों तथा सीटी से विभिन्न प्रकार की उत्पन्न ध्वनि को बालक को पहचानना होता है। विभिन्न तौल की समान रूप और आकार की तीन टिकियों से बालकों को तौल-ज्ञान दिया जाता है। बहुत से छेद वाले लकड़ी के टुकड़े में बालकों को कई तरह के छोटे-छोटे टुकड़े अपने-अपने स्थान पर बैठाने होते हैं।

चौथी कक्षा में बालकों के ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान को और पुष्ट किया जाता है। इस अवस्था में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा पर पहले से कुछ अधिक ध्यान दिया जाता है। कमरे की चीजें जान-बूझ कर अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं और बालकों को उन्हें सजाना पड़ता है। मॉन्टेसरी छोटे बालकों की शिक्षा में ज्ञाने-
की शिक्षा पर बड़ा जोर देती है। अपने "मॉन्टेसरी मेथड" नामक ग्रन्थ
है; "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी क्रियाओं का यह ध्येय नहीं कि
को विभिन्न वस्तुओं के रूप, वर्ण और गुण का ज्ञान हो जाय, वरन् उनसे
उनकी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना चाहते हैं। इससे उनकी बुद्धि का भी विकास होता है। यदि इन अभ्यासों को विविध शिक्षोपकरणों द्वारा मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाय तो उनसे बुद्धि के विकास में वैसे ही सहायता मिलेगी जैसे उपयुक्त व्यायाम से शरीर बनता है।"

सिखाने की मनोवैज्ञानिक विधि के कारण मॉन्तेसरी विधि बड़ी प्रसिद्ध हो गई है। गोलियों या अन्य वस्तुओं की सहायता से खेल के रूप में बालकों को गिनना, जोड़ना और घटाना सिखलाया जाता है। मनोरंजनार्थ अध्यापिका बीच-बीच में कुछ पूछ दिया करती है। इस पूछने से उनका ज्ञान सबल होता जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मॉन्तेसरी का स्व-शिक्षा में बड़ा विश्वास है। वह बालक को अपनी उन्नति के लिए स्वयं उत्तरदायी बना देना चाहती है। इसी विश्वास पर वह बालकों के स्कूल में विनय भी स्थापित करना चाहती है। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि पूरी स्वतन्त्रता दे देने से विनय-समस्या का समाधान स्वत. हो जाता है। बालक स्वयं बड़ा विनयी होता है। वह अपना काम करना चाहता है। उसका ऊधम बड़ो के दृष्टिकोण से ऊधम हो सकता है, परन्तु बालक के लिए तो वह भी एक आवश्यक काम ही होता है। यह बात भी ठीक मालूम होती है। मॉन्तेसरी स्कूल में विनय-समस्या उठती ही नही। सभी बालक अपने-अपने काम में मग्न रहते हैं। कोई गेंद से खेल रहा है, कोई कुर्सी मेज उलट रहा है, कोई पेड़ पर चढ़ रहा है, तो कोई दो लड़के विनोदार्थ आपस में कुश्ती ही लड़ रहे हैं। इस प्रकार स्कूल में सर्वत्र सद्भावना और क्रियाशीलता का राज्य दिखलायी पड़ता है। कोई किसी के कार्य में बाधा डालता ही नहीं। किसी के अपराध करने पर उसे शारीरिक दण्ड नही दिया जाता।

५—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना

छोटे-छोटे बालकों की शिक्षा की एक नई प्रणाली का निर्माण कर मॉन्ते-.री ने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। लिखाने-पढ़ाने की बहुत सी जटिल .े का समाधान कर उसने शिक्षा-जगत का बड़ा कल्याण किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नही। पर इन गुणों के होते हुए भी मॉन्तेसरी प्रणाली दोष-मुक्त नहीं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस प्रणाली में सामूहिक खेलों को स्थान नहीं। इसमें बालकों में सामाजिकता का विकास नहीं होता। व्यक्तिगत कार्यों पर ही जोर देने से बालकों का विकास एकांगी हो जाता है। बालकों को अभिनय और सामूहिक गानों में बड़ा आनन्द आता है। पर मॉन्ते-

ी प्रणाली में ...

र हमारा ध्यान आकर्षित किया है। मॉन्तेसरी पद्धति में ... ने एक ढंग की

... [illegible]

आलोचना की है। उनका कहना है कि इससे बौद्धिक विकास एकांगी होता है, क्योंकि रंग, रूप और ध्वनि पर अलग-अलग ज़ोर देने का दूसरा परिणाम नहीं हो सकता। श्रीमती हैसेन के अनुसार मॉन्तेसरी के शिक्षोपकरण मनो-वैज्ञानिक प्रयोगशाला की तरह हैं और उनमें बच्चों के खेल के वास्तविक सिद्धान्त की अवहेलना की गई है।

मॉन्तेसरी-पद्धति में काल्पनिक-शक्ति के विकास का स्थान नहीं। यही बात शिक्षा-शास्त्रियों को सबसे अधिक खटकती है। मॉन्तेसरी का मत है कि बालक स्वयं विभिन्न कल्पनाओं से भरा हुआ रहता है। अतः और काल्पनिक बनाना उसे वास्तविकता से बहुत दूर हटाना होगा। इसलिए काल्पनिक खेल और साहित्य को वह उनकी शिक्षा में कोई स्थान नहीं देना चाहती। परन्तु मॉन्तेसरी का ऐसा सोचना ठीक नहीं। कल्पना के सहारे बालक अपने अनेक मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर लेता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के अभाव से उनमें नाना प्रकार की भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो कि उसके विकास पथ में रोड़े का काम करती हैं। लिखाने और पढ़ाने के लिए मॉन्तेसरी पद्धति वैज्ञानिक है, पर मनोवैज्ञानिक नहीं। मॉन्तेसरी वर्ण और शब्द से चलकर वाक्य तक पहुँचना चाहती हैं, पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक वाक्य को ही सरलतम मानते हैं। मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों को अलग-अलग करके उन्हें शिक्षित करने की पक्षपाती है। गैस्टाल्ट[1] मनोविज्ञान ने इसे गलत सिद्ध कर दिया है। गैस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके सम्पूर्ण आकार के बोध से होता है। चेहरे के ज्ञान से उसमें आँख, कान, मुँह तथा नाक आदि सभी एक साथ आ जाते हैं। एक को अलग-अलग देखने से सम्पूर्ण चेहरे ...

1. Gestalt Psychology.

सकता। अतः ज्ञानेन्द्रियों की अलग-अलग शिक्षा देना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि मस्तिष्क तो एक सम्पूर्ण भाग की तरह विकसित होता है।

मंद बुद्धि के बालकों की शिक्षा में मॉन्तेसरी-पद्धति अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि उनके एक ज्ञानेन्द्रिय की निबलता में दूसरे के प्रबल बनाने की आवश्यकता हो सकती है। वस्तुत. मॉन्तेसरी पद्धति का प्रारम्भ मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा के लिए किया गया था। साधारण बालकों की शिक्षा में बिना आवश्यक परिवर्तन किये मॉन्तेसरी पद्धति का प्रयोग करना ठीक न होगा। इस पद्धति को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ सामाजिक आदर्श का समावेश तथा ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यक सुधार कर लेना युक्ति संगत होगा।

सारांश

मॉन्तेसरी पद्धति

डा० मॉन्तेसरी।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी।

मनोवैज्ञानिक क्षण का महत्व।

वातावरण स्वतन्त्रता प्रधान।

२—मॉन्तेसरी स्कूल में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

स्कूल प्यार का घर।

आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

दृष्टि और श्रवण शक्ति को बढ़ाना।

.ले कक्षा।

ले कक्षा।

ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना।

४—लिखने पढ़ने की शिक्षा

खेल-खेल में इसका ज्ञान।

मॉन्तेसरी के अनुसार पढ़ने के पहले लिखना सिखलाना।
समझते हुए पढ़ना।
प्रकाशित खेल द्वारा।
स्व-शिक्षा, विनय की समस्या नहीं।

५—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना

सामूहिक खेलों का स्थान नहीं, अभिमान और स्वार्थ-भाव आने का
बौद्धिक विकास एकांगी।

काल्पनिक शक्ति का विकास नहीं, भावना ग्रन्थियाँ, ज्ञानेन्द्रिय की
अलग शिक्षा नहीं।

* * *

प्रश्न

१—मॉन्तेसरी पद्धति और किण्डरगार्टेन पद्धति का तुलनात्मक
कीजिए।

२—मॉन्तेसरी पद्धति से आप क्या समझते हैं?

३—किसी आधुनिक मॉन्तेसरी स्कूल का विवरण दीजिए।

४—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना कीजिए। इस पद्धति के
हमारे देश में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं?

* * *

सहायक पुस्तकें

१—द मॉन्तेसरी मेथड, (एफ० ए० स्टोक्स क० न्यूयार्क, १९१२)।
२—हॉलमस—द मॉन्तेसरी सिस्टम ऑव् एडुकेशन।
३—रस्क—द डाक्ट्रिन्स ऑव् द ग्रेट एडुकेटर्स, अध्याय १२।
४—किलपैट्रिक—द मॉन्तेसरी सिस्टम एक्जामिन्ड।
५—मॉन्तेसरी—द सीक्रेट ऑव् चाइल्डहुड।
६—सरयूप्रसाद चौबे—पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास, का
पढ़िए।

* * *

सकता । अतः ज्ञानेन्द्रियों की अलग अलग शिक्षा देना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि मस्तिष्क तो एक सम्पूर्ण भाग की तरह विकसित होता है ।

मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा में मॉन्टेसरी-पद्धति अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि उनके एक ज्ञानेन्द्रिय की निर्बलता में दूसरे के प्रबल बनाने की आवश्यकता हो सकती है । वस्तुतः मॉन्टेसरी पद्धति का प्रारम्भ मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा के लिए किया गया था । साधारण बालकों की शिक्षा में बिना आवश्यक परिवर्तन किये मॉन्टेसरी पद्धति का प्रयोग करना ठीक न होगा । इस पद्धति को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ सामाजिक आदर्शों का समावेश तथा ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यक सुधार कर लेना युक्ति संगत होगा ।

सारांश

मॉन्तेसरी पद्धति

डा० मॉन्तेसरी ।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी ।

मनोवैज्ञानिक क्षण का महत्व ।

वातावरण स्वतन्त्रता प्रधान ।

२—मॉन्तेसरी स्कूल में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

स्कूल प्यार का घर ।

आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ ।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

दृष्टि और श्रवण शक्ति को बढ़ाना ।

[illegible] कक्षा ।

तीसरी कक्षा ।

ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना ।

४—लिखने पढ़ने की शिक्षा

खेल-खेल में इसका ज्ञान ।

करने के लिए वह दूसरे प्रॉजेक्ट पर काम करने लगता है। इस प्रकार तात्का-लिक लक्ष्य की प्राप्ति के बाद प्रजेक्ट निरर्थक होता जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा और प्रॉजेक्ट पद्धति में बहुत समानता होते हुए भी दोनों में मौलिक भेद है।

डेनमार्क के ग्रामीण स्कूल की शिक्षा-प्रणाली और बेसिक शिक्षा में काफी समानता दिखलाई पड़ती है। डेनमार्क के बालकों को भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदि विषय उसी हद तक पढ़ाये जाते हैं जहाँ तक वे उनके व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सहायक हो सकें। इन विषयों को उनके उद्योग-धंधों से भी सबंधित किया जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के मौलिक सिद्धांत दुनिया के किसी न किसी कोने में पहले ही से वर्तमान थे। बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि उसे भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बना दिया गया है। बेसिक शिक्षा वर्धा शिक्षा योजना से निकली है। सन् १९३७ ई० में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के समय बालकों की शिक्षा के लिए महात्मा गांधी ने २२ व २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा में शिक्षा सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में देश के शिक्षा-विशारदों ने विचार-विनिमय के बाद बालकों की शिक्षा के लिए वर्धा शिक्षा योजना नामक एक नई शिक्षा-प्रणाली का आविष्कार किया। इस योजना का परिवर्धित रूप ही बेसिक शिक्षा है।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

१—७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा।

२—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम।

३—किसी हस्तकला को केन्द्र मानकर उसी के आधार पर अन्य विषयों की शिक्षा देना।

४—शिक्षा का स्वावलम्बी होना।

५—शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना।

६—नागरिकता के आदर्श पर ध्यान देना।

नीचे हम इन सभी का अलग-अलग स्पष्टीकरण करेंगे।

(१) अनिवार्य शिक्षा

आजकल लोकतन्त्र का युग है। जनता को अपना नेता अर्थात् शासक स्वयं

४१

वेसिक शिक्षा[1]

(वर्धा योजना)

१—भूमिका

वेसिक शिक्षा हमारे देश में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रथम प्रयास है। पर वेसिक शिक्षा को मौलिक नहीं कहा जा सकता। इसमें कई प्रणालियों से सहायता ली गई है। प्रॉजेक्ट पद्धति की छाप इसमें बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है, पर यह 'प्रॉजेक्ट पद्धति' से बहुत भिन्न है। प्रॉजेक्ट पद्धति में एक प्रॉजेक्ट को मानकर उसके आधार पर आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती है। वेसिक शिक्षा में एक ऐसे हस्तकला के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाती है जिसे वह भविष्य में अपने जीविकोपार्जन का साधन बना सके। प्रॉजेक्ट पद्धति एक शिक्षण-विधि है और प्रॉजेक्ट शिक्षा देने का एक साधन है। वेसिक शिक्षा में हस्तकला साधन और साध्य दोनों मानी जाती है। वस्तुतः उसके साध्य होने पर अधिक जोर दिया जाता है, क्योंकि विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय हस्तकला को गौण नहीं समझा जाता। इसीलिए बालक का किसी कला विशेष से प्रेम हो जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य सदा उसमें कौशल प्राप्त करना होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में ऐसी बात नहीं। जो प्रॉजेक्ट साधन बनाया जाता है उसका महत्व स्थायी नहीं होता। एक प्रॉजेक्ट के पूरा होने पर उसके प्रति बालक का प्रेम रुक जाता है और अपनी क्रियात्मक वृत्ति को सन्तुष्ट

1. Basic Education (Wardha Scheme of Education).

करने के लिए वह दूसरे प्रॉजेक्ट पर काम करने लगता है। इस प्रकार लक्ष्य-निक लक्ष्य की प्राप्ति के बाद प्रॉजेक्ट निरर्थक होता जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा और प्रॉजेक्ट पद्धति में बहुत समानता होते हुए भी दोनों में मौलिक भेद है।

डेनमार्क के ग्रामीण स्कूल की शिक्षा-प्रणाली और बेसिक शिक्षा में काफी समानता दिखलाई पड़ती है। डेनमार्क के बालकों को भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदि विषय उसी हद तक पढ़ाये जाते हैं जहाँ तक वे उनके सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सहायक हो सकें। इन विषयों को उद्योग-धंधों से भी सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के मौलिक सिद्धांत दुनिया के किसी न किसी कोने में पहले ही से वर्तमान हैं। बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि उसे भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बना दिया गया है। बेसिक शिक्षा वर्धा शिक्षा-योजना से निकली है। सन् १९३७ ई० में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के समय बालकों की शिक्षा के लिए महात्मा गांधी ने २२ व २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा में शिक्षा-सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में देश के शिक्षा-विशारदों ने विचार-विनिमय के बाद बालकों की शिक्षा के लिए वर्धा शिक्षा योजना नामक एक नई शिक्षा प्रणाली का आविष्कार किया। इस योजना का परिवर्धित रूप ही बेसिक शिक्षा है।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

१—७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा।

२—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम।

३—किसी हस्तकला को केन्द्र मानकर उसी के आधार पर अन्य विषयों की शिक्षा देना।

४—शिक्षा का स्वावलम्बी होना।

५—शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना।

६—नागरिकता के आदर्श पर ध्यान देना।

नीचे हम इन सभी का अलग-अलग स्पष्टीकरण करेंगे।

(१) अनिवार्य शिक्षा

आजकल लोकतन्त्र का युग है। जनता की अपनी ने

चुनना पड़ता है। जब तक व्यक्ति को अपने देश और समाज की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान न होगा वह देश की शासननीति के निर्माण में विशेष योग न दे सकेगा। लोकतन्त्र सफल हो इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार और कर्तव्यों को समझे। आज का समय पहले से बहुत भिन्न है। जैसे आज किसी को आत्महत्या करने नहीं दिया जा सकता, या जैसे किसी गाँव में हैजा व प्लेग फैलने पर वहाँ की उचित देख रेख करना राज्य का कर्तव्य हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित बनाना भी राज्य का परम कर्तव्य मान लिया गया है। अशिक्षित व्यक्ति को अपने कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्ततः यह ठीक जान पड़ता है कि एक निश्चित अवधि तक प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने का दायित्व 'राज्य' अपने ऊपर ले ले। इस दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा की अनिवार्यता का सिद्धात सर्वथा ठीक है।

(२) मातृ-भाषा ही शिक्षा का माध्यम

'शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए"—इस सत्य को सभी शिक्षा विशारद स्वीकार करते है। शिक्षा के विदेशी भाषा के माध्यम का कुफल भारत भोग चुका है। विदेशी भाषा के माध्यम-काल में विद्यार्थी को अंग्रेजी ही पढ़ने में बहुत अधिक समय दे देना पड़ता था और उसकी भाव-प्रकाशन शक्ति सीमित हो रह जाती थी। व्यक्तित्व के विकास में भाव-प्रकाशन-शक्ति का बड़ा भारी महत्व है, क्योंकि भाव-प्रकाशन-साधन से विभिन्न विषयों के ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। हर्ष की बात है कि अब मातृभाषा को शिक्षा स्वीकार कर लिया गया है। 'मातृभाषा का शिक्षा में स्थान' की करते हुए जाकिर हुसेन कमेटी ने लिखा है :—"मातृभाषा ही को शिक्षा का आधार होना चाहिए। सुलझे और स्पष्ट भाव और विचार व्यक्ति के पास हो सकते हैं जो प्रभावशाली शब्दों में अपनी बात कह सकता है और जो सरलता से लिख-पढ़ सकता है। मातृभाषा ही एक ऐसा साधन है जिसमें अपनी जाति की परम्परा, संस्कृति और भावनाओं को ठीक से समझा ... । अतः यह सामाजिक शिक्षा का एक अमूल्य साधन हो सकती है ... नैतिक और धार्मिक गुण प्राप्त हो सकते हैं। बच्चों की अभि-

व्यञ्जना शक्ति के प्रकाशन का मातृभाषा एक सर्वश्रेष्ठ साधन है मातृभाषा के उचित अध्ययन से बालकों में साहित्य के प्रति तथा मौलिक रचना के लिए प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है।" इस प्रकार मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम मानकर बेसिक शिक्षा ने एक बड़े सत्य की रक्षा की है।

(३) हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

आधुनिक शिक्षा विशारदों की धारणा है कि हस्तकला द्वारा दी हुई शिक्षा बालक के लिए अधिक मनोवैज्ञानिक होती है, क्योंकि इसके उसके मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के अनुभव सन्तुलित होते हैं। इससे हाथ और मस्तिष्क दोनों की शिक्षा होती है। बालक धीरे-धीरे किसी कला में प्रवीण होकर अपनी जीविका के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य हो जाता है। इससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा होती है। वर्तमान शिक्षा में 'क्रियात्मक' प्रणालियों[1] पर बहुत जोर दिया जाता है। "करके सीखना"[2] अब सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-विधि मानी जाती है। ये डीवी के सूत्र हैं। बेसिक शिक्षा इस दृष्टिकोण से एक बड़े शिक्षा-सिद्धांत का समर्थन करती है।

वर्धा-योजना के अनुसार बेसिक शिक्षा का आधार 'कृषि', 'कताई-बुनाई' अथवा 'लकड़ी का काम' होना चाहिए। बालकों के निजी वातावरण तथा भौगोलिक बातों के अनुसार इन तीनों हस्तकलाओं में से किसी एक को केन्द्र मानकर पाठ्यक्रम के अन्य विषयों को उसके आधार पर पढ़ाना चाहिए। हस्तकला एक विषय-मात्र नहीं वरन् वह सब विषयों की अभिनेत्री होगी। बालकों को हस्तकला में कुशलता देने के लिए स्कूल के साढ़े पाँच घण्टे में से तीन घण्टा और बीस मिनट इसी कार्य के लिए रखे जाते हैं। हस्तकला में कुशलता का तात्पर्य उसके केवल व्यावहारिक ज्ञान से ही नहीं है, वरन् उसका वैज्ञानिक और शास्त्रीय ज्ञान भी देना आवश्यक समझा जाता है। मानसिक विकास में हस्तकला के सहायक होने के लिए यह आवश्यक है। हस्तकला पर आधारित शिक्षा का केन्द्र पुस्तकें न होगी। इसके लिए हस्तकला का चुनाव ऐसा हो कि पाठ्यक्रम के अन्य विषय उस पर आधारित किये जा सकें।

1. Activity method. 2. Learning by doing.

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है

किसी हस्तकला के आधार पर शिक्षा देने का तात्पर्य शिक्षा को समन्वित करना है, अर्थात् पाठ्यक्रम के सभी विषयों में शरीर के विभिन्न अवयवों की तरह एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना है। इस सम्बन्ध के स्थापन से शिक्षा का बालक के जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। बालक का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा हस्तकला बेसिक शिक्षा के तीन प्रधान स्तम्भ हैं। हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय सहज हो जाता है, क्योंकि किसी हस्तकला की उत्पत्ति और विकास इन दोनों पर ही निर्भर होता है। विभिन्न विषयों के ज्ञान का हस्तकला से सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ; इतिहास और भूगोल के ज्ञान से हस्तकला के काम और उनके लाभ को अच्छी प्रकार बालकों को समझाना चाहिए। बागवानी और कृषि बालकों को मनोविनोदार्थ नहीं बतलाया जायगा, वरन् उसके आधार पर उन्हें नित्य नए नए अनुभव दिये जायेंगे। सामाजिक और साधारण विज्ञान के पाठ में बालकों को कुछ बातों को याद नहीं कराया जायगा। प्रत्युत विभिन्न विषयों में उनका सम्बन्ध उनको समझाना होगा। गणित की शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना आवश्यक है। हस्तकला अथवा कृषि आदि का काम करते-करते जो गणित के प्रश्न बालकों के सामने आवें उन्हीं के साथ बालकों को जोड़, बाकी, गुणा और भाग आदि सिखा देना चाहिए। कृषि से उत्पन्न अनाज की नाप-जोख तथा हस्तकला से बनी हुई वस्तुओं की बिक्री सम्बन्धी क्रियाओं के करने में बालकों को अंकगणित के प्रायः सभी नियम सिखलाये जा सकते हैं। इस प्रकार बेसिक शिक्षा बालकों की सर्वांगीण शिक्षा का अच्छा साधन जान पड़ती है।

(४) शिक्षा का स्वावलम्बी होना

'बेसिक शिक्षा' शिक्षकों को स्वावलम्बी बनाना चाहती है। किसी हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाने का एक यह भी तात्पर्य है। हस्तकला के साथ लड़कों को खेलना नहीं है, वरन् कुछ वस्तुएँ भी बनानी हैं। इन वस्तुओं के बेचने से जो आय होगी उससे स्कूल का कुछ खर्च चलाने का प्रयत्न किया जायगा।

र स्कूल को स्वावलम्बी बनाने की योजना बहुत
नाये विचार करेंगे। पर स्वावलम्बी शिक्षा का
जाय तो अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक शिक्षा
का पाठ नहीं पढ़ाती। शिक्षा समाप्त करने के
पार्जन करने की समस्या आ घेरती है। यह
योग्य पाता है। बेसिक शिक्षा द्वारा वह एक ऐसी
है जिसके सहारे आगे चलकर वह अपनी दैनिक
कता है।

(५) शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

वर्तमान शिक्षा और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में
दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत बेसिक शिक्षा 'स्कूल' और
एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। गांधी की तरह
स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि बनाना चाहती है।
कृतिक और सामाजिक वातावरण सम्बन्धी किसी हस्तकला
न्द्र बनाया जाता है, जिससे बालकों को अपने वातावरण तथा
ी मुख्य समस्याओं का कुछ ज्ञान हो जाय। बेसिक शिक्षा का कार्य-क्रम
की स्वाभाविक वृत्तियों को ध्यान में रख कर रखा गया है। क्रियाशीलता
ा सरल स्वभाव है। हस्तकला का समावेश इस भावना से किया गया
बेसिक शिक्षा के अनुसार बालकों को जो कुछ सिखलाया जाता है उससे
मस्तिष्क असम्बद्ध ज्ञान का पिटारा नहीं बनेगा। इससे बालक वही ज्ञान
करता है जिससे वह योग्य नागरिक हो सकेगा।

(६) नागरिकता का आदर्श

बेसिक शिक्षा में नागरिकता का आदर्श छिपा है। आज हमारे
बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों को समान पद प्राप्त नहीं
दोनों श्रम एक ही व्यक्ति नहीं करता। शारीरिक श्रम करने
हेय समझा जाता है। अभी तक हम शारीरिक श्रम का
हैं। बेसिक शिक्षा से शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम

थाई पर चलने की सम्भावना दिखाई पड़ती है। बेसिक स्कूल के प्रत्येक छात्र को दस्तकारी के रूप में प्रतिदिन समय तक शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इससे उनमें श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होता है।

इस प्रकार यह युक्त है कि छात्र के लोकतन्त्रात्मक युग में व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिए बेसिक शिक्षा में समाज विज्ञान के पाठ्यक्रम को काफी स्थान दिया गया है। समाज विज्ञान के आधार पर बालकों में आत्मसम्मान, आत्मसुधार, सहकारिता, समाज-सेवा तथा 'स्वतन्त्र और जाति भेद से ऊपर उठने की भावना' इन का प्रयत्न किया जाता है। बालकों में इन भावनाओं की जागृति के लिए नागरिक-शास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसकी शिक्षा बालकों को इस प्रकार दी जाती है कि अपने उत्तरदायित्व को संभालने, दूसरे का नेतृत्व करने, अपने शरीर और बुद्धि पर भरोसा करने तथा समाजहित के आगे निजीहित को त्याग देने आदि के गुण उत्पन्न हो जायें। बेसिक शिक्षा-योजना में स्कूल का संगठन इस प्रकार करने की व्यवस्था है कि छात्रों को स्व-शासन का अनुभव हो। बेसिक शिक्षा-योजना के अनुसार छात्रों के वातावरण से ही उन्हें नागरिकता की शिक्षा देनी चाहिए। भूगोल की शिक्षा में उसे प्रकृति निरीक्षण का अभ्यास कराया जाता है। भारत का भूगोल पढ़ाते समय अन्य देशों के भूगोल के सम्भावित समानता की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इतिहास के पाठ में छात्रों को यह बतलाया जाता है कि विभिन्न भौगोलिक और सामाजिक अवस्थाओं के कारण मनुष्य के दिनचर्या तथा रहन-सहन में कैसे-कैसे परिवर्तन आ जाते हैं। इतिहास की शिक्षा आदि मनुष्य और प्राचीन सभ्यता की कहानियों से प्रारम्भ की जाती है, जिससे बालक यह समझ सके कि यह सारा मानव समाज एक ही है। बालक को यह बतलाने की चेष्टा की जाती है कि लोगों ने राजनैतिक और सांस्कृतिक दिशा की ओर कैसे उन्नति की है। बालकों के चरित्र-विकास लिये विभिन्न देशों के महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ाये जाते हैं। इससे उनमें अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का भी उद्देश्य पूरा हो जाता है। प्राचीन इतिहास पढ़ाने में यह ध्यान दिया जाता है कि

बालक में मनीन के प्रति ऐसा अन्ध प्रेम न पैदा हो जाय कि अन्य देशो से वह घृणा करने लगे। बालक में सद्गुण की उत्पत्ति के लिए ऐसे महापुरुषो की कहानियाँ पढ़ाई जाती है जिन्होने मनुष्य को पाशविकता से मानवता की ओर बढ़ाया है। बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान को भी एक ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका समाज विज्ञान के अध्यापन-विधि पर नीचे सकेत किया जायगा। समाज-विज्ञान का समावेश नागरिकता के गुण को बालको में लाने के लिये ही किया गया है। समाज-विज्ञान के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र की शिक्षा बालक को इस प्रकार दी जाती है कि वह एक सच्चा नागरिक हो जाय। बेसिक स्कूल शिक्षा-क्रम में नागरिक-शास्त्र समाज विज्ञान की आत्मा माना जाता है।

३—बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके है कि बेसिक शिक्षा में कृषि, कताई, बुनाई और लकड़ी के काम वाले हस्तकला पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बेसिक शिक्षा के प्रवर्तको का कहना है कि केवल इन्ही तीन हस्तकलाओ पर शिक्षा को अवलम्बित करना सदा सम्भव नही हो सकता, क्योंकि उसमें कुछ वातावरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ आ सकती हैं। अतः वातावरण के अनुसार फलों और तरकारियो के उद्योग तथा चमड़े और बाँस के काम आदि की तरह कुछ अन्य हस्तकलायें भी चुनी जा सकती है। हस्तकला के आधार पर निम्नलिखित विषयो की शिक्षा के लिये भी बेसिक शिक्षा में आयोजन है :—

१—मातृभाषा।
२—गणित।
३—समाज-विज्ञान।
४—सगीत।
५—चित्रकला।
६—साधारण विज्ञान।
७—शरीर विज्ञान।

नीचे हम इन प्रत्येक पर संक्षेप में कुछ सकेत करेंगे।

(१) मातृभाषा

बेसिक शिक्षा मातृभाषा की शिक्षा पर विशेष जोर दे
अध्याय के प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। बहुत प्रारम्भ
जाती है कि बालक अपने भावों का प्रकाशन निर्भय होक
स्कूलों में मातृभाषा पढ़ाने के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

१—बालक, अपने वातावरण-सम्बन्धी साधारण
घटनाओं का सरलता से वर्णन कर सके।

२—अपने काम के बारे में साफ-साफ कह सके।

३—अपनी कक्षा की पुस्तक को ठीक से पढ़ सके।

४—पद्य को लय के साथ पढ़ कर आनन्द ले सके।

५—सुन्दर और शीघ्र लिखने का ऐसा अभ्यास हो कि
वट को पढ़ सकें।

६—छोटा पत्र लिख सकें।

(२) गणित

बेसिक शिक्षा में गणित का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता
कला-सम्बन्धी जोड़, बाकी और गुणा आदि करने में बालक
जाता है। इस प्रकार पढ़ने से गणित के ज्ञान की सार्थकत
जाती है।

(३) समाज-विज्ञान

"नागरिकता का आदर्श" के उल्लेख में बेसिक शिक्षायो
विज्ञान के स्थान की ओर संकेत किया जा चुका है। पर स्पष्ट
कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख कर देना ठीक जान पड़ता है
कुछ ऐसी दोषपूर्ण है कि शिक्षित युवक भी कुछ सामाजिक ब
दिखलाई पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों की बात है कि एक
लेखक से पूछ बैठा कि क्या अमेरिका भी चिट्ठियाँ भेजी जा स
छात्र का उतना दोष नहीं जितना कि हमारी शिक्षा प्रणाली का

दोषों को दूर करना चाहता है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि समाज विज्ञान के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र तीनों माने जाते हैं। बेसिक स्कूलों में नागरिक-शास्त्र की शिक्षा पहली ही कक्षा से प्रारम्भ कर दी जाती है। इतिहास और भूगोल की वास्तविक शिक्षा पुस्तकों के पढ़ने योग्य हो जाने पर ही प्रारम्भ की जाती है। नागरिक-शास्त्र का पाठ्यक्रम बालकों की विकास-अवस्था के अनुसार रखा जाता है।

इतिहास और भूगोल को नागरिक-शास्त्र से जोड़कर पढ़ाया जाता है। यह बेसिक-शिक्षा की एक विशेषता है। इतिहास मनुष्य के विभिन्न कार्यों का वर्णन है। भूगोल उस पृथ्वी का वर्णन है जहाँ मनुष्य काम करता है। अतः नायक रंगमंच से अलग नहीं किया जाता। मनुष्य के कार्यों पर भौगोलिक स्थिति की छाप पड़े बिना नहीं रहती। भूगोल में ही इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि भूगोल और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए बेसिक शिक्षा में दोनों को अलग नहीं किया जाता। भूगोल और इतिहास से निर्मित इस पृथ्वी पर नागरिक अपने कर्त्तव्य-पालन की चेष्टा करता है। अतः भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र को समाज विज्ञान का रूप दिया गया है।

(४) संगीत

बालक की सौन्दर्य-प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों के विकास के लिए बेसिक शिक्षा में चित्रकला और संगीत का समावेश किया गया है। लय और ताल की बालकों में एक सहज भावना होती है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। इसलिए उन्हें स्वर, लय और ताल के अनुकूल कुछ गाने सिखाये जाते हैं। ये गाने अच्छे-अच्छे भाव वाले और उत्साहवर्द्धक होते हैं। इनसे बालकों में राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, दया तथा लोकसेवा के भाव की जागृति की जाती है।

(५) चित्रकला

चित्रकला से बालकों को रूप और रंग समझने के योग्य बनाया जाता है। इससे उनमें प्रकृति-कला के समझने की शक्ति आने की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न आकृति को याद रखने में उनकी स्मरण-शक्ति का भी इससे अभ्यास हो

जाता है। चित्रकला के समावेश से उनकी हस्तकला में अधिक सौन्दर्य आने की आशा की जाती है। इससे वे सुन्दर चीजें बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

(६) साधारण विज्ञान

आजकल विज्ञान का ही बोलबाला है। हमारे जीवन के प्रायः सभी अंगों में उसमें सहायता सम्भव दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के सदुपयोग से एक गरीब देश भी थोड़े ही दिनों में समृद्धिशाली हो सकता है। हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा का स्कूलों के पाठ्यक्रम में समुचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवों के स्कूल तो इससे नितान्त वंचित दिखलाई पड़ते हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिए बेसिक शिक्षा में साधारण विज्ञान के अध्ययन का समावेश कर दिया गया है। बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में साधारण विज्ञान का इतना अंश रख दिया गया है कि उसके ज्ञान से बालकों का अन्धविश्वास बहुत कुछ दूर हो सकता है। साधारण विज्ञान को बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान की ही तरह महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि साधारण विज्ञान और समाज विज्ञान को बेसिक शिक्षा के दो पैर कहे तो अनुपयुक्त न होगा। विज्ञान की शिक्षा से बालकों में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति पैदा करने की चेष्टा की जाती है। बालकों को यह समझा दिया जाता है कि दैनिक कार्यों में किन-किन सिद्धान्तों का अनजान में प्रयोग किया जाता है। इससे उनमें अपने अनुभव की परीक्षा कर लेने की आदत पड़ जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन चरित्र से बालकों को परिचित किया जाता है, जिससे वे उनकी तरह दृढ़प्रतिज्ञ, सत्य-प्रेमी और अध्यवसायी भी हों।

(७) शरीर-विज्ञान

शरीर-विज्ञान को भी बेसिक शिक्षा का एक प्रधान अङ्ग समझना चाहिए। इसका शास्त्रीय ज्ञान तो साधारण-विज्ञान के क्रम में दे दिया जाता है, क्योंकि उससे स्वास्थ्य विज्ञान, भोजन और विश्राम की वैज्ञानिक बातें सरलता से समझायी जा सकती हैं। शरीर-विज्ञान समझाने का उद्देश्य बालकों का स्वास्थ्य [illegible]ना है। अतः स्वास्थ्य बनाने के लिए सैद्धान्तिक बातों का प्रयोग खेल, कूद, [illegible], बागवानी तथा ड्रिल आदि द्वारा किया जाता है।

४—बेसिक शिक्षा की आलोचना

बेसिक शिक्षा की उपर्युक्त रूप-रेखा से मालूम होता है कि इसमें आधुनिक शिक्षा के सभी गुण आ गये हैं। क्रियात्मक प्रणाली का सहारा लेने में बेसिक शिक्षा से हमें डीवी की याद आती है। मातृभाषा का माध्यम, नागरिकता, साधारण-विज्ञान तथा स्वास्थ्य की शिक्षा और शारीरिक परिश्रम की अनिवार्यता से बेसिक शिक्षा ने देश में प्रचलित शिक्षा के दोषों के निराकरण के साधनों की ओर स्पष्ट सकेत किया है। आजकल समन्वित शिक्षा पर जोर दिया जाता है। बेसिक शिक्षा में इस पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। पर इन सब बातों के होते हुए भी बेसिक शिक्षा के कुछ दोष खटकते हैं। अत. उनकी ओर सकेत करना प्रासङ्गिक जान पड़ता है।

(१) हस्तकला का केन्द्र होना सर्वमान्य नहीं

किसी कला को आधार मानकर बेसिक शिक्षा में बालकों की मानसिक शक्तियों का विकास किया जाता है। इसमें एक बडी कठिनाई दिखलाई पडती है। ऐसे किसी हस्तकला का मिलना कठिन है जिसके चारों ओर विभिन्न विषयों को केन्द्रित किया जा सके। कट्टरता से इस सिद्धान्त के समर्थन में बहुत से विषय छूट जा सकते हैं अथवा उनका अध्ययन केवल नाम-मात्र के लिए ही हो सकता है। वस्तुत: समन्वय सामयिक होना चाहिए। जबरदस्ती समन्वय ढूँढना गेहूँ और चावल की खिचड़ी पकाने के समान है। कुछ लोगों का कहना है कि बेसिक शिक्षा ने बालक को शिक्षा का केन्द्र न मानकर हस्तकला को केन्द्र मानने में एक बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का हनन किया है। शिक्षा में सर्वप्रथम बालक की रुचि पर ध्यान देना है। यदि प्रारम्भ से ही उन्हें किसी हस्तकला में प्रवीण कर जीविकोपार्जन का आदर्श उसके सामने रखा जाता है तो उनका विकास केवल भौतिक स्तर तक ही रह जायगा। वे आध्यात्मिकता से, जो कि भारतीय संस्कृति का प्राण है, बहुत दूर रह जायेंगे। कुछ का कहना है कि हस्तकला को केन्द्र बनाने का तात्पर्य शिक्षा को व्यावसायिक बना देना है, पर व्यावसायिक शिक्षा इतने पहले प्रारम्भ नहीं की जा सकती। इन सब आक्षेपों में सत्यता का अंश कहाँ तक है यह कहना कठिन है, पर बात कुछ तर्कसंगत जँचती है।

(२) धार्मिक शिक्षा का अभाव

बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव बहुत लोगों को खटकता है। ब
लोगो को आश्चर्य होता है कि धर्म-प्रधान भारत में महात्मा गांधी ऐसे धार्मि
व्यक्ति द्वारा अनुप्राणित शिक्षा-योजना में धार्मिक भावना का इस प्रकार अभा
कैसे है। संकेत करने पर महात्मा गान्धी ने इस प्रश्न को टाल दिया और कहा
"कौन कहता है कि बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव है ? स्वावलम्बन
से बढ़ कर कौन धर्म है ?" वस्तुतः धार्मिक शिक्षा को स्थान देने में एक बड़ी
कठिनाई है। भारत के स्कूलों में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बालक पढ़ने आते हैं।
एक ही धर्म अथवा सब धर्मों की अलग-अलग शिक्षा देने से आपसी वैमनस्य
बढ़ने का भय है। कदाचित् इसी भावनावश बेसिक योजना में धार्मिक शिक्षा को
स्थान नहीं दिया गया है। पर नैतिक शिक्षा के रूप में विभिन्न धर्मों की एकता,
सदाचार, उदारता तथा सहिष्णुता आदि की शिक्षा दी जा सकती है। इस
जड़वादी जगत को धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस
दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा योजना में सुधार करने की बड़ी आवश्यकता है।

(३) शिक्षा के स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त अव्यावहारिक

बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बी होने की योजना बहुत से लोगों को अव्याव-
हारिक जान पड़ती है। राज्य-शिक्षा-नीति की दृष्टि से यह ठीक मालूम होता
कि भारत ऐसे गरीब देश में अनिवार्य शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए स्कूल
के बालकों से काम करा कर कुछ धन प्राप्त कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।
पर प्रश्न यह है कि इस प्रकार धन प्राप्त करना कहाँ तक सम्भव हो सकता है।
प्रो० के० टी० शाह का कहना है कि धन कमाने की दृष्टि से दी हुई शिक्षा में
उदारता का भाव न रहेगा। इससे शिक्षकों में यह होड़ लग जायगी कि किस
कक्षा के छात्र सबसे अधिक धनोपार्जन का काम करते हैं। प्रत्येक छात्र कुशल
हस्त-कलाकार नहीं हो सकता। इसलिए वह शिक्षक से प्यार पाने का अधिकारी
नहीं समझा जायगा। स्कूल को स्वावलम्बी बनाने का तात्पर्य शिक्षालयों को
उद्योग-धन्धों का केन्द्र बना देना होगा और किसी स्कूल की सफलता शिक्षा से
वरन् बेचने योग्य वस्तुओं के उत्पन्न करने से आंकी जायगी। स्कूलों में
नौसिखिए बालकों द्वारा उत्पन्न की हुई चीजें बाहर के कुशल हस्त कलाकारों

वाली चीजों से अच्छी न हो सकेंगी। इसलिए खरीदने वाले स्कूलों में बनी हुई चीजों को कम खरीदेंगे। इन्हीं सब कारणों से अभी तक स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त कभी भी बेसिक स्कूल में कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि अब बेसिक शिक्षा-योजना के समर्थक वर्तमान स्थिति में स्कूल के स्वावलम्बी होने में कम विश्वास करते हैं।

(४) विशिष्ट अध्ययन का असामयिक चुनाव—

बेसिक शिक्षा-योजना में बालक को अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बहुत पहले ही चुन लेना होता है। यह मनोवैज्ञानिक नहीं, क्योंकि उस समय उनकी विभिन्न शक्तियों का काफी विकास नहीं हुआ रहता। प्रारम्भ में उनकी रुचि का ठीक पता नहीं चलता। हस्तकला के सीखने में बहुत अधिक समय देना पड़ता है, इसलिए एक बार चुनी हुए हस्तकला को छोड़ देना सरल नहीं; और उसे बहुधा अन्त तक निबाहना ही होता है। इस कठिनाई के कारण बहुत से बालकों के व्यक्तित्व का विकास अपूर्ण रह जाने का डर है।

(५) वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा-आयोजन सम्भव नहीं—

बेसिक शिक्षा में वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना सरल नहीं। कुछ ही हस्तकलाओं को सभी बालकों को सीखना पड़ता है। यदि सभी की रुचि का ध्यान रखकर विभिन्न हस्तकला के सिखाने का प्रबन्ध किया जाय तो आर्थिक दृष्टि से यह बड़ा कठिन होगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि व्यक्तिगत भेद पर ध्यान देने के लिए केवल किसी हस्तकला का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अन्य विशिष्ट विषयों पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हो सकती है। बेसिक शिक्षा में इन सबके लिए स्थान नहीं। अधिकांश समय तो हस्तकला में ही दे देना होता है, तो अन्य विषयों पर उचित ध्यान देना कैसे सम्भव हो सकता है?

(६) अध्यापकों की समस्या—

बेसिक शिक्षा को सफल बनाने के लिए विशिष्ट कोटि के अध्यापकों की आवश्यकता है। पर इन आवश्यकता की पूर्ति करना बड़ा कठिन है। बेसिक शिक्षा-योजना में अध्यापकों का वेतन बहुत ही कम रखा गया है, पर उनका उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत बहुत अधिक दिखलाई पड़ता है। उतने कम वेतन पर

योग्य अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। अध्यापकों को किसी एक कला में निपुण होते हुए पाठ्यक्रम के अन्य विषयों में भी दक्ष होना चाहिए। ऐसे अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। इसके लिए उन्हें विशेष शिक्षा देनी होगी।

सारांश

बेसिक शिक्षा (वर्धा योजना)

१— भूमिका

मौलिक नहीं, प्रोजेक्ट पद्धति और बेसिक शिक्षा।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

(१) अनिवार्य शिक्षा

लोकतन्त्र के अनुकूल।

(२) मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम

इसके भाव-प्रकाशन की शक्ति।

(३) हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

शारीरिक और मानसिक दोनों ज्ञान सन्तुलित, कृषि, कताई-बुनाई और लकड़ी का काम, अधिकांश समय हस्तकला के लिए, बालक शिक्षा का केन्द्र।

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है

हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय, हस्तकला के चारों ओर विभिन्न विषयों की समन्वित शिक्षा।

(४) शिक्षा का स्वावलम्बी होना

बालकों का उपयोगी वस्तुएँ बनाना, आत्म-निर्भरता का पाठ।

(५) शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

स्कूल समाज का प्रतिनिधि, भावी जीवन की कुछ समस्याओं का ज्ञान।

(६) नागरिकता का आदर्श

शारीरिक श्रम के प्रति आदर, नागरिक-शास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक
, स्व-शासन का अनुभव।

मानव समाज की एकता का बोध, महापुरुषों के जीवन चरित्र, अन्तर्राष्ट्रीय, समाज-विज्ञान।

३—बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम

वातावरण के अनुसार हस्तकलाओं का चुनाव।

(१) मातृभाषा

(२) गणित

व्यावहारिक ज्ञान।

(३) समाज-विज्ञान

इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र को साथ ही साथ पढ़ाना।

(४) संगीत

सौन्दर्यप्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों का विकास।

(५) चित्रकला

रूप व रङ्ग समझने योग्य।

(६) साधारण-विज्ञान

अन्धविश्वास दूर करना, साधारण-विज्ञान और समाज-विज्ञान बेसिक शिक्षा के दो पैर।

(७) शरीर-विज्ञान

स्वास्थ्य का उद्देश्य।

४—बेसिक शिक्षा की आलोचना

बेसिक शिक्षा में आधुनिक शिक्षा के सभी गुण।

(१) हस्तकला का केन्द्र होना सर्वमान्य नहीं—

सभी विषयों के समन्वय के योग्य कोई एक कला नहीं, समन्वय सामयिक हो, बालक की रुचि पर ध्यान नहीं, बालक आध्यात्मिकता से दूर।

(२) धार्मिक शिक्षा का अभाव—

नैतिक शिक्षा सम्भव।

योग्य अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। अध्यापकों को किसी एक कला में निपुण होते हुए पाठ्यक्रम के अन्य विषयों में भी दक्ष होना चाहिए। ऐसे अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। इसके लिए उन्हें विशेष शिक्षा देनी होगी।

सारांश

बेसिक शिक्षा (वर्धा योजना)

१—भूमिका

मौलिक नहो, प्रॉजेक्ट पद्धति और बेसिक शिक्षा।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त

(१) अनिवार्य शिक्षा

लोकतन्त्र के अनुकूल।

(२) मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम

इसके भाव-प्रकाशन की शक्ति।

(३) हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

शारीरिक और मानसिक दोनों ज्ञान सन्तुलित; कृषि, कताई-बुनाई और लकड़ी का काम, अधिकांश समय हस्तकला के लिए, बालक शिक्षा का केन्द्र।

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है

हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय, हस्तकला के चारों ओर विभिन्न विषयों की समन्वित शिक्षा।

(४) शिक्षा का स्वावलम्बी होना

बालकों का उपयोगी वस्तुएँ बनाना आत्म-निर्भरता का पाठ।

(५) शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

स्कूल समाज का प्रतिनिधि, भावी जीवन की कुछ समस्याओं का ज्ञान।

(६) नागरिकता का आदर्श

शारीरिक श्रम के प्रति आदर, नागरिक-शास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक [illegible], स्व-शासन का अनुभव।

Complete पूर्ण
Complex जटिल
Concentration of studies विषयों का केन्द्रीकरण
Concrete स्थूल
Conditioning अभिसन्धान
Conflict अन्तर्द्वन्द
Cube त्रिघात
Culture संस्कृति
Cultural सांस्कृतिक
Curiosity जिज्ञासा
Curriculum पाठ्यक्रम
Cylinder नलाकार

D

Dalton Plan डाल्टन प्लान
Decision निर्णय
Deductive निगमन
Definition परिभाषा
Democracy गणतन्त्र, लोकतन्त्र, जनतन्त्र
Democratic प्रजातन्त्रात्मक
Dependence निर्भरता
Description वर्णन
Desire इच्छा
Developmental Process विकास-क्रम
Dictator तानाशाह
Didactic उपदेशात्मक
Didactic Material शिक्षकोपकरण
Differences वैभिन्न्य, विभिन्नता
Direct प्रत्यक्ष
Discipline विनय, अनुशासन
Duty कर्तव्य
Dynamic गत्यात्मक

E

Economic Efficiency आर्थिक परिपूर्णता
Education शिक्षा
Educative शिक्षाप्रद
Efficiency कुशलता, प्रवीणता, निपुणता
Element तत्व, अंश
Emotion संवेग
Emotional संवेगात्मक
Emulative स्पर्द्धाशील
Energy शक्ति
Environment वातावरण
Epicurianism इन्द्रिय सुखवाद
Equality समानता
Escape पलायन-मूलप्रवृत्ति
Eternal सनातन
Ethnocentrism दूसरी संस्कृ[illegible] हेय समझने की भावना
Evil दोष
Evolution विकास
Examination परीक्षा
Expectation अपेक्षा
Experience अनुभव
Exploitation शोषण
Expression अभिव्यक्ति
Extra-curricular पाठ्य विषय

F

Faculty Psychology शक्ति मनोविज्ञान
Faith श्रद्धा, विश्वास
Family कुटुम्ब, परिवार
Feeling भाव
Form रूप
Formal औपचारिक
Formal Step औपचारिक पद
Fraternity भ्रातृत्व
Frustration असफलता
Fundamental Education मूल शिक्षा

G

General सामान्य, साधारण
Generalization सिद्धान्त निरूपण
Gestalt Psychology समग्रवाद
Gift उपहार
Gregariousness
Group समूह
Growth विकास

H

Habit आदत
Harmony सामञ्जस्य
Harmonious Development अनुरूप विकास
Hereditary वंशानुगत
Historical ऐतिहासिक
Hope आशा
Human Nature मानव स्वभाव

I

Ideal आदर्श
Idealism आदर्शवाद
Identical समान
Imitation अनुकरण
Impulses प्रवृत्तियाँ
Incidental आकस्मिक
Individual व्यक्ति
Individualization वैयक्तिकता
Inductive आगमन
Industrialization औद्योगीकरण
Infancy शैशव
Informal अविधिक
Innate स्वाभाविक
Instinct मूलप्रवृत्ति
Integrated अनुबन्धित
Intellectual बौद्धिक
Intelligence Testing बुद्धि
Intercultural अन्तर्सांस्कृति
Interdependence अन्योन्याश्रय
Interest रुचि
International अन्तर्राष्ट्रीय
Internationalism अन्तर्राष्ट्रीय भावना
Interracial

J

Joint family संयुक्त परिवार

समन्वय, शिक्षा का (Correlation ...
,, आवश्यकता (Need) ४०८-६

Complete पूर्ण
Complex जटिल
Concentration of studies विषयों का केन्द्रीकरण
Concrete स्थूल
Conditioning अभिसन्धान
Conflict अन्तर्द्वन्द
Cube त्रिघात
Culture संस्कृति
Cultural सांस्कृतिक
Curiosity जिज्ञासा
Curriculum पाठ्यक्रम
Cylinder नलाकार

D

Dalton Plan डाल्टन प्लान
Decision निर्णय
Deductive निगमन
Definition परिभाषा
Democracy गणतन्त्र, लोकतन्त्र, जनतन्त्र
Democratic प्रजातन्त्रात्मक
Dependence निर्भरता
Description वर्णन
Desire इच्छा
Developmental Process विका
Dictator तानाशाह
Didactic उपदेशात्मक
Didactic Material शिक्षोपकर
Differences वैभिन्न्य, विभन्नता
Direct प्रत्यक्ष
Discipline विनय, अनुशासन
Duty कर्तव्य
Dynamic गत्यात्मक

E

Economic Efficiency आर्थिक परिपूर्णता
Education शिक्षा
Educative शिक्षाप्रद
Efficiency कुशलता, प्रवीणता, निपुणता
Element तत्व, अंश
Emotion संवेग
Emotional संवेगात्मक
Emulative स्पर्द्धाधीन
Energy शक्ति
Environment वातावरण
Epicurianism इन्द्रिय सुखवाद
Equality समानता
Escape पलायन-मूलप्रवृत्ति
Eternal सनातन
Ethnocentrism दूसरी संस्कृति हेय समझने की भावना
Evil दोष
Evolution विकास
Examination परीक्षा
Expectation अपेक्षा
Experience अनुभव
Exploitation शोषण
Expression अभिव्यक्ति
Extra-curricular पाठ्य विषयान्तर

Physical Science भौतिक विज्ञान
Planning योजना, नियोजन
Plastic लचकदार
Political Faith राजनैतिक विश्वास
Potentialities सम्भावनायें
Practicability व्यवहारिकता
Practice अभ्यास
Pragmatism प्रयोगवाद
Prejudice अहेतुक धारणा
Preparation प्रस्तावना
Presentation विषय प्रवेश

Project method [illegible]
Projective Technique [illegible]
Positive Education [illegible]
Psychological [illegible]
Psychological [illegible] निक सत्य
Public Education [illegible]
Punishment दण्ड
Pupil छात्र
Purposivism प्रयोजनवाद

Q

Question प्रश्न

R

Race मूल जाति
Radio नभवाणी, आकाशवाणी, रेडियो
Reaction प्रतिक्रिया
Readjustment पुनर्व्यवस्थापन
Realism यथार्थवाद
Realibility वास्तविकता
Reason विवेक
Recapitulation पुनरावृत्ति
Reconstruction पुनर्निर्माण

Record लेखा
Reformation सुधार
Religion धर्म
Renaissance पुनर्जागृति
Response प्रतिक्रिया
Responsibility उत्तरदायित्व
Retention धारण शक्ति
Revisional आवृत्यात्मक
Reward पुरस्कार

S

Satisfaction सन्तुष्टि
Security सुरक्षा
Self-activity आत्मक्रियाशीलता
Self-direction आत्म-निर्देशन
Self-display आत्म-प्रदर्शन
Self-governed स्वशासित
Self-realization आत्मबोध
Self teaching आत्मशिक्षा

Specialist विशेषज्ञ
Specialised विशेषित
Speech वाणी
Speed गति
Sphere गोला
Spiritual
Standard
Starting

Sense-training ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा
Sentiment स्थायीभाव
Simplicity सरलता
Skill कौशल
Social सामाजिक
Socialization सामाजीकरण
Society समाज
Sociological Thinking समाज-शास्त्रीय विचारधारा
Sophism सोफिस्ट
Sound ध्वनि
State राज्य
Step पद
Sub-culture उप-संस्कृति
Subject-centred विषय-केन्द्रित
Sublimation शोधन
Suggestibility संकेत-योग्यता
Suggestion संकेत
Supervised study निरीक्षित स्वाध्याय
Sympathy सहानुभूति
Synthesis संश्लेषण

T

Teaching शिक्षण
Tendency प्रवृत्ति
Theory सिद्धान्त
Time-table समय-सारिणी
Tolerance सहिष्णुता
Tone स्वर
Tradition परम्परा
Traditional पारम्परिक
Training प्रशिक्षण
Transfer of Training शिक्षण का स्थानान्तर
Truth सत्य

U

Unit अन्विति
Universal सार्वभौमिक, सार्वलौकिक
Unknown अज्ञात
Utilitarian सार्वलौकिक

V

Value मान्यता
Virtue गुण
Vocational व्यावसायिक
Guidance निर्देशन

Y

Youth युवावस्था

विषयों और लेखकों की अनुक्रमणिका

अ

न

प

भ

म

य

भ

म

य

र

ल

व

श

र

ल

व

श